सन् सत्तावन की राज्यक्रान्ति

सन् सत्तावन की राज्यक्रान्ति

लेखक—
डा० रामविलास शर्मा

विनोद पुस्तक मन्दिर
आगरा।

प्रकाशक—

राजकिशोर अग्रवाल
विनोद पुस्तक मन्दिर
हॉस्पिटल रोड, आगरा ।

प्रथम संस्करण
दिसम्बर १९५७
मूल्य १०)

मुद्रक—

कैलाश प्रिंटिंग प्रेस
बाग मुजफ्फर खाँ, आगरा ।

भारतीय नारी के शौर्य श्रौर जनता के साम्राज्य-
विरोधी प्रतिरोध के श्रनुपम चित्रकार

श्री वृन्दावनलाल वर्मा को

सादर सर्मपित

भूमिका

सन् सत्तावन की राज्यक्रांति भारतीय इतिहास की अत्यन्त महत्व-पूर्ण घटना है। जनता के सामाजिक और सांस्कृतिक विकास पर उसका प्रभाव इसी प्रकार की अन्य घटनाओं से कम नहीं है। उसके इतिहास के अध्ययन के सिलसिले में सामाजिक विकास की अनेक समस्याएँ सामने आती हैं जिनके बारे में वैज्ञानिक दृष्टिकोण रखनेवाले भी एक-मत नहीं हैं। उन्नीसवीं सदी के पूर्वार्द्ध में इस देश में अंग्रेज़ी राज्य की भूमिका क्या थी? हिन्दुस्तान का सामाजिक विकास उस समय किस मंजिल में था? अंग्रेज़ों तथा यूरोप की अन्य जातियों द्वारा स्थापित उपनिवेशों का आन्तरिक रूप क्या था? सन् सत्तावन के संघर्ष में किन वर्गों ने भाग लिया? दोनों पक्षों की रणनीति और कार्यनीति में क्या अन्तर था? संघर्ष में धर्म की भुमिका क्या थी? सेना केवल अपनी माँगों के लिये लड़ी या जनता का अभिन्न अंग बन कर सामान्य उद्देश्यों के लिये लड़ी? क्रान्ति में एक प्रदेश के लोगों ने ही भाग लिया या उसमें अन्य प्रदेशों की जनता भी सम्मिलित हुई? इस तरह की अनेक समस्याएँ हमारे सामने आती हैं जिनका समाधान न केवल इस क्रांति के इतिहास को समझने के लिये आवश्यक है वरन् अन्य सामाजिक और सांस्कृतिक समस्याएं हल करने के लिये भी आवश्यक है।

पुस्तक के प्रथम भाग में अंग्रेज़ी राज की भूमिका, दूसरे भाग में राज्यक्रांति के घटनाक्रम का रेखाचित्र और तीसरे भाग में क्रांति से सम्बन्धित समस्याओं का विवेचन प्रस्तुत किया गया है। घटनाक्रम का रेखाचित्र देने में मेरा ध्यान क्रांति में जनता और सेना की भूमिका की ओर अधिक रहा है, कुछ नेताओं और वीरों की जीवनियाँ लिखने की ओर नहीं। प्रयत्न यह रहा है कि उससे क्रांति का विस्तार, उसके प्रसार का वेग, जनता और सैनिकों का शौर्य, अंग्रेजों की युद्धनीति और राजनीति स्पष्ट उभर कर दिखाई दे।

१९११ में पंजाब सरकार द्वारा प्रकाशित "गदर के कागजात"

(Mutiny Records) में क्रांति से सम्बन्धित सामग्री उल्लेखनीय है। उससे दिल्ली में सेना द्वारा निर्मित "कोर्ट" की कार्यवाही पर विशेष प्रकाश पड़ता है। श्री सुरेन्द्रनाथ सेन, श्री तल्मीज खाल्दुन और श्री पूरनचन्द जोशी ने अपनी पुस्तक और लेखों में कोर्ट की कार्यवाही पर विशेष ध्यान दिया है। उत्तर प्रदेश की सरकार द्वारा प्रकाशित "उत्तर प्रदेश में स्वाधीनता-संग्राम" में श्री सेन की पुस्तक की तरह कोर्ट की नियमावली दी हुई है। यदि "गदर के कागजात" की सामग्री सर्वश्री सेन, खाल्दुन, जोशी और उत्तर प्रदेश की सरकार की पुस्तकों और लेखों में सम्मिलित कर ली जाय तो दिल्ली की नई जनतांत्रिक राज्यसत्ता का और भी भरा-पूरा चित्र पाठकों को मिल सकता है।

संभवतः मेरा कोई ऐसा मित्र नहीं है जिससे मैंने सन् सत्तावन के बारे में बातें न की हों। उन सभी ने अपने सुझावों से मेरी सहायता की है। जिन मित्रों ने पुस्तकें देकर मेरे काम को आसान बनाया है, उनकी सूची काफी लम्बी है। उनका उल्लेख न करके मैं उनके प्रति हृदय से कृतज्ञता प्रकट करता हूँ।

पुस्तक में मुद्रण-सम्बन्धी अशुद्धियों के लिये पाठक क्षमा करें। जो अन्य विषयवस्तु और उसके प्रतिपादन से सम्बन्धित त्रुटियाँ हों, उनके बारे में सूचित करेंगे तो मुझे लाभ होगा और मैं उनका उपकार मानूंगा। पृष्ठ १२७ पर डेविड ह्यूम की जगह ए० ओ० ह्यूम होना चाहिये; पाठक कृपया शुद्ध कर लें।

१२, अशोक नगर
आगरा।
२५, दिसम्बर १९५७

रामविलास शर्मा

विषय-सूची

१— अंग्रेजी राज की प्रगतिशील भूमिका

२—सत्ता के लिये संघर्ष

३— समस्याएँ और निष्कर्ष

४—टिप्पणियाँ

अंग्रेज़ी राज की प्रगतिशील भूमिका

अंग्रेज़ी जनतंत्र

ब्रिटेन में औद्योगिक क्रान्ति हो चुकी थी, पार्लियामेंट के रूप में वहाँ जनतन्त्र का विकास हो चुका था, अंग्रेजों ने शिक्षा और विज्ञान में भारी प्रगति की थी, न्याय और कानून की व्यवस्था कायम हो चुकी थी जिससे निरंकुश राज्यसत्ता से मुक्त होकर लोग सुख चैन से अपने-अपने धन्धे में लगे थे। इस ब्रिटेन के लोग भारतवासियों के सौभाग्य से सभ्यता का प्रसार करने इस देश में आये। कुछ अंग्रेज़ों ने यहाँ अत्याचार किये और देश को लूटा भी, लेकिन कुल मिलाकर अंग्रेज़ी राज से हमारा हित ही हुआ। इस कारण सन् १८५७ में कुछ सामन्त, उनके साथ जहाँ-तहाँ कुछ किसान और धार्मिक भावनाओं को ठेस लगने से फौज के सिपाही लड़े। आज हम देशभक्ति के आवेश में उनको स्वाधीनता के सैनिक भले कह लें; किन्तु सत्य यह है कि यदि सौ साल पहले ग़दर करने वाले जीत जाते तो देश की सामाजिक, राजनीतिक और सांस्कृतिक प्रगति रुक जाती।

इस तरह के विचार बहुत से अंग्रेज़ लेखकों की कृतियों में ही पढ़ने को नहीं मिलते, उनसे अधिक वे हमें भारतीय इतिहासकारों की रचनाओं में मिलते हैं। उत्तर-प्रदेश की सरकार "उत्तर प्रदेश" नाम का एक मासिक पत्र निकालती है। इसकी अगस्त १९५७ की संख्या में राष्ट्रीय विचारधारा के एक प्रतिनिधि इतिहासकार प्रोफेसर मुहम्मद हबीब का लेख छपा है। १८५७ की राज्यक्रान्ति के महत्व पर विचार करते हुए प्रोफेसर साहब ने लिखा है कि उस समय के भारत के बारे में बुनियादी बात यह है कि यूरोप की तुलना में वह पिछड़ा हुआ था। ब्रिटेन ऐसी शक्ति था जो यूरोप के सभी राज्यों से अपनी उत्पादन-व्यवस्था में बढ़ा-चढ़ा था, उसकी जनतांत्रिक संस्थाएँ उच्च कोटि की थीं और औपनिवेशिक मामलों में वह अपनी शासन-क्षमता का परिचय दे चुका था।

हिन्दुस्तान के लोग परिस्थिति को समझे बिना इस शक्तिशाली ब्रिटेन से टकरा गये। उनका हारना अवश्यंभावी था। और यदि जीत जाते तो? प्रोफेसर साहब का विचार है कि "१८५७ की जो विचारधारा थी और उसका जो प्रतिक्रियावादी उद्देश्य था, उसे देखते हुए कहना पड़ता है कि जीत जाने का मतलब होता—सत्यानाश।"

भारत-सरकार के सूचना-विभाग द्वारा प्रकाशित "अठारह सौ सत्तावन" के लेखक श्री सुरेन्द्रनाथ सेन के विचार भी ऐसे ही हैं। अपना इतिहास पूरा करते हुए अंतिम अध्याय में घटनाओं का पर्यवेक्षण करते हुए उन्होंने लिखा है कि अंग्रेज़ सरकार ने यहाँ पर क्रमशः एक सामाजिक क्रान्ति कर डाली थी; ग़दर के नेता इतिहास के रथ को पीछे मोड़ देते। संक्षेप में बात यह है कि "वे प्रतिक्रान्ति चाहते थे" (In short they wanted a counter-revolution), इसलिये जो कुछ हुआ, अच्छा ही हुआ। अंग्रेज़ी राज की प्रगतिशील भूमिका ने हमें प्रतिक्रान्ति से बचा लिया।

इस तरह के विचार पढ़ने के बाद यह आवश्यक हो जाता है कि ब्रिटेन में और अंग्रेज़ों द्वारा भारत तथा अन्य उपनिवेशों में जो "सामाजिक क्रान्ति" हुई थी, उसे हम और निकट से देखें और यह समझने का प्रयत्न करें कि ब्रिटेन में भूस्वामी- वर्ग और उद्योगपतियों के बीच लम्बे संघर्ष का कारण क्या था, अनेक उपनिवेश युद्ध करके ब्रिटेन से क्यों अलग हो गये,उन्नीसवीं सदी के पूर्वार्द्ध और उत्तरार्द्ध में एशिया, अफ्रीका और प्रशान्त महासागर के टापुओं की जनता क्यों बार-बार अंग्रेज़ शासकों से लड़ी, इंगलैंड के जनतंत्र में पहले उद्योगपतियों, उनके बाद मज़दूरों और अन्त में खेत-मजदूरों को इतने विलम्ब से मतदान का अधिकार क्यों मिला, इत्यादि। १८५७ में भारतीय जनता ने जो कुछ किया और उसका दमन करने के लिये अंग्रेज़ों ने जो कुछ किया, उसे समझने के लिये ब्रिटेन में वहाँ के शासक-वर्ग की भूमिका समझना आवश्यक है।

इस सम्बन्ध में पहला ध्यान देने योग्य तथ्य यह है कि औद्योगिक क्रान्ति हो जाने के बाद भी राज्य-सत्ता उद्योगपतियों के हाथ में नहीं आयी। राज्य-सत्ता पर अधिकार था—भूस्वामी वर्ग का। इस वर्ग में बड़े-बड़े ज़मींदार थे जो अपनी ज़मीन दूसरे किसानों को लगान पर

उठाते थे या खेत-मज़दूर लगाकर खेती कराते थे । इन्हीं के हित में वे अनाज-सम्बन्धी कानून बने थे, जिनके विरुद्ध वर्षों तक मज़दूरों और उद्योगपतियों ने आन्दोलन किया था । १८१५ में "कॉर्न लॉ" पास हुआ । इसका उद्देश्य यह था कि बाहर से अनाज की आमद रोक कर ज़मींदारों के मुनाफे के लिये अनाज का भाव तेज़ रखा जाय । इतिहासकार ट्रेवेलियन के शब्दों में "विधान-सभा पर भूस्वामियों के इजारे का यह लगभग अनिवार्य परिणाम था ।"[1]

१८३२ में पहला सुधार-कानून पास हुआ । इसका उद्देश्य विधान-सभा का सुधार करना था । उस समय की विधान सभा मुट्ठी-भर ज़मीदारों के हाथ का खिलौना थी, यह इतिहास का सर्वस्वीकृत तथ्य है । यह सुधार वैधानिक उपायों द्वारा आसानी से नहीं हो गया । ब्रिटेन के मज़दूरों ने इसके लिये तीव्र संघर्ष किया । इसके लिये साढ़े चार सौ मज़दूरों को उनके परिवारों से अलग करके आस्ट्रेलिया भेज दिया गया । सरकारी पुलिस सुधार की माँग करने वालों को दबाने के लिये ना-काफ़ी साबित हुई । उत्तरी प्रदेश के मज़दूर "हाउस ऑफ लार्ड्स" से लड़ने के लिये हथियार जुटाने लगे थे । दक्षिण में गरीब खेत-मज़दूर खलिहानों में आग लगाकर जमीदारों से बदला ले रहे थे । चारों तरफ भुखमरी और बेकारी का राज्य था । इन्हीं दिनों गरीब अंग्रेजों पर हैजे का भी प्रकोप हुआ । कुछ लोगों ने क्षुब्ध होकर ब्रिस्टल नगर का मध्य भाग भस्म कर दिया । ब्रिटेन के शासक-वर्ग को आसन्न गृह-युद्ध के दर्शन हुए ।[2]

इस परिस्थिति में मजबूर होकर अभिजात वर्ग ने सुधार-कानून पास किया । इस कानून से कुछ उद्योगपतियों और मध्य-वर्ग के लोगों को मतदान का अधिकार मिला; किन्तु सत्ता अभिजात वर्ग के हाथ में ही रही । १८३२ के बाद १८५७ तक ब्रिटेन में जो कुछ हुआ, उसका विशेष सम्बन्ध भारतीय जनता के संघर्ष से है । कुछ इतिहासकारों का विचार है कि इस सुधार-कानून से राज्य-सत्ता उद्योगपतियों के हाथ में आ गई; उस परिवर्तन से अंग्रेजों की भारत सम्बन्धी नीति भी बदल गई । वस्तुस्थिति ऐसी नहीं है । अभिजात वर्ग ने कुछ सम्पत्तिशाली जनों को रिआयतें देकर राज्य-सत्ता पर अपना इजारा कायम रखा ।

इस सम्बन्ध में ट्रेवेलियन का मत है कि पहले सत्ता जमींदारों के

हाथ में थी, अब उसमें मध्यवर्ग के एक हिस्से का भी साझा हो गया। "सुधार-कानून पास होने के एक पीढ़ी बाद तक पार्लियामेंट-भवन में दोनों ओर की बेंचों पर देहात के भद्रजन ही बैठते थे। कौबेट, कौब्डेन और ब्राइट की सामाजिक स्थिति के लोगों को वे उजबक समझते थे।"[३] रैमज़े म्यूर ने सुधार-कानून पास करने वाले टोरीदल के बारे में लिखा है कि यह दल समझता था कि उदार और सुधारवादी नीति अपनाने से ही जमींदार-वर्ग के हाथ में सत्ता कायम रह सकती है।[४] मार्क्स ने इस सुधार कानून की वास्तविकता का सुन्दर विवेचन किया था। उनका विचार था कि पचास पाउँड सालाना के आसामियों को मताधिकार मिलने से देहात पर अभिजात वर्ग का शिकंजा और भी मजबूत हो गया। शहरों में दस पाउण्ड वाले नागरिकों को मतदान का अधिकार मिलने से बहुत से मतदाता अपने पहले के अधिकार से वंचित कर दिये गये। मार्क्स ने लिखा है, "सुधार-कानून पास हुआ ही था और अमल में लाया जाने लगा था कि ब्राइट के शब्दों में 'लोग यह अनुभव करने लगे कि वे ठग लिये गये हैं'। ऐसे शक्तिशाली और सफल दिखने वाले लोकप्रिय आन्दोलन का ऐसा खोखला नतीजा पहले कभी न निकला था। मजदूरवर्ग ही पूरा का पूरा राजनीतिक प्रभाव से, बाहर न रखा गया था, स्वयं मध्यवर्ग ने भी देखा कि सुधार-कानून के प्राण लॉर्ड ऐल्थौर्प ने केवल आलंकारिक व्यंजना के लिये अपने टोरी विरोधियों से न कहा था, 'यह सुधार-कानून राष्ट्र के प्रति अब तक का सबसे अभिजात वर्गीय (aristocratic) कृत्य है'।"[५]

इससे स्पष्ट है कि १८३२ के सुधार-कानून से राज्यसत्ता उद्योगपतियों के हाथ में न आयी। पहले की तरह सत्ता पर अभिजात वर्ग का इजारा बना रहा। यद्यपि इँगलैंड में औद्योगिक क्रान्ति हो चुकी थी, किन्तु नये और बढ़ते हुए उत्पादन-सम्बन्धों के अनुकूल राज्य-सत्ता और शासन-व्यवस्था में परिवर्तन न हुआ था। सत्ताधारी अभिजात वर्ग पुरानी शासन-व्यवस्था कायम किये हुए था और इस तरह वह सामाजिक प्रगति में बाधक बना हुआ था।

यह कहा जा सकता है कि यह भूस्वामी वर्ग पुराने सामन्त-वर्ग से भिन्न था, अब वह अर्धदासों के बदले पगार कमाने वाले मज़दूरों से

काम लेने लगा था, उसने छोटे-छोटे खेतों के बदले बड़े-बड़े फार्म कायम किये थे और इस तरह खेती में क्रान्ति करके वह स्वयं पूँजीपति-वर्ग का एक अंग बन चुका था। यह स्थापना सही हो तो मानना पड़ेगा कि उद्योगपतियों और भूस्वामी-वर्ग का संघर्ष एक ही पूँजीपति-वर्ग के अन्तर्विरोध का रूप था। तब अभिजात वर्ग को हम सामाजिक प्रगति का विरोध करने वाला वर्ग नहीं कह सकते।

नया भूस्वामी-वर्ग पुराने सामन्त-वर्ग से अवश्य भिन्न था। वह पगार कमाने वाले मजदूरों से काम लेता था और उसने बड़े-बड़े फार्म भी कायम किये थे। फिर भी इस वर्ग ने बहुत से सामन्ती अवशेष कायम रक्खे थे। वह शहरों में ही उद्योगपतियों और मजदूरों के बढ़ते हुए प्रभाव का विरोधी न था, वह देहात में भी पूँजीवादी सम्बन्धों के स्वच्छंद विकास का विरोधी था।

नवम्बर १८६३ में उद्योगपतियों के प्रतिनिधि जॉन ब्राइट ने एक भाषण में कहा था: "मैं कहूँगा कि हमें उचित प्रतिनिधित्व मिले तो सामंतवाद, जहाँ तक उसका इँगलैंड की भूमि से सम्बन्ध है, खत्म हो जायगा और,समूचे संयुक्त राज्य (United Kingdom) में खेत मजदूर उस गरीबी और अर्धदासत्व से मुक्त हो जायँगे जो अब तक उनके भाग्य में लिखे रहे हैं।" ("I should say, if we were fairly represented, that feudalism, with regard to the land of England, would perish, and that the agricultural labourer through-out the United Kingdom would be redeemed from that poverty and serfdom which, up to this time, have been his lot.")[६]

ब्राइट ने ये बातें सन् सत्तावन की राज्यक्रान्ति के छः साल बाद कही थीं। उसने सामन्तवाद (फ्यूडलिज़्म) और अर्धदासत्व (सर्फडम) शब्दों का प्रयोग किया था। कम से कम इससे इतना तो सिद्ध हो जाता है कि ब्रिटेन के एक प्रमुख राजनीतिज्ञ की दृष्टि में वहाँ का अभिजात वर्ग सामन्तवाद की बहुत कुछ रक्षा किये हुए था।

जनवरी १८६४ के एक भाषण में ब्राइट ने अपने उपर्युक्त व्याख्यान की चर्चा करने के बाद प्रसिद्ध पत्र "सैटर्डे रिव्यू" के एक लेख का हवाला दिया। उस लेख में भी सामन्तवाद शब्द का प्रयोग किया

गया था । उ- लेख से वाक्य उद्धृत करने के पहले ब्राइट ने कहा था : "मैंने ठीक इसी सामन्तवाद नाम की चीज का जिक्र किया था" ("Feudalism is precisely the thing I mentioned") । उक्त पत्र के लेख में सामन्तवाद की चर्चा इस प्रकार की गई थी : "धनी और निर्धन का सम्बन्ध अब भी इंगलैंड के पुराने सामन्तवाद का है— उस व्यवस्था का जब अर्धदास मौजूद थे और जब भूस्वामी लोग प्रायः एक दूसरी कोटि के प्राणी हुआ करते थे ।" ("The old feudalism of England—the state of things when there yet were serfs, and when the lords of the soil were almost a different order of beings—still colours the relations of the rich and the poor.")

यह लेख सितम्बर १८६३ में प्रकाशित हुआ था । "सैटर्डे रिव्यू" कोई क्रान्तिकारी पत्र न था। उसके लेख से यह प्रकट होता है कि कहने को देहात के वर्ग-सम्बन्ध बदल गए थे, वास्तव में अर्द्धदास प्रथा और सामन्ती प्रभुत्व के अवशेष अभी कायम थे । खेत-मजदूरों से किस तरह के आचरण की आशा की जाती थी, इसकी चर्चा करते हुए उसी लेख में आगे कहा गया है: "गरीब आदमी का स्थान और कर्तव्य यही समझा जाता है कि वह जिस गाँव में पैदा हुआ है, वहीं हमेशा बना रहे; वह दस-बारह शिलिंग हफ्तावार वेतन लेकर खूब मेहनत करे, और इस धन से सम्मानपूर्ण ढँग से एक बड़े कुनबे का पेट पाले; अभिजातवर्ग के सामने सिर झुकाये, नियमित रूप से गिर्जाघर जाये और जितना बन पड़े, धर्म-चर्चा से लाभ उठाये; पानशालाओं से घृणा करे और दूसरों की संगत की, आग के पास बैठने और गप्प लगाने की इच्छा उसके मन मे न पैदा हो और पादरी और उच्चवर्ग की तरुणियों द्वारा निर्दिष्ट स्वर्ग जाने के मार्ग का अनुसरण करे । यह है वह गरीब आदमी जिसे आधुनिक सामंतवाद ("मौडर्न फ्यूडलिज्म") हकीकत में पैदा करता है । शनिवार की संध्या को गाँव की पानशाला के सामने खड़े होकर कोई भी उसे देख सकता है ।"७

पुराने जमाने में गरीब किसान सामंत का बँधुआ बन कर रहता था । वह राजा की जमीन पर बसता था, उसकी प्रजा कहलाता था, राजा उसका स्वामी होता था । पूंजीवाद की विशेषता यह है कि बाजार

में मजदूर अपनी श्रमशक्ति बेचता है और इस कार्य में वह स्वतन्त्र होता है। किन्तु यहाँ श्रमशक्ति बेचने की स्वतन्त्रता न थी। भूस्वामी अब भी यह नियम बनाये हुये था कि गरीब आदमी जिस गाँव में पैदा हुआ है, उसी में जनम भर बना रहे। इस तरह व्यवहार में खेत-मज़दूर की स्थिति बँधुए से भिन्न न थी। इसीलिये लेखक ने इस व्यवस्था को आधुनिक सामन्तवाद कहा था।

अवध में नवाब के अत्याचारों से जनता को त्राहि-त्राहि करते देख कर अंग्रेज़ जमीदारों और उनके चाकरों का खून खौल उठता था। वे प्रगाढ़ मानव-सहानुभूति के आवेश में समग्र भारतीय जनता को यूनियन जैक की छाया में समेट लेने को आकुल हो उठते थे। इन क्रान्तिकारी अंग्रेज जमीदारों ने स्वयं अपने किसानों की क्या दशा कर रखी थी, उसकी थोड़ी सी चर्चा अप्रासंगिक न होगी।

"सैटर्डे रिव्यू" वाले उसी लेख में आगे कहा गया है, "जिन घरों में एक ही टूटे-फूटे, दुर्गन्धपूर्ण, खटमलों से भरे हुए सोने के कमरे में हर उम्र के सात-आठ नर-नारी रात भर के लिये ठूंस दिये जाते हैं, उन घरों की अनिवार्य गन्दगी, व्यभिचार और दीनता पर हाहाकार मचा हुआ है। कृषक-जीवन को जो लोग सबसे अच्छी तरह जानते हैं, वे उसका ऐसा ही चित्र आँकते हैं। हमारे सामने उनके ठस, बुद्धिशून्य मस्तक आते हैं; उनकी दृष्टि पशुओं जैसी है, उनमें बर्बरता और अनियंत्रित उच्छृंखलता है, पापाचार के लिये सीधा उत्साह है, अपनों से बड़ों के लिये एक उलझा सा घृणा का भाव है। किसी सौभाग्य से अंग्रेज किसान इस साधारण स्थिति से बच गया हो, तभी वह सोच सकता है कि जीवन में गरीब आदमी के सुख के लिये शराब (बीयर) के अलावा भी कोई चीज़ है।" अवध के किसानों का जो चित्र स्लीमैन ने खींचा है, वह इससे कहीं उज्ज्वल है। १८६३ में अंग्रेज़ किसानों की यह दशा देखकर यदि यूरोप की कोई शक्ति कहती: बस बहुत हो चुका; अब मानवता के नाम पर हम तुम्हें अपने राज में मिला लेंगे तो अंग्रेजों को कैसा लगता? १८५७ में अंग्रेज जमींदारों की प्रगतिशीलता की प्रशस्ति लिखने वालों को यह चित्र कैसा लगता है!

जब लार्ड कैनिंग ने अवध के ताल्लुकदारों की जमीन हड़प लेने की

घोषणा की थी, तब उसका विरोध करते हुए ब्राइट ने २० मई १८५८ को अपने भाषण में ब्रिटिश जनतन्त्र के प्रतिनिधियों को याद दिलाया था कि पार्लियामेंट के दोनों सदनों में लगभग सात सौ जमींदार बैठे हुए हैं। इसलिये उन्हें अवध के ताल्लुकदारों के हक छीनते हुए शर्म आनी चाहिये। ब्राइट ने अपने देश के जनतंत्र-प्रेमी ज़मीदारों का मज़ाक उड़ाते हुए कहा था: "आप ऐसे देश में रहते हैं, जहाँ, मसलन स्कॉटलैण्ड में, हाउस आफ लार्ड्स के एक सदस्य के अधिकार में एक बड़ा प्रान्त है और दूसरे सदस्य के अधिकार में सत्तर-अस्सी मील जमीन है और जहाँ, मसलन इंगलैण्ड में, आपके यहाँ ड्यूक आफ बेडफोर्ड और ड्यूक आफ डेवेनशायर हैं। मैं कहता हूँ कि अवश्य ही ऐसे देश में कम से कम हमें थोड़ा सावधान रहना चाहिये कि हम भारत के बड़े ताल्लुकदारों और जमींदारों के स्वामित्व-अधिकार को उचित कारण के बिना ही निर्मूल न कर दें।"

ब्रिटेन के जनतन्त्र की बागडोर इन सात सौ जमींदार-सदस्यों के हाथ में थी। यही लोग राज्यसत्ता का उपयोग करते हुए भूमिसंबन्धी व्यवस्था में पूँजीवाद के प्रसार को रोके हुए थे। ब्राइट को इनसे सबसे बड़ी शिकायत यही थी कि इन्होंने ऐसे कानून बना रखे थे जिनसे ज़मीन का क्रय-विक्रय न हो सकता था; बड़ी-बड़ी रियासतों की ज़मीन बाँटी न जा सकती थी। और संपत्ति तो बाँटी जा सकती थी, पर जमींदार की ज़मीन पर उसके बड़े लड़के का ही हक होता था। जनवरी १८६४ वाले भाषण में ब्राइट ने कहा था, "इस व्यवस्था के कारण इस देश में पचास या अस्सी या सौ साल तक ज़मीन एक ही की बनी रहती है। उसके मालिक को उसे बेचने में चाहे जितना लाभ होता हो, लेकिन कोई उसे बेच नहीं सकता।" यदि उसे हस्तान्तरित करना हो तो हक साबित करने में बरसों लग जाते हैं। ब्राइट का कहना था कि आठ सौ साल पहले इस तरह के कानून इसलिये बने थे कि जमीन मुट्ठी भर आदमियों के हाथ में रहे और वे सत्ता हथियायें रहें। वही काम १९ वीं सदी में भी हो रहा था। आयलैंण्ड के सम्बन्ध में ब्राइट ने जो भाषण दिये थे, उनमें भी उसकी यही माँग थी कि भूमि के स्वच्छन्द क्रय-विक्रय का चलन किया जाय।

१८५२ में ब्रिटेन के चुनावों का विश्लेषण करते हुए मार्क्स ने बत-

लाया था कि टोरी दल पुराने इंगलैण्ड की राजनीतिक और धार्मिक संस्थाओं को क्यों इतना प्यार करता है। इन संस्थाओं की मदद से बड़े-बड़े ज़मींदार "अब तक इंगलैण्ड पर शासन करते आये हैं और अब भी अपना शासन कायम रखना चाहते हैं।" मार्क्स के अनुसार इन भूस्वामी पूँजीपतियों और दूसरे पूँजीपतियों में वहीं अन्तर है जो लगान तथा व्यापार और उद्योगधन्धों के मुनाफे में है। "ज़मीन का लगान रूढ़िवादी होता है, मुनाफा प्रगतिशील होता है; ज़मीन का लगान राष्ट्रगत होता है, मुनाफा विश्वगत होता है"।[९]

ब्रिटेन के राजनीतिज्ञ इस समय ह्विग और टोरी दलों में बँटे हुए थे। मार्क्स ने दिखलया है कि ह्विग और टोरी दोनों ही बड़े-बड़े जमींदारों के अंग थे। ह्विग नेता यह कोशिश कर रहे थे कि पूँजीपतियों को थोड़ी सी सुविधाएँ दे दी जायं किन्तु सत्ता बड़े-बड़े जमींदारों के हाथ में ही रहे। मार्क्स ने ह्विग नेताओं की इस "प्रगतिशीलता" पर यह टिप्पणी की थी:"ह्विग लोग पूँजीपतियों के, औद्योगिक और व्यापारी मध्यवर्ग के, **अभिजात वर्गीय प्रतिनिधि** हैं। इस शर्त पर कि पूँजीपति उन्हें अभिजातवर्गीय परिवारों के शक्तिशाली गुट (oligrachy of aristocratic families) को शासन का इजारा और पदों का एकच्छत्र अधिकार सौंप दें, वे मध्यवर्ग को वे सब रिआयतें देते हैं और उन्हें पाने में उसकी मदद करते हैं जो सामाजिक और राजनीतिक प्रगति के दौरान में **अनिवार्य** सिद्ध हो चुकती हैं और जिन्हें देने में विलंब नहीं किया जा सकता।" इस तरह १८३२ में जमींदारों ने सुधार-कानून पास हो जाने दिया जिससे उद्योगपति एकदम असंतुष्ट न हो जायँ। १८४६ के बाद उन्होंने स्वच्छन्द व्यापार (फ्री ट्रेड) की ओर उतने ही कदम उठाये जितने अनिवार्य थे "जिससे भूस्वामी अभिजातवर्ग के लिये अधिक से अधिक विशेषाधिकारों की रक्षा की जा सके। हर बार उन्होंने आन्दोलन की बागडोर इसलिये अपने हाथ में ली है कि उसे आगे बढ़ने से रोक दें और साथ ही अपनी जगह पर फिर से अधिकार कर लें।"[१०]

ब्रिटेन के अभिजातवर्ग की प्रगतिविरोधी भूमिका की इससे अच्छी व्याख्या और नहीं हो सकती। ह्विग और टोरी दोनों दल मिल कर और परस्पर विरोध बढ़ा कर सत्ता अपने वर्ग के हाथ में ही रखे थे

और आगे भी रखे रहना चाहते थे।

देहात में ये जमीदार सर्वशक्तिमान थे। खेत-मजदूरों को तो मतदान का अधिकार था ही नहीं, खाते-पीते किसान भो जमींदार की मर्जी के खिलाफ किसी को वोट न दे सकते थे। घूस, शराब, गुन्डागर्दी—चुनाव में इन सब को छूट थी। अर्नेस्ट जोन्स के "पीपुल्स पेपर" ने आयरलैण्ड के चुनावों के बारे में लिखा था : "हमने सचमुच सुना है कि भरी बंदूकें लिये और संगीनें ताने हुए सैनिकों ने जबर्दस्ती उदारपंथी निर्वाचकों को पकड़ लिया और जमींदार की निगाह के सामने वे अपने अन्तःकरण के विरुद्ध वोट देने के लिये घसीटे गये। इन पकड़े हुए निर्वाचकों से जिसने हमदर्दी दिखाई, उसे सैनिकों ने जानबूझ कर गोली से उड़ा दिया। निर्विरोध जनता के कत्ले आम मचा दिये उन्होंने !" यह सन् सत्तावन से सिर्फ पाँच साल पहले की बात है ! इंगलैण्ड में, उसी पत्र के अनुसार, जमींदारों ने पुलिस और गुन्डों द्वारा अपने विरोधियों को बाकायदा आतंकित किया। पैसे और शराब के बल पर वोट खरीदने की क्रिया अलग थी। इस तरह के निर्वाचन से जमींदार ही प्रसन्न थे; पूंजीपतियों को उससे घोर असन्तोष था। ब्राइट ने पार्लियामेंट में और उसके बाहर अपने भाषणों द्वारा इस जनतन्त्र की धज्जियाँ उड़ा दीं। स्वयं पूंजीपतियों के पत्र लंदन "इकॉनॉमिस्ट" ने लिखा था, "जब हम इन सब बातों पर एक साथ विचार करते हैं—घोर शराबखोरी, घटिया कूटनीति, बड़े पैमाने पर घूसखोरी, निर्दय आतंक, उम्मीदवारों का ईमान बिगड़ना, ईमानदार निर्वाचकों की तबाही, कमजोर निर्वाचकों का दबाव में आना और अपमानित होना, झूठ, दाँवघात, कीचड़ उछालना, ये सब काम जो दिनदहाड़े, खुले खजाने-शर्म और हया के बिना होते हैं—पवित्र शब्द भ्रष्ट किये जाते हैं, बड़े नाम कलंकित होते हैं—तब हम बलि चढ़ने वालों की नष्ट देह और भ्रष्ट आत्माओं की चिता पर इस नयी पार्लियामेंट का महल उठते देख कर चकित रह जाते हैं।"[११]

सन् १८५७ से पाँच साल पहले ब्रिटिश जनतंत्र का यह हाल था। इस पर उस समय के पूंजीवादी पत्रों को भी शर्म आती थी, वे उसे जनतन्त्र का मखौल और देश के लिये कलंक समझते थे। यह काम भारत के राष्ट्रीय इतिहासकारों के लिये बचा था कि वे जमीदारों के इस स्वांग का जय-घोष करें और अपने देश की जनता के संघर्ष को प्रति-

क्रियावादी बतायें।

जमींदारवर्ग सत्ता के हर क्षेत्र में अपना प्रभुत्व स्थापित किये हुए था। शासन के बड़े-बड़े पदों पर, फौज और जलसेना में और चर्च के अन्दर भी इसी वर्ग के प्रतिनिधि होते थे। जब अन्य क्षेत्रों में सुधार हो गया, तब भी सिविल सर्विस में घूस और बेईमानी का बोलबाला बना रहा। १८७० में ब्रिटेन के प्रधान मन्त्री ग्लैड्स्टन ने इस दिशा में सुधार किया जिससे बड़े आदमियों के संरक्षण द्वारा नौकरी मिलने के बदले हर उम्मीदवार को दूसरों के साथ खुली होड़ में अपनी योग्यता सिद्ध करना आवश्यक हुआ। इसके एक साल बाद फौज में सुधार हुआ। अब तक नियम यह था कि ऊँचे पद का उम्मीदवार व्यक्ति उस पद पर प्रतिष्ठित व्यक्ति से उसे खरीद लेता था। सम्राट् की आज्ञा से इस क्रय-विक्रय की दर निश्चित कर दी गई थी; किन्तु व्यवहार में उसका उल्लंघन होता था। एक बार पद खरीद लेने पर अफसर को यह हक होता था कि अपने से नीचे पद वाले व्यक्ति को उसे बेच दे। "नतीजा यह होता था कि ग़रीब आदमी दरगुज़र कर दिये जाते थे। कभी-कभी युद्धकाल के अलावा उन्हें तरक्की का अवसर ही न मिलता था; युद्धकाल में इसलिये कि मरने के कारण जो कमीशन खाली होते थे, वे बेचे न जा सकते थे।"[१२]

फ्राँस में राज्य-क्रान्ति के कारण अभिजात वर्ग सत्ता खो चुका था; किन्तु ब्रिटेन में वह सत्ता पर अपना अधिकार और दृढ़ कर चुका था। चर्च, फौज, शिक्षा सभी क्षेत्रों पर अधिकार जमाने के कारण, ट्रेवेलियन के मत में, अंग्रेज़ अभिजात वर्ग फ्रान्सीसी सामन्त वर्ग की अपेक्षा अपने वर्ग-हितों की ज्यादा अच्छी तरह रक्षा कर सका था। फ्रांस का अभिजात वर्ग "उन्हीं दिनों अपना सब कुछ खो चुका था, जिन दिनों अंग्रेज़ ज़मीदार किसानों के अधिकार छीनकर अपनी रियासतें बढ़ा रहे थे और भूमि पर अपना अधिकार और दृढ़ कर रहे थे।"[१३]

राज्य-सत्ता और शासन-व्यवस्था की दृष्टि से ब्रिटेन सबसे आगे बढ़ा हुआ देश न था। फ्रांस में अभिजात वर्ग सत्ता खो चुका था। इसके अलावा ब्रिटेन के तमाम उदारपंथी विचारकों की आँखें नये अमरीका प्रजातंत्र की ओर लगी थीं। उन्हें वह आदर्श जनतंत्र मालूम होता था। न वहाँ सम्राट् था, न ड्यूक और लार्ड थे, न रियासत पर

सिर्फ बड़े लड़के का हक माना जाता था, न मतदान पर ब्रिटेन के अभिजात वर्ग की सी लगाई हुई पाबंदियाँ थीं। इसलिए पूँजीवादी विकास की दृष्टि से भी ब्रिटेन को हर क्षेत्र में सभी देशों से आगे बढ़ा हुआ देश समझना भ्रम है।

१८३२ का सुधार-कानून पास करके ब्रिटेन के अभिजात वर्ग को आशा थी कि वह राजनीतिक संकट से अपनी रक्षा कर लेगा। लेकिन यह कानून बनने के पाँच साल बाद ही ब्रिटेन के मज़दूर-वर्ग ने संगठित रूप से आन्दोलन करना शुरू कर दिया। १८३६ में लंदन के श्रमिक संघ (वर्किंगमैन्स एसोसियेशन) की स्थापना हुई। लंदन, बर्किंघम और यौर्कशायर में चार्टिस्ट आन्दोलन का जन्म हुआ। जनता की माँगों का एक चार्टर बनाया गया। इसमें माँग की गई कि सभी बालिगों को मतदान का अधिकार हो, मतदान वैलट द्वारा हो, निर्वाचन-क्षेत्र बराबर-बराबर हों, मतदान के लिये संपत्ति की शर्तें ख़त्म कर दी जाँय, इत्यादि। उद्योगधन्धों के ज़िलों में विराट् सभाएँ हुईं। इनमें एक राष्ट्रीय सम्मेलन के लिये प्रतिनिधि चुने गये। फर्वरी १८३९ में यह सम्मेलन हुआ। चार्टिस्टों में एक दल बलपूर्वक सत्ता पर अधिकार करने के पक्ष में था। इसका कहना था कि आम हड़ताल होनी चाहिये, जनता को हथियारबन्द करना चाहिये और सड़कों पर बैरीकेड बनाने चाहियें। गृह-युद्ध की तैयारी भी शुरू हो गई। उत्तर के ज़िलों में ज़्यादा सरगर्मी थी। वहाँ की जनता को आतंकित करने के लिये सर चार्ल्स नेपियर की कमान में फौज भेजी गई। आतंक काम कर गया, फिर भी जहाँ-तहाँ विद्रोह फूट पड़े। बर्मिंघम में बगावत हुई; कई चार्टिस्ट नेता गिरफ्तार किये गये और कुछ दिन के लिये वहाँ फौजी शासन कायम कर दिया गया।

ब्रिटेन की समाज-व्यवस्था में सबसे क्रान्तिकारी वर्ग यह मजदूर-वर्ग था। उसकी राजनीतिक कार्यवाही को फौजी ताकत से दबाया गया। राज्य-सत्ता ने अपना नग्न क्रान्ति-विरोधी रूप प्रकट कर दिया। जुलाई १८३९ में साढ़े बारह लाख लोगों के दस्तखत वाला चार्टर पार्लियामेंट में पेश किया गया। उसके पक्ष में ४६ वोट पड़े और विरोध में २३५ सदस्यों ने मत दिया। चार्टर रद हो गया। देश की विधान-सभा ने सिद्ध कर दिया कि उसके बहुसंख्यक सदस्य अभिजात वर्ग के

हितों के रक्षक हैं। हर जगह मजदूरों के नेता पकड़े गये। साउथ वेल्स में तीन हजार हथियारबन्द मजदूर अपने एक नेता को छुड़ाने चले। सैन्यबल द्वारा उन्हें तितर-बितर कर दिया गया। १८४२ में दूसरा चार्टर बना। इस पर तेंतीस लाख लोगों ने दस्तखत किये। वह भी पार्लियामेंट में पेश हुआ और फिर रद कर दिया गया। यौर्कशायर और लङ्काशायर में कई हफ्तों तक आम हड़ताल चली। डेढ़ हजार से ऊपर लोग गिरफ्तार किये गये। मजदूरों का कोई भी नेता बाहर न रह गया। पाँच सौ को कारावास दण्ड मिला और ७९ को आस्ट्रेलिया में निर्वासित किया गया। १८४८ में फ्रांस की क्रान्ति से उत्साहित होकर फिर एक बार विराट् सभाएँ और विशाल प्रदर्शन हुए, फिर एक राष्ट्रीय सम्मेलन हुआ और चार्टर बना। इस बार तै हुआ कि जनता हथियारबन्द होकर यह चार्टर पार्लियामेंट के सामने ले जाय। सरकार ने लन्दन में फौज बटोरी और हजारों आदमियों को पुलिस में भर्ती किया। पार्लियामेन्ट की ओर जुलूस ले जाने पर पाबन्दी लगा दी गई। तीसरी बार भी शासक वर्ग सत्तारूढ़ बने रहने में सफल हुआ।

सन् सत्तावन की राज्यक्रान्ति आरम्भ होने से ठीक दो साल पहले लन्दन के हाइड पार्क में जनता का विराट् प्रदर्शन हुआ। इसका उद्देश्य इंगलैंड के जनतन्त्र को थोड़ा और जनतांत्रिक बनाना था। मार्क्स ने एक पत्र में इस प्रदर्शन का वर्णन किया था। इसे देखने से पता चलता है कि इंगलैंड में क्रान्तिकारी शक्ति कौन थी और उसे दबाने वाली क्रान्तिविरोधी शक्ति कौन थी। आरम्भ में मार्क्स ने लिखा था कि इतिहास के लिये अनावश्यक शक्तियाँ अपना सामाजिक आधार खोकर भी मरने के पहले पूरा जोर लगाकर हमला कर बैठती हैं। इंगलैंड में अभिजात वर्ग का गुट और उसका समर्थक चर्च ऐसी ही शक्तियाँ थीं। अँग्रेज अभिजात वर्ग कहता है : हमारे लिये धार्मिक लफ्फाजी काफ़ी है, जनता का काम है, ईसाइयत पर आचरण करना। इस पतनशील, क्षयमान और विलासप्रिय अभिजात वर्ग ने चर्च से गठबन्धन कर रखा था। इंगलैंड में एक कानून पास किया जाने वाला था कि इतवार को श्रमिक जनता अखबार न पढ़े, हजामत न बनाये, किसी तरह के आमोद-प्रमोद में भाग न ले, इत्यादि।

इंगलैंड का अभिजात वर्ग कितनी सुन्दर वैज्ञानिक विचारधारा

का प्रसार कर रहा था ! हिन्दुस्तान के पिछड़े हुए लोग इस बात का महत्व क्या जानें कि इतवार को खुद अल्लाताला ने विश्राम किया था; इसलिये हजामत बनाना या किसी आमोद-प्रमोद में भाग लेना उनकी शान में गुस्ताखी करना है। इंगलैंड के मजदूरों ने इसी बिल के विरुद्ध प्रदर्शन संगठित किया था। हाइड पार्क में दो लाख की भीड़ इकट्ठी हुई। पुलिस को यह जनतांत्रिक हरकत पसन्द न थी। उसने घोषित किया कि पार्क महारानी विक्टोरिया की निजी सम्पत्ति है; इसलिये वहाँ सभा नहीं की जा सकती। लोग व्यंग्यपूर्ण स्वरों में महारानी की जै बोलते हुए ऑक्सफोर्ड मार्केट की ओर चले गये। चार्टिस्ट आन्दोलन का एक नेता पेड़ पर चढ़ गया और जनता ने उस पेड़ के चारों ओर ऐसी दृढ़ नाकेबन्दी कर ली कि पुलिस को उसे पकड़ने की कोशिश छोड़नी पड़ी। सड़क पर बग्घियों में बैठे हुए ब्रिटिश जनतन्त्र के प्रतिनिधि हवा खाने जा रहे थे। "दोनों ओर से उनकी लूलू बोलती हुई भीड़ उन पर टूट पड़ी। विभिन्न स्वरों में हीही-छींछी करने में कोई भाषा अंग्रेजी की बराबरी नहीं कर पाती।" सीसी करने, सीटी बजाने, चिल्लाने, कांखने, दाँत पीसने, गुर्राने आदि से एक विचित्र समा बँध गया। ("A cacophony of grunting, hissing, whistling, squeaking, snarling, growling, croaking, shrieking, groaning, ratting, howling, gnashing sounds !") एक देवीजी ने बग्घी से एक सुन्दर जिल्द बँधी पुस्तक लोगों को भेंट करनी चाही। मजदूरों ने कर्कश स्वर में जबाब दिया—घोड़ों को दे दो पढ़ने को ! अनेक लेडियों को बग्घियाँ छोड़कर पैदल चलना पड़ा। तीन घँटे तक यह प्रदर्शन होता रहा। "अंग्रेजों के फैफड़े ही इतनी लम्बी कसरत कर सकते थे।"[१४]

पहली जुलाई को हाइडपार्क में फिर प्रदर्शन हुआ। पुलिस ने न केवल सभा करने पर वरन् भीड़ लगाने पर भी पाबन्दी लगा दी थी। डेढ़ लाख जनता ने पार्क में एकत्र होकर पुलिस को चुनौती दी। "इस विशाल जन-सभा ने और उसमें हिस्सा लेने वाले हजारों कंठो से निकलने वाली आवाज ने पुलिस के हुक्म तोड़ दिये।" प्रदर्शन के बाद जब यह भीड़ छँट गई तब पुलिस ने हमला किया। "उसने लोगों के सिरों पर प्रहार किया जब तक खूब खून न बहने लगा" और १०४

व्यक्तियों को गिरफ्तार किया। पुलिस के प्रहार से आहत होकर एक बूढ़ा अंग्रेज गिर गया। क्राइमिया के युद्ध में भाग लेने वाले एक सैनिक ने यह देखकर कहा: यहाँ की पुलिस इंकरमन की लड़ाई के रूसियों से भी बदतर है। पुलिस ने उसे पकड़ना चाहा लेकिन भीड़ ने उसे बचा लिया। लोगों ने दस-पन्द्रह हजार की संख्या में अलग-अलग सभाएँ कीं और हर जगह पुलिस ने इन्हें भंग किया। ऐसी ही एक सभा में एक गुमनाम वक्ता ने कहा था: "इंगलैण्ड के नागरिको! जागो, अपनी नींद छोड़ो या फिर हमेशा के लिये सो जाओ। जैसे आज किया है, वैसे ही हर इतवार को विरोध-प्रदर्शन करो। अपने हक और अधिकार माँगने में मत डरो। कुशासन और अभिजात वर्गीय गुट के उत्पीड़न की बेड़ियाँ तोड़ दो (throw off the shackles of oligarchical oppression and misrule)। मेरी बात पर न चलोगे तो हमेशा सताये जाओगे और बर्बाद हो जाओगे।"[१४]

इस अंग्रेज वक्ता की समझ में न आया था कि ब्रिटेन अपनी जनतांत्रिक व्यवस्था में सब देशों से आगे है, वह भारत जैसे पिछड़े हुए देशों में नयी सभ्यता का प्रकाश फैला रहा है, वह अपनी पुलिस के बल पर मजदूरों को जबर्दस्ती गिरजाघर भेजकर उनका लोक-परलोक दोनों सुधार रहा है! इंगलैण्ड के जनतन्त्र का सबसे अधिक विरोध वहाँ के मजदूरवर्ग ने किया। तब क्रान्तिकारी कौन था, मजदूर या अंग्रेजी जनतन्त्र?

मजदूरों को मतदान का अधिकार नहीं था। वे सार्वजनिक बालिग मताधिकार की माँग कर रहे थे। पूँजीपति वर्ग भी इस माँग में उनके साथ था। मजदूर वर्ग के क्रान्तिकारी आन्दोलन से उसे भय था किन्तु उसके उदारपंथी नेताओं को विश्वास था कि वे मजदूरों के आन्दोलन का दबाव डालकर सत्ता हथिया सकेंगे। जॉन ब्राइट ने निर्वाचन-सुधारों की माँग करते हुए 'हाउस ऑफ कामन्स' में २४ मार्च १८५९ के अपने भाषण में कहा था: "जनवादी ढँग की कोई भी उथलपुथल या हिंसात्मक कार्यवाही आपसे ज्यादा हमारे लिये खतरनाक होगी।" ("Any disturbance or violent action of a democratic nature would be more dangerous to us than to you")।[१५] फिर भी मजदूरों के मालिक इस बात के पक्ष में थे कि मतदान का अधिकार

श्रमिक जनता को दिया जाय। उन्हें विश्वास था कि "इससे उनकी संपत्ति सुरक्षित रहेगी" ("it would prove for the safety of their property")।[१५] पूँजीपति उस जनतन्त्र के लिये आन्दोलन कर रहे थे जिसमें उनकी संपत्ति सुरक्षित रहे। मजदूरों का आन्दोलन पूँजीवादी जनतन्त्र की मांगों को लेकर भी चल रहा था। लेकिन ब्रिटेन का अभिजातवर्ग इसी पूँजीवादी जनतन्त्र के कायम होने में बाधा डाल रहा था। उसे जॉन ब्राइट जैसे लोग, जो भावी जनतन्त्र में पूँजीवादी संपत्ति की रक्षा करने की खुली घोषणा कर रहे थे, उजबक जैसे लगते थे। ब्राइट ने इस अन्धे अभिजावतर्ग से कहा था, अभी मजदूरों को तुमने अछूत बना रखा है; इससे मौका पड़ने पर भारी असन्तोष और हलचल पैदा हो सकती है। उन्हें वोट देने का हक मिल जाय तो उनमें अधिक आत्मसम्मान पैदा होगा और उनका मानसिक स्तर और ऊँचा होगा! ("but if you give them a vote they will have more self-respect, more elevation of mind")[१५]

उग्र विचारक और वक्ता जॉन ब्राइट ने पूँजीवादी जनतन्त्र का रहस्य उसका जन्म होने से पहले ही प्रकट कर दिया था। क्रान्ति के निम्न धरातल से मजदूरों के मन को सुधारवाद के उच्च स्तर पर ले जाने के लिये पूँजीवादी जनतन्त्र अचूक साधन था। ब्राइट को भय था कि शासक अभिजात वर्ग अपनी मूर्खता से अपने साथ उद्योगपतियों को भी न ले बैठे जिन्हें मजदूरों की जनवादी हलचल और हिंसात्मक कार्यवाही से अधिक खतरा था। ऐसे ही विचारकों ने अपनी गरम लफ्फाजी से मजदूरों के एक हिस्से को अपने असर में रक्खा और उनकी क्रान्तिकारी कार्यवाही को रोक कर चार्टिस्ट आन्दोलन के असफल होने में सहायता की। इससे सिद्ध हुआ कि पूँजीपति वर्ग भी मजदूरों की क्रान्तिकारी कार्यवाही रोक कर एक हद तक क्रान्ति-विरोधी खेमे में दाखिल हो चुका था। ये दिन ऐसे थे जब यूरोप को कम्युनिज्म का भूत सता रहा था, जब १८४८ में मार्क्स और एंगेल्स ने अपना प्रसिद्ध कम्युनिस्ट घोषणापत्र प्रकाशित किया था, जब फ्राँस के मजदूर पैरिस की बैरिकेडों के पीछे लड़कर दूसरी बार प्रजातन्त्र कायम कर चुके थे और लगभग बीस वर्ष बाद-सन् सत्तावन की राज्यक्रान्ति के चौदह वर्ष बाद—पैरिस कम्यून की स्थापना करके संसार में पहली बार मजदूरों की राज्यसत्ता

कायम करने वाले थे। इंगलैन्ड के चार्टिस्ट मजदूर जो अपने अधिकारों के लिये लड़ रहे थे, जो बैरिकेड बनाकर सत्ता पर अधिकार करने के लिये संगठित हो रहे थे, वास्तव में ब्रिटेन की मुख्य क्रान्तिकारी शक्ति थे। इस क्रान्तिकारी शक्ति का स्वाभाविक और समर्थ सहयोगी था—भारत का स्वाधीनता-आन्दोलन। यदि ब्रिटेन में सत्ता पूँजीपतिवर्ग के हाथ में होती तो भी मजदूरों को दबाने और भारतीय जनता को गुलाम बनाने के कारण वह क्रान्तिविरोधी ठहरता।

१८५७ में किसी क्रान्तिकारी मजदूर नेता ने, यूरोप के किसी प्रगतिशील विचारक ने यह नहीं कहा कि हिन्दुस्तान के लोग प्रतिक्रियावाद की जीत के लिये लड़ रहे हैं। उन्हें भारत का सशस्त्र संघर्ष अपना मित्र और सहायक मालूम पड़ता था और इसी रूप में उन्होंने उसका अभिनन्दन किया था। उन्होंने यूरोप के मजदूरवर्ग और उपनिवेशों की जनता की मैत्री के महत्व को पहचाना था। इंगलैंड में भारतीय जनता के विरुद्ध झूठे और घृणित प्रचार से आतंकित न हो कर उन्होंने अपनी शक्ति-भर मजदूर जनता को यहाँ की सच्ची हालत बताने की कोशिश की थी। १९१७ की समाजवादी राज्यक्रान्ति से बहुत पहले उन्होंने श्रमिक जनता की अन्तरराष्ट्रीय एकता का आदर्श संसार के सामने रखा था।

अंग्रेज मजदूर और सन् सत्तावन की राज्यक्रान्ति

१८४८ की राजनीतिक उथल-पुथल के दिनों में मज़दूर नेता अर्नेस्ट जोन्स गिरफ्तार किये गये थे। उन्हें १३ फीट लंबी और छः फीट चौड़ी कालकोठरी में रखा गया था। वह कोठरी इतनी अरक्षित दशा में थी कि जाड़े में बर्फ और पानी से भर जाती थी। जेल-जीवन के दूसरे साल उनका शरीर टूट गया, लेकिन उन्होंने राजनीतिक जीवन से छुट्टी लेने की शर्त मान कर रिहाई पाना पसंद न किया। इस समय उन्होंने "दि न्यू वर्ल्ड" नाम की कविता लिखी जो पहले १८५१ में और फिर "दि रिवोल्ट ऑफ हिन्दोस्तान और दि न्यू वर्ल्ड" (भारतीय विद्रोह या नयी दुनिया) नाम से १८५७ में प्रकाशित हुई थी।

इसे अपनी स्वर्गीया पत्नी को समर्पित करते हुए अर्नेस्ट जोन्स ने लिखा था, "इस कविता में घरेलू जीवन के बारे में कुछ नहीं है लेकिन इस जीवन के आधार पर ही हमारा कर्ममय जीवन विकसित होता है, हमारी शक्ति या दुर्बलता को इसी जीवन का सहारा मिलता है और इसी के प्रभाव से हमारे सांसारिक जीवन की गति निश्चित होती है, इसलिये एक अत्यन्त सच्ची और अच्छी नारी को मैं ये पृष्ठ समर्पित करता हूँ।

"१८४८-४६ में एक प्रार्थना-पुस्तक के पन्ने फाड़कर उन पर अपने रक्त से मैंने दि न्यू वर्ल्ड लिखी थी। जेल के अधिकारियों ने मुझे लिखने की सामग्री देने से इन्कार कर दिया था। दो साल से ऊपर तक काल-कोठरी में अकेले खामोश पड़े रहने के लिये उन्होंने मुझे डाल दिया था। उन दिनों हैजा जोरों से फैला हुआ था। मुझे यह जानने की भी अनुमति नहीं थी कि मेरी पत्नी और बच्चे जीवित हैं या मर गये। उनसे मिलने या पत्नी से साल भर में चार बार से अधिक पत्र पाने की अनुमति मुझे नहीं थी। उसने सिर आई मुसीबतों का सामना वीरता से किया और मेरी सजा कम कराने के लिये लगातार और अथक लगन से काम किया (यद्यपि यह सब उसने मेरी अनुमति लिये बिना और मेरे जाने बिना ही किया)। उसके प्रयत्नों को जानबूझ कर घृणा और अपमान से ठुकराया गया, निश्चित अभद्रता के साथ ठुकराया गया।

"कठिन परीक्षा के उन दिनों में उसे वह रोग हो गया जिससे

पिछली अप्रैल को उसका देहान्त हो गया और इसलिए विशेष रूप से मैं उसे यह बन्दीगृह का गीत समर्पित करता हूँ। यह गीत मेरे हृदय से निकला था। उसकी मृत्यु के बाद यह पहली रचना है जो मैने प्रकाशित की है और उसकी स्मृति को मैं एक नम्र श्रद्धांजलि के रूप में अर्पित करता हूँ।

"धन वैभव में पैदा होकर और पल कर उसने शिकायत का एक भी शब्द कहे बिना मेरी उस गरीबी में मेरा साथ दिया जो एक महान् और पवित्र उद्देश्य के लिये काम करने के कारण मेरे बाँटे पड़ी थी। किसी को नहीं मालूम कि उसने क्या-क्या सहा था। लेकिन उसके वे रिश्तेदार जो दुख और मुसीबत के समय उससे मुँह मोड़ कर चले गये थे, यह देखने के लिए अभी जीवित रहेंगे कि उच्च कुल में पैदा होने से या पुरखों से जो घिसा-पिटा नाम मिला है, उसकी तुलना में उसका नाम अधिक गौरवान्वित होता है।

"मैं उसकी समाधि पर संगमर्मर का भवन नहीं बना सकता, मैं उसे यह कविता अर्पित करता हूँ।"[२६]

ऐसे वीर और सहृदय कर्मयोगी कवि और मजदूर नेता भारतीय क्रान्ति के मित्र थे। जोन्स ने अपने सबसे कठिन दिनों की रचना को अपने जीवन की खोई हुई सबसे प्रिय वस्तु की स्मृति को समर्पित किया था। इस रचना का सम्बन्ध भारत देश, भारतीय जनता और भारतीय क्रांति से था। आरम्भ में कवि ने अमरीका का जयघोष किया है जहाँ पुरोहितों की कट्टरता और सामन्ती अहंकार का अभाव है। अमरीका ने अपने शैशवकाल में ही चर्च और बादशाही को निमू ल कर दिया। इस सुन्दर अमरीकी प्रजातंत्र पर दास प्रथा का कलंक लगा हुआ है और श्वेतवर्ण के लोग भी सोने और लोहे के गुलाम बनते जा रहे हैं। जोन्स के अनुसार अमरीकी प्रजातन्त्र भी अपने साम्राज्य का निर्माण करेगा और उसके जहाज जापान पहुँचेंगे। चीन के मैदानों में उसकी फौजों का नाश होगा। युद्ध की तैयारी होगी, हथियारबन्दी बढ़ेगी। ब्रिटेन के बारे में लिखा है कि वह धर्म के नाम पर भारत का उत्पीड़न करता है। युद्ध के जहाजों में बिशोप भेजे जाते हैं। ईश्वर की वाणी के प्रसार के नाम पर हर निर्दय कृत्य और हत्या को न्यायपूर्ण सिद्ध किया जाता है। जोन्स ने भविष्य का स्वप्न देखते हुए लिखा कि हिन्दुस्तान में विद्रोह

फूट पड़ता है। बूढ़ा ब्रिटेन उसे दबाने के लिये ज़ोर लगाता है। लेकिन हिन्दुस्तानियों का सितारा बुलन्दी पर है, वे युद्ध से डरते नहीं हैं। अंग्रेज़ों की संगीनों से एक दस्ता बिखर जाता है तो उसकी जगह दूसरे दस्ते आ जाते हैं। ब्रिटेन की फौज के कमीशन खरीदने वाले अफ़सर हिन्दुस्तानियों का मुकाबला नहीं कर पाते। तब साठ साल के एक वृद्ध अफ़सर को सेनापति बनाया जाता है (क्योंकि इस समय प्रश्न जीवन-मरण का है) । लेकिन उसके सैनिकों में स्वाधीनता के लिये लड़नेवालों का उत्साह नहीं है।

जो लोग समझते हैं कि सैनिक कुछ पैसों के लिये उत्साहपूर्वक प्राण दे देंगे, उनसे जोन्स का कहना है :—

"Think ye that men will still the patriot play,
Bleed, starve, and murder for four pence per day ?"

("क्या तुम समझते हो कि सैनिक देशभक्तों की भूमिका अदा करते रहेंगे,

चार पेंस रोज़ाना पर खून बहायेंगे, भूखे मरेंगे और दूसरों की हत्या करेंगे ?")

और आगे पूछा है—क्या वे दूसरों की नीच योजनाओं के लिये लड़ने जायँगे और स्वयं नागरिक अधिकारों से वंचित रहेंगे ?

इस तरह की पंक्तियों में जोन्स ने श्रमिक जनता को समझाया है कि उसके बेटों की फौज दूसरों को तो गुलाम बनाती ही है, उस श्रमिक जनता को भी अधिकार-वंचित रखती है। इसका लाज़मी नतीजा यही निकलता है कि अंग्रेज़ी फौज को उपनिवेशों की जनता को गुलाम बनाने के लिए न लड़ना चाहिये और यह भी कि ब्रिटेन के मज़दूर वर्ग की आज़ादी उननिवेशों की जनता की आज़ादी से जुड़ी हुई है।

फौज के अन्दर साधारण सैनिकों की शिकायतों का उल्लेख भी जोन्स ने किया है। ये कुछ वैसी ही शिकायतें हैं जैसी अंग्रेजों के अधीन हिन्दुस्तानी फौज के सैनिक किया करते थे। साधारण सैनिक फौज में नौकरी करते हुए बूढ़े हो जाते हैं लेकिन इनाम-इकराम सब अफ़सरों को मिलता है, वे खाली हाथ ही रहते हैं। पिद्दी से अफ़सरों पर सम्मानों की वर्षा होती है और उन पर कोड़ों की मार पड़ती है । ऐसे सैनिकों को उन आदमियों से लड़ना पड़ता है जिन्हें ईश्वर ने उनका दुश्मन नहीं बनाया।

भारत में अंग्रेज़ी सेना का बस नहीं चलता। कवि ने हिन्दुस्तानियों के भावी प्रतिरोध का ओजस्वी वर्णन इस प्रकार किया है :—

"Victorious deluge! from a hundred heights,
Rolls the fierce torrent of a people's rights,
And Sepoy soldiers, waking, band by band,
At last remember they've a fatherland!
Then flies the huxtering judge, the pandering peer,
The English pauper, grown a nabob here!
Counting-house tyranny, and pedlar-pride,
While blasts of freedom sweep the Country wide!"

[अंग्रेज़ फौज भाग रही है और पीछे से भारतीय सेना उसे खदेड़ रही है। इसी अभियान के लिये जोन्स ने लिखा :]

"विजयी सैलाब! सैकड़ों पर्वतों से जनता के अधिकारों की दुर्धर्ष नदी बहती है।
और सिपाही जागते हैं, एक के बाद दूसरी पल्टन जागती है,
अन्त में उन्हें याद आ गया है कि उनके भी एक मातृभूमि है।
तब वहाँ से भागते हैं पैसे के लोभी जज, ऐयाश लॉर्ड,
वे मुफलिस अंग्रेज़ जो यहाँ आकर नवाब बन गये थे।
अत्याचारी महाजन और घमंडी व्यापारी भागते हैं,
जब सारे देश में स्वतन्त्रता का दुंदुभिघोष फैल जाता है।")

अंग्रेज़ वीरता से लड़ते हैं लेकिन ईश्वर, आशा, इतिहास सभी हिन्दुस्तानियों की ओर हैं। सबल अंग्रेजी सेना अपने उत्साह का अनुचित उपयोग करती है; उधर एक राष्ट्र है जिसने सैकड़ों वर्षों तक अन्याय सहा है।

("Here but a host in misused Courage strong:
A nation there, with centuries of wrong!"

हिन्दुस्तानियों को अपने शासक याद आते हैं जिनके सिर पर ताज नहीं हैं।

अंग्रेज़ों का सेनापति वीरता से लड़कर प्राण देता है और इतिहास उसे अकृतज्ञ भाव से जल्दी भुला भी देता है। भारतीय जनता पादरियों से बदला लेती है। बचे खुचे अंग्रेज़ जहाज़ में बैठ कर इंगलैण्ड चल

देते हैं और हिन्दुस्तान आज़ाद हो जाता है ("and Hindustan is free!")।

अर्नेस्ट जोन्स की भविष्यवाणी आधी तो कविता लिखने के आठ साल बाद ही पूरी हो गई और शेष सौ साल बाद पूरी हुई। हिन्दुस्तान आज़ाद हो सकता है और होगा, यह अदम्य विश्वास उस काल-कोठरी के बंदी के हृदय में था। उसके स्वप्न में एक ही कमी है। इस अंग्रेज़ कवि ने इसकी कल्पना न की थी कि अनेक हिन्दुस्तानी भी अंग्रेज़ों की मदद करेंगे और अपने देशवासियों का खून बहायेंगे। इन हिन्दुस्तानियों की मदद अंग्रेज़ों को न मिलती तो वे १८५७ में निस्सन्देह वैसे ही भागते जैसे जोन्स ने आठ साल पहले अपनी कविता में लिखा था।

जोन्स ने अफ्रीका की जनता के अभ्युत्थान का भी भव्य चित्र खींचा था और इनके साथ इंगलैण्ड के मज़दूर वर्ग की जीत की भी कल्पना की था। मज़दूर वर्ग अपने अनुभव से देखता है कि सम्राट् को हटा देने से अभिजातवर्ग उसका शोषण करता है और अभिजातवर्ग को हटा देने से पूँजीपति उसका उत्पीड़न करता है। मज़दूर वर्ग अपने संगठन से जब तक सत्ता पर अधिकार नहीं कर लेता तब तक केवल अत्याचारियों की अदला-बदली होती है, अत्याचार का अन्त नहीं होता।

बादशाही खत्म करने के संघर्ष में जोन्स ने सम्भवत: १७ वीं सदी के गृहयुद्ध का अनुभव ध्यान में रखा है। बादशाही खत्म होती है और लोग समझते हैं कि अब स्वर्ग मिल गया लेकिन अभिजात वर्ग जनता से कहता है : हथियार रख दो और अपने घर जाओ। वह वर्ग स्वयं हथियारबन्द होकर किसानों को कुचल देता है। भूस्वामी अभिजातवर्ग के लोग पूँजीपतियों से डरते हैं। दोनों एक दूसरे पर प्रहार करते हैं लेकिन दोनों का प्रहार गरीबों पर भी होता है। जमींदार अन्याय से इकट्ठे किये हुए गल्ले के लिए संरक्षण (Protection) चाहते हैं और पूँजीपति आज़ादी चाहते हैं कि और भी लूटें। वे अन्न और लगान से रुपया खसोटते हैं और पूँजीपति मज़दूरों की तनखाह में कटौती करते हैं। जमींदार झोंपड़ियाँ गिरा कर भेड़ों के लिए चरागाह और शिकार के लिए जंगल तैयार करते हैं। पूँजीपति मज़दूरों की बेकारी से लाभ उठाकर मिल में कम तनखाह पर काम कराते हैं।

इस वर्णन में जोन्स ने अपने समय की परिस्थिति का चित्रण किया

है। अभिजातवर्ग और पूंजीपतियों में सत्ता के लिये किस तरह संघर्ष हो रहा था, इसका सजीव चित्र ऊपर की पंक्तियों में मिलता है। इसके बाद पूँजीपतिवर्ग किस तरह के दाँव पेच से मजदूरों को फुसलाकर अपनी ओर करता है, उसका व्यग्यपूर्ण वर्णन भी जोन्स ने किया है। व्यापारी मज़दूरों से कहते हैं : इन सामन्ती अवशेषों ने इजारा कायम कर रखा है, वे हमारे व्यापार पर प्रतिबन्ध लगाये हैं और इस तरह तुम्हारी मज़दूरी पर भी रोक लगाये हैं। [जॉन ब्राइट जैसे उदार-पंथी नेता मज़दूरों को यही समझाते थे।] एक दिन के लिये विजयी मज़दूर खुशी मनाते हैं। अभिजात वर्ग का शासन खत्म हो जाता है। अब उनकी जगह पूंजीपति आते हैं; मज़दूरों से कहते हैं :—"हथियार रख दो! घर जाओ और जब तक हम सुधार करें तब तक इन्तज़ार करो!" और फिर पहले की तरह जनता के दुख दूर नहीं होते, टैक्सों के नीचे वह पिसती रहती है। अभिजातवर्ग की तुलना में मोटे-मोटे पूँजीपतियों का उत्पीड़न जनता के लिये और भी कठोर होता है। नाम बदल जाता है, हकीकत बनी रहती है। जनता नींद से जागती है और उसे पता चलता है कि उसके साथ फिर विश्वासघात किया गया है।

यहाँ जोन्स ने इंगलैण्ड के आसन्न भविष्य का चित्रण किया है। इतिहास ने सिद्ध कर दिया कि उसकी चेतावनी सही थी। सत्ता फिर भी पूंजीपतियों के हाथ में रही। एक पीढ़ी और भूखों मरती है और खत्म होती है। जनता की भुखमरी से लाभ उठाकर पूँजीपति मालामाल हो जाते हैं। जनता का दुख दूर करने के लिए पुलिस की संख्या दूनी कर दी जाती है। बड़े-बड़े भवनों में नाच और दावतें होती हैं; बाहर शहरों में चीथड़ों और भुखमरी का राज है। न्याय का उपयोग जनता को आतंकित करने के लिये किया जाता है। लोगों को हर सार्वजनिक स्थान में सभा करने का अधिकार है, बशर्ते पुलिस उसे न रोके। न्यायाधीशों का दिमाग़ किराये पर उठता है। कहीं कोई किसी से कुछ कहता है; आपने कुछ सुना भी नहीं है लेकिन आपको अपराधी ठहराकर सजा दे दी जाती है। आप एक सामान्य उद्देश्य के लिये संगठित होते हैं तो षड़यंत्र है; आप मंत्रिमण्डल या लोकसदन की आलोचना करते हैं तो यह राजद्रोह है। और आपने चर्च की आलोचना की तो यह कुफ्र है। प्रार्थनापत्र भेजने के लिए तुम्हें सभा करने का अधिकार है लेकिन तभी

जब हम चाहें। और तुम कहो भी वही जो हम कहलवाना चाहें।

न्यायवस्था और जनतन्त्र किन वर्गों के हित में हैं, जनता को सताने के लिए उनका कैसे उपयोग होता है, यह सब जोन्स ने अच्छी तरह समझ लिया था। इस कविता से क्रान्तिकारी मजदूरों के नेताओं की प्रगतिशील विचारधारा का पता चलता है। भारत में लॉर्ड क्लाइव, लॉर्ड विलेज़ली, लॉर्ड डलहौज़ी, लॉर्ड केनिंग और लॉर्ड मैकाले यह प्रगतिशील विचारधारा लेकर न आये थे। वे उस वर्ग के प्रतिनिधि बन कर आये थे जिसने जोन्स को कालकोठरी में बन्द किया था।

जोन्स के समय में जमींदारों और पूँजीपतियों ने भुखमरी-बेकारी दूर करने का एक नुस्खा यह निकाला था कि फालतू आदमियों को अमरीका, आस्ट्रेलिया आदि देशों में बसने के लिये भेज दिया जाय। जोन्स की कविता में पूँजीपति ग़रीबों को समझाते हैं: देश बहुत छोटा है; तुम मुफ़लिस हो, दूसरे देशों में जा बसो। घरबार और देश छोड़कर जाना कितना दुखदायी होता है, इसका मार्मिक वर्णन जोन्स ने किया है।

"अन्त में, जब दोस्त और दुश्मन को ज़रा भी आशा न थी, तब ख़ामोशी में और आनबान से जनता उठ खड़ी हुई! किसी ने हुक्म नहीं दिया!—लोग आये और अपने साथ परिपक्व विचार लाये। सच्चाई प्रकट होना चाहती थी:—वह थी जनता, हाड़-माँस के जीते-जागते लोग।"

मज़दूरों की विजय से सारे राष्ट्र, सारी जातियाँ, सभी नस्लों के लोग क्रमशः अपनी स्वाधीनता प्राप्त करते हैं। अंग्रेज मज़दूरों की विजय से पहले ही भारत की जनता ने विजय पायी, जोन्स की भविष्य वाणी का यह बहुत ही महत्वपूर्ण पहलू है। इतिहास की गति को समझने में उसने अपूर्व प्रतिभा का परिचय दिया है। हम देखते हैं कि भारत अंग्रेज़ मज़दूरों से पहले स्वाधीन हुआ। उनकी "न्यू वर्ल्ड" समाजवाद की नयी दुनिया है; उपनिवेशों की आजादी से इस दुनिया का इतना गहरा सम्बन्ध है कि जोन्स ने "रिवोल्ट ऑफ हिन्दोस्तान" को "न्यू वर्ल्ड" का पर्यायवाची बना दिया था। यह कविता जब १८५१ में छपी थी, तब इसका नाम "न्यू वर्ल्ड" ही था यद्यपि उसमें अन्य देशों के साथ भारत के स्वाधीनता-युद्ध की भी कल्पना थी। १८५७ में उसे "दि रिवोल्ट ऑफ हिन्दोस्तान" के नये नाम से प्रकाशित किया गया जो स्पष्ट ही भारतीय स्वाधीनता-

संग्राम के महत्व की विशेष स्वीकृति है।

सम्भवत: जोन्स की रचना में कल्पना-मूलक समाजवाद के भी कुछ तत्त्व हैं, फिर भी उनका मानवतावाद गम्भीर और वास्तविक हैं, इसमें सन्देह नहीं। उनका अनुकरणीय सूत्र है : "Holy of holies is the human heart." ("सबसे पवित्र तीर्थ मानव का हृदय है।") उनकी समाजवादी दुनिया में वर्ग-शोषण ही नहीं मिटा, जातियों और नस्लों का उत्पीड़न भी मिट गया है। स्त्रियों को पुरुषों के समान अधिकार मिले हैं। मुक्त होकर मनुष्य विज्ञान का उपयोग प्रकृति का रहस्य भेदने के लिये करता है। सबसे बड़ा चमत्कार है, मनुष्य; और उसके रहस्य उद्घाटित करता है, विज्ञान। मनुष्य से बढ़कर सुन्दर नाम दूसरा नहीं है। अब मनुष्य फौज, अभिजात वर्ग, बादशाहों, वकीलों, जल्लादों और ऐसी अन्य बेकार चीजों से मुक्त हो गया है। विज्ञान की प्रगति से मनुष्य और प्रकृति की पुरानी कलह समाप्त हो गई है। मनुष्य अपनी आवश्यकताओं के अनुसार प्रकृति को परिवर्तित करता है। बर्फीले मैदानों में ताड़ के वृक्ष और अंगूर की बेलें लहलहाती हैं।

पुराने धर्म-ग्रन्थों में कहा गया था कि सतयुग में शेर और भेड़ एक साथ पानी पीते थे या आगे किसी पैगम्बर के राज में पियें गे। जोन्स का स्वप्न है कि भविष्य में हिंसक जीव रहेंगे ही नहीं; निर्दोष जीव ही पृथ्वी पर स्वछन्द विहार करेंगे।

जोन्स को जीवन से बेहद प्यार था, मनुष्य के भावी विकास में उनकी आस्था दृढ़ थी, अनुपम वीरता से उन्होंने अपने देश के झूठे जनतंत्र और खोखली न्याय-व्यवस्था का चित्रण किया था, वर्ण और जाति के भेदभाव से ऊँचे उठकर उन्होंने एशिया और अफ्रीका की जनता का जयघोष किया, घोर यातनाएँ सहते हुए उन्होंने मज़दूरों की जीत में विश्वास अडिग रखा था और परधीन भारत के भविष्य का स्वप्न देख कर अंग्रेजों और हिन्दुस्तानियों की क्रान्तिकारी मैत्री का रास्ता दिख-लाया—सन् सत्तावन की राज्यक्रान्ति के शताब्दी-महोत्सव पर ये सब बातें श्रद्धा और आदर से याद करना हमारा कर्तव्य है। भले ही जोन्स के पाँव कभी डिगे हों और उनकी निगाह हमेशा साफ न रही हो किन्तु इसमें सन्देह नहीं कि उन्होंने जितने सहा, जितना संघर्ष किया, और

जिस तरह सन् सत्तावन के महत्व को उन्होंने आँका और यहाँ की जनता की आज़ादी के लिये आन्दोलन किया, वह इतिहास की एक अनूठी घटना है। उसे स्मरण करके हर भारतवासी के हृदय में जोन्स के प्रति कृतज्ञता और स्नेह के भाव ही उदय होंगे। कविता की भूमिका में जोन्स ने एक बहुत ही मार्मिक वाक्य लिखा था कि अंग्रेज़ों के उपनिवेशों में सूर्य कभी नहीं डूबता लेकिन उनकी धरती पर रक्त भी कभी नहीं सूखता। ("On its colonies the sun never sets, but the blood never dries.")।

उपनिवेशों के इस रक्तरंजित इतिहास को छिपाने में, उस पर लीपापोती करके उसे सभ्यता का प्रसार कहकर पेश करने में ब्रिटेन के बहुत से मज़दूर नेताओं और बुद्धिजीवियों ने विशेष योग्यता प्राप्त की है। उनकी तुलना में औपनिवेशिक जनता के प्रति जोन्स की सहानुभूति और भी मर्मस्पर्शी लगती है। उन्होंने वन्दीगृह में भारत और अन्य देशों की जनता तथा ब्रिटेन के मजदूरों की जीत का स्वप्न देखा था। मई १८५७ में हिन्दुस्तान की जनता ने संघर्ष छेड़ दिया। क्या तब भी जोन्स ने अंग्रेज़ शासकों के विरुद्ध भारतीय जनता की हिमायत की? यहाँ औरतों और बच्चों की हत्या की अतिरंजित कहानियाँ सुनकर वह भी तो विचलित नहीं हो गये? जिस युद्ध में अनेक सामन्त शामिल थे, क्या जोन्स के लिये वह स्वाधीनता का युद्ध था?

५ सितम्बर १८५७ के 'पीपुल्स पेपर" में जोन्स ने लिखा:"हिन्दुस्तान के विद्रोह के बारे में सारे यूरोप में एक ही राय होनी चाहिए। संसार के इतिहास में जो सबसे न्यायपूर्ण, भव्य और आवश्यक विद्रोह हुए हैं, उनमें से यह एक है।" जोन्स ने पोलैण्ड, हंगरी और इटली के स्वाधीनता-संग्राम से भारतीय विद्रोह की तुलना की। भारत पर होने वाले अत्याचार को उन्होंने यूरोप के अत्याचारों से जघन्य बताया। "आश्चर्य इस बात पर नहीं है कि १७ करोड़ जनता ने अब विद्रोह किया है, आश्चर्य इस बात पर है कि उन्होंने अधीनता स्वीकार ही कैसे की। वे अधीनता स्वीकार न करते यदि उनके राजाओं ने उनके साथ विश्वासघात न किया होता। इन राजाओं ने एक दूसरे को नीच और खुशामदी हमलावरों के हाथ बेच दिया जिससे कि उनकी घृणित सहायता से वे एक दूसरे का गला काट सकें। हर युग में, हर देश में जहाँ बादशाह,

राजा और अभिजातवर्ग रहे हैं, वे जनता को शत्रु सिद्ध हुए हैं।" जोन्स ने अभिजातवर्ग के बारे में जो बातें कही थीं, उनके पीछे सत्ता के लिये अंग्रेज जनता के संघर्ष की कहानी छिपी हुई थी। भारतीय जनता की पराधीनता का मुख्य कारण यहाँ के शासक-वर्ग का पतन, भीतरी कलह और एक दूसरे के विरुद्ध अंग्रेजों की सहायता माँगना था। यह सामंत-वर्ग न तो अंग्रेज़ों से देश की रक्षा कर सकता था, न वह उनकी सत्ता दृढ़ होने पर उनके विरुद्ध विद्रोह करने की ही जुर्रत कर सकता था। सन् सत्तावन का संघर्ष नये स्तर पर हो रहा था, जिसमें मुख्य भूमिका जनता की थी। यह संघर्ष सबसे पहले विदेशी शासकों के विरुद्ध था। ये शासक उन्हीं वर्गशक्तियों के प्रतिनिधि थे, जो ब्रिटेन की जनता का उत्पीड़न करते थे।

इसीलिये जोन्स ने भारतीय जनता के संघर्ष को अंग्रेज जनता का ही संघर्ष समझा। औपनिवेशिक जनता की लड़ाई और यूरोप के मजदूरवर्ग का संघर्ष एक दूसरे के सहायक हैं, यह सत्य जोन्स ने सन् सत्तावन की क्रान्ति से—और उससे पहले जेल में "न्यू वर्ल्ड" लिखते हुए—पहचान लिया था। उन्होंने "पीपुल्स पेपर" में लिखा था: "हम हिन्दुस्तानी भाइयों के प्रति अंग्रेज़ जनता की सहानुभूति प्रकट करते हैं। उनका उद्देश्य आपका उद्देश्य है। उनकी सफलता अप्रत्यक्ष रूप से आपकी सफलता भी है।" अंग्रेजों ने भारतवासियों के अत्याचारों की जिन कहानियों का प्रचार किया था, उनके बारे में जोन्स ने लिखा—"जो भयानक अत्याचार किये गये हैं, उनका उस महान् उद्देश्य से कोई सम्बन्ध नहीं है जिसके लिए संघर्ष हो रहा है। वह उद्देश्य न्यायपूर्ण है, पवित्र है, गौरवपूर्ण है।" जैसे इंगलैण्ड पर कोई विदेशी शक्ति आकर अधिकार कर ले और अंग्रेज उसके विरुद्ध लड़ें, वैसे ही हिन्दुस्तानी अपने देश के लिए लड़ रहे थे। अन्त में जोन्स ने अंग्रेज़ों से अपील करते हुए कहा: "देशवासी भाइयो! इँगलैंड ने हिन्दुस्तानियों के प्रति ऐसा ही व्यवहार किया है। उनके विद्रोह का यही कारण है। सारे संसार में हर ईमानदार आदमी तथ्यों पर एक ही राय दे सकता है और परिणाम के लिये एक ही कामना कर सकता है।"

अर्नेस्ट जोन्स ने अपने पत्र "पीपुल्स पेपर" द्वारा ब्रिटिश मजदूर-वर्ग में भारतीय स्वाधीनता-संग्राम के लिए जनमत तैयार करने में भारी

परिश्रम किया। ४ जुलाई को उन्होंने मजदूरों को चेतावनी दी कि भारत पर अंग्रेजों के अन्यायपूर्ण अधिकार के लिए उन्हें अपना और रक्त देना पड़ेगा। १ अगस्त को उन्होंने लिखा कि भारतीय संघर्ष न तो सैनिक-विद्रोह है, न कुछ राजाओं की लड़ाई है। यह राष्ट्रीय विद्रोह ("a national insurrection") है अंग्रेज शासक भारत की तमाम जनता से लड़ रहे हैं ("a war with a people")। १२ सितम्बर को जोन्स ने पैनी राजनीतिक सूझबूझ का परिचय देते हुए इस प्रश्न का उत्तर दिया कि भारत में अंग्रेज़ों के कुशासन से किसको फायदा हुआ है। उन्होंने लिखा: "अभिजातवर्ग और धनकुबेर—जमींदार और महाजन (moneylords) – अभिजात वर्ग की तरुण सन्तति जिसने वहाँ लूट-खसोट और निर्दयता की पाठशाला में शिक्षा पायी है"—इन्हें भारत में अंग्रेजी राज से लाभ हुआ था। वस्तु-स्थिति यही थी; इस देश से लाभ उठाने वालों में सौदागर और जमींदार ही सबसे आगे रहे थे; उद्योगपति उनके पीछे आ रहे थे और उनकी लूट के इजारे से परेशान भी थे।

भारत में आहत अंग्रेजों के लिए ब्रिटेन में एक "रिलीफ़-फंड" खोला गया। जोन्स ने मज़दूरों को कठोर चेतावनी दी कि वे इस फंड में एक धेला भी न दें। उन्होंने ३ अक्तूबर को लिखा: "मैं जोर देकर ऐलान करता हूँ कि उनकी ओर से किसी मजदूर के लिए एक फार्दिंग चन्दा भी देना पाप होगा। जमीन के लुटेरों और निकम्मे स्वार्थियों के गुट ने ऐसी दग़ाबाज़ी से जो लूटखसोट और फ़रेब की शैतानी व्यवस्था कायम की है, उसमें तुम्हारी आवाज नहीं है, तुम्हारा हित नहीं है।" इन तीव्र शब्दों में अंग्रेजी राज की निन्दा करके जोन्स ने मजदूरों से कहा कि जिन्होंने हिन्दुस्तान की लूट से घर भरा है, आहतों के लिये चन्दा देना उनका काम है।

जोन्स ने ब्रिटेन में इस देश के लोगों के आततायीपन की कहानियों से मज़दूरों को सतर्क रहने की चेतावनी दी। उनका कहना था कि ये कहानियाँ अतिरंजित हैं, फिर हमने यह नहीं सुना कि हिन्दुस्तानियों को इनके बारे में क्या कहना है, इसके सिवा बर्बर कृत्यों की शिक्षा सिपाहियों को अंग्रेजों से ही मिली है और स्वयं अंग्रेजों ने अमरीकी स्वाधीनता की लड़ाई में वहाँ के आदिवासियों द्वारा पैसे देकर अमरीकी

पुरुषों, स्त्रियों और बच्चों के कपाल एकत्र किये थे। भारत में सन् ५७ से पहले अंग्रेज जो बर्बर आततायीपन कर चुके थे, उसकी ओर भी जोन्स ने ध्यान आकर्षित किया।

३ अप्रैल १८५८ को जोन्स ने लिखा कि "भारतीय देशभक्ति और ब्रिटिश आक्रमण में अन्तिम संघर्ष हो रहा है!" जब यह स्पष्ट हो गया कि अंग्रेज़ों की जीत निश्चित सी है, तब भी पहली मई १८५८ को भविष्य में भारत के शीघ्र स्वतन्त्र होने की आशा प्रकट करते हुए जोन्स ने लिखा कि विद्रोह का जो भी नतीजा हो, "इंगलैंड ने भारत को खो दिया है।" जोन्स के पत्र को भारी आर्थिक कठिनाइयों का सामना करना पड़ा, बाद को उसकी जगह "लंडन न्यूज" निकला और उसकी भी आर्थिक स्थिति अच्छी न रही। १५ अगस्त १८५८ को जोन्स ने भारत पर अपना अन्तिम लेख लिखा जिसमें भारतवासियों के प्रति निर्दय व्यवहार बन्द करने की अपील की और आशा प्रकट की कि ब्रिटिश जनमत भारत के मामलों में अब अधिक हस्तक्षेप करेगा।

लेख लिखने के अलावा उन्होंने अनेक सार्वजनिक सभाओं में भाषण दिए। १२ अगस्त १८५७ से लेकर अप्रैल १८५८ तक अनेक सभाओं में उन्होंने ब्रिटिश मजदूरों को अपने कर्तव्य के प्रति सचेत किया। जेल और गरीबी की यातना सहने और अपने पत्र की आर्थिक कठिनाइयों के कारण जोंस का शरीर जीर्ण हो गया था। फिर भी उस चार्टिस्ट नेता में वह पुरानी आग बुझी न थी। किसी दर्शक ने जोन्स की एक सभा का वर्णन इस प्रकार किया है : "उनका भाषण सुनने के लिए मैं लंदन के एक दूर के मुहल्ले से मीलों चल कर आया। यह हिन्दुस्तान के ग़दर के दिनों की बात है। पुराना उत्साह और भाषण में पुराना ओज अब भी दिखाई देता था। लेकिन पिचके हुए गालों और खस्ता कपड़ों से दुख और मुसीबत की जिन्दगी का पता चलता था। लगता था कि एक हारे हुए उद्देश्य के प्रति बहुत अधिक वफादारी दिखाने के कारण जिस गरीबी का सामना किया है, उसे गले तक बटन बन्द किए हुए तंग और बदहाल कोट से उन्होंने ढक रक्खा है।"

सन् सत्तावन की राजक्रान्ति के शताब्दी-महोत्सव पर कम्युनिस्ट अंग्रेज लेखक जेम्स ब्रायन ने अपने एक लेख में उपर्युक्त तथ्य एकत्र किये हैं। उन्होंने ठीक लिखा है:"विद्रोह की शताब्दी के इस साल यह स्मरण

करने योग्य है कि दुख और पराजय की घड़ी में ब्रिटिश मज़दूर वर्ग की आवाज़ खामोश नहीं थी।"[१८]

इससे यह भी सिद्ध हुआ कि ब्रिटेन के क्रान्तिकारी वर्ग–मजदूर-वर्ग–ने सन् सत्तावन का जो मूल्य आँका था, वह प्रायः सभी इतिहासकारों के मूल्याङ्कन से भिन्न था। उसने इसे भारतीय जनता के स्वाधीनता-संग्राम के रूप ही में नहीं देखा, उसने उसे अपनी लड़ाई भी माना था। उस समय ब्रिटेन के सचेत मज़दूर श्रमिक जनता के अन्तरराष्ट्रीय भाई-चारे के अग्रदूत थे। इसी कारण अर्नेस्ट जोन्स ने इतनी निर्भीकता से, इतनी कठिनाइयों का सामना करते हुए, इतने दिनों तक और इतने अटूट विश्वास से उस महान् संघर्ष का समर्थन किया था। यद्यपि अन्तिम दिनों में जोन्स को पूंजीपतियों से सुलह करनी पड़ी, फिर भी हम यह नहीं भूल सकते कि जिन परिस्थितियों में सौ साल पहले जोन्स ने इस देश की जनता के लिये जितना किया, उतना अधिक अनुकूल परिस्थितियों में भी उपनिवेशों की स्वाधीनता के लिये कम ही मजदूर नेताओं ने किया है। अर्नेस्ट जोंस ने भारत और ब्रिटेन की जनता की वास्तविक मैत्री—निश्छल, निःस्वार्थ, अन्तरराष्ट्रीय, समाजवादी मैत्री—का शिलान्यास किया था। उस समय अंग्रेज शासकों के भारत-विरोधी धुंआधार प्रचार के खिलाफ मजदूरों को उनके कर्तव्य के प्रति जाग्रत करने वाले लोग जोन्स और उनके साथियों के अलावा बिरले ही थे। जोन्स ने १८५७-५८ में ब्रिटिश मजदूरवर्ग के श्रेष्ठ क्रान्तिकारी तत्वों का प्रतिनिधित्व करते हुए अपने स्पष्ट और ओजपूर्ण लेखों द्वारा सदा के लिये फैसला कर दिया कि इंगलैंड में क्रान्तिविरोधी कौन था, क्रान्तिकारी कौन था, भारतीय जनता के संघर्ष को आततायीपन और प्रतिक्रियावाद का प्रदर्शन कौन मानता था और उसे न्यायपूर्ण युद्ध और मजदूरवर्ग के लिये सहायक संघर्ष के रूप में कौन देखता था। जोन्स ने जो कुछ लिखा है, उसका अध्ययन इसलिये आवश्यक है कि हम ब्रिटेन के वर्ग-संबन्धों को समझें, वहाँ के अभिजात वर्ग के क्रान्तिविरोधी रूप को पहचानें और उस संदर्भ में अपने देश की जनता के संघर्ष का मूल्य आँकें। भारत में अंग्रेजी राज की प्रगतिशीलता और यहाँ की जनता के संघर्ष की प्रतिक्रियावादिता के सम्बन्ध में जो विचार प्रकट किये जाते

हैं, उनकी जड़ में भारत और ब्रिटेन के सामाजिक विकास के बारे में कहीं न कहीं भ्रम अवश्य रहता है जो जोन्स की रचनाओं के अध्ययन से दूर हो सकता है।

उपनिवेश और सामाजिक क्रान्ति

हो सकता है कि पूंजीपतियों या जमींदारों से अपने विरोध के कारण ब्रिटेन के कुछ मज़दूर या उनके नेता सन् सत्तावन के संघर्ष का समर्थन करते रहे हों किन्तु इससे यह सिद्ध नहीं होता कि वस्तुगत रूप से अंग्रेजों ने भारत में क्रान्ति नहीं की। क्या यह सत्य नहीं है कि एशिया और अफ्रीका की पिछड़ी हुई जातियों को यूरोप के व्यापारियों ने विश्व की एक विशाल आर्थिक व्यवस्था में बाँधा था ? क्या यह सत्य नहीं है कि १७ वीं सदी के पूर्वार्द्ध में अंग्रेजों ने अपना औद्योगिक माल हिन्दुस्तान भेजना शुरू किया और यहाँ की प्राचीन ग्रामीण व्यवस्था को छिन्नभिन्न कर दिया ! क्या भारत में बाबा आदम के जमाने से एक अपरिवर्तनशील समाज व्यवस्था न चली आती थी जिसे पहली बार, भले ही हिंसक और बर्बर रूप में हो, अंग्रेजी व्यापार ने, विशेषकर बिलायती कपड़े की आमद ने तोड़ा था ? आखिर जिस साम्राज्य में कभी सूर्यास्त न होता था, क्या उसका निर्माण अंग्रेजी माल की खपत के लिये ही न हुआ था ?

यूरोप के व्यापारियों ने जरूर पूर्व और पश्चिम के देशों को एक ही आर्थिक सूत्र में बाँधा लेकिन पहले तो ये सूत्र एकदम नये नहीं थे, उनके

निर्माण में न केवल अंग्रेजों के अलावा यूरोप की दूसरी जातियों का योग था वरन् उसमें पूर्व के देशों का भी योग था। इस सम्बन्ध में हमें प्राचीन काल से लेकर शिवाजी के समय तक भारत के व्यापारियों के वैदेशिक सम्बन्धों को तथा यहाँ जहाज बनाने के काम को ध्यान में रखना चाहिये।

एनी बेसेंट ने अपनी पुस्तक "इंडिया बौण्ड और फ्री" में इतिहासकार टेलर का हवाला देते हुए भारतीय जहाजों के बारे में एक रोचक घटना का उल्लेख किया है:"लंदन के बन्दरगाह में जब हिन्दुस्तानी माल हिन्दुस्तान के बने जहाजों में आया, तब इजारेदारों में सनसनी फैल गई। टेम्स नदी में यदि दुश्मन का जहाजी बेड़ा आजाता तो इससे ज्यादा सनसनी न फैलती।" हिन्दुस्तान की सामन्ती शक्तियों का सहारा लेकर अंग्रेज सौदागरों और जमींदारों ने यहाँ अपना राज कायम करके यहाँ की बढ़ती हुई व्यापारी शक्तियों को भारी क्षति पहुँचाई। ये शक्तियाँ विश्वबाजार कायम करने में सहायता कर सकती थीं और कर रही थीं, यह ऊपर के उद्धरण से स्पष्ट है। इसके अलावा इस विश्वबाजार में अंग्रेजों की स्थिति उद्योगपतियों की न होकर हिंदुस्तानी माल बेचकर मुनाफा कमाने बाले व्यापारियों की थी। माल पैदा करने और बेचने वाले हिन्दुस्तान के लोग थे; अंग्रेज यहाँ के लोगों का बनाया हुआ माल अपने यहाँ या यूरोप के दूसरे देशों में बेचते थे।

इंगलैण्ड में तो पूँजीवादी उत्पादन का सिलसिला १६ वीं सदी में ही शुरू हो गया था। क्या कारण था कि एक आगे बढ़ी हुई उत्पादन व्यवस्था वाले देश के व्यापारी जर्जर सामन्ती भारत का माल ढोने और बेचने में अपना परम गौरव समझते थे? वास्तव में भारत को लोग जितना पिछड़ा हुआ समझते हैं, उतना वह था नहीं और इंगलैण्ड को वे जितना बढ़ा हुआ समझते हैं, उतना वढ़ा हुआ वह भी नहीं था।

आर्थिक जगत् के दो ध्रुव हैं, उत्पादन और वितरण। ये दोनों एक दूसरे को प्रभावित करते हैं। हिन्दुस्तान में विनिमय के बड़े-बड़े केन्द्र स्थापित हो चुके थे जिनमें यूरोप के व्यापारी आकर माल खरीदते थे। यदि यहाँ के सामन्तों से मिलकर अंग्रेजों ने यहाँ के उत्पादन और व्यापार पर प्रहार न किया होता, यहाँ की पतनोन्मुख सामन्ती शक्ति के साथ संयुक्त मोर्चा बनाकर यहाँ के अभ्युदयशील पूंजीवाद को दबा न दिया

होता तो १६ वीं सदी के उत्तरार्द्ध में खेतिहार भारत उनके तैयार माल के लिये बाजार न बनता।

अंग्रेज यहाँ व्यापार करने आये थे, अपना माल बेचने नहीं आये थे; आते भी तो उसे यहाँ उस समय की परिस्थितियों में बेच न पाते। उन्होंने व्यापार के सिलसिले में सामन्ती ताकतों को एक दूसरे से लड़ाकर और उनसे गठबन्धन करके यहाँ के किसानों और कारीगरों पर कैसे अत्याचार ढाये, उन्हें भारतीय इतिहास के पाठक जानते हैं। उन्हें यहाँ दोहराने की आवश्यकता नहीं है। मुख्य बात यह है कि १६वीं सदी में अंग्रेजों द्वारा भारत का शोषण औद्योगिक पूँजीवाद या महाजनी पूँजीवाद द्वारा यहां की जनता का शोषण नहीं है। यह पहले सौदागरों और व्यापारियों की लूट थी; क्रमशः वह ज़मीदारों की लूट बन गई। तथ्य यह है कि अंग्रेजो ने राजाओं को सूद पर रुपया दिया, सामन्ती महाजनों की तरह डट कर व्याज खाया और धीरे-धीरे इन्हीं महाजनों की तरह आसामी की रियासत पर कब्जा भी जमा लिया।

१७८३ में ब्रिटेन के प्रधान मन्त्री फॉक्स ने कोशिश की कि कंपनी की "कोर्ट ऑफ डाइरेक्टर्स" नाम की संस्था खत्म कर दे; उसकी जगह पार्लियामेंट सात आदमी नियुक्त करे। फॉक्स का बिल पास नहीं हुआ। १७८४ में पिट का बिल पास हुआ। इसके अनुसार "बोर्ड ऑफ कन्ट्रोल" कायम हुआ जिसमें प्रिवी काउंसिल के छः सदस्य रहते थे। इस पर मार्क्स ने यह टिप्पणी की थी : "फॉक्स के कानून के अनुसार सत्ता खुल्लमखुल्ला मंत्रियों के हाथ में होती। पिट के कानून से यह सत्ता उनके हाथ में चोरी छिपे और फरेब से रही।"[१२]

१७ वीं सदी के उत्तरार्द्ध में कहने को ही भारत में कंपनी का राज था। राज वास्तव में इंगलैंड की पार्लियामेन्ट का था यानी वहाँ के अभिजात वर्ग का था। १८वीं सदी में यह वर्ग सौदागरों की लूट में तरह तरह से हिस्सा बँटा चुका था। कम्पनी हर बार अपना चार्टर आगे बढ़ाने के लिये अभिजात वर्ग के सदस्यों को भारी रकमें घूस में देती थी।

१८३३ के इंडिया ऐक्ट से कंपनी को व्यापार करने से रोक दिया गया। कंपनी को व्यापार करने से रोक दिया गया तब उसका काम क्या रह गया? वह भारत में नयी हथियाई हुई रियासतों की जमींदार बन बैठी।

१६ वीं सदी के उत्तरार्द्ध में प्रकाशित अवध के गजेटियर में यह ात खुलासा की गई है कि अंग्रेजी राज्य-सत्ता की भूमिका जमींदार ी रही है। गजेटियर के अनुसार अवध के सात हजार ग्राम-समाज Village Communities) थे, साठ हजार से ऊपर भूस्वामी थे, ार सौ बड़े जमींदार थे, साठ हजार से ऊपर छोटे भूस्वामी थे, इनसे ुछ अधिक किसान ऐसे थे जिनकी स्थिति काश्तकार और जमींदार के ीच की थी। "और इन सब के ऊपर बैठा हुआ था बड़ा जमींदार— ाज्यसत्ता, जिसकी माँग न बदलती थी, न टाली जा सकती थी।" "And above all, comes the great landlord– the State, with its unvarying and inexorable demand.") । १८१३ े साल का जिक्र करते हुए मार्क्स ने लिखा था, "उस समय तक ्रिटिश धनकुबेरों के हित जिन्होंने भारत को अपनी जागीर (Landed estates) बना रखा था और अभिजातवर्गीय गुट (Oligarchy) के हित जिसने अपनी फौजों से उसे जीता था और मिल-मालिकों के हित जिन्होंने उसमें अपने कपड़े तोप दिये थे एक साथ चलते रहे थे।" भारत एक जागीर या रियासत था जिससे ब्रिटेन के शासक वर्ग को लाभ होता था।

१८१३ में भारत में ब्रिटिश कपड़े की आमद बढ़ी। इस आमद का हवाला देकर इंगलैंड का शासक-वर्ग मजदूरों और उद्योगपतियों से कहता था : देखो, हमारे शासन में भारतीय जनता खुशहाल नहीं है तो वहाँ इतने कपड़े की खपत कैसे होती है ? उद्योगपतियों के प्रतिनिधि जॉन ब्राइट ने इस का बहुत सुन्दर उत्तर दिया था। ३ जून १८५३ को हाउस ऑफ कॉमन्स में भाषण देते हुए ब्राइट ने कहा था कि १८५० में ग्रेट ब्रिटेन और आयर्लेंड से भारत को कुल ८० लाख ४ हजार पाउंड का माल भेजा गया था जिसमें से ५२ लाख २० हजार पाउंड का सूती माल था। ये आँकड़े देखने में काफी बड़े मालूम होते हैं। फिर भी जनसंख्या के अनुपात से भारत की तुलना में ब्राजील में अंग्रेजी माल की खपत ज्यादा थी। ब्राजील पर अंग्रेजों का राज्य न था, इसलिये चुंगी देनी पड़ती थी; इसके अलावा वहाँ की जनसंख्या में आधे तो गुलाम थे। १८५३ में भारत ने जितना माल लिया था, उसका पाँचगुना माल लेता तो जनसंख्या के अनुपात से वह ब्राजील की

खपत का आधा बैठता ! भारत में फी आदमी एक शिलिंग तीन पेंस के अंग्रेजी माल की खपत होती थी; दक्खिनी अमरीका में उसकी गुलाम आबादी समेत फी आदमी आठ शिलिंग आठ पेंस के अंग्रेजी माल की खपत होती थी !

इससे स्पष्ट है कि बावन लाख पाउंड का जो सूती माल इंगलैंड से यहाँ आता था, वह हिन्दुस्तान जैसे देश के लिये दाल में नमक के बराबर भी न था। इसके अलावा इस सूती माल की खपत बड़े-बड़े शहरों में होती थी; उसका असर गाँवों की आर्थिक व्यवस्था पर बहुत ही कम पड़ा था। अंग्रेजों ने ज़ोर ज़बर्दस्ती से इंगलैंड और यूरोप में हिन्दुस्तानी कपड़े की खपत रोकी; इससे यहाँ के कारीगरों और व्यापारियों को भारी नुकसान उठाना पड़ा। लेकिन इसका यह अर्थ नहीं है कि यहाँ की आर्थिक व्यवस्था ही एकदम उलट गई। आजकल जो बुजुर्ग हैं और जिन्हें बचपन में गाँवों की हालत याद है, यही कहते हैं कि पहले देशी कपड़े से ही अधिकांश लोगों का काम चलता था। इन घरेलू उद्योगधन्धों को लगभग निर्मूल कर दिया गया बीसवीं सदी के आरम्भ में। वैसे पूरी तरह निर्मूल तो वे कभी नहीं हो पाये।

१६०१ में "समृद्ध ब्रिटिश भारत" के लेखक विलियम डिग्बी ने अपनी इस पुस्तक में लिखा था कि भारत में अंग्रेजी माल की खपत का यह हाल है कि "बहुसंख्यक जनता, उसका तीन चौथाई भाग, साल में इंगलैंड के औसतन एक शिलिंग छः पेंस के माल का गाहक है।" ब्राइट के समय से डिग्बी तक तीन पेंस की तरक्क़ी हुई थी। इस माल की खपत कहाँ होती थी, इसके बारे में डिग्बी ने लिखा है : "आयत माल का विश्लेषण करने से पता चला कि यह माल भारत की यूरोपियन आबादी और उसके सम्पर्क में आने वाले कुछ लाख भारतवासियों के लिये यहाँ लाया जाता था। तात्पर्य यह कि यह माल आँग्लिस्तान के लिये था न कि हिन्दुस्तान के लिये।" (In a word, they [imports] were for Anglostan and not for Hindustan.")[२२]

डिग्बी की पुस्तक में सरकारी अफसरों की रिपोर्टों से जनता की हालत के बारे में दिलचस्प तथ्य दिये गये हैं। केन नदी के किनारे रहने वाले बाँदा के एक कुम्हार ने बताया कि उसके रिश्तेदारों ने

चार आने में एक धोती खरीद कर उसे दो तीन साल पहले दी थी। उसने साल भर उस एक ही धोती से गुजारा किया था। यह चार आने की धोती अवश्य ही लङ्काशायर से न आयी थी। कालिंजर के पास एक चमार ने बताया कि वह कपास बीनता है। बिनाई की मजदूरी में कुछ कपास उसे भी मिल जाती है। "फिर मैं कोरी से उसकी धोतियाँ बनवा लेता हूँ।" एक कुर्मी ने कहा, "मैं आम तौर से अपनी कपास से खुद ही कपड़े बना लेता हूँ।"[२३]

अवध गजेटियर में इस तरह के अनेक तथ्य हैं जिनसे पता चलेगा कि १९ वीं सदी के उत्तरार्द्ध में कोरी और जुलाहे देशी कपड़ा तैयार करने में अब भी लगे हुए थे। बहराइच जिले के बारे में लिखा है, "हर परगने के गाँवों में बुनकरों की बस्तियाँ है जो काफी तादाद में मोटा कपड़ा तैयार करते हैं।" परगना बलरामपुर के बारे में लिखा है कि सत्रह सौ कोरियों के घर हैं जो काफी तादाद में मोटा कपड़ा तैयार करते हैं। बाराबंकी के लिये लिखा है कि १४१ कोरी हैं और १,७६९ जुलाहे हैं। "इस जिले में अब भी काफी तादाद में मोटा कपड़ा तैयार होता है।"

डिग्बी, ब्राइट, अवध गजेटियर और पुरखों से सुनी बातों से यही साबित होता है कि अठारहवीं सदी के पूर्वार्द्ध में तो क्या उत्तराद्ध में भी यहाँ के घरेलू उद्योगधन्धे पूरी तरह निमूल न हुए थे। इसलिये यह स्थापना कि अठारह सौ तेरह के बाद हिन्दुस्तान में इतना विलायती कपड़ा आने लगा था कि यहाँ के गाँवों की आर्थिक व्यवस्था ध्वस्त हो गई थो, सही नहीं मालूम होती। इस तरह की स्थापना मार्क्स में मिलती है किन्तु वह सही है या ग़लत, इसका निर्णय वस्तु-स्थिति के अध्ययन से ही हो सकता है। मार्क्स की किसी स्थापना को दोहराना ही मार्क्सवाद नहीं है, इस पर लेनिन और स्तालिन बहुत पहले ज़ोर दे चुके हैं।

वास्तव में घरेलू धन्धों के विनाश और एक देशव्यापी बाज़ार के निर्माण का काम इंगलैंड में ही पूरा न हुआ था। ब्रिटेन के आर्थिक बिकास पर लिखते हुए सी. आर. फे ने इस तथ्य की ओर संकेत किया है कि १८४१ में जितने आदमी स्थानीय या प्रान्तीय बाजार की खपत के लिये माल पैदा करने वाले धन्धों में काम करते थे, उनसे कम

आदमी राष्ट्रीय बाजार के लिये माल पैदा करने वाले धन्धों में काम करते थे। लन्दन में लोगों की एक बहुत बड़ी संख्या उद्योगधन्धों में लगी हुई थी लेकिन उसका काम ज़्यादातर लन्दन वालों के लिये ही होता था।[२२]

"१८४२ में में लीड्स में भाप से चलने वाली मशीनें काफी थीं लेकिन लीड्स के बाहर कपड़ा बनाने वालों के घर में ही ज़्यादातर सूत काता जाता था और अधिकतर कपड़ा बुना जाता था।"[२३]

देशव्यापी बाजार के निर्माण में किस तरह की कठिनाइयाँ सामने आ रही थीं, इनकी एक सजीव झाँकी ब्राइट के एक भाषण में मिलती है। १५ मार्च १८४६ को हाउस ऑफ कॉमन्स में जो लोग नये उद्योग-धन्धों का विरोध कर रहे थे, उनके तर्कों का उत्तर देते हुए ब्राइट ने "स्टैंडर्ड" नाम के पत्र का जिक्र किया था: "हाल के अङ्क में उसने घोषित किया है कि दक्खिन की अधिकांश जवारों (Counties) में अब संघ बन गये हैं। इनका उद्देश्य है कि सावधानी से उत्तर की मिलों के कपड़े का बहिष्कार करें जिससे कि चेशायर और यौर्कशायर के कपड़े को विल्टशायर के माल से होड़ न करनी पड़े। उद्योगपतियों के हितों के विरुद्ध माननीय सज्जनों को इसी भावना से अपना मोर्चा बांधना है ता मुझे आश्चर्य है कि वे अपने सिद्धान्तों पर पूरी तरह क्यों नहीं चलते और जैसे उनके पुरखे एक समय चमड़ा पहने और शरीर रँगे हुए देश में घूमते थे, वैसे ही वे यहाँ क्यों नहीं आ जाते। कम से कम वे फूस से अपना तन ढक लें जिससे कि मुझे विश्वास है, किसानों को अपने फूस के लिये उचित दाम मिल जायँगे।"[२४]

इंगलैंड की औद्योगिक क्रान्ति, देशव्यापी बाजार का निर्माण, घरेलू उद्योगधन्धों का समूल विनाश, अभिजात वर्ग से सत्ता छीनकर एक पूँजीवादी जनतंत्र की स्थापना—इन सब कामों का एक लम्बा सिलसिला था जो उन्नीसवीं सदी के पूर्वार्द्ध में न पूरा हुआ था। १९ वीं सदी के पूर्वार्द्ध में अंग्रेजी माल की खपत से यहाँ के भी घरेलू उद्योग-धन्धे पूरी तरह ध्वस्त न हुए हों तो कोई आश्चर्य नहीं। हिन्दुस्तान को लेकर उद्योगपतियों के प्रतिनिधि अभिजात वर्ग की जो आलोचना करते थे, उसका कारण ही यह था कि भारत की अंग्रेज सरकार इस देश को कच्चे माल के उत्पादक और तैयार माल के उपभोक्ता के रूप

में विकसित न कर रही थी।

१८ दिसम्बर १८६२ के एक भाषण में ब्राइट ने एक रोचक इतिहास की चर्चा की थी : "१८४७ में मैं हाउस ऑफ कॉमन्स में था और मैंने एक विशेष समिति कायम करने का प्रस्ताव रखा जो सारे मामले की जांच करे। उस साल लङ्काशायर पर वह आफत आने वाली ही थी जो अब उस पर आगई है। रुई की बड़ी कमी थी। सैकड़ों मिलें पूरे वक्त न चलती थीं और कुछ बिलकुल बन्द हो गई थीं। समिति ने रिपोर्ट दी कि बम्बई और मद्रास जिलों के उन प्रदेशों में जहाँ कपास पैदा की जाती थी, और आमतौर से उनके खेती के इलाकों में, लोग बहुत ही बदहाली और मुफलिसी की हालत में थे। मैं आपसे पूछूँगा कि ऐसी हालत में रहने वाले लोग क्या कोई बड़ी, कोई अच्छी या टिकाऊ चीज पैदा कर सकते हैं, जिसकी दुनिया को जरूरत हो?"

अमरीकी गृहयुद्ध के कारण लङ्काशायर को अब गुलामों द्वारा पैदा की हुई अमरीकी रुई न मिल रही थी, इसलिये हिन्दुस्तान का विकसित न होना—कच्चा माल पैदा करने वाले अच्छे उपनिवेश के रूप में विकसित न होना-अब बहुत अखरा। उद्योगपतियों के प्रतिनिधि जान ब्राइट ने अभिजातवर्ग के लार्डों की भारत-सरकार की आलोचना इन शब्दों में की: "हिन्दुस्तान में हमारी सरकार सौ साल से उस भाग में कायम है जहाँ की मुख्य पैदावार कपास है। लेकिन सरकार के नाम पर वहाँ वह चीज़ रही है जिसे मैं ने हमेशा डाकू साझीदारों की कंपनी (a piratical joint stock company) कहा है जिसकी शुरूआत लॉर्ड क्लाइव से हुई थी और जिसका खात्मा मैं आशा करता हूँ, लार्ड डलहौजी से हो गया है। और मैं कहूँगा कि उस सरकार की हुकूमत में यह संभव ही न था कि वहाँ ऐसी तरक्की होती जिससे कि काफी मात्रा में रुई मिल पाती।"

यहीं नहीं कि अंग्रेजी राज में रुई काफी मात्रा में न मिली थी बल्कि यह भी कि इस राज में रुई मिलने की संभावनाओं का बाकायदा विनाश किया गया था। ब्राइट ने उसी भाषण में आगे कहा था: "अब मेरा तर्क और मेरा दावा यह है कि हिन्दुस्तान में कपास की उपज—उस चीज की उपज जो हिन्दुस्तान की अपनी और आम चीज थी और उस समय थी जब यूरोप के लोगों ने अमरीका का पता न लगाया था—

इस चीज की उपज को भारत सरकार की दुष्ट और मूर्खतापूर्ण नीति से बाक़ायदा नुक़सान पहुँचाया गया है। उसका गला घोंटा गया है और उसका नाश कर दिया गया है।"

उपनिवेशों का शोषण जमींदार और व्यापारी करते थे। उद्योग-पतियों को अभी बहुत थोड़ा हिस्सा मिला था। इसीलिये वे बारबार भारत में अंग्रेजी राज के दोष दिखाते थे और उसमें सुधार की माँग करते थे। न तो भारत जैसे उपनिवेशों में उनके तैयार माल की मन-चाही खपत होती थी, न उनसे अपने उद्योगधन्धों के लिए काफी मात्रा में अच्छा माल मिलता था। अभिजातवर्ग के राज से उनकी शिकायत और उसकी तीव्र आलोचना का यही कारण था। वे उपनिवेशों को छोड़ न देना चाहते थे वरन् कुछ सौदागरों और जमींदारों के इजारे से उन्हें मुक्त कर के विलायती माल के गोदाम के रूप में उन्हें "विकसित" करना चाहते थे। ३ जून १८५३ को ब्राइट ने हाउस ऑफ कामन्स में एक भाषण दिया था। इसमें उसने भारत के सवाल को पार्टियों से परे रखने की बात कही थी। उसके दिमाग में यह भी था कि अंग्रेज़ों को भारत में रहना है और वे ठीक से शासन न करेंगे तो वहाँ विद्रोह हो जायगा। पूँजीपतिवर्ग उपनिवेशों के प्रति उदासीन न था लेकिन न तो ब्रिटेन में वह अभी सत्तारुढ़ था और न उपनिवेशों पर हावी हो पाया था। ब्राइट ने इस भाषण में कहा था, "यह एसेक्स के विरुद्ध मैन्चेस्टर का–देहात के खिलाफ शहर का—अंग्रेज़ी चर्च की अस्वीकृति(nonconformity) के विरुद्ध उसके अनुसरण का सवाल नहीं है। यह ऐसा प्रश्न है जिससे हम सभी को दिलचस्पी है और जिससे हमारे बच्चों को हमसे भी ज्यादा दिलचस्पी हो सकती है। भारत के अर्थ-प्रबन्ध (finances) में गड़बड़ी हुई तो उसका भार हमें ढोना होगा, या हमारे व्यवहार से भारत की जनता ने परेशान होकर विद्रोह कर दिया (or should the people of India by our treatment be goaded into insurrection) तो हमें उस देश को फिर से जीतना होगा या धक्के खाकर वहाँ से निकल आना पड़ेगा।"[२६]

१८४८ के आसपास यूरोप के शासक वर्ग को कम्युनिज्म का भूत ही न सता रहा था, उसे उपनिवेशों के विद्रोह का भूत भी परेशान किये हुए था। उद्योगपति अभी सत्तारूढ़ न हुए थे कि मजदूर-वर्ग ने उन्हें चुनौती

देना शुरू कर दिया था। इसका एक कारण यह भी था कि उपनिवेशों से लाभ उठाकर मजदूरों के असन्तोष को क्षीण करने की कला वे धीरे-धीरे सीख रहे थे। मजदूरों के उस प्रारम्भिक संघर्ष के समय से ही उपनिवेशों का स्वाधीनता-संग्राम उनका मित्र बनकर सामने आ रहा था। यही कारण है कि कम्युनिज्म के साथ उद्योगपतियों को उपनिवेशों के विद्रोहों का भूत सता रहा था। क्रान्तिकारी मजदूरों और उद्योगपतियों--अर्नेस्ट जोन्स और जॉन ब्राइट—के दृष्टिकोण में जमीन-आसमान का अन्तर था। अर्नेस्ट जोन्स ने मज़दूर-राज के गीत गाये, मज़दूरों को समझाया कि भारतीय स्वाधीनता की लड़ाई उनकी अपनी लड़ाई है, भारत को स्वाधीन करने के लिये जनमत तैयार किया, उधर ब्राइट ने मजदूरों के असंतोष को पूँजीपतियों के हित में इस्तेमाल करके उसे दफना देना चाहा, भारत सरकार की आलोचना की लेकिन इस सरकार का सुधार करके अपने नाती-पोतों के लिये ऐसा भारत छोड़ जाना चाहा जहाँ से शान्तिपूर्वक रुई विलायत आती रहे और जहाँ प्रेम से लंकाशायर का कपड़ा बिकता रहे।

इस भिन्न दृष्टिकोण के कारण ही १८५७ की भारतीय राज्यक्रान्ति के बारे में पूँजीपतियों और क्रान्तिकारी मजदूरो के रवैये में अन्तर था। फिर भी हिन्दुस्तान के अनेक "राष्ट्रीय" इतिहासकारों से इँगलैण्ड के उन पूँजीपतियों का दृष्टिकोण अधिक उदार, तर्क-संगत और न्यायपूर्ण था। उपर्युक्त भाषण में ब्राइट ने हिन्दुस्तान के किसानों की गरीबी और तबाही, यहाँ यातायात के साधनों के विकास के अभाव, सिंचाई के प्रबन्ध की कमी, न्याय और कानून के नाम पर अव्यवस्था, यहाँ की नौकरियों में हिन्दुस्तानियों के न लिये जाने, शासन के ऊपर अड़नाप शड़नाप खर्च करने और जनता पर टैक्सों के भारी बोझ लादने की तीखी आलोचना की थी और चेतावनी दी थी कि अंग्रेज़ों की इस नीति से भारतीय जनता विद्रोह कर सकती है। ब्राइट के दिमाग में यह न आया था कि अंग्रेज अपने प्रगतिशील सुधारों से भारत को कृतार्थ किये दे रहे हैं और इनका महत्व न समझकर यहाँ के कुछ प्रतिक्रियावादी या नासमझ लोग बगावत कर बैठेंगे। २४ जून १८५८ को कॉमन्स में अपने भाषण में ब्राइट ने उन लोगों की खबर ली जो सिपाहियों द्वारा अंग्रेज स्त्रियों और बच्चों की हत्या और अन्य अकथ्य अपराधों

का ढिंढोरा पीटा करते थे। इसके साथ ही ब्राइट ने इस बात पर जोर दिया कि अंग्रेजों ने हिंदुस्तान को जीता था और वहाँ के लोग अपनी आज़ादी के लिये लड़ रहे थे। इसलिये अंग्रेजों ने जो क्रूरता यहाँ दिखलाई, वह किसी तरह न्यायपूर्ण नहीं ठहराई जा सकती। ब्राइट ने इस भाषण में कहा: "तो सबसे पहले मैं यह कहूँगा कि हिन्दुस्तान के निवासियों के खिलाफ़ पिछले दिनों जो निन्दा का प्रचार शुरू हुआ है, उसे हमें खत्म कर देना चाहिये। ये लोग सीधे (docile) न होते, शासन करने के लिये दुनियाँ में सबसे अनुकूल न होते तो तुम पिछले सौ साल से वहाँ अपनी सत्ता कैसे बनाये रखते ? क्या वे परिश्रमी नहीं है, बुद्धिमान नहीं हैं ? इंडियन सर्विस में जो सबसे योग्य व्यक्ति निकले हैं, उनकी गवाही के अनुसार क्या उनमें वे बहुत से गुण नहीं हैं जिनसे उनके संपर्क में आने वाले तमाम अंग्रेज उनकी इज्जत करते हैं ? यह बात मैंने अनेक बड़े अनुभवी लोगों से सुनी है और भारत पर कुछ सर्वश्रेष्ठ लेखकों की रचनाओं में पढ़ी है। इसलिये ऐसे लोगों के खिलाफ़ यह निरन्तर निन्दाचार हमें न करना चाहिये। अब भी ऐसे लोग हैं जो इस तरह देश में ऐसी बातें कहते फिरते हैं मानों उनका कभी खंडन किया ही न गया हो। वे भारत में शरीर के अङ्ग काटने और क्रूर कर्मों की बातें करते हैं। इन क्रूर कर्मों के बारे में हम जितना ही कम बोलें, उतना ही अच्छा (the less we say about the atrocities the better.)। मुझे भय है कि भारी राजनीतिक उथलपुथल ऐसे भयानक कर्मों के बिना नहीं होती, न उनके बिना दबायी जाती है जो (दोनों ओर के भयानक कर्म) अत्यंत खेदजनक न हों। कम से कम हमारी स्थिति आक्रमणकारियों और विजेताओं की है—उनकी स्थिति आक्रान्तों और विजितों की है। मैं चाहे हिन्दुस्तान का निवासी होता, चाहे इंगलैण्ड या और किसी देश का, मैं यह कहने में न चूकता कि उनकी और उस देश में हमारी स्थिति में भारी अन्तर है। हिन्दुस्तान की तमाम जनता के प्रति मैंने जो हाल में अनियंत्रित निन्दाचार सुना है, उसे अपने सामने किसी को करते या घृणा की बातें कहते देखकर मैं बिना फटकारे नहीं छोड़ सकता।"

जब विद्रोह प्राय: दबा दिया गया था, तब भी जॉन ब्राइट ने कोई उल्लास का भाव प्रकट नहीं किया। उसने अनुभव किया कि अंग्रेजों ने जो सभ्यता के प्रसार की डींग हाँकी थी, उसका भंडाफोड़ हो गया है।

२० मई १८५८ के भाषण में ब्राइट ने हाउस ऑफ कॉमन्स में कहा:
"तुमने तलवार से काम लिया, तलवार टूट गई; तुम्हारे हाथ में उसकी मूठ रह गई हैं। सभ्य यूरोप की निगाह में तुम फटकार खाये सिर झुकाये खड़े हो।"

इंगलैण्ड का अभिजातवर्ग सन् सत्तावन की राज्यक्रान्ति के दमन में मुख्य शक्ति था। उससे न मजदूर सन्तुष्ट थे, न पूँजीपति। इससे उसका क्रान्तिविरोधी रूप और भी स्पष्ट हो जाता है। वह न केवल मजदूरों के हित की दृष्टि से, न केवल उपनिवेशों की जनता के हित की दृष्टि से, वरन् अपने यहाँ के पूंजीपतियों के हित की दृष्टि से भी क्रान्ति-विरोधी था। उपनिवेशों का बाजार अभी पूँजीपतियो के हाथ में न आया था।

अंग्रेज सौदागरों और जमीदारों की यह भूमिका भारत के सम्बंध में ही देखने को नहीं मिलती, उनकी यही भूमिका ब्रिटेन के अन्य उप-निवेशों के सम्बन्ध में भी दिखाई देती है। इसलिये भारत का स्वाधी-नता-संग्राम जैसे इँगलेण्ड के मजदूरवर्ग के हित में था, वैसे ही वह ब्रिटेन के अन्य उपनिवेशों की जनता के हित में भी था। इंगलैण्ड के पड़ोस में ही आयलैंण्ड था। यहाँ काले आदमी न रहते थे लेकिन वहाँ की जनता के साथ अंग्रेजों का व्यवहार भारतवासियों से बहुत भिन्न न था। वे काले आदमियों की तरह "हीदन" (म्लेच्छ) नहीं थे लेकिन उनकी रोमन कैथलिक ईसाइयत प्रोटेस्टेंट अंग्रेज शासकों को हिन्दू धर्म से कम घृणित न मालूम होती थी। यहाँ के किसानों के बारे में रैमज़े म्यूर ने लिखा है: "उन्हें हमेशा बेदखली का डर बना रहता था। जीने का सहारा बनाये रखने के लिये उन्हें बेहिसाब लगान देना पड़ता था जिससे उन्हें पेट भरने को मुश्किल से बच पाता था। इँगलैण्ड में जमीन की तरक्की के लिये जो काम जमींदार करता था, वह काम यहाँ खुद किसान को करना पड़ता था और इस तरक्की के कारण उसका जो लगान बढ़ा दिया जाता, उसे भी सिर झुका कर उसे कबूल करना पड़ता। जिन लोगों को मतदान का अधिकार था (जैसा कि १७६३ के बाद बहुतों को था), उन्हें उस अधिकार का उपयोग जमींदार की इच्छानुसार करना पड़ता था वर्ना बेदखल कर दिये जाने का डर था। इस दुष्ट आर्थिक व्यवस्था से प्रोटेस्टेंन्ट जमींदार वर्ग का राजनीतिक

प्रभुत्व निश्चित हो जाता था।"[२७] अंग्रेजी जनतन्त्र में जब इंगलैण्ड के किसानों को ही जमींदार की इच्छानुसार वोट देना पड़ता था, तब आयर्लैंड में उस वर्ग के लिये उनका वोट देने के लिये बाध्य होना तो और भी स्वाभाविक था।

१८२२ में आयर्लैण्ड में भारी अकाल पड़ा। किसान आलू खाकर जीते थे, अब उनका सहारा भी न रहा। १८४५-४६ में फिर अकाल पड़ा। १८४५ में आयर्लैण्ड की आबादी ८३ लाख थी; १८५१ में वह सिर्फ ६६ लाख रह गई। हजारों आदमी अमरीका और कैनाडा चले गये, हजारों इंगलैंड के शहरों में नौकरी तलाश करने आये। अधिकांश भुखमरी की भेंट हो गये। रैमज़े म्यूर के शब्दों में "पच्छिमी यूरोप के किसी भी देश ने आधुनिक काल में ऐसी यातना नहीं सही जैसी कि १८४५ से १८४८ तक आयलैन्ड ने सही थी।"[२८] जो बच रहे थे, उनमें से हजारों को बेदखल कर दिया गया। आयर्लैन्ड अंग्रेजी राज के विरुद्ध लड़ा किन्तु १८४८ में उसके विद्रोह को दबा दिया गया।

२३ मई १८५६ को एंगेल्स ने मार्क्स को लिखा था: "आयर्लैण्ड सैक्सन जाति के लिये है! अब इस बात का अनुभव किया जा रहा है। आयर्लैंड का निवासी जानता है कि वह अंग्रेज़ से होड़ में ठहर नहीं सकता। अंग्रेज़ उससे बढ़कर हर तरह के साज-सामान से लैस होकर आता है। यहाँ से लोग तब तक दूसरे देशों को जाते रहेंगे जब तक यहाँ की आबादी की मुख्यतः, प्रायः एकमात्र, केल्टिक विशेषता धूल में न मिल जायगी। कितनी बार आयरिश लोगों ने कुछ करना चाहा है और हर बार राजनीतिक और औद्योगिक रूप से वे कुचल दिये गये हैं। सुसंगत उत्पीड़न द्वारा कृत्रिम ढंग से उन्हें एकदम मुफलिस जाति बना दिया गया है। अब, जैसा कि सभी को मालूम है, उनका काम इंगलैण्ड, अमरीका, आस्ट्रेलिया आदि को वेश्याएं, अस्थायी मजदूर, मर्द-कुटनी, चोर, ठग, मँगते, और ऐसे ही लोग मुहय्या करना है।"[२९]

यदि हिन्दुस्तान की देवियां अमरीका और आस्ट्रेलिया में नहीं बिकीं तो इसका श्रेय सन् सत्तावन के संघर्ष को है। अँग्रेजों को मालूम हो गया कि हिन्दुस्तानियों की सहनशीलता की सीमा है जिसके आगे उन्हें न बढ़ना चाहिये। जिस उपनिवेश में उन्हें जितना और जिस तरह का प्रतिरोध मिला, उसी के हिसाब से उन्होंने वहाँ अपनी नीति निश्चित

की। उपनिवेशों में उनकी नीति मूलतः वहाँ के निवासियों का समूल विनाश करने की थी। चाहे आयर्लैंण्ड हो, चाहे आस्ट्रेलिया, वे मूल निवासियों का संहार करके उनकी भूमि छीन रहे थे। दक्षिण अमरीका में उनके भाईबन्द स्पेन के दस्यु यही काम कर चुके थे। उत्तरी अमरीका में मुख्यतः अंग्रेजी-भाषी जाति के लोगों ने वहाँ के आदि-वासियों के भयानक नर-संहार करके उनकी भूमि पर अधिकार कर लिया था। डार्विन ने १८ वीं सदी के पूर्वार्द्ध में दक्षिण अमरीका, आस्ट्रेलिया आदि की यात्रा की थी। इस महान् वैज्ञानिक ने इंगलैण्ड और यूरोप के उपनिवेशों में जो कुछ देखा, उसका मार्मिक और स्पष्ट वर्णन किया है। अंग्रेज़ों की औपनिवेशिक नोति कितनी प्रगतिशील थी, इसे समझने के लिये डार्विन के वर्णन से परिचित होना आवश्यक है।

आस्ट्रेलिया में आदिवासियों की संख्या कैसे घटती जा रही थी, इसके बारे में डार्विन ने १८३६ में जो देखा था, उसके बारे में लिखा है: "आदिवासियों की संख्या तेजी से घटती जा रही है।.........यह घटती निस्सन्देह अंशतः शराब की आमद, यूरोप की बीमारियों (साधारण बीमारियाँ भी, जैसे चेचक, बहुत घातक साबित होती हैं) और जंगली जानवरों के क्रमिक विनाश के कारण हो गी। कहा जाता है कि उनके बहुत से बच्चे घुमन्तू जीवन के कारण बहुत बचपन में ही मर जाते हैं। भोजन प्राप्त करने की कठिनाई जैसे-जैसे बढ़ती जाती है, वैसे-वैसे उनकी घुमन्तू आदतें बढ़ेंगी। सभ्य देशों में ज्यादा मेहनत करने से पिता चाहे अपनी क्षति करले किन्तु वह अपनी सन्तान का नाश नहीं करता। इसके विपरीत ऊपर से देखने में अकाल के कारण मौतें न होने पर भी आबादी बहुत ही आकस्मिक ढँग से घटती जाती है।

"विनाश के इन अनेक कारणों के अलावा आमतौर से कोई और रहस्यमय उपकरण काम करता मालूम होता है। जहाँ भी यूरोपियन पहुँच गया है, मौत आदिवासी का पीछा करती हुई मालूम पड़ती है। दोनों अमरीका के विशाल प्रसार, पौलीनोशिया, केप ऑफ गुड होप, और आस्ट्रेलिया को देखें तो एक ही नतीजा दिखाई देगा।"

यूरोप और इंगलैण्ड की नरभक्षी औपनिवेशिक नीति का मूल तत्त्व यह था। जहाँ भी ये गौराङ्ग प्रभु पहुँचे, वहाँ मृत्यु ने आदिवासियों का पीछा करना शुरू कर दिया। जब आयर्लैंड तक में, जिसके साथ

इंगलैंड ने "यूनियन" बनाया था, अंग्रेजों ने मूल निवासियों का विनाश करके देश को केल्टिक से सैक्सन बनाने में कुछ उठा न रखा, तब आस्ट्रेलिया जैसे देशों का तो कहना ही क्या। हिन्दुस्तान में यदि भारती· यता बच रही है, यह देश उत्तरी और दक्षिणी अमरीका की तरह यूरोप वालों की सन्तान की पितृभूमि नहीं बन गया, तो इसका श्रेय यहाँ की जनता के सशस्त्र प्रतिरोध को है। हर देश में यूरोप और इंगलैण्ड के सौदागरों और जमींदारों ने गुलामों का व्यापार किया। अफ्रीका के लोगों की तरह हिन्दुस्तानियों को लाखों की तादाद में विदेशी बाजारों में नहीं बेचा गया, तो इसका श्रेय यहाँ की जनता के चरित्र, उसके स्वाधीनता प्रेम, उसके निरंतर संघर्ष को है। अंग्रेज़ उदारपंथियों के आदर्श प्रजातन्त्र संयुक्त राज्य अमरीका में गुलामों से खेती कराके बड़ी-बड़ी रियासतें कायम की गई थीं। गुलामों के व्यापर से लाभ उठाने वालों में अंग्रेज सौदागर सबसे आगे थे। यह गुलामी की प्रथा न तो पूँजीवादी थी, न सामन्ती थी; समाजशास्त्र के पंडित उसे सामन्तवाद से भी पिछड़ी हुई प्रथा मानते हैं। इस प्रथा का विकास और प्रसार करके अंग्रेज सौदागरों ने कौन सा प्रगतिशील काम किया, यह कहना कठिन है।

अंग्रेज दस्युओं ने पहले तो दासों का व्यापार करने के लिये दूसरे देशों को जीता, फिर जब दासप्रथा को बड़ी धूमधाम से बन्द कर दिया तब और भी देश जीते, इसलिये कि जहाँ चोरी-छिपे दासों का व्यापार होता हो, उसे बन्द कर दें! रैमजे म्यूर ने लिखा है: "जब ईसाई पादरी और अनुसंधानकर्ता (explorers) बर्बर अफ्रीका में और भीतर पैठे तो उन्होंने देखा कि अफ्रीका के आन्तरिक प्रदेशों में जो दास-व्यापार चालू था, उसकी जघन्यता की तुलना में पच्छिमी अफ्रीका का पुराना दास-व्यापार कुछ भी नहीं था। इस व्यापार के विरुद्ध जल सेना कुछ भी न कर पाती थी। एक ही उपाय था कि इन प्रदेशों पर अधिकार कर लिया जाय और उसके बाद दृढ़ और न्यायपूर्ण हुकूमत कायम की जाय। प्रशान्त महासागर में नया व्यापार बढ़ रहा था जो अपने सबसे विकृत रूपों में एक तरह का दास-व्यापार ही था। ब्रिटिश सरकार ने दास प्रथा खत्म करने का बीड़ा उठाया था; इस उद्देश्य की पूर्ति के लिये उसे नये प्रदेशों पर अधिकार करने के लिये बढ़ना पड़ा।"[३१]

ब्रिटिश सरकार ने दास-प्रथा का खात्मा कर दिया; लेकिन उसकी जगह वह कुलियों का व्यापार करने लगी। हिन्दुस्तान से जो तमाम मजदूर फुसलाकर दक्षिणी अफ्रीका भेजे गये थे, वे न तो सामन्तों के अर्धदासों की स्थिति में थे, न खुले बाजार में अपनी श्रमशक्ति बेचने वाले सर्वहारा की स्थिति में थे; उनकी स्थिति सबसे अधिक दासों से मिलती-जुलती थी। कोई आश्चर्य नहीं कि इस सुन्दर ब्रिटिश कॉमनवेल्थ में हर जगह असन्तोष के विस्फोट और जनता के सशस्त्र विद्रोह हो रहे थे। उन्नीसवीं सदी के पूर्वार्द्ध में आयलैंण्ड की जनता ने बारबार विद्रोह किये और बार-बार उनको दबा दिया गया। विद्रोहों का यह ताँता उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध में भी बँधा रहा। १८५७ के तीन वर्ष बाद न्यूज़ीलैण्ड के माओरी लोगों ने अपनी जमीन की रक्षा के लिये युद्ध किया। यह युद्ध उनका स्वाधीनता-संग्राम बन गया। वुडवार्ड के शब्दों में "जमीन हथियाने के विरुद्ध जो झगड़ा शुरू हुआ था, वह स्वाधीनता के लिये युद्ध में घुल मिल गया।"[३२]

माओरी लोगों ने वीरता से छापेमार युद्ध चलाया किन्तु अन्त में उनका दमन कर दिया गया। १८६५ में जमैका के नीग्रो लोगों ने सशस्त्र विद्रोह किया। अंग्रेज़ों ने मार्शल ला जारी कर दिया और नीग्रो जनता का हिंसक दमन किया।

आयलैंण्ड और जमैका की बात ही क्या, कैनाडा और अमरीकी उपनिवेशों में जहाँ यूरोप वाले आकर बसे थे, वहाँ भी विद्रोह हुए। १८१२–१४ में अमरीकी उपनिवेश इंगलैण्ड से लड़े। १८३७ में कैनाडा में विद्रोह हुआ। कितना सुन्दर अंग्रेजी जनतंत्र था कि उसके उपनिवेशों में गौराङ्ग जन ही इंगलैण्ड के खिलाफ़ बग़ावत कर रहे थे। कारण यह था कि उपनिवेशो की गौरांग जनता को भी जनतांत्रिक अधिकार देना इंगलैण्ड के शासकों को प्रिय न था। वह उनके यहाँ की सम्पति का व्यापार करना और टैक्सों द्वारा अकेले फायदा उठाना चाहता था। वुडवार्ड ने इन उपनिवेशों की गौराङ्ग जनता के आक्रोश का कारण यह बतलाया है : "उपनिवेशों के लोगों के मन को जो चीज कचोटती थी, वह यही थी, जिनका खून अंग्रेज़ है, जो इंगलैण्ड का नाम, नस्ल और ताकत बियाबान के छोर तक ले आये हैं, वे बराबर के लोग न समझे जाकर प्रतिद्वन्दी माने जाते हैं; साम्राज्य में उनकी

भूमिका इंगलैण्ड के व्यापारी हितों के सन्दर्भ ही में परखी जाती है।"[३३]

कुछ उपनिवेशों में इंगलैण्ड के शासकों ने अपने भाइयों को जनतान्त्रिक व्यवस्था कायम करने की अनुमति दे दी थी लेकिन यह देखकर कि उस जलवायु में यह व्यवस्था अच्छी तरह पनप नहीं पाती, उन्होंने अपनी अनुमति वापस ले ली। १८६५ में जमैका की जनतांत्रिक व्यवस्था खत्म कर दी गई—खुद जमैका के अंग्रेजों के प्रार्थनापत्र पर ! १८७० में ब्रिटिश होण्डुरास और १८७६ में सेंट विन्सेंट, ग्रेनाडा और टोबागो के साथ भी यही हुआ। "इन परिवर्तनों के पीछे जो सिद्धान्त काम कर रहा था, वह यह था कि जिन देशों में पिछड़े हुए और आदिम समाज व्यवस्था के लोग अधिक हैं, उनके लिये जनतांत्रिक शासन अनुकूल नहीं है। आगे से उष्ण कटिबंध के (tropical) सभी उपनिवेशों में यह सिद्धान्त लागू किया गया।"[३४]

पिछड़ी हुई जातियों को जनतन्त्र का पाठ पढ़ाना दरकिनार, उन पर शासन करने वाले अंग्रेज़ों के लिये भी जनतांत्रिक व्यवस्था अनुपयुक्त समझी गई !

इस निरंकुश शासनसत्ता से लाभ उठाने वाले सौदागर और ज़मींदार इंगलैण्ड के अभिजातवर्ग के साथ थे; उनकी भूमिका उतनी ही प्रतिक्रियावादी थी जितनी इंगलैण्ड के अभिजातवर्ग की। न केवल मजदूरों के विरुद्ध, वरन् उद्योगपतियों के हितों के विरुद्ध भी जो शक्तियाँ इंगलैण्ड में सत्तारूढ़ थीं, उनके बारे में मार्क्स ने १८५२ में लिखा था--"टोरीदल फौज में किसानों को भर्ती करता है। वे या तो जमींदारों को अब भी अपने से स्वभावतः बड़ा मानते जा रहे हैं या उन पर आर्थिक रूप से निर्भर हैं या वे अभी यह समझते नहीं हैं कि जमींदार और किसान के हित वैसे ही एक नहीं हैं जैसे महाजन और कर्जदार के हित एक नहीं हैं। इन टोरियों के साथ उनका समर्थन करने वाले औपनिवेशिक हित, जहाजों के मालिक, राज्यगत चर्च की पार्टी, संक्षेप में, वे सब तत्त्व हैं जो आधुनिक उद्योगधन्धों के आवश्यक परिणामों और उसके द्वारा तैयार की जाने वाली सामाजिक क्रान्ति के विरुद्ध अपने हितों की रक्षा करना आवश्यक समझते हैं।"[३५]

यही क्रान्ति-विरोधी गुट इंगलैंड और उसके उपनिवेशों पर अधिकार किये हुए था। वह उद्योगपतियों और बाद के इजारेदार पूँजी-

पतियों से भिन्न था। वह पूँजीवाद के ही विकास में बाधक था। वह न औद्योगिक प्रगति चाहता था, न औद्योगिक विकास से होने वाली सामाजिक क्रान्ति। उपनिवेश इंगलैंण्ड के क्रान्तिविरोधी भूस्वामी वर्ग को किस तरह देश की प्रगति रोकने में सहायता दे रहे थे, इस सम्बन्ध में मार्क्स ने आयर्लैंण्ड को लेकर ये महत्वपूर्ण बातें कहीं थीं। उन्होंने १८७० में लिखा था: "आयर्लैंड अंग्रेज भूस्वामी अभिजातवर्ग की ढाल है। इस देश का शोषण उस अभिजातवर्ग की भौतिक खुशहाली का एक मुख्य स्रोत ही नहीं है; वह उसका सबसे बड़ा नैतिक बल है। इसलिये आयर्लैंण्ड वह महान् उपकरण है जिससे अंग्रेज अभिजातवर्ग स्वयं इंगलैंण्ड में अपना आधिपत्य कायम रखता है।"[३६]

आयर्लैंड की जनता का संघर्ष कितना न्यायपूर्ण था, यह ऊपर के वाक्यों से स्पष्ट है। यह संघर्ष पूँजीपतियों के विरुद्ध होता तो भी न्यायपूर्ण होता; वह अभिजात वर्ग के विरुद्ध होने के कारण इंगलैंण्ड की पूँजीवादी प्रगति में भी सहायक था। यदि आयर्लैंण्ड का संघर्ष न्यायपूर्ण था, यदि न्यूज़ीलैंड के माओरी स्वाधीनता का युद्ध छेड़ सकते थे, यदि अमरीकी उपनिवेश और कैनाडा के लोग स्वाधीनता के लिए संघर्ष कर सकते थे तो मानना होगा कि हिन्दुस्तान की जनता ही ने अंग्रेज़ी "जनतंत्र" से लड़ाई छेड़कर कोई जघन्य काम नहीं किया। उपनिवेशों में फूटने वाले इन तमाम संघर्षों में सन् सत्तावन की भारतीय राज्यक्रान्ति एक विशाल ज्योतिस्तंभ के समान है। भारत वह धुरी था जिसके सहारे अंग्रेज़ दक्षिण-पूर्वी एशिया में अपना साम्राज्य फैला रहे थे। हमारा संग्राम उपनिवेशों की जनता के विद्रोहों का अभिन्न अङ्ग था; वह इंगलैंण्ड के मजदूरों के मुक्ति-संघर्ष का मित्र और सहायक था। उसकी टक्कर इंगलैंण्ड के सबसे प्रतिक्रियावादी गुट से थी, उस निरंकुश सत्ताधारी गुट से थी जिसने आयर्लैंण्ड में भुखमरी और मार्शल ला का राज कायम कर रक्खा था, जिसने अफ्रीका से आस्ट्रेलिया तक आदिवासियों के संहार का अभियान चला रक्खा था, जिसने उपनिवेशों में दासप्रथा के बल पर बड़ी-बड़ी रियासतें कायम कर रखी थीं और जो अपने स्वार्थ के लिए अपने ही भाइयों को जनतांत्रिक अधिकार देने से इनकार कर रहा था। इस गुट से जिसने जो अधिकार पाये, वह बल-प्रदर्शन, क्रान्ति और युद्ध के द्वारा ही पाये। इसकी सत्ता के प्रसार का विरोध न करने का

एक ही फल होता, आयर्लैंण्ड की तरह देशी जाति की जगह सैक्सन नस्ल का बोलबाला होता। आस्ट्रेलिया की तरह आदिवासियों का विनाश और उनकी भूमि पर गौराङ्ग जाति का अधिकार होता। सन् सत्तावन की राज्यक्रान्ति का महत्व इंगलैंड की औपनिवेशिक नीति के इस संदर्भ ही में समझा जा सकता है। न भारत में, न अन्य किसी उपनिवेश में अंग्रेजों ने कोई सामाजिक क्रान्ति की थी। उनके क्रान्तिविरोधी अभियान से लड़ना ही सबसे बड़ी क्रान्ति थी।

राज्य सत्ता और चर्च

इंगलैण्ड की प्रगतिशील जगतांत्रिक व्यवस्था का एक विशेष प्रमाण राज्यसत्ता और चर्च का सम्बन्ध है। आज का हिन्दुस्तान एक धर्म-निरपेक्ष राज्य है; शासन की ओर से उसमें किसी धर्म विशेष को प्रोत्साहन नहीं दिया जाता। मध्यकाल में भी मुसलमान राजाओं के यहाँ काफी हिन्दू पदाधिकारी होते थे। प्राचीनकाल में यह देश अपनी धार्मिक सहिष्णुता के लिये विख्यात था। ऐसे देश के रहने वालों के लिये यह समझना ज़रा कठिन है कि १८ वीं सदी के पूर्वार्द्ध में औद्योगिक क्रान्ति कर चुकने वाले, एशिया-अफ्रीका में सभ्यता का प्रसार करने वाले, वैज्ञानिक प्रगति सबसे में आगे बढ़ने वाले और अनेक भारतीय इतिहासकारों के सामने जनतंत्र का आदर्श रखने वाले इंगलैण्ड में राज्यसत्ता और चर्च का घनिष्ठ सम्बन्ध कैसे था, आयर्लैण्ड में

राजनीतिक और आर्थिक उत्पीड़न के साथ धार्मिक उत्पीड़न भी कैसे था और पिछड़े हुए "हीदन" देशों में मिशनरियों को भेजकर ईसाइयत के प्रचार पर इतना बल क्यों दिया जाता था। १८५७ के भारत में हिन्दुओं और मुसलमानों की एकता को ध्यान में रखने पर इंगलैंड में धर्म और चर्च पर यह बल और भी आश्चर्यजनक मालूम पड़ता है।

आयर्लैण्ड में ईसाई रहते थे लेकिन वे प्रायः सभी रोमन कैथलिक सम्प्रदाय के थे। उन्हें देश के साधारण नागरिक अधिकार भी प्राप्त न थे। परन्तु आन्दोलन करने के बाद १८२९ में उन्हें देश की राजनीतिक व्यवस्था में पद ग्रहण करने का अधिकार दिया गया। उसी वर्ष मत-दाताओं के लिये सम्पत्ति की शर्त चालीस शिलिंग से बढ़ाकर दस पाउंड कर दी गई जिससे वोटरों की संख्या दो लाख से घट कर छब्बीस हजार ही रह गई! रोमन कैथलिक जनता से उनकी उपज का दशमांश चर्च के लिये टैक्स के रूप में लिया जाता था। यह टैक्स रोमन कैथलिक चर्च के लिये नहीं, प्रोटेस्टेंट चर्च के लिये खर्च होता था! साठ लाख कैथलिकों का पैसा दस लाख प्रोटेस्टेंटों के चर्च पर खर्च होता था! इस चर्च के पदाधिकारियों को गरीब आयरिश जनता का पेट काटकर ऊँची तनखाहें दी जाती थीं। बिशोप की तनखाह सालाना पचास हजार डालर और उससे भी ऊपर होती थी।[३७]

यह टैक्स इकट्ठा करने का काम ठेकेदारों को सौंप दिया जाता था और इस तरह बहुत सा पैसा बिचवानी खा जाते थे। इसके अलावा रोमन कैथलिक अपने चर्च के लिये अलग चंदा देते थे। १८३८ में पार्लियामेंट ने दशमांश लेने की प्रथा बन्द कर दी। उसने इस टैक्स को बदल कर भूमि-कर बना दिया जिसे अब किसान के बदले जमींदार देता। जमींदार ने टैक्स वसूल करने के लिये लगान बढ़ा दिया; किसान बेचारा जहाँ का तहाँ रहा![३८]

ब्राइट ने १८६८ में प्रोटेस्टेन्ट चर्च की असफलता का जिक्र करते हुए कहा था कि "यदि आप देखें कि चर्च किस तरह राज्यसत्ता, देश की राजनीति, जमींदारों के प्रभुत्व, प्रोटेस्टेन्ट पार्टी के प्रभुत्व और पिछले समूचे काले इतिहास से सम्बन्धित किया गया है, तो आपको मालूम हो जायगा कि इसका नतीजा यह हुआ है कि आयर्लैंड में कैथ-लिक मत धर्म ही नहीं है, वह एकदम देशभक्ति बन गया है।"[३९]

१८ वीं सदी के अन्त तक—कहना चाहिये आज तक—इंगलैण्ड में जब-जब सामाजिक, राजनीतिक, साहित्यिक या वैज्ञानिक क्षेत्र में कोई प्रगतिशील विचारधारा आई है, तब-तब चर्च ने उसका विरोध किया है। १८ वीं सदी के अन्त में टौम पेन के धार्मिक और राजनीतिक विचारों से विरोध होने के कारण टोरीदल ने उसकी "मनुष्य के अधिकार" और "विवेक का युग" पुस्तकों की बिक्री बन्द करा दी। जो लोग ब्रिटिश जनतन्त्र में सुधार की माँग करते थे, उनमें से अधिकांश इंगलैण्ड के चर्च को न मानते थे। ये लोग इलहाम में विश्वास न करते थे। इस तरह के लोगों (Deists and Dissenters) के खिलाफ़ ईश्वर-निन्दा सम्बन्धी कानूनों का योग किया गया! जो लोग पेन की पुस्तकों को फिर छाप रहे थे या अन्य इलहाम-विरोधी साहित्य छाप रहे थे, उन पर जुर्माने हुए और उन्हें जेल भी भेजा गया। जो पार्लियामेंट में सुधार चाहते थे, उन्हें नास्तिक करार दे दिया गया! शिक्षा का काम चर्च के हाथ में था। इसलिये स्वतन्त्र चिन्तन पर रोक लगाने में उसने कोई कसर न उठा रखी! ट्रैवेलियन के शब्दों में आक्सफोर्ड और केम्ब्रिज विश्वविद्यालयों से आधा राष्ट्र लाभ न उठा सकता था क्योंकि "एस्टैब्लिश्ड चर्च" के हित में धार्मिक परीक्षाएँ ली जाती थीं![४०] धार्मिक रूढ़िवाद ने यहाँ ऐसे नियम बना रखे थे जिनसे नये युग की मांगें पूरी ही न हो सकती थीं, न सामाजिक विषयों में, न वैज्ञानिक क्षेत्र में![४१] १८७१ में धार्मिक परीक्षाओं सम्बन्धी कानून बना जिससे किसी भी धार्मिक सम्प्रदाय का व्यक्ति वहाँ फेलो और पदाधिकारी हो सकता था।

कैनाडा में फ्रांसीसी लोग ज्यादातर कैथलिक थे; अंग्रेज़ प्रोटेस्टैन्ट थे। वहाँ की ज़मीन का एक बहुत बड़ा भाग अंग्रेज़ चर्चजी को भविष्य में देने के लिये बिना काश्त के सुरक्षित रख छोड़ा गया था। कैनाडा में फ्रांसीसियों के विद्रोह का एक कारण यह भी था। जहाँ-जहाँ यूनियन जैक जाता था, चर्च ऑफ इंगलैण्ड साथ जाता था, बहुधा ईसाई प्रचारक उससे पहले पहुँचते थे। डा० डबल्यू पी० मोरेल नाम के एक विद्वान् ने दक्षिणी प्रशान्त सागर में ईसाई धर्म के प्रचार पर १९४४ में एक दिलचस्प लेख लिखा था। उससे ईसाई पादरियों के प्रचार-कार्य के राजनीतिक पहलू पर प्रकाश पड़ता है।

ताहिती द्वीप में कबीलों के सर्दारों के बीच परस्पर होड़ बढ़ी। पादरियों ने एक सर्दार को अपनी ओर मिला लिया लेकिन १८०६ में उसके दुश्मनों ने उसे ताहिती द्वीप से निकाल दिया। इसके बाद ईसाई प्रचारक वहाँ से चले आये। १८१५ में वह सर्दार लौट आया, उसने दूसरे सर्दारों को हराकर ताहिती में ईसाई धर्म का चलन किया। तोंगा द्वीप के एक निवासी ने १८२३ में ईसाई धर्मप्रचारकों के बारे में कहा था: "गोरे लोग जासूसी करने आते है। उनके पीछे इंगलैण्ड से और लोग आयेंगे जो हमसे यह द्वीप छीन लेंगे। ये लोग अपने देवता से वैसे ही प्रार्थना करते हैं जैसे और पादरी करते थे। उनकी प्रार्थना का नतीजा क्या हुआ था? लड़ाइयाँ छिड़ गईं और पुराने सर्दार मार डाले गये।" इस द्वीप में १८३७ में हीदन और ईसाई दलों में युद्ध छिड़ गया। १८४० में फिर युद्ध हुआ और इसमें ब्रिटिश जल-सेना का अफसर कमांडर कोकर मारा गया। ब्रिटिश युद्धपोत ईसाई धर्म के प्रचार में सहायता कर रहे थे। ईसाई प्रचारकों के अन्य कार्यो की अपेक्षा उन द्वीपों के निवासियों पर ईसाइयों के देवता के जहाज़ों का प्रभाव अधिक पड़ा। "एक हद तक ईसाई प्रचारकों को लाने वाले बड़े जहाजों मे, जंगी तोपों वाले उनसे भी बड़े जहाजों ने उन्हें प्रभावित किया जो समय समय पर मिशन की प्रगति देखने और द्वीपवासियों के अच्छे बुरे कामों का जायज़ा लेने आते थे।"[४२] रैमजे म्यूर ने न्यूज़ीलैण्ड में मिशनरियों के काम की प्रशसा करते हुए लिखा है कि उनमें से कुछ ने बहुत सी जमीन भी हथिया ली थी।[४३] अफ्रीका में मिशनरियों के रवैये के बारे में इसी लेखक ने लिखा है: "उन्हें अब यह विश्वास न था कि आदिम समाजव्यवस्था में रहने वाले लोगों को बिना छेड़े हुए छोड़ देने से उनका कल्याण होगा। उनका विचार अब यह था कि बर्बरता से उन्हें बचाने के लिये उन्हीं की बर्बरता से और सबसे निम्न कोटि के सौदागरों के बेईमान शोषण से उनकी रक्षा करने के लिये एक सभ्य शक्ति की दृढ़ और न्यायपूर्ण सरकार कायम करना जरूरी है। इसलिए बहुत से प्रदेशों में मिशनरी अँग्रेजों के अधिकार के हामी होगये थे।"

इस बारे में कुछ बहस है कि अंग्रेज हिन्दुस्तान में ईसायत फैलाना चाहते थे या नहीं। सौ साल पहले यहाँ के लोगों को शंका थी कि वे यहाँ वालों का धरम लेना चाहते हैं। हो सकता है कि यह अन्धविश्वासी हिन्दु-

स्तानियों का प्रचार हो लेकिन उपनिवेशों का इतिहास देखने से यही पता चलता है कि हर जगह अंग्रेज सौदागरों, आक्रमणकारियों और शासकों ने ईसाई धर्म फैलाने की कोशिश की । इसके लिये उन्होंने मिशनरी भेजे और अनेक देशों में जब भी स्वाधीनता आन्दोलन चला इन मिशनरियों के खिलाफ भी जनता का असन्तोष फूट पड़ा। एक अमरीकी लेखक केनेथ स्कौट लटूरेट ने सुदूर पूर्व का इतिहास लिखा है। उसमें सुदुर पूर्व के देशों के राजनीतिक इतिहास के साथ इस बात पर भी प्रकाश डाला गया है कि किस देश में कितने ईसाई हैं (और उनमें रोमन कैथलिक कितने हैं, कितने प्रोटेस्टेंट हैं।) फिलिपिन द्वीपों के निवासी स्पेन वालों के आधिपत्य मे ईसाई हो गये जिनमें से अधिकांश अमरीकी आधिपत्य होने के बाद भी रोमन कैथलिक बने रहे। इंडोनीशिया के मुसलमानों मे बहुत थोड़े लोग ईसाई हुए; ज्यादातर पिछड़ी हुई समाजव्यवस्था के लोग ही ईसाई बने । वियतनाम में "फ्रांसीसी रोमन कैथलिक मिशनों के पीछे फ्रांसीसी राजनीतिक हुकूमत आ गई।"[४४] १८५० में वियतनाम के लोगों ने हमले के भय के कारण ईसाइयत के विरुद्ध कठोर रवैया अपनाया। १८५८ में फ्रान्स और स्पेन ने अपने नागरिकों की सम्मान रक्षा के लिये फौजें भेजीं क्योंकि वहाँ के मिशनरियों पर हमले किये गये थे! वियतनाम में आबादी का पाँच फीसदी भाग ईसाई हो गया लेकिन ये भी प्रायः सबके सब रोमन कैथलिक थे। बर्मा में ईसाई पादरियों को बौद्धों में सफलता न मिली; उन्होंने करेन जैसी ग़ैरबर्मी पिछड़ी हुई जातियों में ईसाई बनाये। थाई देश में भी उन्हें विशेष सफलता न मिली।

१८ वीं सदी के उत्तरार्द्ध में चीन में ईसाई धर्म फैला लेकिन १८२० में साम्राज्यविरोधी आन्दोलन के साथ ईसाई मिशनों के खिलाफ आन्दोलन भी हुआ। अंग्रेज़ और अमरीकी मिशनों को अपने कार्यकर्त्ताओं की संख्या कम करनी पड़ी । १६२६-२७ में ईसाई धर्मप्रचार का फिर विरोध हुआ। "नये रूप में यह विरोध ईसाइयत को अवैज्ञानिक कहकर उसे तर्क की कसौटी पर असिद्ध और विदेशी साम्राज्य का साथी कहकर उस पर हमला करता था।"[४५] जापान में राष्ट्रवाद का जोर था। वहाँ जो लोग ईसाई बने, उन्होंने इस बात का प्रयत्न किया कि विदेशी मिशनों से स्वतन्त्र होकर अपना चर्च स्थापित करें।

"१९४० में अनेक ईसाई संस्थाओं ने दबाव के कारण यह आवश्यक समझा कि विशप और स्कूलों के प्रधान जैसे पदों पर विदेशियों की जगह जापानियों को नियुक्त करें और बाहर से जो धन की सहायता मिलती थी, उसे कम कर दें।" अनेक देशों में प्रोटेस्टेंट और कैथलिक पादरी कम्युनिस्ट विरोधी प्रचार में नेतृत्व कर चुके हैं; कम्युनिस्टों पर एक आरोप यह लगाया जाता है कि वे रूस से पैसा लेकर दूसरे देशों को गुलाम बनाना चाहते हैं। वे स्वयं ब्रिटेन, अमरीका, फ्रान्स आदि से धन प्राप्त करके साम्राज्यवाद के प्रसार में सहायक हुए हैं, इस तथ्य की ओर उनका ध्यान कम जाता है।

विदेशी मिशन एशिया के किसी देश के चर्च पर नियंत्रण रखें या नहीं, यह प्रश्न नये चीन में भी उठा है। श्री सुन्दरलाल ने चीन पर अपनी पुस्तक में लिखा है : "सरकार धार्मिक स्वतन्त्रता के सिद्धान्त का पालन कठोरता से करती है और धार्मिक मामलों में पूर्ण तटस्थता का रुख अपनाती है। लेकिन वह विदेशी मिशनों को इस बात की अनुमति नहीं देती कि वे चीन के ईसाई चर्च पर नियंत्रण रखें।"[४७] सुन्दरलाल जी ने आगे लिखा है कि पोप का एजेंट चीन से निकाल दिया गया है। अंग्रेज़ी चर्च की हालत अच्छी नहीं है। "वह ब्रिटिश साम्राज्य के राज्यतन्त्र (state apparatus) का एक अंग है। उसकी बुनियादी ३९ धाराएं ब्रिटिश पार्लियामेंट की बनाई हुई हैं और तमाम विवादों का फैसला इंगलैण्ड की प्रिवी कौंसिल करती है।"[४८] अमरीका के स्वतन्त्र चर्च इसलिए तबाह हो रहे हैं कि अमरीकी प्रेस चीन-विरोधी प्रचार करता है। पेकिंग की मिशनरी-युनिवर्सिटी के प्रधान ने सुन्दरलाल जी के सामने एक लम्बा बयान दिया जिसमें उसने अमरीकी साम्राज्य-वाद के पुराने कारनामों की निन्दा की और चीन के प्रति सौ फीसदी वफादारी का वादा किया। मिशन और मिशनरियों की जो भूमिका अंग्रेज़ी राज के प्रसार में रही है, उसे नये साम्राज्यवादी युग में उन्होंने बहुत कुछ कायम रखा है। इसी कारण एशिया के स्वाधीनता-आन्दोलन उनसे अनेक बार संघर्ष कर चुके हैं।

धार्मिक मामलों में हिन्दुस्तान के लोग काफी उदार और सहनशील रहे हैं। उन्होंने दूसरों की बात सुनने और उनसे कुछ सीखने की प्रवृत्ति का अनेक बार परिचय दिया है। उदाहरण के लिए अकबर ने धर्म-

चर्चा के लिये ईसाई पादरियों को बुलाया था। त्रावनकोर की रानी ने ईसाई मिशन की सहायता की थी "जिससे बहुत से प्रतिष्ठित हीदन उसे आदर से देखने लगे थे।"[४९] किन्तु अनेक अंग्रेज़ों और ईसाई मिशनरियों का उद्देश्य सहनशीलता द्वारा धर्म-प्रचार करना न था। उनका विचार था कि ईसाई धर्म के साथ वे हिन्दुस्तानियों में अंग्रेज़ भक्ति का प्रचार कर सकेंगे।

बंगाल के ईसाई प्रचारक अलेग्ज़ेंडर डफ़ ने सन् सत्तावन के संघर्ष को "एशिया में उनकी (अंग्रेज़ों की) प्रभु सत्ता के लिए महान् संकट" कहा था। इस संकट से अंग्रेज़ी राज को डफ के अनुसार चर्च ही उबार सकता था। इसलिए उसने अंग्रेज़ी चर्च का आह्वान करते हुए कहा: "कितना भी त्याग करना पड़े, उठो और जैसा अब तक नहीं किया, पूरी लगन से इन विशाल प्रदेशों में तीन हज़ार साल से जमे हुए शैतान के राज की जगह मसीहा का राज कायम करने में जुट जाओ।"[५०] डफ की जीवनी के लेखक के अनुसार देशी ईसाइयों ने अंग्रेज़ों की ओर से आगरे के किले से तोपें चलाईं। इन ईसाइयों में डफ के कालेज का ऐस० सी० मुकर्जी नामक व्यक्ति भी था। कृष्णगढ़ के बंगाली ईसाइयों ने बैलगाड़ियों और आदमियों से सरकार की मदद करनी चाही लेकिन एवज़ में कुछ न लेने का वादा करने पर भी अंग्रेज़ों ने उनकी मदद कबूल न की। बनारस के ईसाइयों ने नयी फौजी पुलिस में भर्ती होना चाहा लेकिन सरकार को यह पसंद न था। कुछ ने पुलिस में भर्ती होकर हुगली के किनारे और मिर्ज़ापुर में अंग्रेज़ों की मदद की। दक्षिण भारत के ईसाइयों ने मद्रास गवर्नर को अपनी सेवाएँ अर्पित कीं। बहुत से ईसाई १७ वीं देसी पल्टन में भर्ती होकर उत्तर भारत में लड़े। जब बिहार में संकट बढ़ गया, तब बंगाल सरकार ने मिशनरियों को बुलाया और उनसे सहायता माँगी। जर्मन मिशनरियों ने बंगाल सरकार को दस हज़ार ईसाई कोल भेज कर मदद देने का वादा किया। अमरीकी धर्मप्रचारक डा० मेसन ने बर्मा से ईसाई करेन लोगों की एक बटालियन भेजने की इच्छा प्रकट की।[५१]

सन् सत्तावन की क्रान्ति ने अंग्रेज़ी, अमरीकन, जर्मन—सभी यूरोपियन मिशनों का रुख प्रकट कर दिया। ये मिशन न तो राज्य-निरपेक्ष थे और न अंग्रेज़ों का राज्य यहाँ धर्म-निरपेक्ष था। अनेक पादरियों के

अलावा फौजी अफ्सर और शासन के पदाधिकारी खुल्लमखुल्ला ईसाई धर्म का प्रचार करते थे। जब एडवर्ड्स पेशावर में रेज़ीडेंट था तो उसने मिशन की सहायता देने का वचन दिया था और कहा था कि भारत का ईसाईकरण अंग्रेज़ी राज का अन्तिम ध्येय होना चाहिए।[५२] बेंटिक हार्डिंज, हैलीफैक्स आदि सज्जन डफ की धार्मिक भावनाओं से प्रभावित हुए थे; इन मिशनरियों के काम का उद्देश्य "हिन्दू धर्म का विनाश और पूर्वी तथा उत्तरी भारत के १३ करोड़ लोगों को ईसाई बनाना था।"[५३] फौज के अफ्सर लेफ्टिनेंट-कर्नल व्हीलर ने बैरकपुर के ब्रिगेड-मेजर को लिखा था कि यदि हिन्दुस्तान के सब लोग ईसाई हो जायँ तो इससे उसे बहुत प्रसन्नता होगी "क्योंकि तब सरकार का वह विरोध न दिखाई देगा जो हाल में दिखाई दिया है।" इसी पत्र में उसने बीस साल से सिपाहियों और दूसरे लोगों में ईसाई धर्म के प्रचार करने की बात स्वीकार की थी। यह पत्र ४ अप्रैल सन् १८५७ को लिखा गया था। १५ अप्रैल को उसने असिस्टेंट अजटेंट-जेनरल के नाम पत्र में लिखा था, "जहाँ तक इस सवाल का सम्बन्ध है कि मैंने सिपाहियों और अन्य लोगों को ईसाई बनाने की कोशिश की है या नहीं, मैं नम्रतापूर्वक उत्तर दूँगा कि मेरा उद्देश्य यही रहा है और मैं समझता हूँ कि हर ईसाई का यही लक्ष्य और उद्देश्य रहा है जो ईश्वर के शब्द की चर्चा करता है।"[५४]

शासन और फौज में सभी लोग इस नीति के समर्थक नहीं थे किंतु यह सत्य है कि इस नीति का अनुसरण करने वाले काफी लोग थे। वे ईसाई धर्म को धार्मिक भावना से ही न फैलाना चाहते थे, वे उसके द्वारा अंग्रेज़ी राज की जड़ें मजबूत करने की बात भी सोचते थे। इसलिये अंग्रेज़ी राज के प्रति घृणा फैलने के साथ अंग्रेज़ मिशन और मिशनरियों के प्रति भी थोड़ी बहुत घृणा का भाव जागा हो तो आश्चर्य नहीं। एक लेखक ने सन् ५७ के आसपास ईसाई नैतिकता और सरकार के सम्बन्ध पर लिखा है: "लगभग १८४० से १८५६ तक एक ऐसा समय आया जब प्रमुख सरकारी अफसर खुलेआम घोषित करते थे कि अच्छी हुकुमत का आधार ईसाइयत होना चाहिये। जॉन लॉरेन्स ने अपने ही विचार प्रकट न किये थे, जब उसने एक सरकारी मसौदे में लिखा था, 'हमें केवल इस बात को जानने का प्रयत्न करना चाहिये कि

हमारा ईसाई कर्तव्य क्या है। अन्य किसी बात की चिन्ता किये बिना उसे भरसक पूरा करना चाहिये।' हेनरी लॉरेन्स, आउट्रम, एडवर्ड्स, टॉमासन, मैकलिओड और थौर्नटन लिखते और बोलते हुए इतनी ही स्पष्ट बातें कहते थे।.......१८५४ में डलहौजी ने उन लोगों का तर्क दरगुज़र कर दिया जो डरते थे कि सार्वजनिक धनराशि से मिशन स्कूलों को पैसा देने से भारतीय भावना को ठेस लगेगी। उसने लिखा था, 'लोगों में अपने सच्चे धर्म के प्रचारकों द्वारा शिक्षा-प्रसार के काम को यों बिलकुल भुलाकर हम राजनीतिक रूप से भी ग़लती करते हैं।" एक गवर्नर ने एक कॉलेज का उद्घाटन करते हुए कहा था कि वह सारे भारत के ईसाई हो जाने की बाट जोह रहा है। सर चार्ल्स वुड के मसौदे में सार्वजनिक धनराशि से मिशन स्कूल और कॉलेजों को मदद देने की बात लिखी गई थी। यह मसौदा १८५४ में तैयार किया गया था।[५५] भारत की धर्म-सम्बन्धी नीति इससे भिन्न थी।

प्रशान्त महासागर के तोंगा द्वीप के प्रमुख योद्धा हाता ने ईसाई मिशन के एक कारीगर से दोस्ती कर ली थी। उनसे ईसाई बनने को कहा गया तो हाता ने कहा: "आपके लिये बहुत अच्छा है कि आप अपने ईश्वर को पूजें; मैं अपने को पूजूँगा।"[५६]

हिन्दुस्तान में अंग्रेज़ पादरी मार्टिन ने एक पण्डित को कयामत के दिन क्या होगा, यह रहस्य समझाने का प्रयत्न किया। पंडित ने उत्तर दिया: "ईश्वर तक पहुँचने के बहुत रास्ते हैं।"[५७]

मार्टिन को ईरान में फीरोज़ नामक एक विद्वान् मिला। उसने कहा: "किसी भी धर्म में दूसरे धर्मों की अपेक्षा सचाई के अधिक प्रमाण नहीं हैं। उनके संस्थापकों के सभी चमत्कार परम्परा पर आधारित हैं।"[५८]

हाता ने अपनी बात १८२६ में, भारतीय पंडित ने १८०७ में और ईरान के फीरोज़ ने १८११ में अपनी बात कही थी। इससे उस धार्मिक सहिष्णुता का पता चलता है जो दक्षिण-पूर्वी एशिया में अंग्रेज़ी राज के प्रसार के पहले वर्तमान थी। किन्तु ईसाई पादरियों को अपने से भिन्न धर्म वाले सब शैतान के शिकंजे में जकड़े हुए दिखाई देते थे। उन्हें नरक की आग से बचाने की चिन्ता पादरियों के चिन्तन में कहीं-कहीं मानसिक बीमारी का रूप ले लेती थी। मार्टिन ने दो हिन्दुस्तानियों

से अपनी बातचीत का वर्णन यों किया है : "और जब मैंने कयामत के दिन की बात कही तो वे बेहद ताज्जुब से एक दूसरे को देखने लगे। उनकी आँखें कह रही थीं, 'इसे यह सब-कुछ कैसे मालूम हो गया !' मुझे इस बात से कुछ सन्तोष हुआ कि मैंने जो कुछ कहा, उसे उन लोगों ने बहुत कुछ समझ लिया। लेकिन वे पढ़ न सकते थे। और कोई हमारे पास नहीं आया। इसलिये प्रकाश की एक भी किरण दिए बिना मुझे दुख से वहाँ से चल देना पड़ा। मुझे खून के अपराध की चेतना बहुत सता रही थी (I was much burdened with a consciouness of blood-guiltiness)। यद्यपि मुझे सन्देह नहीं है कि ईसा के रक्त द्वारा मुझे क्षमा मिल जायगी किन्तु यह विचार कितना भयानक है कि जो कोई मेरे प्रयत्न से बच सकता हो, वह नष्ट हो जाय।"[५९]

हो सकता है कि इस मानसिक स्थिति को कुछ लोग आध्यात्मिक चेतना का दिव्य रूप मानें किन्तु यह समझ में नहीं आता कि ऐसे लोग जिन पतितों का उद्धार करने चले थे, वे उनसे किस बात में भिन्न थे। हाता, पंडित और फीरोज़ की सहिष्णुता के बदले मार्टिन में धार्मिक कट्टरता के दर्शन होते हैं। हिन्दुस्तान में एक ब्रिटिश पल्टन के अन्दर अधिकांश सैनिक रोमन कैथलिक थे। इन्हें देखकर मार्टिन ने लिखा था : "वहाँ (इँगलैंड में) भले आदमी बाल की खाल निकाल कर जो बहस किया करते हैं, वह शैतान के इन ज़बर्दस्त एजेन्टों की तुलना में कितनी तुच्छ और महत्वहीन है जिनसे हमें यहाँ निपटना पड़ता है ! हिन्दुस्तान में चार ज़ातों के लोग हैं : पहला हीदन; दूसरा मुसलमान; तीसरा पोपपंथी; चौथा काफिर। अब मुझे विश्वास है कि हम और तुम इस चार मुँह वाले शैतान से लड़ने के लिये भेजे गये हैं और ईसा मसीह की मदद से, जिनकी हम सेवा करते हैं, हम लड़ेंगे।"[६०] आयर्लैंड में जहां लाखों किसान भूखों मर रहे थे, अंग्रेज़ ज़मींदारों के अत्याचार से बेबस होकर देश छोड़ कर अमरीका और आस्ट्रेलिया जा रहे थे, उनके प्रति पादरी मार्टिन और उस जैसे दूसरे धर्म-प्रचारकों की करुणा जाग्रत नहीं हुई। वे हिन्दुस्तान के लोगों का उद्धार करने आये थे जिनके चिन्तन और तर्क-पद्धति से चमत्कृत होकर मार्टिन ने ही लिखा था, "ये लोग मूर्ख नहीं हैं। तर्क करने में सारी चतुराई और स्पष्टता इँगलैंड और यूरोप तक सीमित नहीं हैं।"[६१]

ईसाई मिशनरियों की एक दूसरी विशेषता थी: वैज्ञानिक दृष्टिकोण का विरोध। जिस तरह इँगलैंड में चर्च के बड़े पदाधिकारी डार्विन के खिलाफ़ जिहाद बोलने वाले थे, वैसे ही हिन्दुस्तान में वैज्ञानिक विचार-धारा से यहाँ का पादरी दल आन्दोलित था। १८ वीं सदी के पूर्वार्द्ध की यह विचारधारा ऐतिहासिक भौतिकवाद न थी किन्तु वह भौतिक-वाद के निकट ज़रूर थी। एक बार बिशप टर्नर गवर्नर जेनरल और कांउसिल के अन्य सदस्यों के साथ हिन्दू कॉलेज गया। "उसने काफ़ी पैसा खर्च करके खगोलशास्त्र और गणित से सम्बन्धित अनेक यंत्र खरीदे थे जिससे कि उन वैज्ञानिक विषयों की ऊँची शाखाओं में अपना अध्ययन चलाने में विद्यार्थियों को मदद मिले। उसे आशा थी कि इस तरह उसके चारों ओर देशी नौजवान एकत्र होंगे और अध्ययन-क्रम के सिलसिले में वे 'प्रकृति से होते हुए प्रकृति के देवता के दर्शन' करेंगे जिससे कि इन संस्थाओं से एक दिन रोशनीयाफ्ता लोग निकलेंगे और जिस अन्धकार में उनके देशवासी युग-युग से पड़े थे, उससे उनका उद्धार करेंगे।"[६२] धर्म प्रचारकों को विज्ञान से इतना ही प्रेम था कि नौजवान आकृष्ट हो कर उनके पास आयें; आ जायँ तो विज्ञान के अन्धकार से निकाल कर उन्हें धार्मिक रूढ़िवाद के प्रकाश के दर्शन कराये जायँ। हिन्दू कालेज के तरुण विद्यार्थी शासकों और उनके धार्मिक अन्धविश्वासों दोनों से घृणा करने लगे थे। बंगाल का शिक्षित युवक-दल अंग्रेज़ों की गुलामी से घृणा करता था। १८३१ में इन विद्यार्थियों की दशा के बारे में एक दूसरे पादरी आर्च डीकन कौरी (Corrie) ने लिखा था, "नौजवान कहते है, वे हिन्दू धर्म में विश्वास का झूठा डंका न पीटेंगे। ईसाइयत के बारे में उन्हें चेताया गया है कि वह अंग्रेज़ों का पूर्वाग्रह है। मालूम होता है कि वे ईसाइयत और इँगलैंड दोनों से घृणा करने लगे हैं।"[६३] अंग्रेज़ी राज की प्रगतिशील भूमिका के बारे में कुछ बंगाली बुद्धिजीवियों को भी भ्रम है और वे कहते हैं कि उस समय के प्रगति-शील नवयुवक अंग्रेज़ी राज का स्वागत करते थे। आर्च डीकन कौरी की बात इस धारणा का खंडन करती है। बंगाल के प्रगतिशील तरुण अंग्रेज़ी राज के विरुद्ध थे; उसके गुण गाने वाले कुछ दूसरे ही लोग थे जो प्रगतिशील भले रहे हों, देशभक्त नहीं थे। धनी युवकों के लिये भी कौरी ने लिखा है : "लगता है, इनमें से एक-एक आदमी हर अंग्रेज़ी

चीज़ का विरोधी है। (They seem to a man opposed to every thing English)। धर्म के पक्ष में कोई भी ग्रान्दोलन किसी भी रूप में कहीं भी सुनाई नहीं देता।" इनमें से धनी व्यक्तियों के एक गुट के बारे में उसने लिखा था : "वे ऐसे शिकायत करते हैं मानों उन्होंने कुछ भारी विशेषाधिकार खो दिये हैं जो कभी उनके पास थे। वे इसे अपना हक समझते हैं कि राज्य उन्हें नौकरी दे।" इस गुट के लिये ईसाइयत का इतिहास लिखने वाले ने इन शब्दों का प्रयोग किया है, "धनी पूर्वी भारतीय जो कुछ समय से राजनीतिक अधिकारों के लिये शोर मचा रहे थे" ("Wealthy East Indians, who, for some time past, had been clamouring for political privileges")। पादरियों को इन सब बीमारियों का एक ही मूल कारण दिखाई देता था : विद्यालयों में समुचित धार्मिक शिक्षा का अभाव।

१८१५ में राजा राम मोहन राय की मुलाकात बिशोप मिडिलटन से हुई। राजा राममोहन राय मूर्तिपूजा के विरुद्ध थे, इसलिये बिशोप को आशा थी कि वह उन्हें ईसाई बना लेगा। राजा राममोहन ने ईसाई धर्म की आलोचना प्रकाशित की, जिससे उस की आशाओं पर पानी फिर गया। उनके बारे में उस ने लिखा: "बाद को वह बुरी संगत में पड़ गया और अब उसके ईसाई होने की उतनी ही कम संभावना है जितनी मेरे हिन्दू होने की।" [६५] राजा राममोहन ईसाइयत के नैतिक सिद्धान्तों को पसन्द करते थे किन्तु इलहाम में उन्हें विश्वास न था। रेवरेंड प्रिंसिपल मिल ने १८२२ में यह भय प्रकट किया था कि उनकी रचनाओं का बुरा असर ईसाइयों पर पड़ेगा। मिल ने लिखा कि मुसलमानों आदि पर उसका जो भी प्रभाव पड़े, "इस बात के संतोषजनक प्रमाण हैं कि उस पुस्तक द्वारा अनुमोदित ईसाविरोधी विश्वासघात (apostasy) का असर इस जगह के ईसाइयों में न बढ़ेगा। वह चट्टान, जिस पर चर्च निर्मित हुआ है, सारी दुनिया की तरह यहाँ भी अडिग रहेगी।" [६६] इलहाम-विरोध से—ईसाई धर्म के नैतिक पक्ष का समर्थन होने पर भी—पादरीवर्ग चिंतित था कि यह छूत की बीमारी ईसाइयों में न फैल जाय।

राजा राममोहन राय के धार्मिक सुधारों का प्रभाव बढ़ता रहा।

ईसाइयत के इतिहास-लेखक के अनुसार "डा० मार्शमैन और मिस्टर वेट्स ने चर्च में योग्यता से राममोहन राय को उत्तर दिया। फिर भी हिन्दुस्तान में उसके विचार फैलते गये, खास तौर से उन नेटिव लोगों में जिन्हें इतना ज्ञान तो हो गया कि पुरानी मूर्तिपूजा को ढकोसला समझ लें, लेकिन जिन्हें इतना प्रकाश न मिला था कि ईसा के रूप में सत्य को स्वीकार करलें।"[६६] कलकत्ते में विलियम ऐडम नाम का एक उत्साही पादरी था। उसने ईसा के देवत्व को अस्वीकार कर दिया। इंगलैण्ड न लौटकर वह भारत में ही बना रहा और राजा राममोहन राय से उसने संपर्क बढ़ा लिया "जिसने पहले ही यह कुफ्र मंजूर कर लिया था और जो अपनी दुष्ट विचारधारा से सत्य को विषाक्त बनाने का बड़ा प्रयत्न कर रहा था। इस आदमी के साथ मिल कर विलियम ऐडम उतने ही परिश्रम से कुफ्र का प्रचार करने लगा जितने परिश्रम से पहले वह ईसा के उपदेशों का प्रचार कर रहा था। बिरादरों के लिये यह सचमुच क्लेश की बात थी जैसे कि आदिम ईसाइयों के लिये उन 'झूठे गुरुओं का' व्यवहार था जिनके बारे में हमने पढ़ा है कि वे चुपके से 'जघन्य नास्तिकता ले आये थे और जिस मालिक ने उन्हें बनाया था, उसे भी अस्वीकार करने लगे थे'।"[६७] इस प्रकार ईसाई मिशनरियों की कार्यवाही का विरोध अनेक दिशाओं से हो रहा था। इस विरोध में वे नौजवान भी थे जो किसी भी धार्मिक रूढ़िवाद में विश्वास न करते थे; उसमें वे सुधारक थे जो भारतीय समाज को अनेक कुरीतियों से बचाना चाहते थे किन्तु जो धर्मपरिवर्तन के लिये तैयार न थे।

इंगलैण्ड में जिस अभिजातवर्ग का शासन था, उसके प्रतिक्रिया-वादी रूप का यह भी एक प्रमाण था कि उसका चर्च से इतना घनिष्ठ संबंध था। उसने जातीय उत्पीड़न के साथ धार्मिक उत्पीड़न भी किया। यह उत्पीड़न आयर्लैण्ड में था, कैनाडा में था, एशिया, अफ्रीका और प्रशान्त महासागर के द्वीपों में था। मिशनरियों ने बहुत जगह बहुत अच्छे काम भी किये। हिन्दुस्तान में उन्होंने प्रेस कायम किया, अनेक भाषाओं के कोश और व्याकरण तैयार किये। किन्तु इन सब कार्यों का उद्देश्य यहाँ के लोगों की भाषाएँ समझ कर उन्हें ईसाई बनाना ही था। आधुनिक संसार में उपनिवेशों की स्वाधीनता की समस्या, इंग-लैण्ड और यूरोप में मजदूरवर्ग की मुक्ति की समस्या धर्म से सुलझने

वाली न थी। ईसाई राष्ट्र एक दूसरे से लड़ रहे थे; क्राइमिया की लड़ाई में ईसाई राष्ट्र इंगलैण्ड और फ्रान्स इस्लाम धर्मानुयायी राष्ट्र तुर्की की मदद कर रहे थे। धर्मप्रचार के नाम पर ईसाई मिशन इंगलैण्ड की साधारण जनता से चंदा एकत्र करते थे और उपनिवेशों में अंग्रेज़ दस्युओं के कारनामों का भंडाफोड़ करने के बदले अंग्रेज़ जनता को यह आश्वासन देते थे कि उसके धर्म का प्रसार हो रहा है। शासकवर्ग पश्चिमी सभ्यता के प्रसार की बात करता था, मिशनरीवर्ग ईसाई धर्म के प्रसार की बात करता था। दोनों एक दूसरे के पूरक और समर्थक थे। इसलिये कुल मिलाकर मिशनरियों की भूमिका उपनिवेशवाद के फैलाने में सहायक ही मानी जायगी। यही कारण है कि एशिया के प्रत्येक देश में स्वाधीनता-आन्दोलन की बढ़ती के साथ मिशनरियों की कार्यवाही से भी टक्कर हुई।

इसमें सन्देह नहीं कि भारत जैसे देशों में अनेक धार्मिक अन्ध-विश्वासों और कुरीतियों का चलन था। इनके विरुद्ध न केवल १९ वीं सदी में वरन् उससे बहुत पहले से संघर्ष चल रहा था। भारतीय समाज में ऐसी शक्तियाँ थीं जो उसका सुधार करके उसे प्रगतिपथ पर आगे बढ़ा सकती थीं। किन्तु सवाल भारत के किन्हीं विशेष अन्ध-विश्वासों का नहीं था, चीन, जापान, अफ्रीका, आयर्लैण्ड—जहाँ भी यूनियन जैक फहराता था, वहाँ अंग्रेज़ी चर्च भी जनता की आध्यात्मिक उन्नति के लिये पहुँच जाता था। इसके लिये अंग्रेजी राज्य की ओर से भारत में वेतन-भोगी पदाधिकारी नियुक्त होते थे। साथ ही हिन्दुस्तान की सार्वजनिक निधि से भी मिशन स्कूलों आदि की सहायता की जाती थी जिससे यहाँ के स्कूलों की अपेक्षा वे ज्यादा अच्छी शिक्षा का प्रबंध कर सकें। यह समझना भ्रम है कि यहाँ शिक्षा की कोई व्यवस्था न थी और शिक्षा का प्रसार मिशनरियों की कृपा का फल था या अंग्रेज़ी राज की उदार नीति का परिणाम था।

अंग्रेज़ शासकों ने भारतीय शिक्षा-संस्थाओं का किस तरह नाश किया था, इसके बारे में जॉन ब्राइट ने १८५३ में हाउस ऑफ कॉमन्स में कहा था, "देश में जिस शिक्षण व्यवस्था का इतना प्रसार था कि हर गाँव में अध्यापक वैसे ही नियमित रूप से मिलता था जैसे मुखिया या पटेल, उस व्यवस्था को सरकार ने लगभग समूचा नष्ट कर

दिया है। जो रिक्त स्थान बना है, उसकी पूर्ति के लिये या उसकी जगह और अच्छी व्यवस्था कायम करने के लिए उसने कुछ भी नहीं किया। हिन्दुस्तान के लोग निर्धनता और ह्रास की दशा में हैं जिसकी मिसाल इतिहास में वहाँ के देशी राज्य में नहीं मिलती। उनकी निर्धनता से सरकार २ करोड़ ६० लाख पाउंड की मालगुजारी ऐंठती है और शिक्षा के लिए सालाना ६६ हज़ार पाउंड वापस कर देती है![६९]

अंग्रेजी राज ने यहाँ की शिक्षण-व्यवस्था को मिटाया, हिन्दुस्तानियों से एक रुपया ऐंठा तो उसमें से छदाम शिक्षा पर खर्च किया। उसपर भी अनेक इतिहासकार अंग्रेज़ों की उदार नीति पर कैसे बलि-बलि जाते हैं! यह भी दर्शनीय है कि हिन्दुस्तान में प्रोटेस्टेंट चर्च पर कितना धन व्यय किया जाता था। इसी भाषण में ब्राइट ने आगे कहा था: "भारत में हमारी चर्च-संबन्धी व्यवस्था क्या है? तीन बिशौप और उनके अनुपात से पादरी जिनके लिये १ लाख १ हज़ार पाउंड सालाना से कम खर्च नहीं पड़ता। यह केवल ५० से ६० हज़ार यूरोपियनों के लिये है। इनमें लगभग आधे—फौज को मिला कर—रोमन कैथलिक हैं, सो अलग।" हिन्दुस्तानियों की शिक्षा पर---ब्राइट के अनुसार दस करोड़ हिन्दुस्तानियो में २५ हज़ार विद्यार्थियों को ही शिक्षा दी जाती थी—६६ हज़ार पाउन्ड और मुट्ठीभर बिशौप और पादरियों पर एक लाख पाउंड! वह भी लगभग २५ हजार प्रोटेस्टेंट यूरोपियनों के लिये! रोमन कैथलिकों के प्रति यहाँ भी भेदभाव की नीति बरती जाती थी। ब्राइट ने इस साम्प्रदायिक नीति की आलोचना करते हुए कहा था कि प्रोटेस्टेंट बिशौप को तो दो से तीन हज़ार पाउंड तक सालाना तनखाह दी जाती है, और रोमन कैथलिक बिशप को ढाई सौ पाउंड सालाना ही में टरका दिया जाता है! यहाँ भी भारत-सरकार इंगलैण्ड के जनतन्त्र का ही अनुसरण कर रही थी। ब्राइट के शब्दों में, "इसमें ईस्ट इंडिया कंपनी का अधिक दोष नहीं है क्योंकि इस देश में जो हो रहा है, उसी का तो वह अनुकरण करती है।"[६८]

जहाँ भी मिशनरियों ने शिक्षासंस्थाएँ खोलीं, उनका उद्देश्य शिक्षा से अधिक ईसाई धर्म का प्रचार करना था। शिक्षा नौजवानों को आकर्षित करने का माध्यम थी। वैज्ञानिक शिक्षा के बदले उन्होंने धर्म की घूंटी पिलाने की बराबर कोशिश की। जहाँ भौतिकवादी विचारधारा

दिखाई दी, वे चौकन्ने होकर उस पर टूट पड़े। जैसे इंगलैण्ड में टॉमस पेन का विरोध हुआ था और आगे चलकर डार्विन और मार्क्स का हुआ, वैसे ही १८५७ के पहले यहाँ भी प्रगतिशील विचारधारा का विरोध हुआ। कलकत्ते के बिशप डॉ. कौटन ने अलेग्ज़ेंडर डफ के बारे में कहा था: "अलेग्जेंडर डफ को यह विशिष्ट गौरव मिला था कि जब वह यहाँ आये, तब यहाँ एक विराट् बौद्धिक आन्दोलन चल रहा था जिसका रूप पूर्णतः नास्तिक था। उन्होंने तुरन्त निश्चिय किया कि वह उसका ईसाई रूप कर देंगे।"[६९] इस बौद्धिक आन्दोलन में यूरोप और हिन्दुस्तान दोनों के लोग थे और कितनी बड़ी संख्या में थे, वह आगे के वाक्य से स्पष्ट है: "जब बंगालियों की एक नयी पीढ़ी, और अफसोस! अत्यधिक संख्या में उनके यूरोपियन मित्र और शिक्षक ईसाइयत को एक जीर्ण अन्धविश्वास कहते थे जो शीघ्र ही उस चिता पर जल जायगा जिस पर ब्राह्मण, बौद्ध और मुसलमान धर्म पहले ही भस्म हो रहे थे, तब अलेग्ज़ेंडर डफ अकस्मात् रंगमंच पर उन्हें यह बताने के लिये प्रकट हुए कि ईसा का सन्देश न तो मरा है न सो रहा है।"[६९]

शिक्षा के क्षेत्र में वैज्ञानिक विचारधारा को रोकना और धार्मिक रूढ़ियों का प्रचार करना, मिशनरियों की यह महत्वपूर्ण भूमिका थी।

हिन्दूकालेज में डिरोजिओ नाम के एक लोकप्रिय शिक्षक थे। उनके पिता पुर्तगाली थे और माता अंग्रेज़ महिला थीं। वह भारत में उत्पन्न हुए थे और भारत को अपना देश मानते थे। उन्होंने देशभक्तिपूर्ण कविताएं लिखी थीं। उनके कारण विद्यार्थियों में स्वाभिमान की चेतना फैल रही थी। उन्हें १८३१ में कालेज से पदत्याग कर देना पड़ा। डिरोज़ियों के पदत्याग से लेकर प्रेमचन्द के कहानी संग्रह सोज़े वतन की प्रतियां जलाने तक अंग्रेज़ी राज में शिक्षणसंस्थाओं का इतिहास बतलाता है कि उन्होंने हमें देशभक्ति का पाठ किस तरह पढ़ाया है।

हिन्दुस्तान में देशी राजाओं के कुशासन के कारण अंग्रेज़ यहाँ एक के बाद दूसरा राज्य हड़प करते जाते थे। इन्हीं कुशासित प्रदेशों में पंजाब भी था। इसके बारे में ओ मैली ने लिखा है, "अंग्रेज़ी राज्य में मिला लेने के बाद पता चला कि समूचे पंजाब में प्राथमिक पाठशालाएं हैं। कुछ जिलों में सभी संप्रदायों और वर्गों के बच्चे इनमें पढ़ते हैं।…

लड़कियों तक के लिये छोटी पाठशालाएं थीं । इस तरह की सोलह पाठशालाएं लाहौर में थीं और उनकी सभी छात्राएं मुसलमान थीं।"[७०] सिखराज्य में लड़कों की पाठशालाओं में सभी सम्प्रदायों के छात्र पढ़ने आते थे, लाहौर में मुसलमान लड़कियाँ तक पढ़ती थीं—यह तथ्य ध्यान देने योग्य है। इससे पूरी तरह सिद्ध हो जाता है कि अंग्रेज़ों के आये बिना भी यहाँ शिक्षा का प्रसार होता रहता और नये युग में नयी आवश्यकताओं के अनुकूल शिक्षणव्यवस्था में परिवर्तन भी हो जाते।

हिन्दुस्तानियों की सभ्यता पर लांछन लगाने के लिये अंग्रेज शासकों और उनके चरणसेवकों के पास तुरुप का पत्ता है—सतीप्रथा। के (Kaye) आदि इतिहासकारों ने सती-प्रथा पर रोक लगाने को विद्रोह का एक महत्वपूर्ण कारण मान लिया है। बड़ी ही भावुकता से अंग्रेज़ों की सिधाई का चित्र खींचा है जो परोपकार की भावना के वशीभूत होकर यह भूल गये कि मूर्ख हिन्दुस्तानियों में इस समाज-सुधार की प्रतिक्रिया क्या होगी।

इस सम्बन्ध में सुधार करने के लिये सबसे पहले अकबर ने कदम उठाया था। टैवर्नियर ने मुगल-शासन के बारे में लिखा था कि जिन विधवाओं के बच्चे होते थे, उन्हें किसी भी हालत में सती न होने दिया जाता था। जिनके बच्चे न होते थे, उनके लिये भी अधिकारियों को घूस देकर ही अनुमति प्राप्त की जा सकती थी।[७१] ओविंगटन नाम के यात्री ने १६८६ में सूरत की यात्रा की थी। उसने लिखा है कि सतीप्रथा के विरुद्ध आज्ञा निकलने से वह प्रायः बंद होगई थी और केवल राजाओं की रानियों में ही जब-तब कोई सती होती थी। बेंटिक ने जब सती-प्रथा के विरुद्ध कानून बनाया तो उसने ठीक ही कहा था कि वह जनमत के पीछे चल रहा था, उसकी अगुआई न कर रहा था।[७२] कलकत्ते की धर्मसभा ने सतीप्रथा के विरुद्ध कानून को रद कराने के लिये प्रिवी काउंसिल को दरख़्वास्त दी थी। वह दरख़्वास्त १८३२ में नामन्जूर कर दी गई। लेकिन १८५७ में इस कारण न तो धर्मसभा ने बग़ावत की, न बंगाल में उसके अनुयाइयों ने! राजस्थान में जैपुर-स्थित रेज़ीडेन्ट को वहाँ के मुख्य पंडित से यह निर्देशपत्र मिल गया था कि जल कर सती होने से जीवित रह कर सती बने रहना श्रेयस्कर है। १८४६

में वहाँ सतीप्रथा बंद कर दी गई। अन्य रियासतों में भी ऐसा ही कानून बनाया गया। राजस्थान के सामन्तों ने भी सतीप्रथा के बंद होने से क्रुद्ध होकर विद्रोह नहीं किया। विधवा-विवाह को वैध घोषित कर दिया गया किन्तु बहुसंख्यक हिन्दुओं के यहाँ न तो सती की समस्या थी, न विधवाओं की। अंग्रेज़ लेखक क्रूक ने उत्तर पश्चिमी प्रान्त पर अपनी पुस्तक में इस सिलसिले में लिखा है, "फिर यह आम धारणा कि प्रायः सभी हिन्दू विधवाएं शेष जीवन में अविवाहित रहती हैं, वास्तविकता के बिल्कुल विरुद्ध है। हाल की जाँच पड़ताल से पता चला है कि चार करोड़ हिन्दुओं में ९० लाख या २४ फीसदी लोग विधवा विवाह पर रोक लगाते हैं जबकि तीन करोड़ या ७६ फीसदी लोग विधवा विवाह की अनुमति देते हैं, उसे प्रोत्साहन भी देते हैं।" [७३] मुसलमानों में विधवाविवाह पर रोक लगाने का कोई सवाल ही न था। अंग्रेज़ों ने एक ओर तो सन् सत्तावन की क्रान्ति को मुसलमानों का बलवा कहा, दूसरी ओर उसका एक प्रमुख कारण सतीप्रथा पर पाबंदी और विधवा-विवाह की अनुमति बतलाई! क्रूक के अनुसार "वास्तव में बहुत ऊँची जातों के अलावा सभी के यहाँ नौजवान विधवा को दूसरा पति मिल जाता है।" सन् सत्तावन के संघर्ष में ऊँची-नीची जातियों के लोगों ने मिल कर भाग लिया था। न तो उन्हें संघर्ष की प्रेरणा विधवा-विवाह और सतीप्रथा के कानूनों से मिली थी, न इस तरह के समाजसुधार का मुख्य श्रेय मिशनरियों को दिया जा सकता है। मिशनरियों की मुख्य भूमिका यहाँ देशभक्ति की भावना को रोकने, वैज्ञानिक चिंतन का विरोध करने, धार्मिक रूढ़िवाद का प्रसार करने और अंग्रेज़ी राज्य की रक्षा करने की थी। इसी कारण सन् सत्तावन के संघर्ष में राजनीति से तटस्थ न रह कर वे अंग्रेज़ी राज्य के सहायक बनकर सामने आये। ब्रिटेन के शासक वर्ग की क्रान्तिविरोधी भूमिका का यह अनिवार्य परिणाम था।

ग्राम-समाज और सामन्ती अराजकता

. अठारहवीं सदी के बारे में एक प्रचलित धारणा यह है कि मुगल-साम्राज्य विशृंखल हो रहा था, इसलिये देश में अराजकता फैली हुई थी; इस अराजकता से जनता का उद्धार किया अंग्रेज़ी राज ने। विभिन्न सामन्ती शक्तियों में परस्पर युद्ध अवश्य हो रहे थे, इन युद्धों से अंग्रेज़ों ने लाभ उठाया और उन्हें बढ़ावा भी दिया। किन्तु इस अराजकता की सीमाएं थीं। सामन्ती लडाइयाँ होती रहती थीं और देश के उद्योगधन्धे और यहाँ का व्यापार अपनी जगह अलग उन्नति करते जाते थे। यहाँ के उद्योगधन्धों और व्यापार को सामन्ती युद्धों से नुकसान ज़रूर पहुँचा लेकिन उनकी प्रगति में उतनी बाधा इन युद्धों से नहीं पड़ी जितनी अंग्रेज़ों की नीति से। अंग्रेज़ नये ज़मींदार बनकर सामन्ती कलह से अपना प्रभुत्व बढ़ाते रहे। साथ ही अपने व्यापार के लिये उन्होंने यहाँ के माल पर भारी चुंगी लगाकर उसका विलायत जाना बन्द कर दिया। उन्नीसवीं सदी के पूर्वार्द्ध में उन्हें चुंगी की सहायता से यहाँ का निर्यात-व्यापार बन्द करना पड़ा, यह इस बात का प्रमाण है कि खुली होड़ में यहाँ का व्यापारी अंग्रेज़ से बराबर टक्कर ले रहा था और उसके विरुद्ध दो शत्रु उत्पन्न हो गये थे—एक तो घरेलू सामंत-वर्ग और दूसरा ब्रिटेन का अभिजात वर्ग और वहाँ के सौदागर। यदि ये दोनों शक्तियाँ न मिलतीं, मिलकर भारत में अंग्रेज़ी राज की जड़ न जमने देतीं तो इस देश का इतिहास दूसरा ही होता।

प्रथम महायुद्ध के बाद युरोप की दशा से १८ वीं सदी के पूर्वार्द्ध में भारत की तुलना करते हुए एनी बेसेंट ने लिखा था, "पिछले महायुद्ध में जर्मन फौजों ने बेल्जियम और फ्रांस के जिन भागों पर आक्रमण किया था और अधिकार कर लिया था, वे अब जल्दी बहाल हो रहे हैं। इनमें कोई भी 'अराजकता की दशा' में नहीं है यद्यपि पहले की लड़ाइयों से यह युद्ध अधिक विनाशकारी और निर्दयतापूर्ण था। हिन्दुस्तान की दशा बहुत गिरी हुई समझी जाय, तब भी आज के यूरोप की तुलना में युद्धों ने उसे कम ही अव्यवस्थित किया था। साथ ही वहाँ इन्क्वीज़ीशन जैसी संस्था (धर्म के मामलों में भिन्न मत रखने वालों को क्रूर दंड देने वाली संस्था) काम न करती थी, न भारत ने हज़ारों

उपयोगी नागरिकों को देश से निकाल दिया था जैसे स्पेन ने मूरों और यहूदियों को निकाल दिया था और इस सिलसिले में अपने को बर्बाद कर डाला था।"[७४]

पूँजीवाद जहाँ सामन्ती अराजकता दूर करता है, वहाँ उससे भी बड़े पैमाने पर एक नयी तरह की अराजकता को जन्म भी देता है। राष्ट्रीय युद्धों से सन्तुष्ट न होकर वह अन्तराष्ट्रीय युद्धों को जन्म देता है। फिर १८ वीं सदी के पूर्वार्द्ध में भारत में अपनी सत्ता कायम करने वाले अंग्रेज़ पूंजीवाद के प्रतिनिधि भी न थे। दरअसल अराजकता बढ़ाने में उन्होंने सहायता ही की। १६ वीं सदी के उत्तरार्द्ध में पूँजीवाद के लिये उपनिवेश बनाकर भारत में मरघट की शान्ति उन्होंने अवश्य कायम की। एनी बेसेंट ने यहाँ के बैङ्कों और व्यापार के काम का उल्लेख करते हुए लिखा था, "यात्रियों ने भिन्न-भिन्न समय पर वहाँ के सुशासित और समृद्ध इलाकों में जीवन और सम्पति के आमतौर से सुरक्षित रहने की बात लिखी है जब इन दोनों के लिये बाहर बहुत से खतरे मौजूद थे। हम बहुत से बैङ्कों के बारे में भी पढ़ते हैं जो इस बात की ओर निश्चित संकेत है कि हर जगह सुरक्षा और जमी हुई शासन-व्यवस्था थी।"[७४]

मानरीके नाम के यात्री ने लिखा था कि आगरे में उसने इतने बड़े-बड़े व्यापारी देखे थे जिनके काम-काज की शाखाएं देश के प्रमुख नगरों में दूर-दूर तक फैली थीं। ये लोग थोक व्यापार करते थे, विनिमय के लिये इनकी हुंडियाँ चलती थीं और ये बीमे का काम करते थे जिसमें समुद्री बीमा भी शामिल था। इनमें सूरत के वीरजी वोरा के लिये कहा जाता था कि वह संसार का सबसे बड़ा व्यापारी है।[७५] बर्क ने यहाँ के साहूकारों और व्यापारियों के लिये कहा है कि वे बैङ्क आफ इँगलैंड से होड़ करते हैं। इनके दिये हुए ऋण से राज्य-व्यवस्था अपने डगमगाते पैर सँभालती थी।[७५] मुर्शिदाबाद के सेठ साहूकारी दुनिया पर छाये हुए थे। इन्हें भारत का रौथ्सचाइल्ड कहा जाता था।[७५] ओ मैली ने उपयुंक्त तथ्य देने के बाद लिखा है, "निःसंदेह आर्थिक ह्रास हो रहा था किन्तु युद्धों और कुशासन से उत्पन्न अव्यवस्था के होने पर भी व्यापार और उद्योगधन्धे इतने बड़े पैमाने पर चलते रहे कि भारत से यूरोप के लोग व्यापार करने के लिये इच्छुक हों।"[७६] डॉ० राधाकमल

मुकर्जी के अनुसार मुगल काल में यहाँ की आर्थिक और साहूकारी व्यवस्था यूरोप से आगे बढ़ी हुई थी।[७७] यह सब व्यवस्था १८ वीं सदी के पूर्वार्द्ध में नष्ट न हो गई थी। बनारस में गवर्नर जनरल के ऐजेन्ट चार्ल्स मैकफर्सन ने वहाँ के धन-वैभव के बारे में लिखा था, "और वहाँ साहूकार, व्यापारी-ज़मींदार और चार सौ साल से कारबार चलाने वाले महाजन थे और बनारस की बीमा कंपनियाँ थीं—ये गंगा-तट के व्यापार का सारतत्व, उसका अभिमान और हृदय थीं या कहना चाहिये, उसका आधा हृदय थीं, हृदय का दूसरा भाग मिर्ज़ापुर था।"[७८]

मैकफर्सन ने अंग्रेज़ी राज में यह सब कारबार नष्ट होते देखा था। भारत की अभ्युदयशील पूँजी को घातक धक्का पहुँचाने का श्रेय अंग्रेज़ी राज को था। वीरा ऐन्स्टे ने अंग्रेज़ों द्वारा इस विकास के नष्ट होने के बारे में लिखा है कि यूरोप के व्यापारियो ने यहाँ की साहूकारी और महाजनी व्यवस्था को बहुत कमजोर बना दिया।[७९] अंग्रेज़ आक्रमण-कारियों ने इँगलैंड से व्यापार करने वाले यहाँ के सौदागरों का कारबार नष्ट किया। अपने बन्दरगाहों में हिन्दुस्तान के बने हुए जहाज़ों का माल देखकर उनकी छाती पर सांप लोट गया था। इसके सिवा भारत के पड़ोसी देशों से यहाँ के सदियों पुराने व्यापार को निर्मूल करने में उन्होंने कुछ उठा न रखा। मध्य एशिया से भारत के व्यापार के बारे में एक सोवियत लेखक ने बताया है कि बुखारा, समरकंद आदि नगरों में हिन्दुस्तानी व्यापारी रहा करते थे। "१८ वीं सदी के आरम्भ में उन हिन्दुस्तानियों की संख्या काफी बढ़ी जो मध्य एशिया में स्थायी रूप से रहने लगे थे। १८२० के आसपास केवल बुखारा में शिकारपुर के २०० हिन्दुस्तानी और सिन्ध, मुल्तान और दूसरे पंजाबी प्रदेशों के ५० सिख रहते थे। वे शहर की एक सराय में स्थायी रूप से रहते थे और बाज़ार में कारोबार करते थे। भारत के व्यापारी काफी संख्या में नमनगान, अन्दिजान, समरकंद और मध्य एशिया के अन्य नगरों में रहते थे।"[८०] भारत के इन व्यापारिक सम्बन्धों को छिन्न-भिन्न करने का श्रेय अंग्रेज़ों को है और वे यह काम १९वीं सदी के पूर्वार्द्ध में कर रहे थे जिस समय के लिये कहा जाता है कि सामन्ती अराजकता के कारण यहाँ की प्रगति रुकी हुई थी।

अवध गज़ेटियर में नगरों के वर्णन में यह तथ्य अक्सर देखने को

मिलेगा कि पहले वे समृद्ध थे और अंग्रेज़ी राज में उनका ह्रास हुआ। उदाहरण के लिये फैज़ाबाद के लिये लिखा है कि १८१६ में बहू बेगम के मरने के बाद शहर की हालत गिर गयी । जगह-जगह नमक और शोरे का काम होता था, इस सबको अंग्रेज़ों ने चौपट किया। रायबरेली के डेढ़ सौ गाँवों में सालाना छः हज़ार मन नमक और तेरह सौ मन शोरा तैयार होता था; अंग्रेज़ी राज में मिलाये जाने के बाद यह कारबार बन्द हो गया। अंग्रेज़ी राज की प्रजा होने के बाद अवध के किसानों ने अंग्रेज़ी खजाने को अपने नमक के लिये सालाना दो लाख पाउंड (लगभग तीस लाख रुपये) देना शुरू किया। इस तरह यहाँ के धन्धों का नाश करके अंग्रेज़ अपनी अराजकताहीन व्यवस्था में जनता को लूटते रहे। इस व्यवस्था को कायम करने में अवध के अराजक नवाबों ने ही अंग्रेज़ों से दोस्ती निबाहते हुए उनकी मदद की थी। १८५७ तक देशी-विदेशी सामन्तों के विरुद्ध यहां के उद्योगधन्धे कैसे संघर्ष करते हुए जीते रहे थे, इसका प्रमाण प्रतापगढ़ के रामपुर नामक स्थान में प्राप्त वस्तुएं थीं। १८५८ में रामपुर के किले पर अधिकार करने के बाद अंग्रेज़ों ने देखा कि वहाँ लोहा ढालने की भट्टी थी, तोपों की गाड़ियाँ बनाने की व्यवस्था थी और बारूद बनाने की प्रयोगशाला (लैबोरेटरी) थी।[८१]

भारत की औद्योगिक और व्यापारिक प्रगति को रोकना—अंग्रेज़ी राज की भूमिका का एक पहलू यह था। दूसरा पहलू यहाँ की भूमि-व्यवस्था से सम्बन्धित था। मार्क्स ने भारत-सम्बन्धी अपने प्रसिद्ध लेखों में यहाँ के ग्राम-समाजों की अपरिवर्तनशीलता और अंग्रेज़ों द्वारा भूमि-सम्बन्धों में व्यक्तिगत सम्पत्ति के चलन का उल्लेख किया था। मार्क्स की ये स्थापनाएं उस समय के कुछ अंग्रेज़ लेखकों की रचनाओं पर आधारित थीं। सर चार्ल्स मेटकाफ ने १८३० में यहाँ के ग्राम-समाजों के बारे में लिखा था, "ग्राम-समाज छोटे-छोटे प्रजातंत्र हैं। उनके यहां लगभग वे सब चीजें होती हैं जिनकी उन्हें ज़रूरत होती है। वैदेशिक सम्बन्धों से वे प्रायः मुक्त होते हैं। जहाँ कोई चीज़ स्थायी नहीं है, वहाँ ये प्रजातंत्र स्थायी मालूम पड़ते हैं। एक के बाद दूसरा राजवंश नष्ट हो जाता है; क्रान्ति के बाद क्रान्ति होती है। हिन्दू, पठान, मुगल, मराठे, सिख, अंग्रेज़ एक के बाद एक मालिक बन जाते हैं लेकिन ग्राम-

समाज ज्यों के त्यों बने रहते हैं।'[८२] इस तरह की स्थापनाओं में भारतीय ग्राम-समाजों की अपरिवर्तनशीलता को बहुत बढ़ा-चढ़ा कर आँका गया है और उनकी विविधता को ध्यान में नहीं रखा गया। इसके सिवा यह भी ग़लत है कि यहाँ के किसान राजनीति से तटस्थ थे और यहाँ जिसका भी राज हो, उन्हें उससे कोई वास्ता नहीं था। वे किसान उस समय क्या सोचते थे, इसका लेखा इतिहास में नहीं है और जो इधर-उधर बिखरी हुई सामग्री है, उसे एकत्र करके उससे उचित निष्कर्ष निकालने का प्रयास इतिहासकारों ने नहीं किया। सन् सत्तावन की राज्यक्रान्ति से पचास साल पहले (नवम्बर १८०६) की घटना है। मार्टिन ने बिहार के एक गाँव में किसी ब्राह्मण को खेत में काम करते देख कर उससे पूछा था कि ब्राह्मण होकर वह क्यों खेत में काम कर रहा है। उसने उत्तर दिया था कि अंग्रेज़ों ने उसका देश हथिया लिया है। काफी समय तक उसने बहुत आवेश में बातें कीं लेकिन दूसरे ब्राह्मण ने वहाँ आकर कुछ डरते हुए "बहादुर अंग्रेज़ों" की तारीफ़ करके अपनी समझ में सब ठीक-ठाक कर दिया। ("He concluded his answer by saying that we English had robbed them of their country. He was, for a considerable time, very violent; but another Brahmin, in some fright, coming up, set all right, as he thought, by speaking of 'the brave English', etc".) इस तरह के किसानों की संख्या कितनी बड़ी थी, यह अनेक किसान-विद्रोहों से और सबसे अधिक १८५७ के संग्राम से पूरी तरह सिद्ध हो गया।

१७ वीं सदी के पूर्वार्द्ध में सभी गाँव एक से नहीं थे। कुछ गाँव ऐसे थे जहाँ एक बिरादरी के लोग ही रहते थे या उनकी संख्या बहुत ज्यादा थी। कहीं चारों वर्णों के लोग उचित अनुपात में रहते थे। उनके व्यवहार की वस्तुएं सबकी सब गाँव के प्रजातन्त्र में उत्पन्न न होती थीं। कुछ शहरों की मंडियों से आती थीं, कुछ बड़ी-बड़ी हाटों और मेलों में खरीदी जाती थीं और कुछ उनके यहाँ पैदा की जाती थीं। इन ग्राम-समाजों में अपना विनिमय, अपना श्रम-विभाजन विद्यमान था। उदाहरण के लिये रायबरेली के डेढ़ सौ गांवों में जो छः हज़ार मन सालाना नमक बनाया जाता था, वह सब उन्हीं की दाल में

न पड़ जाता था।

ग्राम-समाजों की विभिन्नता के बारे में अवध गज़ेटियर ने लिखा था, "ग्राम-समाज साधारणतः शामिल विरासत के बड़े-बड़े समाज हैं। इनमें से हर एक में अलग-अलग संपत्ति होती है। इनमें या तो जमीन पर सम्मिलित अधिकार होता है और सब खर्चे भरने के बाद जो लगान बचता है, उसे बाँट लेते हैं या वे सारी ज़मीन बाँट लेते हैं और अपने हिस्से का लगान और दूसरे खर्चे अलग-अलग भरते हैं या एक ही संपत्ति में कुछ ज़मीन तो सम्मिलित होती है और कुछ अलग-अलग होती है।"[८] यह विविधता अवध के गाँवों में बीसवीं सदी तक रही है। ग्राम-समाजों से यहाँ की सामन्ती व्यवस्था का गहरा संबन्ध था। इन छोटे-छोटे प्रजातन्त्रों पर उनका शासक राजा या सामंत अपना प्रभुत्व स्थापित किये होता था। अवध पर अधिकार करने के बाद अंग्रेज़ों में इस बात को लेकर वहुत विवाद हुआ कि यहाँ के ताल्लुकदारों का अधिकार ज़मीन पर है या नहीं। ताल्लुकदारों का अधिकार न मान कर जनता की भलाई करने के नाम पर यहाँ की रियासतें हड़प कर के स्वयं सामन्त बनने में अंग्रेज़ों को न्याय और स्वार्थ दोनों की विजय दिखाई दी। इसलिये उनके तर्कों से प्रभावित होकर कुछ लेखकों ने यह मत स्थिर किया है कि भारत में सामन्ती सम्पत्ति थी ही नहीं। ग्राम-समाज सब प्रजातन्त्र, अपनी जरूरत की चीजें सब अपने यहाँ पैदा करने वाले! फिर सामन्तवाद शहरों में भले रहा हो, गाँवों में होने से रहा!

क्रूक ने उत्तर-पच्छिमी प्रदेश पर अपनी पुस्तक में ग्राम-समाजों के बारे में प्रचलित धारणा का मूल स्रोत सर हेनरी मेन को बतलाया है। मेन का विचार था कि ग्राम-समाज़ों का आधार रोमन पितृसत्ता के परिवार की तरह का अविभक्त दादापंथी परिवार था। क्रूक ने दिखलाया है कि भूमि पर सम्मिलित अधिकार होने पर भी उत्पादन-क्रम में सामन्ती संबन्ध उत्पन्न होते हैं। सामन्ती संबन्ध भी तरह-तरह के थे। बादशाह या नवाब ने किसी मुसाहब या सेनापति को पड़ती ज़मीन दे दी। यहाँ जो आदमी बसाये गए, वे सब सामन्त के बँधुए हुए जिन्हें कोई अधिकार नहीं है। या बराबर का हक रखने वाले समाज में एक योग्य नेता पैदा हुआ; उसने अपनी बिरादरी के लोगों पर अपनी प्रभुसत्ता स्थापित कर ली।[२४] अवध गज़ेटियर में इसी से मिलते-जुलते

तथ्य दिये गये हैं । सरकार किसी सिपाही या सैनिक को पड़ती जमीन दे तो "ऐसी स्थिति में मालिक की स्थिति आरम्भ से ही पूर्ण स्वतंत्रता की होगी और वह जितने काश्तकारों को बसायेगा, वे सब उसके बँधुए होंगे । उन्हें जो अधिकार मालिक अपनी खुशी से दे देगा या जिसे वे उससे खरीद लेंगे, उसके अलावा उन्हें कोई अधिकार न होगा ।"[८५] नानपारा जैसी रियासतों के लिये गज़ेटियर ने लिखा है कि ताल्लुकदार आरंभ से ही एकमात्र स्वामी था । फिर भी अवध पर अधिकार करने के बाद १८५८ तक अंग्रेज़ों की समझ में न आया कि हिन्दुस्तानी सामन्तों का हक छीन कर उन्हें स्वयं सामंत बनने का अधिकार नहीं है । ताल्लुकदार जमीन के मालिक हैं या नहीं, वे इसी बहस में पड़े रहे ।

अवध गज़ेटियर ने बड़ी खूबी से दिखलाया है कि सम्मिलित सम्पत्ति वाले गाँवों में सामन्ती सम्बन्ध किस तरह पैदा होते हैं । एक तरह की व्यवस्था से उससे ठीक उल्टी व्यवस्था किस द्वंद्वात्मक पद्धति से उत्पन्न होती है, इसका बहुत अच्छा निदर्शन उस लेखक के वर्णन में मिलता है जो संभवत: द्वंद्वात्मक तर्क-पद्धति और ऐतिहासिक भौतिकवाद से अपरिचित था । उसने लिखा है, "ताल्लुकदार की उत्पत्ति की एक चौथी पद्धति थी जो शासनसत्ता से ज़मीन मिलने पर आधारित न थी । सम्मिलित विरासत वाले समाज के सदस्य, जब तक उनकी संख्या कम रहती और रियासत में उनके हिस्से थोड़े और सुनिश्चित होते, तब तक वे आपस में समानता कायम रख पाते और उनमें से कोई सदस्य दूसरों पर हावी होने का प्रयत्न न करता । लेकिन जब रियासत का इलाका बढ़ता और समाज के सदस्यों की संख्या बढ़ती तब उनके हितों का अलगाव अनिवार्य हो जाता । अलगाव से उन लोगों में भेदभाव पैदा होता जो पहले एक साथ थे । साझीदारों के बीच में झगड़े होते जिनकी शुरूआत बँटवारे से ही होती और ये झगड़े तब तक चलते जब तक कि संपत्ति के एक हिस्से के मालिक निश्चित रूप से दूसरों पर हावी न हो जाते । एक हिस्से के लोग दूसरों पर हावी होने के लिये अनिवार्य रूप से अपना एक नेता चुनते । इस नेता की जगह स्वभावत: मौरूसी हो जाती और वह जिनका प्रतिनिधि बना था, उन्हीं की सम्पति हड़प करके अपना घर भरने का उसे अवसर मिलता । वास्तव में स्वाधीन जनों के समाज से स्वामी का विकास होता ।"[८६] गज़ेटियर ने ये सब

बातें कल्पना से न लिख दी थीं; उसके सामने अवध की वे रियासतें मौजूद थीं जिनमें बिरादरी के लोगों का हक मार कर एक आदमी सर्वेसर्वा बन गया था।

इससे सिद्ध हुआ कि अवध में ग्राम-समाजों के प्रजातन्त्र सामन्ती सम्बन्धों में बंधे हुए थे। इन विभिन्न संबन्धों के अनुरूप किसान कहीं तो एकदम बँधुए की स्थिति में थे और कहीं उन्हें न्यूनाधिक अधिकार भी थे। मोरलैण्ड ने यहाँ के ग्राम-समाजों के बारे में लिखा है कि यह सोचना अनुचित होगा कि जो व्यवस्था उत्तरी दोआब में थी, वही बनारस में भी रही होगी।[८७] अंग्रेज़ जमींदारों ने अपने देश में किसानों के हक छीन कर वहाँ अपनी मिल्कियत को दृढ़ कर लिया था; यहाँ वे किसान और सामन्त दोनों को लूट रहे थे। मालगुजारी न जमा करने या अपना हक साबित न करने पर उन्होंने न जाने कितनों की रियासतें नीलाम करा दीं। अंग्रेज़ों ने बंगाल में पक्का बन्दोबस्त करके किसानों को तबाह किया लेकिन जमींदारों को अपना मित्र बना लिया। अवध में उन्होंने किसान और ताल्लुकदार दोनों को शत्रु बना लिया, यह दूसरी बात है कि शत्रुता का व्यवहार होने पर भी कुछ ताल्लुकदारों ने अंग्रेज़ों के प्रति वफादारी दिखाई।

भारत-सम्बन्धी पत्रों के अलावा मार्क्स ने भारतीय इतिहास के घटनाक्रम की एक तालिका प्रस्तुत की थी जो १९४७ में मौस्को से प्रकाशित हुई थी। इससे अंग्रेज़ों के शोषण के तरीकों पर विशेष प्रकाश पड़ता है। मार्क्स के शब्दों में "सूदखोर डाकू" अंग्रेज़ों ने आर्कट के नवाब को कर्ज़ दिया; कर्ज देकर "खून चूसने वाले बदमाश" अंग्रेज़ कर्नाटक की जनता का खून चूसते रहे। अंग्रेज़ों ने अवध के नवाब से दोस्ती की और उसके साथ मिल कर रुहेलखंड लूटा। मार्क्स ने लिखा है, "डाकू रुहेलखंड से चले गये लेकिन इसके पहले वे उसे तबाह कर गये।" कर्नाटक के नवाब का सहारा लेकर अंग्रेज़ों ने तंजोर लूटा। कर्नाटक में अंग्रेज़ किस तरह नये सामन्तों की भूमिका अदा कर रहे थे, इसके बारे में मार्क्स ने लिखा है, "ये मुफ्तखोर बड़े जमीदार बन बैठे और खूब धन बटोरने का अवसर मिला। इन्होंने रैयत को सताया। इन नये अंग्रेज़ जमींदारों ने देशी किसानों पर घोर अनैतिक अत्याचार किये। उन्होंने और नवाब ने सारे कर्नाटक को उजाड़ दिया।" लगभग

यही काम वे अन्य प्रदेशों में कर रहे थे। बंगाल में इनके पक्के बन्दोबस्त का वास्तविक रूप मार्क्स ने इन शब्दों में प्रकट किया है, "किसानों की 'सामान्य और व्यक्तिगत संपत्ति' की इस लूट का तात्कालिक फल था, अपने ऊपर लादे हुए टैक्स वसूल करने वाले ज़मींदारों के खिलाफ किसानों के विद्रोहों का तांता।" हर जगह विद्रोहों का दमन करने के लिये अंग्रेज़ी फौज पहुँचती थी। मैसूर के राजा ने ऐसे अत्याचार किए कि "१८३० में आधे राज्य में विद्रोह फूट पड़े। अंग्रेज़ी फौज ने विद्रोहों का दमन किया।" मार्क्स के इन थोड़े से वाक्यों से भी स्पष्ट है कि अंग्रेज़ों ने यहाँ के सामन्ती शोषण को और बढ़ाया और स्वयं सामन्त और सूदखोर महाजन बनकर यहाँ की लूट में शामिल हुए।

भारतीय सामन्तवाद में जनता का कभी इतना शोषण न हुआ था, न कभी इतने अकाल पड़े थे जितना शोषण अंग्रेज़ों के समय में हुआ और जितने अकाल और दुर्भिक्ष उनके समय में पड़े। इसका कारण यह था कि वे जनता को लूटते भर थे, उसकी उन्नति के लिये खर्च कुछ न करते थे। सड़कों और नहरों आदि का प्रबन्ध बहुत ही खराब था। ग्राम-समाजों की जो अपनी शिक्षण-व्यवस्था थी, उसे भी इन्होंने चौपट कर दिया। यह एक रोचक तथ्य है कि १९ वीं सदी के पूर्वार्द्ध में इँगलैण्ड के गाँव भारत के गाँवों से पिछड़े हुए थे। इस सिलसिले में एनी बेसेंट ने लिखा है कि "देहाती अंग्रेज़ अपढ़ होने के लिये विख्यात थे और हर गाँव में अध्यापक न मिलता था।"[८८] १८३५-३८ में बंगाल की शिक्षणव्यवस्था की जाँच से पता चला था कि शहरों की तरह हर बड़े गाँव में पाठशालाएँ हैं।[८९] अंग्रेज़ों की नीति यहाँ की जनता को अशिक्षित रखने की थी; शिक्षा से उन्हें विद्रोह का भय होता था। एनी बेसेंट ने लिखा है, "अंग्रेज़ सैनिकों पर व्यर्थ खर्च करने के लिए धन की कमी नहीं थी लेकिन जनता को शिक्षित करने का काम 'नेटिव' लोगों की सनक समझा जाता था। इसके सिवा यह काम खतरनाक भी था। इँगलैण्ड ने अपने अनुभव से सीखा था कि श्रमिकवर्ग शिक्षित होता है तो राजनीतिक मामलों में अधिकाधिक हस्तक्षेप करता है। वह विशेषाधिकार-प्राप्त वर्ग के प्रति और भी अधीर हो उठता है, ज़मीन के राष्ट्रीयकरण की बात करता है, टैक्स का बोझ और योग्य कंधों पर डालने की बात करता है और दूसरे खतरनाक परिवर्तनों की

चर्चा करता है। इसलिए अपने होशहवास में हिन्दुस्तान के श्रम करने वालों को शिक्षित करने की बात कौन सोचता ? शिक्षित बुद्धिजीवियों की थोड़ी संख्या में ही विदेशी राज की कुशल थी।"[१०] अंग्रेज़ी भाषा को शिक्षा का माध्यम बनाना इसी नीति के अन्तर्गत था। मैकाले की नीति यहाँ के शिक्षित जनों के हृदय से राष्ट्रीय आत्मसम्मान की भावना को निर्मूल कर देनी की थी। अंग्रेज़ों का जैसा सामन्ती शोषण था, वैसी ही उनकी जनता को अशिक्षित रखने की नीति भी थी।

भारत का सामन्ती पिछड़ापन दूर करने के लिये अंग्रेज़ ने यहाँ रेल चलाई और रेलों से धर्म नष्ट होने का भय उत्पन्न हुआ और यह भी सन् ५७ के विद्रोह का कारण बना ! कलकत्ते से रानीगंज तक १२० मील, बम्बई से कल्याण तक ३३ मील, मद्रास से अर्कोनम तक ३६ मील–सन् ५७ से पहले भारत में रेलों का यह हाल था। "लेकिन इतने समय में ही यह भय निर्मूल सिद्ध हो चुका था कि जातिरक्षा के विचार से लोग रेल-यात्रा न करेंगे।"[११] १८५८ में भारत और इंगलैण्ड की अव्यवस्था की तुलना करते हुए जॉन ब्राइट ने कहा था, कि इंगलैण्ड मे रेल, सड़कें, नहरें आदि हैं लेकिन हिन्दुस्तान में यह सब कुछ नहीं है, हिन्दुस्तान में एक अच्छी सड़क नहीं है, नदियों पर पुल नहीं हैं, भाप से चलने वाले इंजनों का अपेक्षाकृत अभाव है और उद्योगधन्धों की सहायक उन वस्तुओं में से एक भी नहीं है जो पगपग पर यहाँ मिलती हैं।[१२] अंग्रेज़ों ने अपनी अव्यवस्था से यहाँ के यातायात के साधन नष्ट भले किये हों, उनके निर्माण के लिये उन्होंने बहुत कम धन खर्च किया। ओ मैली के शब्दों में अंग्रेज़ कचहरी, जेल और फैक्टरी बनाते थे, सड़क या नहर बनाना कंपनी के डायरेक्टरों की निगाह में सिर आई मुसीबत ही होती थी।[१३]

अंग्रेज हिन्दुस्तान की पूँजी को विकसित होने का अवसर देते, यहाँ के उद्योगधन्धों को नयी मशीनों द्वारा बड़े पैमाने पर चलाते, यह बात तो कल्पनातीत थी। अपनी पूँजी से अथवा हिन्दुस्तान की जनता से वसूल की हुई रकम से भी वे यहाँ का औद्योगिक विकास न करना चाहते थे। यहाँ की लूट से वास्तव में न तो ब्रिटेन की औद्योगिक प्रगति को सहायता मिली न भारत का ही औद्योगिक विकास हुआ। इस सम्बन्ध में एक स्थापना यह है कि भारत की लूट से ब्रिटेन में पूँजी की

कमी न रही और वहाँ के उद्योगपति नये आविष्कारों से लाभ उठाकर अपना कारबार आगे बढ़ाने लगे। ब्रिटेन में शासनसत्ता अभिजातवर्ग के हाथ में थी और भारत की लूट में, उपनिवेशों के युद्ध में उसी का प्रमुख हाथ था। यह वर्ग उद्योगधन्धों में अपनी शक्ति लगाना शान के खिलाफ समझता था और लगाता भी था तो असफल रहता था। आर्थर यंग नाम के लेखक ने औद्योगिक क्षेत्र में अभिजातवर्गीय प्रयत्नों के बारे में लिखा था, "लगता है कि व्यापार और उद्योग के क्षेत्र में भूस्वामीवर्ग की तकदीर ही खराब है। इंगलैण्ड में भूस्वमीवर्ग का एक भी आदमी मुझे नहीं मिला जो उस वर्ग की शिक्षा और स्वभाव वाला हो और इन क्षेत्रों में प्रयत्न करने पर तबाह न हुआ हो या तबाह न हुआ हो तो जिसने काफी नुकसान न उठाया हो।" यूरोप के आर्थिक विकास पर अपनी पुस्तक में क्लाइव डे ने यंग का हवाला देने के बाद उस पर टिप्पणी की है, "यह उल्लेखनीय है कि बहुत से लोग कृषिक्षेत्र से उद्योग-क्षेत्र में आये, खेत छोड़कर उन्होंने कारखाने बनाये। लेकिन वे श्रमिक थे, अवकाश-भोगी वर्ग के सदस्य नहीं थे। स्वाधीन किसान-परिवारों के लोगों ने सूती उद्योगधन्धे या लोहे या बर्तनों के धन्धे कायम किये, सूती उद्योगधन्धों से जो लोग धनी बने, वे अपने प्रारंभिक जीवन में "हैट बनाने वाले, जूते बनाने वाले, गाड़ी वाले, जुलाहे या ऐसे ही कारबारी रह चुके थे। कुछ लोग जो सौदागरों के रूप में अपने कारबार के लोगों से मज़दूरी कराते थे, उन्होंने अपना कारबार बढ़ाया और नयी व्यवस्था में उद्योगपति बन गये।" [१४] यहाँ लेखक का संकेत उन ठेकेदारों और सौदागरों की ओर है जो जुलाहों को कुछ पेशगी रुपया देकर उनके तैयार किये हुए माल के पहले से ही स्वामी बन जाते थे। इस प्रथा का चलन १६ वीं सदी के पूर्वार्द्ध में भी ब्रिटेन में था। अंग्रेज़ी राज कायम होने के पहले भारत में भी यह प्रथा थी कि सौदागर पेशगी रुपया देकर जुलाहों द्वारा तैयार किये जाने वाले माल का पहले से अधिकारी हो जाय। इस प्रथा में उत्पादक दस्तकारी के पुराने ढँग से माल तैयार करता है लेकिन माल का स्वामी नहीं रह जाता जो पूँजीवादी सम्बन्धों की विशेषता है। इसे हम पूँजीवादी उत्पादन की पहली मंजिल कह सकते हैं। इँगलैण्ड में इस प्रथा के अनुरूप जो व्यापारी काम करते थे, वे आगे चलकर उद्योगपति बने, यह तथ्य महत्वपूर्ण है।

उससे सिद्ध होता है कि अंग्रेज़ों ने यहाँ के आर्थिक और सामाजिक विकास में रोड़े न अटकाये होते तो हिन्दुस्तान के सौदागर भी पूंजीवादी उत्पादन की पहली मंजिल से आगे बढ़ कर उद्योगपति बन जाते।

ब्रिटेन का आर्थिक इतिहास लिखने वाले एक दूसरे लेखक सी.आर. फे ने इसी प्रतिक्रिया के बारे में लिखा है, "सूती उद्योगधन्धों में उस संगठनात्मक संक्रमण के सबसे स्पष्ट उदाहरण मिलते हैं जो अन्य दस्तकारियों में भी हुआ था—अर्थात् अप्रत्यक्ष सौदागरी नियंत्रण से प्रत्यक्ष औद्योगिक श्रमिक-संचालन की ओर संक्रमण। इस यांत्रिक संक्रमण के पहले कारबार का मालिक काम देने वाला आदमी था; इस संक्रमण से वह आदमियों को नौकरी देने लगा।"[१५] उद्योगपति और भूस्वामी दो भिन्न वर्गों के लोग थे, उनके विकास की प्रक्रिया भिन्न थी, उनके शोषण और लूट के तरीके भिन्न थे। इसीलिये उनमें सत्ता के लिये बहुत अर्से तक संघर्ष चला।

भारत की लूट से फायदा उठाने वालों ने औद्योगिक क्रान्ति नहीं की; वे ऐसे सौदागर थे कि उन्होंने ईस्ट इंडिया कम्पनी का ही दिवाला निकलवा दिया। कंपनी में नौकरी मिलने का अर्थ होता था, हिन्दुस्तान में व्यक्तिगत लूट के लिये परवाना मिलना। कंपनी में क्लर्क की जगह भी बिकती थी और कभी-कभी अखबारों में विज्ञापन तक निकलते थे कि कम्पनी में क्लर्क की जगह दिलाने वाले को सौ गिनी इनाम दी जायगी।[१६] जैसे जैसे कम्पनी हिन्दुस्तान में सामन्त बनती गई, वैसे-वैसे लन्दन की सरकार को पैसे न दे पाकर उससे ऋण माँगने लगी। लन्दन की सरकार ने ऋण दिया और कम्पनी के नाम की आड़ में भारत में अंग्रेज़ी राज का वास्तविक स्वामी बन बैठी।

ब्रिटेन के उद्योगपति चाहते थे कि हिन्दुस्तान का "विकास" हो—खेतिहर उपनिवेश के रूप में। इसके लिये वे यहाँ रेलों का निर्माण आवश्यक समझते थे लेकिन जैसे वे घर में अभिजातवर्ग से अपने अन्तर्विरोध की समस्या हल न कर पाये थे, वैसे ही भारत की लूट में मुख्य साझीदार बनकर उसे भी वे व्यवस्थित रूप न दे पाये। कम्पनी की इस नीति की आलोचना इंगलैण्ड में ब्राइट जैसे लोग तो करते ही थे, हिन्दुस्तान में रहनेवाले या यहाँ कारबार के सिलसिले में आने वाले अंग्रेज़ भी उसकी इस नीति की आलोचना करते थे। "बौम्बे टाइम्स"

ने १० जुलाई १८५७ को लिखा था, "यदि मैन्चेस्टर के लोग सचमुच हिन्दुस्तान से रुई चाहते हैं और उसे पाने की आशा भी करते हैं तो जितना जल्दी वे उन शर्तों को समझ लें जिनके पूरे होने पर ही हम उन्हें रुई भेज सकते हैं, उतना ही अच्छा ! सबसे पहले उन्हें ईस्ट इंडिया सरकार को पचास लाख पाउन्ड स्टर्लिंग की रकम उधार देनी चाहिये जो इस प्रेसीडेन्सी के कपास पैदा करने वाले जिलों में सड़कें बनवाने और सिंचाई की व्यवस्था पर खर्च किया जाय। इस काम में पहल करने के लिये सरकार से अपील करना हमारी समझ में बेकार है। उसका खर्च अभी भी उसकी आमदनी से बहुत बढ़ कर है और उसमें यह साहस नहीं है कि वह सिंचाई आदि के कामों में लगाने के लिये पूंजी उधार ले जिसके बिना हमारे कपासवाले जिले अपनी पूरी उपज दे नहीं सकते। मैन्चेस्टर के लोग चाहते हैं कि हम फूस के बिना ईंटें बनायें। बारबार कपास उपजाने के लिये कहना ऐसा ही है।" हिन्दुस्तान में पूंजी जुटाने और उसे खेती में लगाने की कठिनाइयों का हवाला देने के बाद उस लेखक ने यहाँ के यातायात के साधनों का वर्णन किया है: "हम उन बाजारों से, जहाँ श्रीमान् खरीदने आते हैं, इतनी दूर हैं कि उपज के स्थान में, जो भाव भी पड़े, हम बेचने को तैयार हो जाते हैं। हम अपनी उपज को ऐसे प्रदेश में सैकड़ों मील कैसे ले जा सकते हैं जहाँ सड़कें नहीं हैं और नदियों पर पुल नहीं हैं। अगर आपको हमारी उपज की जरूरत है तो उसे ले जाने के लिये सड़कें बनवाइये, हमारी नदियों में बाँध बाँधिये और हमारे खेतों में नहरें चलाइये और हम आपको दिखा देंगे कि हम अमरीका से होड़ कर सकते हैं और यह कि मिसीसिपी के गुलाम से आज़ाद आदमी की मेहनत सस्ती पड़ती है।"[८७] यह उन अंग्रेज़ व्यापारियों की आवाज़ है जो ब्रिटेन के उद्योगपतियों को यहाँ से माल भेजना चाहते थे लेकिन माल के पैदा न होने के कारण कंपनीराज की कुव्यवस्था से अप्रसन्न थे। उनका सपना था कि मैंचेस्टर के लोग मदद करें तो यहाँ सड़कें बन जायँ और नहरें खुद जायँ; इससे हिन्दुस्तानी किसानों को कितना लाभ होता, यह उनकी इस योजना से सिद्ध होता है कि इन "आज़ाद" आदमियों की मेहनत अमरीका में बिके हुए हब्शी गुलामों से सस्ती पड़ेगी !

११ जुलाई १८५७ को बौम्बे टाइम्स ने फिर इसी विषय पर लिखते

हुए दिखलाया कि कम्पनी भारत का पैसा विलायत भेजती है और यहाँ के कारबार की बढ़ती के लिये कुछ भी खर्च नहीं करती। पिछले चार्टर के बीस वर्षों में कम्पनी ने भारत से दस करोड़ पाउंड मालगुज़ारी वसूल की। इस बीच सिंचाई आदि के कामों पर उसने पचास लाख पाउंड खर्च किये और आठ करोड़ पाउंड इँगलैण्ड भेजे। इसे लेखक ने मातृदेश को भारत का खिराज (India's tribute to the mother country) कहा है। और हिन्दुस्तान में सिंचाई आदि के कामों में जो धन खर्च किया गया, उसमें सिंचाई पर कम और "आदि" पर ज़्यादा था। यह धन बारिकें, जेल, गिर्जाघर, कचेहरी, फौजी सड़कें, बंदरगाह आदि बनवाने पर खर्च हुआ था, न कि देश की उपज का विकास करने पर। लेखक के अनुसार "सड़कों, पुलों और केवल व्यापर के लिये आवश्यक साधनों पर और देश को और उन्नत करने पर जो धन खर्च किया गया था, वही नहीं के बराबर था।"[८८] १३ जुलाई १८५७ को इस पत्र ने ईस्ट इण्डिया कम्पनी को बहुत ही उचित बम्बई प्रान्त का ज़मींदार कहा था। सरकार को चाहिये कि ज़मीन में पूँजी लगाने वालों के लिये मुनाफे की उचित व्यवस्था करे, यह दावा पेश करते हुए उसने लिखा था, "क्या इस देश की सरकार यहाँ की ज़मींदार नहीं है? इस प्रेसीडेन्सी की एक-एक एकड़ ज़मीन उसकी है। उसे लगान मिलता है और उसकी स्थिति बिल्कुल आयर्लैण्ड के जमींदार की सी है जो कर्ज के बोझ से दबा हुआ है और अपनी रियासत में कोई सुधार नहीं कर सकता। भले ही थोड़ी पूँजी लगाने से उसकी आमदनी दुगनी हो जाय लेकिन वह मदद लेने के लिये तब तक तैयार न होगा जब तक मुफ्त न मिले।"[८९] लेखक ने इस बात पर रोष प्रकट किया है कि हिन्दुस्तान से सालाना चालीस लाख पाउंड का खिराज इँगलैंड जाता है और वह धन दूसरे देशों के सार्वजनिक कामों पर भले खर्च हो जाय, वह यहाँ की सिंचाई आदि पर खर्च नहीं होता।

इस खाऊ-उड़ाऊ जमींदार के प्रतिनिधि दावा करते थे कि उन्होंने हिन्दुस्तान में रेल तार चलाकर यहाँ की कायापलट कर दी है! वीरा ऐन्सटे ने ठीक लिखा है, "१८५८ से १९०० तक का समय भारत के उपनिवेश-रूप में विकसित होने का समय कहा जा सकता है।" ("From 1858 to 1900 may be called the period of the

'opening up' of India.")[१०] उन्नीसवीं सदी के पूर्वार्द्ध में हिन्दुस्तान को अंग्रेज़ जमींदारों और व्यापारियों ने लूटा; उसके उत्तरार्द्ध में उसका बाकायदा उपनिवेशीकरण हुआ और पूँजीपतियों ने उसकी लूट और शोषण को व्यवस्थित किया।

१६ वीं सदी के पूर्वार्द्ध में हिन्दुस्तान बहुत कुछ बैलगाड़ियों का ही देश बना हुआ था। कलकत्ते से बनारस तक घोड़ों की डाक पाँच दिन लेती थी, बैलगाड़ियों की डाक दस दिन लेती थीं और स्टीमर से आने में सोलह दिन लगते थे।[११] संघर्ष छिड़ जाने पर घोड़े और स्टीमर भी अंग्रेज़ों को हमेशा न मिलते थे और उन्हें अनेक बार सैनिक भेजने के लिये बैलगाड़ियों और इक्कों का सहारा लेना पड़ा था। यह स्थिति अंग्रेज़ों की उस नीति का परिणाम थी जिससे वे भारत का सामन्ती ढंग से शोषण करते थे और उसे पूँजीपतियों के हित में एक उपनिवेश के रूप में विकसित न करते थे। अपनी इस सामन्ती भूमिका के अनुरूप उन्होंने भारतीय वैधानिक रूपों को स्वीकार भी किया था। विलेज़ली का विचार था कि "हिन्दुस्तान में हमारा उद्देश्य होना चाहिये कि हम ब्रिटिश हुकूमत को वस्तुतः सार्वभौम (Paramount) बना दें, चाहे खुल्लमखुल्ला उसका यह रूप न हो। दूसरी रियासतों को हम अपने अधीन सामन्त (Vassals) बना कर रखें यद्यपि यह ऊपर से न कहा जाय और हमारी ओर से दी हुई गारन्टी और सुरक्षा के लिये उन्हें दो बड़े सामन्ती कर्तव्य (Feudatory duties) करने के लिये वाध्य करें; वे अपनी सारी सेना से हमारी हुकूमत की सहायता करें और आपसी झगड़े फैसले के लिये हमारे सामने लायें।"[१२]

विलेज़ली ने अंग्रेज़ी राज की भूमिका यहाँ बहुत साफ़ शब्दों में बयान कर दी है। सामन्ती शक्ति का प्रतिनिधि होने के नाते उसका स्वप्न अंग्रेज़ी शक्ति को चक्रवर्तित्व सौंपने का है। अन्य राज्य इस शक्ति के अधीन सामन्त होंगे और उनका काम अंग्रेज़ों की हुकूमत का समर्थन करना होगा। जनता अंग्रेज़ी राज का प्रसार पहचान न सके, इसलिये इस बात का ध्यान रखा गया था कि ऊपर से सार्वभौम प्रमुत्व भारतीय राज्य या राज्यों का ही माना जाय। अंग्रेज़ों की कूटनीति की कुटिलता की जड़ यही थी। १६२२ में अंग्रेज़ विद्वान् एफ० डबल्यू बकलर ने

भारतीय विद्रोह के सम्बन्ध में एक रोचक लेख लिखा था। उसकी स्थापना यह थी कि अंग्रेज़ों ने अनुवाद की कठिनाइयों के कारण मुगलों के सामन्ती कानूनों को यूरोप के अन्तरराष्ट्रीय कानूनों का रूप दे दिया। भारतीय जनता की दृष्टि में सार्वभौम सत्ता का प्रतीक दिल्ली का सम्राट् था और इसलिये सन् सत्तावन में यदि कोई बाग़ी था, तो वह ईस्ट इण्डिया कम्पनी थी। लेकिन यह अनुवाद की कठिनाई या भाषा-संबंधी उलझन का नतीजा न था कि १८५७ में भारतीय जनता अपनी सार्वभौम सत्ता की रक्षा के लिये लड़ने लगी। विलेज़ली के उपर्युक्त वक्तव्य से स्पष्ट है कि उसका उद्देश्य ऊपर से अधीन सामन्त बने रहने का था किन्तु वास्तव में दूसरों को अधीन सामन्त बनाकर स्वयं चक्रवर्ती बनना था। बकलर ने लिखा है कि "विलेज़ली इस मामले में सावधान था कि शाह आलम के सामने वह अधीन सामन्त का सा व्यवहार करे।"[६३] बकलर ने अपने लेख की एक पाद-टिप्पणी में स्वीकार किया है कि "सारे भारत में, कम से कम १७५७ के बाद, कम्पनी की नीति साम्राज्य [अर्थात् मुगल साम्राज्य] की राजनीतिक स्थिरता के विरुद्ध थी।" इससे सिद्ध हुआ कि अठारहवीं सदी में सामन्ती भारत की अराजकता बढ़ाने में अंग्रेज़ों का भी हाथ था। मद्रास में अंग्रेज़ी अधिकार के साथ "मुगल और उसके प्रान्तीय अफसरों के प्रति वफादारी के सभी तौर-तरीकों को राई-रत्ती निबाहा जाता था।" यदि हिन्दुस्तान में एकता की भावना नहीं थी तो अंग्रेज़ों को मद्रास में मुगल सम्राट् के प्रति वफादारी का यह नाटक करने की ज़रूरत क्या थी? बंगाल, बिहार और उड़ीसा की दीवानी स्वीकार करके शाह आलम के प्रति अधीन सामन्त का सा व्यवहार करने का कारण क्या था? अंग्रेज़ हिन्दुस्तान की जनता की आंखों में धूल झोंक रहे थे। वे ऊपर से अपने को भारतीय जनता के सम्राट् की प्रजा दिखलाते थे; भीतर से सारी सत्ता अपने हाथ में करते जाते थे। इसी नीति के कारण शाह आलम ने जेनरल लेक को खान दौरान खाँ, फतेहजंग आदि का खिताब बख़्शा था।

अंग्रेज़ों ने बहुत सावधानी से मुगल सम्राट् की सार्वभौम सत्ता के चिह्नों को कम करना शुरू किया। पहले सिक्के शाह आलम के नाम से ढलते थे; बाद में बादशाह का नाम खुदना बन्द हो गया। अंग्रेज़

खिलत मंजूर करते और नज़रें पेश करते थे। अन्त में वे बादशाह को पेन्शन देकर दिल्ली से हटाने की कोशिश करने लगे।

अंग्रेजों की नीति यहाँ अराजकता उत्पन्न करके अपनी सत्ता का प्रसार करने की थी, इसका एक प्रमाण अवध के नवाब को दिल्ली के प्रभुत्व से मुक्त करना था। हिन्दुस्तानियों को राष्ट्रीयता और देशभक्ति का पाठ पढ़ाने वाले अंग्रेज़ों ने यहाँ न केवल हिन्दू-मुस्लिम भेदभाव बढ़ाने का प्रयत्न किया वरन् मुसलमानों में शियासुन्नी का भेदभाव बढ़ाकर उससे भी लाभ उठाया। बकलर ने लिखा है, "बंगाल [अर्थात् अंग्रेज़ सत्ता] के लिये आवश्यक था कि मुगल साम्राज्य की मुसलमान रीढ़ को तोड़ दे और सुन्नी-शिया के धार्मिक भेद-भाव को दिल्ली और लखनऊ के बीच राजनीतिक भेदभाव का रूप दे दे।" १७७५ में वारेन हेस्टिंग्स ने दिल्ली के विरुद्ध अवध के नवाब वज़ीर को भड़काया और उसका पक्ष लिया। १८१६ में नवाब वज़ीर पादिशाहे अवध बन गया और अपने नाम का सिक्का चलाने लगा। अवध के लोग उसे नवाब वज़ीर ही कहते रहे, यह उनकी राष्ट्रीय एकता की भावना का प्रमाण है। एक भारतीय इतिहास-लेखक ने ठीक लिखा है, "यदि अवध और बंगाल के नवाबों ने और दक्खिन के निज़ाम ने अब भी शाही अधिकारी होने का बहाना किया तो यह केवल उनकी चाल थी; ऐसा करके वे अपनी ही शक्ति को सुदृढ़ करना चाहते थे क्योंकि साम्राज्य की प्रतिष्ठा अब भी बनी हुई थी और '१८५७ के गदर' तक बनी रही।"[१४] इस प्रतिष्ठा का अर्थ सम्राट् के प्रति व्यक्तिगत सम्मान का भाव न था; इस प्रतिष्ठा का अर्थ था, भारतीय सार्वभौम सत्ता की रक्षा की कामना, सारे देश में एक ही प्रभुसत्ता स्थापित देखने का स्वप्न। यही कारण है कि सन् सत्तावन में अनेक पल्टनें दिल्ली की ओर चलीं और अवध आदि प्रान्तों में दिल्ली सम्राट् की ही प्रभुसत्ता स्वीकृत की गई।

अंग्रेज़ शासक-वर्ग ने ब्रिटेन के अभिजात-वर्ग के प्रतिनिधि की हैसियत से हिन्दुस्तानी पूँजी के विकास को रोका। उसने यहाँ के निर्यात व्यापार, जहाज़ बनाने के काम, समुद्री बीमा, बड़े बड़े नगरों में फैले हुए व्यापारिक सम्बन्धों का ध्वंस किया। इस कार्य में देशी सामन्त प्रत्यक्ष रूप से उसके सहायक हुए। उसने यहाँ के किसानों को लूटा, सामन्तों के अधिकारों को भी छिन्न-भिन्न करके उनकी जगह स्वयं सामन्त बनने

का प्रयास किया। सिंचाई आदि की व्यवस्था पर उसने प्राय: कुछ भी खर्च न किया। सड़कें बनाने और नहरें खुदवाने के बदले उसने जेल, कचहरी और गिर्जाघर बनवाये। मुगल सम्राट् की सार्वभौम सत्ता को ऊपर से स्वीकार करते हुए उसने यहाँ के सामन्तों को उसके विरुद्ध भड़काया और देश की अराजकता बढ़ाई। इस अराजकता में भी यहाँ के उद्योगधन्धे और व्यापार प्रगति कर रहे थे किन्तु अंग्रेज़ों ने उनका विनाश किया। इस तरह अंग्रेज़ों ने उन्नीसवीं सदी के पूर्वार्द्ध में अपनी प्रगतिशील भूमिका पूरी की।

व्यक्ति की स्वाधीनता और न्याय-व्यवस्था

अंग्रेज़ों का राज कायम होने के पहले हिन्दुस्तान के लोगों को यह पता न था कि व्यक्ति की स्वाधीनता क्या होती है। न अंग्रेज़ी राज से पहले यहाँ कोई समुचित न्यायव्यवस्था थी। इसलिये श्री सुरेन्द्रनाथ सेन ने यह मत प्रकट किया है कि "अवध के देशभक्त अपने बादशाह और देश के लिए लड़े किन्तु वे आजादी के हिमायती न थे क्योंकि उन्हें इस का पता न था कि व्यक्ति की स्वाधीनता क्या होती है।" इस व्यक्ति की स्वाधीनता का पता इंगलैण्ड के निवासियों को था जहाँ मज़दूरवर्ग के सैकड़ों नेताओं को जेल में डाल दिया गया था या आस्ट्रेलिया में निर्वासित कर दिया गया था, जहाँ पूँजीवादी जनतंत्र के मातहत बालिग मताधिकार की माँग करने के लिए फौजी ताकत से मजदूरों को आतंकित किया गया था, जहाँ के हजारों मुफलिसों को देश छोड़ कर

अमरीका में बसना पड़ा था, हज़ारों किसानों की ज़मीन छीन कर वहाँ चरागाह बना डाले गये थे और टॉम पेन की पुस्तकों की बिक्री पर पाबंदी लगा दी गई थी। ऐसे देश के लोग उन्नीसवीं सदी के पूर्वार्द्ध में हिन्दुस्तान में व्यक्ति की स्वाधीनता कायम कर रहे थे !

व्यक्ति की स्वाधीनता के विचार से ही अंग्रेज़ों ने दासों के व्यापार में नाम कमाया था। अफ्रीका के काले आदमियों का ही व्यापार उन्होंने अमरीका में न किया था, उन्होंने कलकत्ते को भी बंगाल में गुलामों के व्यापार का केन्द्र बना दिया था । कम्पनी की आमदनी के ज़रियों में एक जरिया गुलामों की बिक्री भी दर्ज होता था । श्री कालीकिंकर दत्त के अनुसार बंगाल में कम से कम उन्नीसवीं सदी के मध्य तक इंसान की बिक्री होती रही।[९५] इस तरह के गुलामों के अलावा कर्ज़ वगैरह न पटा पाने के कारण आदमी दूसरे का गुलाम बन जाता था। गाँवों में इस तरह की दासता का बहुत चलन था। श्री राधाकमल मुकर्जी के अनुसार इस तरह की दास प्रथा उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य तक चलती रही, विशेषकर पंजाब, दकन, पूर्वी संयुक्त प्रान्त, उत्तरी बिहार, उत्तरी बंगाल, आसाम, उड़ीसा, मध्यभारत, मध्यप्रदेश और हिन्दुस्तान के दक्षिण-पश्चिमी और दक्षिण-पूर्वी समुद्रतट पर।[९६]

इसी व्यक्ति की स्वाधीनता के कारण कंपनी के गुमाश्ते जुलाहों को ज़बर्दस्ती पेशगी रुपया दे देते थे, न लेने पर उनकी टेंट में खोंस देते थे और बेंतों से मार कर उन्हें भगा देते थे। बोल्ट्स के अनुसार अनेक जुलाहों को गुमाश्ते दूसरों के लिये काम न करने देते थे और एक के हाथ से दूसरे के हाथ यों सौंप दिये जाते थे मानों वे सब गुलाम हों और उन्हें हर नये गुमाश्ते के अत्याचार और धूर्तता का शिकार होना पड़ता था।[९७] इसी लेखक के अनुसार लगान भरने के लिये किसानों को अपने बच्चे बेच देने के लिये मजबूर होना पड़ता था, वर्ना घर छोड़कर भागना पड़ता था।[९८] १७७० में अकाल पड़ा तो पूर्निया ज़िले की एक तिहाई आबादी कलकत्ते की काउंसिल के अनुसार साफ़ हो गई। लेकिन काउंसिल ने डायरेक्टरों को सूचित किया कि बंदोबस्त में कुछ बढ़ती हो गई थी । वारन हेस्टिंग्स के राज में अवध के किसानों को पिंजड़ों में बन्द करके धूप में रखा गया और बहुतों को अपने बच्चे बेचने पर मजबूर किया गया । जो किसान अपने गाँव

छोड़कर भागते थे, उन्हें कम्पनी के सिपाही शिकारियों की तरह ढूँढ़ कर मारते थे। बंगाल और बिहार में जमीन को नीलाम करने की वजह से वहाँ की दो तिहाई भूमि में, फिलिप फ्रांसिस के अनुसार आबादी का सफाया हो गया। कंपनी के एजेंट, महाजन, ज़मींदार आदि जो ज़मीन खरीदते थे, वे किसानों के साथ ऐसा व्यवहार करते थे, जैसा पहले सामन्तों ने कभी न किया था। चाय और नील की खेती में सीधे-सादे आदमियों को फँसाने के बाद, उनसे गुलामों की तरह काम लिया जाता था।

विलियम डिग्बी का अनुमान है कि उन्नीसवीं सदी के पूर्वार्द्ध में पन्द्रह लाख आदमी भुखमरी के शिकार हुए। १८५० के बाद के पच्चीस वर्षों में पचास लाख आदमी सरकारी आंकड़ों के अनुसार दुर्भिक्ष में मरे। व्यक्ति की स्वाधीनता के सिद्धान्त को अमल में लाने का यह खास अंग्रेज़ी तरीका था। इस पर सेन महोदय का दावा है कि अंग्रेज़ों ने किसानों की दशा सुधारने का प्रयत्न किया था।

व्यक्ति की स्वाधीनता के लिये अंग्रेज़ों ने यहाँ लिखने, बोलने और पुस्तकें छापने की स्वतन्त्रता का चलन किया। १७६४ में डुएन नाम के आइरिश अमरीकी को हिन्दुस्तान से वापस भेज दिया गया। उसका अपराध यह था कि वह सैनिकों को भड़काता था। कुछ यूनिटेरियन मत के ईसाई तमिल में अपनी प्रार्थना-पुस्तक छापना चाहते थे। मद्रास के सेंसर ने उस पुस्तक के छापने पर पाबंदी लगा दी। "कैलकटा जर्नल" के सहायक संपादक सैंडफोर्ड आर्नौट को भारत से निकाल दिया गया। १८२२ में राजा राममोहन राय ने फ़ारसी में एक साप्ताहिक पत्र निकाला। उसमें ईसाई धर्म के कुछ पहलुओं की आलोचना छपी जिसे "कैलकटा जर्नल" ने अंग्रेज़ी में अनुवाद करके छापा। तुरन्त प्रेस आर्डिनेन्स चालू कर दिया गया। राममोहन राय को अपना अखबार बन्द कर देना पड़ा। १८३५ के बाद थोड़ी सी आज़ादी प्रेस को मिली लेकिन लन्दन में डायरेक्टर लोग उससे भी नाराज़ थे। सन् सत्तावन का संघर्ष छिड़ने पर केनिंग ने न केवल हिन्दुस्तानी पत्रों पर वरन् अंग्रेज़ी पत्रों पर भी पाबंदियाँ लगा दीं। १३ जून १८५७ को कानून बना जिसके अनुसार कोई भी प्रेस सरकार से लाइसेंस लिये बिना प्रकाशन-कार्य न कर सकता था। हिन्दुस्तानी अखबार अंग्रेज़ी पत्रों के लेखों का अनुवाद करके

छापते थे, इससे बड़े लाट को डर लगता था कि देश में विद्रोह की भावना फैल रही है। कैनिंग ने बोर्ड ऑफ कन्ट्रोल के सभापति को पत्रों के नमूने भेजते हुये लिखा था, "ये जो कागज-पत्र आपके पास आ रहे हैं, उनसे पता चलेगा कि यह क्यों किया गया है [अर्थात् पाबन्दी क्यों लगाई गई है]। जहाँ तक देशी प्रेस का सम्बन्ध है, उसके बारे में इंगलैंड में भी दो मत हों तो मुझे आश्चर्य होगा। इस तरह के लेख जो मैं आपको भेज रहा हूँ, मूर्ख और बचकाने लेकिन जल्दी भड़क उठने वाले सिपाहियों में और हर वर्ग के धर्मान्ध मुसलमानों में जो ऊधम मचा सकते हैं, उसे आसानी से समझा जा सकता है, खास तौर से जब आपको यह मालूम हो जाय कि देशी सिपाही उन्हें उत्सुकता से खोजते हैं और उन्हे सुनते हैं।" [२२]

अंग्रेज़ी अखबारों में कुछ ऐसे भी थे जो अंग्रेज़ी राज की नीति को खुले शब्दों में इस ढंग से पेश करते थे कि अंग्रेज़ शासकों को वह ढंग पसंद न आता था। उदाहरण के लिये "फ्रेंड ऑफ इण्डिया" अखबार ने साफ-साफ लिखा था कि बंगाल में सारी आबादी एक दिन ईसाई हो जायगी, इस बात की उसे आशा है। अखबारों में इस तरह की बातों का यों खुल्लमखुल्ला लिखा जाना बड़े लाट को पसन्द न था लेकिन इसके अलावा पत्रों में अंग्रेज़ सरकार की निकम्मी नीति की आलोचना भी प्रकाशित होती थी जिसके नमूने "बौम्बे टाइम्स" से हम पहले दे चुके हैं। ओ मैली द्वारा संपादित पुस्तक "माडर्न इंडिया ऐण्ड दि वैस्ट" ("आधुनिक भारत और पश्चिम") में डबल्यू.सी.वर्ड्सवर्थ ने यहाँ के समाचारपत्रों पर एक लेख लिखा है। उस लेखक के अनुसार "फ्रेंड ऑफ इण्डिया" नाम के पत्र ने अंग्रेज़ी शासन से उत्पन्न होने वाले असन्तोष को स्पष्ट रूप से स्वीकार किया था। "बौम्बे टाइम्स" की तरह इस पत्र की भी माँग थी, "यूरोप की पूंजी और कारबार के लिये इस देश के द्वार खोल देने चाहिये।"

अंग्रेज़ शासकों ने यहाँ प्रेस को जो थोड़ी सी आज़ादी दी थी, उसका कारण ब्रिटेन और भारत के जनमत का दबाव, विशेषकर ब्रिटिश उद्योगपतियों द्वारा अंग्रेज़ी राज की आलोचना थी। इस सिलसिले में भी हम भूस्वामी अभिजातवर्ग और पूंजीपतियों का आन्तरिक संघर्ष देखते हैं। यहाँ प्रकाशन स्वाधीनता का प्रश्न उठने पर, वर्ड्सवर्थ के

अनुसार, शासकवर्ग की ओर से यही दलील दी जाती थी : क्या तुम बच्चे को जलती हुई मोमबत्ती लिये बारूदखाने में घुस जाने दोगे ? यह रूपक सार्थक था; हिन्दुस्तान की जनता का असन्तोष बारूदखाने के समान ही था और समाचारपत्र जलती हुई मोमबत्ती की तरह थे। अंग्रेज़ों को विस्फोट का भय बराबर बना रहता था। उद्योगपतियों के प्रतिनिधि प्रेस की स्वाधीनता चाहते थे, अभिजातवर्गीय प्रभुत्व की आलोचना करने और उसे खत्म करने के लिये। उनका उद्देश्य भारत को स्वाधीन करना न था, वरन् उसे अंग्रेज़ पूँजीपतियों के शोषण के लिये विकसित करना था। इसलिये "फ्रेंड ऑफ इण्डिया" ने पलासी के युद्ध की वर्षी पर एक ओर तो यह माँग की कि यूरोप की पूँजी और कारबार के लिये भारत के द्वार खोल दिये जायँ, दूसरी ओर उसने यह आशा प्रकट की थी, "पलासी की पहली वर्षी पर देशी फौज का विद्रोह हुआ, दूसरी वर्षी बंगाल में एक सम्मानित शासन और ईसाई आबादी मनाये।" सम्मानित शासन से उसका अभिप्राय अभिजातवर्ग से भिन्न पूँजीपतियों के शासन से था।

अंग्रेज़ भारत को गुलाम बना रहे थे और उसे गुलाम बना कर रखना चाहते थे। व्यक्ति की स्वाधीनता की समस्या उन्होंने इसी गुलामी के चौखटे में हल की थी। सेन महोदय की कल्पना में अंग्रेज़ों ने देश को भले गुलाम बनाया हो, व्यक्ति को तो उन्होंने स्वाधीन कर दिया था !

हिन्दुस्तान में अंग्रेज़ी राज कायम होने के पहले भी अखबार-नवीसी होती थी। दिल्ली से लगभग सवा सौ हस्तलिखित पत्र निकलते थे। स्लीमैन के अनुसार अवध में ६६० वाक़िया नवीस काम करते थे। मैकाले का विचार था कि छपे हुए अखबारों से इन हाथ से लिखे पत्रों का असर ज़्यादा था। मैकाले ने यह भी देखा था कि इन पत्रों में अक्सर अंग्रेज़ सरकार को गालियाँ दी जाती थीं और अंग्रेज़ों के रहन-सहन और चरित्र पर व्यंग्यपूर्ण टीका-टिप्पणी होती थी।[१००] वर्ड्सवर्थ के अनुसार मुगल-शासन में अखबार नवीसों को बहुत आजादी रहती थी। सेन महोदय को अंग्रेज़ों की तुलना में यह सब पिछड़ापन मालूम होता है। शायद असली प्रकाशन-स्वाधीनता वही थी जिसका उपयोग अंग्रेज़ी राज को जनतांत्रिक और प्रगतिशील सिद्ध करने के लिए किया जाता था।

हिन्दुस्तान के अखबारों ने सन् सत्तावन की क्रान्ति से पहले काफी हद तक जनता के असंतोष को व्यक्त किया और उसे संगठित भी किया। यही कारण था कि कैनिंग उन्हें बेहद ग़ैर-जिम्मेदार समझता था और उसका विचार था कि ब्रिटेन में भी—जहाँ हिन्दुस्तान के बारे में सही जानकारी बहुत कम थी—इस बारे में दो मत न थे कि इन देशी अखबारों पर सख्त पाबन्दी लगनी चाहिये। इस आलोचना से स्पष्ट है कि उस समय के देशभक्त पत्रकार स्वाधीनता का क्या अर्थ लगाते थे। जिस समय दिल्ली घिरी हुई थी, उस समय वहाँ प्रकाशन-स्वाधीनता खत्म नहीं हुई वरन् हिन्दुस्तानी अखबारों ने अंग्रेज़ों की कूट-नीति और हिन्दुओं-मुसलमानों में फसाद कराने की साजिशों का पर्दा-फाश किया और सैनिकों को अंग्रेजों से लड़ने के लिये उत्साहित किया। लेकिन अंग्रेज् हार जाते और अखबारों की यह परम्परा कायम रहती तो घड़ी की सुई पीछे घूम जाती, हिन्दुस्तान में क्रान्तिविरोध की जीत होती और व्यक्ति की स्वाधीनता पर मर्मान्तक आघात होता!

व्यक्ति की स्वाधीनता के साथ अंग्रेज़ों ने यहाँ न्याय-व्यवस्था कायम की। अंग्रेज़ी राज कायम होने से पहले यहाँ सामन्ती अराजकता फैली हुई थी, इसलिए न्यायव्यवस्था का सवाल ही न उठता था! ओ मैली का मत है कि अंग्रेज़ी राज से पहले भारत में न्याय (law) और न्याय-सम्बन्धी संस्थाओं का नितान्त अभाव न था; यहाँ न्याय की स्वीकृत व्यवस्थाएँ थीं। [१०१] मराठों के राज में पंचायतों के अधिकार स्वीकार किये गये थे और इनसे जल्दी और सस्ते में न्याय प्राप्त हो जाता था। जेम्स फोर्ब्स नाम का अधिकारी १७८० से १७८३ तक एक ज़िले का शासक रहा था जिसे मराठों से अंग्रेजों ने ले लिया था। उसने मराठों के समय की न्यायव्यवस्था कायम रखी थी। उसके साथ चार प्रमुख ब्राह्मण, चार मुसलमान जिनमें एक काज़ी भी रहता था, और विभिन्न बिरादरियों के चौधरी होते थे। इस समुदाय से दो आदमी वादी चुन लेता था, दो आदमी प्रतिवादी चुनता था और पाँचवा व्यक्ति फोर्ब्स द्वारा नियुक्त होता था। यह पंचायत मुकदमे का फैसला करती थी। इस पद्धति की जनतांत्रिक विशेषता स्पष्ट है। न्याय का काम सरकार द्वारा नियुक्त जज या कलक्टर के हाथ में केन्द्रित न था। ब्राह्मण, काज़ी, बिरादरी के चौधरी वादी-प्रतिवादी की समस्याओं को जज-मजिस्ट्रेट से

ज्यादा अच्छी तरह समझ सकते थे। वादी और प्रतिवादी एक काफी बड़े समूह से अपने मन के दो-दो आदमी चुन सकते थे। यह कोई आदर्श व्यवस्था न थी, फिर भी अंग्रेज़ी न्यायालयों की तुलना में यहाँ सचमुच न्याय होने की संभावना अधिक थी।

फोर्ब्स का कहना था कि इस पद्धति का अनुसरण करने से वह नगर के एक लाख निवासियों को संतुष्ट रख सका था। उसकी अदालत में कोर्ट-फीस न लगती थी; पंचायत के किसी सदस्य को नज़र न दी जाती थी और वकीलों के ऊपर कुछ भी खर्च न करना पड़ता था। तीन साल में पंचायत के फैसले के विरुद्ध केवल एक बार अपील हुई थी। अंग्रेज़ों ने इस न्यायव्यवस्था में सुधार करके उसे और भी उन्नत और परिष्कृत नहीं किया; उन्होंने इस लोकप्रिय न्यायव्यवस्था का नाश ही कर दिया और कचहरी-अदालत, पेशकार-मुहर्रिर-वकील की वह व्यवस्था कायम की जिसमें गरीब किसानों को बुरी तरह लूटा गया। इसके अलावा वे और कुछ कर भी न सकते थे। उनकी न्यायव्यवस्था का आधार इस देश पर उनका अन्यायपूर्ण अधिकार था। सामन्ती भारत में गाँवों की जनता अपेक्षाकृत स्वाधीन थी और अकाल और दुर्भिक्ष में लगान या सूद न दे पाने पर गाय-बैलों की कुड़की होने की नौबत न आती थी।

अंग्रेजी राज की न्याय-व्यवस्था इतनी संतोषप्रद थी कि भारत में आने वाले अंग्रेज़ भी उससे त्राहि-त्राहि करते थे। ३ जून १८५३ के अपने भाषण में जॉन ब्राइट ने हाउस ऑफ कौमन्स में कहा था कि "समूचे हिन्दुस्तान में यूरोप के लोग किसी भी काम के लिये कम्पनी की अदालतों का सामना करने में बुरी तरह डरते हैं (there appears to be throughout the whole of India, on the part of the European population, an absolute terror of coming under the company's Courts for any object whatever.)।"

हिन्दुस्तान में अंग्रेज़ अपनी पूँजी न लगाते थे, इसका एक कारण ब्राइट के अनुसार, कंपनी की अदालतों के न्याय का भय था। पार्लियामेंट ने एक लॉ-कमीशन नियुक्त किया था लेकिन उसकी रिपोर्ट पर अमल करने की ज़रा भी इच्छा डायरेक्टरों के मन में न थी। २४ जून

१८५८ के भाषण में ब्राइट ने फिर कहा था कि किसी भी सभ्य देश में ऐसी अव्यवस्था नहीं है जैसी बंगाल की पुलिस व्यवस्था में है । "अदालतों के बारे में भी मैं यही बात कह सकता हूँ । मैं उन पुस्तकों से उद्धरण दे सकता हूँ जो कंपनी के पक्ष में लिखी गई हैं और जिनमें उतना ही पक्षपात है जितना कंपनी के बड़े से बड़े हिमायतियों में हो सकता है । इनमें लेखकों ने घोषित किया है कि जितना ही अंग्रेज़ी अदालतों का प्रसार हुआ है, उतना ही हिन्दुस्तान की प्रेसीडेन्सियों में कसम खाकर झूठे बयान देना और इससे न्यायव्यवस्था में उत्पन्न होने वालो तमाम बुराइयाँ भी फैली है ।"

जैसे आर्थिक क्षेत्र में अंग्रेज़ शासकों ने यहाँ के उद्योगधन्धों का नाश किया, वैसे ही न्यायव्यवस्था के क्षेत्र में उन्होंने यहाँ की संस्थाओं का नाश किया और उनकी जगह जो संस्थाएं कायम कीं, उनसे जनता का शोषण और बढ़ा । हिन्दुस्तान में अंग्रेज़ों द्वारा कायम की हुई न्यायव्यवस्था का यही परिणाम होना था क्योंकि उनके घर में ही जिस न्यायव्यवस्था का चलन था, उसका उद्देश्य अभिजातवर्ग के हितों की रक्षा करना था । इंगलैण्ड में किसी समय स्टार चेंबर नाम की संस्था थी जिसका काम कानून भंग करने वालों की निगरानी करना ही न था वरन् लोगों के व्यक्तिगत जीवन पर कड़ी निगाह रखना भी था । स्टार चेंबर की कार्यवाही का आधार अक्सर भेदियों और पुलिस के एजेन्टों की गवाही होती थी । इंगलैण्ड के वैधानिक इतिहास पर अपनी पुस्तक में मेडले ने लिखा है : "यह व्यवस्था इस शताब्दी [बीसवीं शताब्दी] तक चलती रही । १८१७-१८२० की हलचल में जिन लोगों ने भाग लिया था, उनके मुकदमों में इस बात का सबूत मिला कि सरकारी दूतों ने सचमुच षड़यन्त्रकारियों को हिंसा के लिये भड़काया था" । अंग्रेज़ी न्यायव्यवस्था का उपयोग मज़दूरों में उकसावा पैदा करने और उनमें फूट डालने के लिये होता था । इस परम्परा को सबसे अधिक विकसित करने का श्रेय संयुक्तराज्य अमरीका के इजारेदारों को है । १८४४ में सेक्रेटरी ऑफ स्टेट सर जेम्स ग्रैहम ने स्वीकार किया कि उसने लोगों की निजी चिट्ठियाँ खोलकर पढ़ी हैं । इस पर बहुत हो हल्ला हुआ और इस सम्बन्ध में कानून क्या कहता है, यह जानने के लिये एक गुप्त कमेटी बिठा दी गई । अंग्रेज़ व्यक्ति की स्वाधीनता की रक्षा का यह मंत्र यहाँ

के उत्तराधिकारियों को भी सिखा गये हैं। राज्यद्रोह (सेडीशन) और निन्दाचार (लाइबेल) संबन्धी कानूनों का उपयोग प्रगतिशील राजनीतिक आन्दोलनों को दबाने और व्यक्ति की स्वाधीनता का नाश करने के लिये होता था। इन कानूनों के बारे में जेनिंग्स ने लिखा है, "प्रजा की निगाह में बादशाह का रुतबा गिराना, या असन्तोष या विद्रोह-भावना फैलाना, या जनता को हलचल, हिंसा और अव्यवस्था के लिये उकसाना, या सरकार या विधान के प्रति घृणा या नफरत प्रकट करना या शारीरिक बल के प्रयोग से किसी कानून को बदलने की बात कहना राज्यद्रोह है। कोई ऐसा वक्तव्य जिससे सरकार के प्रति नफरत फैलती हो, राज्यद्रोहात्मक होगा चाहे वह कहने को प्रकाशित कभी न हो। इस उद्देश्य के लिये कुछ लोग एकत्र हों तो वह राज्यद्रोहात्मक षड़यन्त्र कहा जायगा। जिस सभा में ऐसे वक्तव्य दिये जायँगे, वह गैरकानूनी सभा मानी जायगी। किसी व्यक्ति के प्रति घृणा प्रकट करना, उसका मखौल उड़ाना या उसके प्रति नफरत फैलाना, भले ही बात सच कही गई हो, साधारण निंदाचार-सम्बन्धी अपराध होगा। धर्मनिन्दा (blashphemy) इतना व्यापक अपराध है कि पुरानी पुस्तकों में लिखा है कि ईसाई धर्म पर कोई भी आक्रमण अपराध है।[१०६] इन अंग्रेज़ी कानूनों से इस सत्य की झलक मिल जायगी कि ब्रिटेन के शासकवर्ग ने अपनी रक्षा के लिये न्याय के नाम पर किस तरह की किलेबन्दी कर ली थी। राज्यसंचालक की निन्दा करने के अपराध में अंग्रेज़ कवि ली हन्ट को दो साल (१८१३-१५) तक कारावास में रहना पड़ा था। जेल से निकलने पर उसके स्वागत में कविता लिखने के कारण कीट्स से तमाम अभिजातवर्ग के चाकर लेखक चिढ़ गये थे और उसका कवितासंग्रह निकलने पर उस पर बहुत ही निम्न कोटि का आक्रमण किया था; किन्तु इंगलैण्ड का निन्दाचार-सम्बन्धी कानून कवि कीट्स की रक्षा के लिये काम में नहीं आया।

इंगलैण्ड की न्यायव्यवस्था का संचालन करने वाले न्यायाधीश संपत्तिशाली वर्ग का अभिन्न अंग थे। इनके बारे में ग्रीव्स नाम के लेखक का कहना है, "न्यायाधीश निरपवाद रूप से एक ही सामाजिक वर्ग से चुने जाते हैं। यह अनिवार्य है कि कुछ उल्लेखनीय अपवादों को छोड़ कर उनके विचार उनके वर्ग के होते हैं। इसका यह अर्थ नहीं है कि वे

तक का अधिकार न हो, उसमें नागरिक अधिकारों की बात ही क्या! जेनिंग्स के अनुसार १७८६ से लगभग १८२० तक बहुत कम ऐसे बुनियादी अधिकार थे जिनका व्यवहार में उल्लंघन न होता हो। "उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध में कुछ दमन-सम्बन्धी कानून रद करके ये सिद्धान्त बहाल ही नहीं किये गये वरन् सिद्धान्त और व्यवहार दोनों रूपों में उनका प्रसार भी हुआ।"[१०८] जेनिंग्स को शिकायत है कि १६ वीं शताब्दी के आरम्भ के कुछ कुत्सित कानून अब भी बने हुए हैं। यदि यह हालत बीसवीं सदी में है तो १६ वीं सदी के पूर्वार्द्ध की कल्पना की जा सकती है जब पूँजीपतिवर्ग सत्तारूढ़ न हुआ था। अंग्रेज़ी जनतन्त्र की अभिजातवर्गीय विशेषताएँ उसकी न्यायव्यवस्था पर भी लागू होती हैं। जेनिंग्स ने लिखा है, 'जनतांत्रिक देश के हिसाब से अंग्रेज़ी कानून बहुत सख्त हैं क्योंकि उनमें से अधिकांश तब बने थे जब मतदान का अधिकार जनता के बहुत थोड़े हिस्से के पास था और कुछ कानून फ्रांसीसी राज्यक्रान्ति की प्रतिक्रिया स्वरूप बने थे जब टोरी और उदार ह्विग दोनों ही गिलोटीन के आतंक से त्रस्त थे और उससे भी अधिक संपत्ति हड़पे जाने से डरते थे और जब चार्ल्स जेम्स फॉक्स का अनुयायी 'जैकोबिन' कहलाता था।'[१०९] फ्रांस की पूँजीवादी क्रान्ति से आतंकित, अपने देश की निर्धन जनता से त्रस्त, अपनी अन्यायपूर्ण सम्पत्ति की रक्षा के लिये व्याकुल अभिजात वर्ग ने उन कानूनों की रचना की थी जिनके सामने गरीब और अमीर बराबर समझे जाते थे। इन कानूनों के बल पर जनता का भाग्य निर्णय भी उसी वर्ग के लोग करते थे जो चर्च, राज्यसत्ता और फौज पर हावी थे।

शेक्सपियर ने लियर से अंग्रेजी न्याय के बारे में कहलाया था:

"चीथड़ों के पीछे से छोटे गुनाह भी दिखाई दे जाते हैं;
उम्दा पोशाकें और फर लगे हुए गाउन सब कुछ ढँक लेते हैं। पाप को सोने से मढ़ दो
और न्याय का प्रबल अस्त्र विना घाव किये टूट जायगा;
उसे चीथड़े पहना दो तो बौना भी तिनके से उसे बेध डालेगा।"

१८४४-४५ में एंगेल्स ने अपनी पुस्तक "इंगलैण्ड में मज़दूरवर्ग की दशा" में यही बात इन शब्दों में लिखी थी, "अगर कोई धनी आदमी अदालत के सामने लाया जाता है अथवा आमंत्रित किया जाता

है तो जज इस बात पर खेद प्रकट करता है कि उसे धनी आदमी को इतना कष्ट देने के लिये बाध्य होना पड़ा। जहाँ तक बन पड़ता है, वह उसके अनुकूल सारा काम करता है और यदि उसे अभियुक्त को दंड देना ही पड़ता है, तो बहुत ही खेद प्रकाशन आदि के साथ वह ऐसा करता है और दंड के नाम पर नामचार को जुर्माना भर होता है जिसे पूँजीपति घृणा से मेज़ पर फेंक देता है और चला जाता है। लेकिन कहीं जस्टिस ऑफ पीस के सामने किसी गरीब बेचारे को जाना पड़े—वह अपने साथियों के सँग थाने में रात काट चुका होगा—तो शुरू से ही वह अपराधी मान लिया जायगा। उस के पक्ष में जो कुछ कहा जायगा, उसे घृणा से यह कहते हुए ठुकरा दिया जायगा, 'उँह, यह बहाना हम समझते हैं।' उस पर जुर्माना किया जायगा जिसे वह दे नहीं सकता और इसलिये उसे कई महीने तक पाँव-चक्की चलानी पड़ेगी। उसके खिलाफ़ कुछ भी साबित न हो, तो भी 'बदमाश और आवारा' होने के नाम पर वह पाँव-चक्की चलाने के लिये भेज दिया जायगा।''[११०]

जिस न्याय-व्यवस्था के लिये दावा किया जाता था कि उसके सामने गरीब-अमीर बराबर थे, उसका वास्तविक रूप यह था। दंड देने और अपराधी के साथ व्यवहार करने में ही न्यायव्यवस्था का अन्याय प्रकट न होता था, अंग्रेज़ जमींदारों ने राज्यसत्ता पर हावी होने से ऐसे कानून बनाये जिससे वे न्यायपूर्ण तरीके से किसानों की ज़मीन हथिया सकें। मार्क्स ने किसानों की ज़मीन हड़पने के कानूनी तरीकों के बारे में लिखा है, "स्टुअार्ट राजाओं के फिर राजगद्दी पाने के बाद भूस्वामियों ने कानूनी तरीकों से ज़मीन हड़पने का वह काम किया जो यूरोप में बिना किसी कानून-कायदे के किया गया था। उन्होंने ज़मीन के सामन्ती अधिकार खत्म कर दिये अर्थात् राज्यसत्ता के लिये अपनी सब सेवाएँ खतम कर दीं, राज्य को 'हर्जाना' भर दिया किसानों और बाकी आम जनता पर टैक्स लगाकर, जिन रियासतों पर उनका सामन्ती हक (feudal title) ही था, उस पर उन्होंने आधुनिक व्यक्तिगत संपत्ति के हक जमा लिये और अन्त में उन्होंने बन्दोबस्त के वे कानून पास किये जिनका इँगलैण्ड के खेत-मज़दूरों पर कमोबेश भेदभाव के साथ वही असर पड़ा जो तातार बोरिस गोदूनोव की घोषणा का रूसी किसानों पर

पड़ा था।"[१११] इँगलैण्ड में यह क्रान्ति भूस्वामियों ने की। ये भूस्वामी सामन्त थे; ज़मीन पर उनका पूँजीवादी अधिकार न था, उनका सामन्ती हक था अर्थात् वे बादशाह के प्रति कुछ सेवाएँ अर्पित करते थे और साथ ही अपनी ज़मीन पर बसे हुए किसानों से अपनी सेवा कराते थे। किसानों को निकाल कर खेतों की जगह चरागाह बनाना सामन्ती प्रथा में शामिल न था। इस तरह के सामन्ती हक अवध के ताल्लुकदारों के भी थे और अंग्रेज़ यहाँ भी उनकी ज़मीन छीनना चाहते थे, उसे अंग्रेज़ी राज की मिल्कियत बनाने के लिये। सामन्ती प्रथा में अर्धदास ज़मीन पर अधिकारों से नितान्त वंचित नहीं होता। मार्क्स के शब्दों में "हमें यह कभी न भूलना चाहिये कि अर्धदास अपने घर से लगी हुई ज़मीन का मालिक ही न था, भले ही खिराज भरने वाला मालिक हो, वरन् सामान्य भूमि (कॉमन लैण्ड) का साझीदार मालिक भी था।"[११२] हिन्दुस्तान में बहुत दिनों तक गाँवों में वह सामान्य भूमि रही है जिस पर गाँव के सभी लोगों का समान अधिकार रहा है। "प्रेमाश्रम" में जमींदार ज्ञानशंकर ऐसी ही ज़मीन हड़पना चाहता है जिसके विरुद्ध बिलासी लड़ती है। मार्क्स ने आगे लिखा है कि इँगलैण्ड के बड़े-बड़े सामन्तों ने किसानों को उस जमीन से हटा दिया जिस पर उनका उतना ही अधिकार था जितना सामन्तों का। साथ में उन्होंने सारे गाँव की सामान्य भूमि पर भी कब्ज़ा कर लिया।[११३] इससे सिद्ध हुआ कि इँगलैण्ड में भी व्यक्तिगत भूसम्पत्ति का अभाव था; इस तरह की सम्पत्ति का अभाव भारतीय सामन्तवाद की कोई अनोखी विशेषता न थी। हिन्दुस्तान के सामन्तों ने किसानों को हटाकर उनकी सम्पत्ति को और गाँव की सामान्य भूमि को अपनी सम्पत्ति न बनाया था। अंग्रेज़ों ने यहाँ आकर सारी ज़मीन को अपनी मान लिया और उसे नीलाम करके उस पर से किसान और सामन्त दोनों के अधिकार खतम करने की कोशिश की। इसे ज़मीन में पूँजीवादी व्यक्तिगत सम्पत्ति का चलन कहना कठिन है। इसकी तुलना उस भूमि हड़पने की क्रिया से ही की जा सकती है जो हर उपनिवेश में अंग्रेज़ी राज की विशेषता थी।

अंग्रेज़ सामन्तों ने किसानों के खेत और उनकी सामान्य भूमि हड़प कर उसे अपनी निजी सम्पत्ति बना लिया, इससे ज़मीन पूँजीवादी

सम्पत्ति की तरह बिकाऊ माल नहीं बनी। जैसा कि हम देख चुके हैं, भूस्वामी वर्ग ने खेत-मजदूरों को अर्धदासों की दशा में रखा और भूमि हस्तान्तरित न हो, इसके लिये विरासत के कानून लागू करते रहे। इस सारी प्रक्रिया में न्यायव्यवस्था की भूमिका यह थी कि सामन्तों ने अपनी पार्लियामेंट द्वारा ऐसे कानून बनाये जो इस लूट को वैध करार दे सकें। मार्क्स ने इस कानूनी लूट के बारे में लिखा है, "इस डकैती का पार्लियामेंट वाला रूप सामान्य भूमि को घेरने के कानून हैं अर्थात् वे आज्ञापत्र है जिनके द्वारा जमींदारों ने जनता की भूमि को व्यक्तिगत सम्पत्ति के रूप में अपने को भेंटकर लिया। ये जनता की सम्पत्ति हड़पने के आज्ञापत्र थे।"[११४] इँगलैण्ड की न्यायव्यवस्था का वास्तविक रूप किसानों की ज़मीन हड़पना था। जहाँ सामन्त लाखों किसानों के अधिकार छीन रहे थे, वहाँ कानून के सामने गरीब-अमीर की बराबरी की बात एक भारी फरेब के अलावा क्या हो सकती है? मार्क्स के अनुसार १८०१ से १८३१ तक पार्लियामेंट के दाँव-पेंच से जमींदारों ने पैंतीस लाख एकड़ से अधिक सामान्य भूमि हड़प ली और इसके लिये किसानों को एक धेला मुआवज़ा भी नहीं दिया।[११५]

स्काटलैण्ड में डचेस ऑफ सदरलैण्ड ने किस तरह अपनी बिरादरी के किसानों को हटाकर उनकी जमीन पर अधिकार किया, इसका रोमांचकारी वर्णन मार्क्स ने किया है। १८१४ से १८२० तक ७ लाख ९४ हज़ार एकड़ भूमि से १५ हज़ार निवासियों को हटाकर डचेस ने उस पर अधिकार कर लिया। उनके गाँव जला दिये गये और खेतों को चरागाह बना डाला गया। ब्रिटिश सैनिकों ने बलपूर्वक किसानों को बेदखल किया। एक बूढ़ी स्त्री ने अपनी झोंपड़ी छोड़ने से इन्कार किया। उसकी झोंपड़ी में आग लगा दी गई और वह उसी में भस्म हो गई। निर्वासित किसानों को उसने समुद्रतट पर दो एकड़ फी परिवार के हिसाब से जमीन दी। यह जमीन तब तक बंजर पड़ी हुई थी; इस पर भी फी एकड़ ढाई शिलिंग का लगान बाँधा गया। लेकिन आगे चलकर यह जमीन लंदन के मछली-व्यापरियों को दे दी गई और स्कॉट किसान वहाँ से भी हटाये गये।[११६] अंग्रेज़ों ने हिन्दुस्तान के किसानों पर जो अत्याचार किये, उनका अच्छा अभ्यास वे अपने देश में कर आये थे।

बंगाल में पक्का बंदोवस्त किया गया। इस बात पर बहस चली कि जमीन का मालिक किसान है या जमींदार। इस तरह की बहस आगे चलकर अवध के ताल्लुकदारों के बारे में भी हुई। अवध में अंग्रेज़ों ने किसानों के हिमायती बनकर ताल्लुकदारों के अधिकारों को खत्म करना चाहा। बंगाल में अंग्रेज़ों ने जमींदारों को जमीन का मालिक माना और ऐसा करना, सर जौन शोर के अनुसार, नीति की बात भी थी। अंग्रेज़ों ने जमींदारों की गिल्कियत स्वीकार करके भूमि में व्यक्तिगत सम्पत्ति का आविष्कार नहीं किया। वह पुराने चलन के आधार पर ही साबित करना चाहते थे कि भूमि पर जमींदारों का व्यक्तिगत अधिकार है। चलन यह था कि जमींदारों का अधिकार पैतृक था; इसके अलावा मालगुज़ारी न चुका पाने पर उनकी जमीन बेच दी जाती थी। ज़मीन की बिक्री के कागज़ात से उनकी मिल्कियत साबित होती थी। अंग्रेज़ों ने ज़मीन की मिल्कियत के सिलसिले में व्यक्तिगत संपत्ति का कोई नया चलन नहीं किया; उन्होंने किसान-जनता के हक जरूर खत्म कर दिये और जमीदारों को लगान वसूल करने वाला बिचवानी बनाकर किसानों को खूब लूटा। श्री क्षितीशचन्द्र चौधरी ने पक्के बन्दोबस्त के लिये ठीक लिखा है कि यह किसानों के हक हड़पने का कानून था; उसने सदियों से चले आते किसानों के अधिकार खत्म कर दिये।[१२८] जो जमींदार वक्त पर मालगुजारी न दे सके, उनकी रियासतें नीलाम कर दी गईं। जिन्होंने मालगुजारी भरी, उन्होंने किसानों को इतना दबाया कि विद्रोह फूट पड़े। अंग्रेज़ी राज अपनी शानदार न्यायव्यवस्था लेकर विद्रोह दबाने के लिये जा पहुँचा। जमींदार अंग्रेज़ी न्याय की कृपा से लगान न भर पाने पर किसानों का गल्ला, मवेशी, हल-बैल, बर्तन भांड़े सब कुड़क करने लगे। जैसे एंगेल्स ने इंगलैण्ड के गरीब किसानों का हाल लिखा था, वैसे ही बंगाल की अदालतों में किसानों के साथ कैसा न्याय होता था, इस पर फील्ड ने लिखा है, "किसान इतने ग़रीब होते थे कि मुख्तार या वक़ील न कर सकते थे, इसलिये उन्हें खुद अदालत में हाजिर होना पड़ता था। उनके दिन पर दिन बर्बाद होते; उधर खेत अनजुते पड़े रहते और बिन कटी फसलें खेतों में खराब होतीं। मवेशी तुरन्त औने पौने दामों बेच दिये जाते; ६, ७ या ८ रुपये के बैल या भैंसें रुपये या आठ आने में बेच दी जातीं जबकि कर्जदार शायद

तीन-चार रुपये का देनदार ही होता।"[११९]

चाहे बंगाल का जमींदारी बन्दोबस्त हो, चाहे मद्रास की रैयतवारी व्यवस्था हो, हर जगह अंग्रेज़ी राज में किसान पिस गया और न्याय-व्यवस्था देशी-विदेशी शोषकों से उसकी रक्षा न कर सकी। १८३१-३२ की अंग्रेज़ी जाँच-कमेटी के सामने राजा राममोहन राय ने इन दोनों पद्धतियों के बारे में कहा था, "दोनों ही पद्धतियों में किसानों की हालत बहुत खराब है। एक में तो वे जमीदारों के लोभ और महत्वाकांक्षा के शिकार होते हैं; दूसरी में जांच करने वाले और मालगुजारी से संबन्धित दूसरे सरकारी अफ्सर उनसे तरह-तरह से रकमें ऐंठते हैं। मुझे दोनों पर दया आती है; अन्तर इतना है कि बंगाल के जमीदारों की माल-गुज़ारी कूतने में सरकार सहृदयता का परिचय देती है लेकिन गरीब किसानों के हिस्से में इस सहृदयता का कोई अंश नहीं पड़ता।"[१२०] जैसे इँगलैण्ड में न्याय के सामने गरीब-अमीर बराबर थे; वैसे ही हिन्दुस्तान में अंग्रेज़ी अदालत के सामने जमींदार-किसान बराबर थे! अन्तर इतना था कि यहाँ के अमीर के प्रति सरकार उतनी सहृदय न थी जितनी इँगलैण्ड की सरकार वहाँ के अमीरों के प्रति।

१८३३ से १८४६ तक अंग्रेज़ों ने उत्तर-पश्चिम में जो बन्दोबस्त किये उनके बारे में स्टैक ने लिखा था, "कुल मिलाकर ये बन्दोबस्त कामयाब साबित हुए। इनकी वजह से बहुत से जिलों में जमीन के मूल स्वामी गायब हो गये लेकिन आमतौर से काश्तकारी बढ़ी।"[१२१] मूल स्वामियों के गायब होने पर बैडेन-पौवेल ने यह टिप्पणी लिखी है, "स्वामियों के गायब होने का जो ज़िक्र है, उसका कारण हमारे शुरू के बन्दोबस्तों में लचीलेपन की कमी थी। निश्चित दिन पर किस्त भरने पर जोर दिया जाता था और न भरने पर तुरत रियासत बेचकर रकम वसूल कर ली जाती थी।" रियासतें बेचने का यह क्रम जमीन में पूँजीवादी सम्बन्धों का प्रसार न करता था। उसका उद्देश्य मुख्य जमींदार अंग्रेज़ी राज्यसत्ता और किसान के बीच में ऐसे दलाल जुटाना था जो जनता को लूटकर अंग्रेज़ का घर भरें और बीच में अपना कल्याण भी करते रहें। बंगाल और उत्तर-पश्चिमी प्रान्त, दोनों ही जगह रियासतें नीलाम हुईं, दोनों ही जगह किसानों के सदियों से चले आते हुए हक़ ख़त्म कर दिये गये। उनके माल-असबाब की कुड़की

होने लगी और उन्हें जमीन से बेदखल किया जाने लगा। उत्तर-पश्चिमी प्रान्त में अंग्रेजों ने दलाल जमीदारों को हिस्सेदार बनाना उचित न समझा। उन्होंने मालगुजारी का दस फीसदी हिस्सा ताल्लुकदारों को देकर इस मलिकाना के बदले उनका ताल्लुकदारी हक़ खत्म कर दिया। जैसे आयर्लैण्ड में रोमन कैथलिक किसानों से प्रोटेस्टेन्ट चर्च के लिये 'टाइथ' लेना बन्द करके उसे जमींदारों की मालगुजारी में जोड़ दिया गया था और जमींदार उसे फिर किसानों से वसूल करने लगे थे, वैसे ही कई जगह मलिकाने की रकम बिस्वेदारों से वसूल की गई जिससे कि ये छोटे मालिक तबाह हो गये।[१२२]

इलाहाबाद के बारे में वहाँ बन्दोबस्त करने वाले अफसर ने लिखा था, "ब्रिटिश शासन के प्रारंभिक दिनों में जिस व्यवस्था का चलन हुआ, यह उसी का काम था कि पुराने घरानों की उस विघटन-क्रिया को पूरा कर दे जिसे मुसलमान विजेताओं ने इतनी सफलता से आरम्भ किया था।"[१२३] बंगाल की लूट से अंग्रेजों की हिम्मत खुल गई थी। अब वे पहले से शक्तिशाली भी थे; अवध का नवाब उनका मित्र था। इसलिये उन्होंने पुराने सामन्ती घरानों के विघटन को आगे बढ़ाया और उन सामन्तों की अपेक्षा किसानों को और भी लूटने लगे। अंग्रेज़ यहाँ ब्रिटेन की तरह कहने को भी खेती में पूँजीवादी सम्बन्ध कायम न कर रहे थे। खेती करने वाले मजदूर न थे; छोटे खेतों को मिला कर यहाँ बड़े फार्म न बने थे। न तो चरागाहों में हजारों भेड़ें चरती थीं, न बड़े खेतों में नए वैज्ञानिक साधनों का नाम-निशान था। अंग्रेज़ किसानों की मेहनत का नया शोषक था, पहले के सामन्तों से कहीं ज़्यादा निर्दय और नृशंस।

१८०१ में इलाहाबाद का जिला अंग्रेज़ों को मिला। जिले पर लाल बिक्रमाजीत का सामन्ती अधिकार था। बैडेन पौवेल का कहना है कि हक़ीकत में तो वह स्वामी थे, फिर भी अधिकारी चाहते थे कि कुछ रकम उनके लिये बाँध दी जाय और बन्दोबस्त बिस्वेदारों के साथ किया जाय।[१२४] यह घटना इस तथ्य की ओर संकेत करती है कि अंग्रेज़ों का लालच बढ़ रहा था और वे न्याय-अन्याय, हक़ीकत, गैर-हक़ीकत की चिन्ता न करके ज़मीन पर अधिकार करना चाहते थे। १८०२ में यह रियासत बनारस के राजा के पास आ गई। राजा ने जमीन में पैसा

लगाया, उसकी उपज बढ़ाई और सिंचाई की भी अच्छी व्यवस्था की। आसामियों से तीन साल के लिये बन्दोबस्त होता था और वे लगान न दे पाते थे, तो उन्हें बेदखल न किया जाता था, वरन् उन्हें धीरे धीरे रकम चुका देने का अवसर दिया जाता था। १८२० तक परगने की समृद्धि के कारण लगान की रकम १, १०,००० रु से बढ़कर २, ३२००० रु तक पहुँच गई। अंग्रेज साखी के अनुसार जनता वहाँ न तो पहले इतनी खुशहाल थी, न बाद को रही। अब अंग्रेजी न्यायव्यवस्था ने अपना चमत्कार दिखाया। राजा के रियासत खरीदने पर आपत्ति की गई। जिस ताल्लुकदार ने आपत्ति की थी, वह मानसिक रूप से स्वस्थ न था। इसलिये रियासत कोर्ट ऑफ वार्ड्स कर दी गई। रियासत बनारस के राजा के हाथ से निकल गई।[१२५] इस घटना से यह तथ्य सिद्ध होता है कि देशी सामन्तों के शासन में किसान खुशहाल रह सकते थे, कम से कम अंग्रेज़ी राज की तुलना में उनकी दशा अच्छी हो सकती थी। लेकिन ऐसे सामन्तों के अधिकार छीनना अंग्रेजों की न्यायव्यवस्था का अंग था।

अंग्रेजों के बंदोबस्त और उनकी न्यायव्यवस्था से यहाँ की किसान-जनता की क्या दशा हुई, इसके बारे में संयुक्त प्रान्त की जमींदारी-निर्मूलन-समिति की रिपोर्ट में बताया गया है कि इस न्याय-व्यवस्था की पेचीदगियाँ किसान समझते न थे; इससे गरीबों के हक मार कर धनी और पढ़े लिखे लोगों ने फायदा उठाया। किसानों के परंपरागत अधिकार खत्म कर दिये गये। जमीन के मालिक किसान अब भारी लगान चुकाने वाले आसामी बन गये। इससे खेती का ह्रास हुआ। रिपोर्ट के अनुसार बंगाल और बिहार का पक्का बन्दोबस्त करने के पहले भी यह तथ्य स्पष्ट रूप से स्वीकार कर लिया गया था कि व्यवहार में जमीन के मालिक किसान थे। अंग्रेज सरकार ने उनके हितों की रक्षा करने के लिये कानून बनाने का वादा किया था "लेकिन उस समय का किया हुआ वादा कभी पूरा नहीं किया गया।"[१२६] चाहे बंगाल हो चाहे अवध, चाहे जमींदारी व्यवस्था हो, चाहे रैयतवारी, हर जगह अंग्रेजों ने किसानों के वे स्वामित्व-अधिकार खत्म किये जो व्यवहार में बरसों से स्वीकृत चले आते थे। किसानों के असन्तोष का यह मुख्य कारण था। इसके साथ उन्होंने अपनी न्यायव्यवस्था के बल पर किसानों पर तरह-तरह के जुल्म ढाये। सन् सत्तावन की राज्यक्रान्ति

की सामाजिक पृष्ठभूमि समझने के लिये इस बुनियादी तथ्य को ध्यान में रखना जरूरी है कि अंग्रेज़ों की नीति का सारतत्व किसान को उसके परम्परागत स्वामित्व से वंचित करके उसके शोषण को और तीव्र करना था। इसके साथ उन्होंने सामन्तों के अधिकार भी छीने। बहाना यह किया कि वे किसानों को सामन्ती उत्पीड़न से बचा रहे थे। किन्तु १८५७ की घटनाओं ने सिद्ध कर दिया कि अंग्रेजों की तुलना में किसान अपने पुराने सामन्तों से अधिक सन्तुष्ट थे।

१८५६ में अंग्रेजों ने अवध में जो बंदोबस्त किया, उसमें १३,६४० गाँवों का बन्दोबस्त ताल्लुकदारों से किया और ६,६०३ गाँवों का बंदोबस्त उनसे भिन्न किया। उपर्युक्त रिपोर्ट के अनुसार ताल्लुकदारों से वे बहुत से गाँव भी छीन लिये गये जिन्हें उनके बापदादों ने बसाया था।

१८५६ के पहले भी अंग्रेज़ सलाहकारों के कहने से अवध के नवाब ने कई जगह परगनों को चकलों में बाँट दिया था और इनकी मालगुजारी नाज़िम या चकलेदार इकट्ठी करते थे। इन नये हाकिमों के बारे में बैडेन पौवेल ने लिखा है कि वे इतने निरंकुश थे कि ताल्लुकदार फिर भी अच्छे थे। पुराने सामन्तों की लूट-खसोट की एक सीमा थी; उन्हें अपनी बिरादरी के लोगों का ध्यान भी रहता था। "यही कारण था कि महाजन या पतित और उदासीन दरबार के अजनबी हाकिम के कायदे-कानून की अपेक्षा सच्चे पुराने ताल्लुकदार के कायदे-कानून ज्यादा सहे जा सकते थे।"[१२७] अंग्रेज़ सलाहकारों के कारण अवध में किसानों की हालत पहले ही खराब हो रही थी। ताल्लुकदारों के अधिकार भी छीने जा रहे थे। इसलिए अवध के अंग्रेजी राज में मिलाये जाने के बाद ही वहाँ की जनता में असन्तोष नहीं फैला; यह असन्तोष पहले से ही सुलग रहा था। अवध के किसान अंग्रेजी न्यायव्यवस्था से पुराने सामन्ती शासन को अच्छा समझते थे; इसीलिये १८५७ में अंग्रेजी व्यवस्था तोड़ कर वे फिर सामन्तों के साथ हो गये।

———

भारतीय सामंत और अंग्रेज

लार्ड विलेज़ली ने टीपू की शक्ति का नाश किया, हैदराबाद और अवध के राज्यों को अपनी छत्रछाया में कर लिया, तन्जोर, और कर्नाटक का शासन अपने हाथ में लिया, पेशवा को अंग्रेंजी सत्ता के अधीन किया और सिन्धिया से दिल्ली और मुगल सम्राट् छीन लिया। उसके इन कामों के बारे में पिट ने कहा था कि गवर्नर जेनरल ने "बहुत ही अदूरदर्शिता और गैरकानूनी ढंग से काम किया है और उसे हकूमत में रहने नहीं दिया जा सकता।"[१२८] भारत में अंग्रेजी राज का प्रसार करनेवालों में अन्यतम गवर्नर जेनरल के बारे में ब्रिटेन के अन्यतम राजनीतिज्ञ पिट ने यह मत प्रकट किया था।

सिन्ध को अंग्रेज़ी राज के लिये जीतने वाले सर चार्ल्स नेपियर ने अपनी डायरी में लिखा था, "हमें सिन्ध पर कब्जा करने का कोई अधिकार नहीं है, फिर भी हम कब्जा कर लेंगे और यह बहुत ही लाभदायी, उपयोगी और सहृदयतापूर्ण धूर्तता (Rascality) का काम होगा।....फिर भी मुझे अपनी वर्तमान स्थिति पसन्द नहीं है; हमें यहाँ आने का कोई अधिकार नहीं था, हम अपनी अफगान नीति से फिर कलंकित हुए हैं।"[१२९] दूसरों का राज हड़पने के लिये अंग्रेज़ कानून का दिखावा करते थे; जब कानून साथ न देता था तब प्रजा के हिमायती बनकर उसे सामन्ती उत्पीड़न से मुक्त करने के लिये "सहृदयतापूर्ण धूर्तता" पर उतर आते थे।

१९२२ में अंग्रेज़ इतिहासज्ञ एफ० डबल्यू० बकलर ने लिखा था कि "अठारह सौ सत्तावन में कोई बागी था तो वह ईस्ट इण्डिया कम्पनी थी।"[१३०] अंग्रेज़ों ने वास्तव में अपनी स्थिति एक सार्वभौम सत्ता की बना ली थी किन्तु इसके लिये उनके पास कोई कानूनी समर्थन न था। अंग्रेज न्यायशास्त्री अपने शासकवर्ग की न्यायप्रियता के गुण गाते नहीं अघाते। भारत पर उनका अधिकार किसी प्रकार भी न्यायपूर्ण नहीं ठहरता। उन्होंने जो सन्धियाँ, वादे, इकरारनामे यहाँ किये, उन्हें बराबर तोड़ा और गैरकानूनी, नाजायज और अन्यायपूर्ण तरीकों से यहाँ पर अपना राज कायम किया। १७५७ से १८५७ तक उन्होंने यहाँ अपनी सत्ता का प्रसार किया। सौ साल पहले डलहौजी अभी अनेक राज्यों

को अंग्रेजी शासन में मिला रहा था; उसके भारत से जाते ही बड़े पैमाने पर ऐसा भयानक विस्फोट हुआ कि एशिया में ब्रिटिश साम्राज्य की जड़ें हिल गईं। यहाँ की जनता के प्रतिरोध को कुचलने के बाद अंग्रेज यहाँ सौ साल भी राज न कर पाये। भारत के और सभी राज्यों-साम्राज्यों से अंग्रेजों की औपनिवेशिक सत्ता की आयु कम रही। इसका कारण विश्वमानवता का तेजी से बढ़ता हुआ मानव-संग्राम है, भारतीय जनता की अप्रतिहत वीरता है, साथ ही अन्य सभी राज्यों-साम्राज्यों से अंग्रेजो राज का अधिक अन्यायपूर्ण और बर्बरतापुर्ण होना भी है। इस अन्यायपूर्ण राज की जड़ जमाने में यहाँ के सामन्तों ने प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से सहायता की। सामन्तवर्ग ने अधिकतर अपने स्वार्थों को देश और जनता के स्वार्थो से ऊपर रखा। जब उनके पास धन था, सैन्यबल था, जनशक्ति भी थी, उन्होंने एक होकर अंग्रेजी राज का सामना करने का सफल प्रयत्न नहीं किया। उनमें से अधिकांश ने अंग्रेजों को अपना राज सौंप कर विदेशियों की दी हुई—अपनी ही जनता से लूटी हुई —पेंशन पाने में अपना गौरव समझा। उन्होंने १८५७ में अंग्रेजी राज की सहायता के लिये जो कुछ किया, वह उससे पहले के सौ वर्षों में उनकी भूमिका के अनुकूल ही था। आपस में लड़ना और एक शक्तिशाली सामन्त द्वारा दूसरों का राज्य जीत कर उसे अपने अधीन करना सामन्तवाद का साधारण चलन है जिससे पूंजीवाद मुक्त नहीं है। किन्तु आपस में लड़ने के साथ इनमें कोई ऐसी शक्तिशाली सामन्ती सत्ता का निर्माण नहीं हुआ जो प्रजा के दुख-सुख का सीमित ध्यान रखते हुए विदेशी सत्ता के विरुद्ध जबर्दस्त मोर्चा बनाता। इसका कारण सामन्तों की व्यक्तिगत कमजोरी न थी। व्यापार के प्रसार और बड़ी-बड़ी मंडियाँ कायम होने के बाद यहाँ का सामन्तवाद अपनी ऐतिहासिक भूमिका पूरी कर चुका था। उसका काम था, अभ्युदयशील पूँजीवादी शक्तियों के लिये जगह खाली करना। यह काम न करके उसने अपनी जगह अंग्रेजों को सौंप दी।

इसका यह अर्थ नहीं है कि भारतीय सामंतवाद प्रतिक्रियावादी था, अंग्रेज़ी राज प्रगतिशील था, इसलिये अंग्रेज़ों ने भारतीय सामन्तवाद को परास्त करके यहाँ पूंजीवादी शासन कायम किया और यह कार्य भारतीय समाज की प्रगति के हित में हुआ। भारतीय सामन्तवाद प्रति-

क्रियावादी था, यहाँ की अभ्युदयशील पूँजीवादी शक्तियों और जनता के नये विकास के संदर्भ में। जहाँ तक वह अंग्रेज़ी राज का विरोध करता था, वहाँ तक वह प्रगतिशील था और उसका यह विरोध यहाँ की सामाजिक प्रगति के हित में था। यह समझना भ्रम है कि अंग्रेज़ी राज कायम हुए बिना यहाँ का सामन्तवाद खत्म न होता या देर से खत्म होता। यदि सामन्तवाद के रहते हुए यहाँ के बने हुए जहाज यहाँ का सूती माल लेकर लंदन पहुँच सकते थे, यदि यहाँ समुद्री बीमे का चलन हो सकता था, लोहा ढालने और बारूद बनाने का कारबार हो सकता था, बड़ी-बड़ी फर्मों की शाखाएं अनेक बड़े-बड़े नगरों में खुल सकती थीं और इस तरह नये व्यापारी सम्बन्धों में देश को बाँध सकती थीं तो यह कल्पना करना ग़लत होगा कि अंग्रेज़ों के न आने से यह सिलसिला टूट जाता और देश की यह प्रगति रुक जाती। साथ ही हमारे सामने जापान की मिसाल है जो आर्थिक विकास में सौ साल पहले इस देश से आगे न था। वहाँ अंग्रेज़ों का राज कायम न हो सका, किन्तु पूँजीवादी विकास में वह एशिया ही नहीं, यूरोप के भी अनेक देशों से आगे बढ़ गया।

अंग्रेज़ों ने यहाँ जो राज कायम किया वह पूँजीवादी राज न था। उस राज के संचालक अभिजातवर्ग के प्रतिनिधि थे जिनके सगोतियों के विरुद्ध इंगलैण्ड के मज़दूर ही नहीं, वहाँ के उद्योगपति भी संघर्ष कर रहे थे। लेकिन ये संचालक यदि पूँजीपतियों के ही प्रतिनिधि होते तो भी, जैसा कि उन्होंने आगे किया, वे हिन्दुस्तान को खेतिहर उपनिवेश बना कर ही रखते। १९ वीं सदी के उत्तरार्द्ध में पूँजीवाद इंगलैण्ड में सत्तारूढ़ हुआ; उसके फलस्वरूप हिन्दुस्तान से जितना धन विलायत गया, उतना पहले कभी न गया था और न उस तरह पहले कभी लाखों की तादाद में असहाय नरनारी अकाल में तड़प-तड़प कर मरे थे। इस-लिये अंग्रेज़ी राज की तुलना में भारतीय सामन्तवाद दो दृष्टियों से अच्छा था: वह जनता के लिये अंग्रेजी राज से कम घातक था; इसके सिवा ब्रिटिश पूँजीवाद की अपेक्षा वह भारतीय पूंजीवाद के विकास में कम बाधक होता, यहाँ का पूंजीवाद अधिकतर अंग्रेजों की दलाली के भरोसे न रह कर अपनी सामन्तविरोधी भूमिका पूरी करता और आज अंग्रेजों के चले जाने के बाद भी इतने सामन्ती अवशेष न रहते। अंग्रेजी

राज ने इस देश को गुलाम बनाकर यहीं की प्रगति नहीं रोकी, यहाँ के धन-जन की शक्ति से लाभ उठाकर उसने एशिया और अफ्रीका को भी गुलाम बनाया। भारत में अंग्रेज़ी राज की सीमित देशगत भूमिका के अलावा उसकी विशाल विश्वगत प्रतिक्रियावादी भूमिका है। वैसे तो आजकल इजारेदार पूंजीवाद का चरम विकास अमरीका में हुआ है; उसकी प्रगतिशीलता के विचार से मिस्र, सीरिया आदि देशों पर उसका अधिकार होना चाहिये और नेटो सीटो की सैनिक सन्धियों में शामिल देशों को महान् प्रगतिशील राष्ट्र कहना चाहिये।

हिन्दुस्तान में वे सामन्त जो अंग्रेजों के विरुद्ध अपने स्वार्थों के लिये लड़े—१८५७ में लड़े और उससे पहले के सौ वर्षों में लड़े—वे निश्चित रूप से प्रगतिशील थे। ऐसा कौन सा वर्ग है जो अपने वर्ग-स्वार्थों के लिये नहीं लड़ता ? पूँजीपति आजादी के लिये लड़ते हैं तब क्या बाजार में अपना माल बेचने की बात भूल जाते हैं ? किसान अपनी भूमि के लिये लड़ते हुए क्या आजादी की लड़ाई को आगे नहीं बढ़ाते ? मजदूर भी जो मानव मात्र की मुक्ति के लिये समाजवादी संघर्ष करते हैं, क्या अपनी रोटी-रोजी और मजदूर-सभाई हकों के लिये नहीं लड़ते ? भारतीय सामन्तों ने जितने दिन अंग्रेजों को सत्ता कायम करने से रोका, उतने ही दिन उन्होंने लाखों नर-नारियों को दुर्भिक्ष और महामारी से अकाल ही मरने से बचाया। इनमें प्रतिक्रियावादी वे थे जिन्होंने प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से अंग्रेजों की सहायता की। यदि भारत में अंग्रेजी राज की स्थापना एक प्रगतिशील कार्य थी तो हैदराबाद के निजाम और अवध के नवाब सबसे प्रगतिशील व्यक्ति थे क्योंकि इनसे अधिक वफादार दोस्त अंग्रेजों को दूसरा नहीं मिला।

सामन्तवाद में देश का विघटन, राष्ट्रीय या जातीय चेतना का अभाव, एकता के प्रयत्नों की कमी—ये सब जानीमानी बातें हैं। इसलिये १८५७ से पहले यहाँ के सामंतों की ओर से एकता के जो भी प्रयत्न किये गये, देश को आपसी कलह से बचाकर उसकी शक्ति को अंग्रेजों के विरुद्ध मोड़ने के जो भी प्रयत्न हुए, वे विशेष प्रशंसनीय हैं। इनमें टीपू का नाम सबसे पहले उल्लेखनीय है। टीपू के बारे में इतिहासकार रौबर्ट्स ने लिखा है, "टीपू एक निर्दय और निरंकुश शासक था; लेकिन अंग्रेज़ों के प्रति उसकी घोर शत्रुता सुसंगत होने के कारण सम्मान्य है।

अपने पिता की तरह वह जानता था कि किसी भी देशी राज्य की तुलना में ग्रेट ब्रिटेन उसका शत्रु है और उसने कभी अपने पड़ोसियों के विरुद्ध अंग्रेजों के साथ मोर्चाबन्दी नहीं की।....यदि मराठे सर्दार आपसी भेद-भाव भुलाकर उसकी सी उद्देश्य की अखण्डता और सर्वजयी घृणा से काम लेते तो ब्रिटिश प्रभुत्व की अन्तिम प्रगति बहुत समय के लिये रुकी रहती।" [१३१] अन्य सामन्तों की तरह टीपू ने अंग्रेजों का पेंशनभोक्ता होना पसन्द नहीं किया। अंग्रेजों ने उसका आधा राज और बीस लाख पाउन्ड लेकर सन्धि करने का प्रस्ताव रखा लेकिन टीपू ने अपने नगर की रक्षा करते हुए प्राण दे दिये, उसने अंग्रेजों की अपमानजनक सन्धि के प्रस्ताव को ठुकरा दिया। अंग्रेज़ों ने तटस्थ पेशवा को जब टीपू के राज्य का एक अंश देना चाहा तो पेशवा ने इन्कार कर दिया। उसे स्वीकार करने का साहस वफादार निजाम ने ही दिखाया।

अंग्रेज़ी राज कायम होने के पहले यहाँ की प्रमुख शक्ति मराठा राज्य थी। पेशवा का राज्य निजाम और टीपू के राज्यों को छूता हुआ दक्षिण में फैला था। कठियावाड़ और गुजरात पर गायकवाड़ का शासन था। मालवे का दक्षिण-पश्चिमी भाग होलकर के अधिकार में था। सिन्धिया के पास उत्तर-पूर्वी मालवा, जमुना के पच्छिम का इलाका और उत्तरी दोआब था। बरार के राजा के अधिकार में नागपुर से लेकर समुद्रतट पर कटक तक का प्रदेश था। रौबर्ट्स के शब्दों में मराठों का राज्य देश के विशाल मध्य भाग में फैला था; गुजरात से लेकर उड़ीसा तक और उत्तर में पंजाब के सीमान्त से दक्षिण में निजाम के राज्य तक मराठा राज्य का विस्तार था। यह विस्तार देश की राजनीतिक एकता का साधारण चिन्ह न था। सामन्ती राज्यसत्ता में जातियों का परस्पर सम्बन्ध समानता और भाईचारे का नहीं रहता; न इस तरह समानता का सम्बन्ध पूंजीवाद की ही विशेषता है। जातीय विद्वेष और उत्पीड़न का विनाश समाजवाद की ही विशेषता है; पूंजीवादी देशों के लिये वह अपवाद है। अंग्रेज़ी राज से पहले भी एकता के जो प्रयत्न हुए, वे जातियों के समान अधिकारों की स्वीकृति के आधार पर नहीं वरन् एक राज्य द्वारा दूसरे राज्यों पर अधिकार करके हुए। ऐसा होना उस समय अनिवार्य था। जातीय विद्वेष बढ़ाने के लिये अंग्रेज़ों ने मराठा सामन्तों के युद्धों को उच्छृंखलता और अराजकता का प्रतीक बतलाया

और अपने युद्धों को इस अराजकता को दूर करने वाला कहा। महादजी सिंधिया ने शाह आलम को जब इलाहाबाद से लाकर दिल्ली की गद्दी पर बिठाया, तब पेशवा को उन्होंने सम्राट् का वकीले मुतलक घोषित कराया और अपने को पेशवा का नायब कहा। मुगल-साम्राज्य के समय देश की एकता का भाव लोगों के मन में बस गया था; इस एकता का प्रतीक दिल्ली-स्थित सम्राट् था। इस सत्य को अंग्रेज अच्छी तरह समझते थे; इसीलिये बहुत दिनों तक उन्होंने अपने को मुगल सम्राट् की प्रजा के रूप में ही पेश किया था। नाना फड़निस और महादजी सिंधिया ने मराठा राज्य की एकता कायम रख कर निःसन्देह अंग्रेजी राज की जड़ जमने में विलंब कराया। प्रथम मराठा युद्ध में इन दोनों राजनीतिज्ञों के संयुक्त प्रयत्नों से अंग्रेज पराजित हुए। इतिहासकार श्री सरदेसाई के अनुसार "नाना और महादजी ने मिलकर काम न किया होता और अंग्रेजों के विरुद्ध इस लड़ाई में अपनी सारी शक्ति न लगा दी होती तो इस अवसर पर मराठा शक्ति का नाश होजाता।"[१३२] मराठा कूटनीति पर अपने थीसिस में डॉ० शान्तिप्रसाद वर्मा ने लिखा है, "युद्ध और शान्ति में अपने भरपूर प्रयत्नों से नाना फड़निस और महादजी ने अपने राज्य से अंग्रेज़ी आक्रमण के उठते हुए ज्वार को ठेल कर और अपने साथियों को फिर प्राप्त करके बीस साल के लिये मराठा साम्राज्य को बचा लिया।"[१३३] महादजी अपने अनुभव से उसी नतीजे पर पहुँचे जिस पर वीर टीपू पहुँचा था। राबर्ट्स ने एकता के लिये महादजी के प्रयत्नों के बारे में लिखा है, "उन्होंने पेशवा को समझा दिया कि मैसूर के विरुद्ध पिछली लड़ाई में अंग्रेजों का समर्थन करके भारी गलती हुई है और उन्होंने टीपू से अधिक निकट संबन्ध स्थापित करने पर जोर दिया।"[१३४] श्री वृन्दावनलाल वर्मा ने महादजी सिंधिया पर अपने रोचक उपन्यास की भूमिका में भारत में फ्रांसीसियों के संघर्ष पर मैलीसन की पुस्तक से यह उद्धरण दिया है, "माधव का महान् स्वप्न यह था कि अंग्रेजों के विरुद्ध भारत के तमाम देशी राज्यों को एक विशाल संघ में एक करें। इस दृष्टि से भारत ने उनसे बड़ा राजनीतिज्ञ उत्पन्न नहीं किया। यह एक महान् विचार था जिसे माधवजी और केवल माधव जी कार्य-रूप में परिणत कर सकते थे औरउनकी मृत्यु न हुई होती तो वह कार्यरूप में परिणत हो जाता।"

इस बारे में कोई भी सन्देह नहीं रह जाता कि भारत में एकता के प्रयत्न जारी थे और उनके सफल होने की सम्भावनाएँ भी थीं। इस एकता में सबसे बड़ी बाधक शक्ति अंग्रेज़ थे जो स्वाधीन भारत की एकता का नाश करके उसके भीतर की सामन्ती शक्तियों को लड़ाकर और बाद में जातीय और साम्प्रदायिक विद्वेष फैलाकर अपना साम्राज्य कायम रखना चाहते थे। १७६४ में महादजी की मृत्यु हुई और १८०० में नाना फड़निस का भी निधन हो गया। इसके बाद दौलत राव सिंधिया और जसवन्त राव होलकर ने प्रभुत्व के लिये जो युद्ध किया और १८०२ में पेशवा बाजीराव द्वितीय ने अंग्रेज़ों से जो सहायता मांगी, उससे भारतीय राजनीति में नाना फड़निस का महत्व और भी स्पष्ट हो जाता है। मराठा राज्य को विघटन से बचाने वाले वह प्रमुख राजनीतिज्ञ थे। डलहौजी ने सिख सर्दारों की शिकायत करते हुए डायरेक्टरों को लिखा था, "अंग्रेज़ों के विरुद्ध खुद ही लड़ने से सन्तुष्ट न होकर सिखों ने दूसरे राज्यों और राजाओं को हम पर आक्रमण करने के लिये समझाने-बुझाने का प्रयत्न किया है। सरकार के पास ऐसे बहुत से पत्र हैं जिन्हें सिख सर्दारों ने पड़ोसी राज्यों, मुसलमान, हिन्दू और सिख राज्यों के नाम लिखा है और उनसे सहायता देने के लिये जोरदार प्रार्थना की है। हर पत्र की टेक यही है कि अंग्रेज़ों का नाश करना और उन्हें निकालना आवश्यक है।"[१३५] टीपू सुलतान, महादजी सिन्धिया, सिख सर्दार—सुदूर दक्षिण से लेकर उत्तर तक—भारत में ऐसे देशभक्त सामन्त थे जो अंग्रेज़ों को निकालना और इसके लिये सम्मिलित प्रयत्न करना आवश्यक समझते थे। १८५७ में जब दिल्ली से सहायता के लिये विभिन्न राजाओं को पत्र लिखे गये, तब वह कोई नया काम न था; पुराने प्रयत्नों की परम्परा में वह एक नयी कड़ी भर था। इसलिये सामन्ती अराजकता की उचित और तीव्र आलोचना करने के बाद उन सामन्तों की प्रशंसा करना भी आवश्यक है जिन्होंने अंग्रेजों की बढ़ती ताक़त के खतरे को पहचाना और एक होकर उसका मुकाबला करने का प्रयत्न किया।

पेशवा ने जिस घड़ी अंग्रेज़ों की सहायता लेना स्वीकार किया, उस घड़ी मराठा राज्य का पतन निश्चित हो गया। अंग्रेज़ों ने दिल्ली पर अधिकार कर लिया; साम्राज्य की एकता का प्रतीक मराठों के हाथ से

निकल गया। कुछ वर्षों के बाद पेशवा का राज्य अंग्रेज़ी झण्डे के नीचे आ गया; नागपुर का राजा ब्रिटिश संरक्षण में आया और राजस्थान की रियासतों ने भी अंग्रेजों को अपना संरक्षक स्वीकार किया। १८४१ में शेरसिंह ने अंग्रेजों से सहायता माँगी कि वे सेना से उसकी रक्षा करें। चार साल बाद अंग्रेजों ने पंजाब पर अधिकार करने के लिये युद्ध आरम्भ कर दिया। सिख नेताओं के बारे में रौबर्ट्स ने लिखा है, "नेता आधे मन से लड़ रहे थे अथवा विश्वासघाती भी थे जो जीत से शायद उतना ही डरते थे जितना हार से।"[१३६] हार जाने के बाद, उसी लेखक के अनुसार "खालसा फौज के अवशेष क्षुब्ध होकर देखते रहे; उन्हें अब भी विश्वास नहीं था कि वे अंग्रेजी फौज से घटकर हैं। वे अपनी पिछली हार का कारण नेताओं का विश्वासघात समझते थे।"[१३७] सन् सत्तावन में भी यह दृश्य बारबार देखने को मिला कि सैनिक वीरता से लड़ते हैं किन्तु सामन्त आधे मन से लड़ते हैं या दग़ा करके अंग्रेज़ों से मिल जाते हैं। १८४९ में अंग्रेजोंने पँजाब को अपने राज्य में मिला लिया। महाराज दिलीपसिंह को पांच लाख सालाना की पेंशन दे दी गई।

१७९८ में अंग्रेजों ने निजाम से फ्रांसीसी अफ़सरों द्वारा शिक्षित सेना को भङ्ग करा दिया और चौबीस लाख से ऊपर सालाना रकम पर अपनी फौज उसके यहाँ रखवाई। टीपू की पराजय के बाद निजाम ने उसमें हिस्सा बँटाया। १८०० में निजाम ने टीपू के राज्य का यह भाग अंग्रेजों को दे दिया, इस शर्त पर कि वे उसकी रक्षा करते रहेंगे। पामर एण्ड कम्पनी नाम की अंग्रेजी फर्म ने सूद पर लाखों रुपये देकर निजाम से खूब मुनाफ़ा कमाया और हैदराबाद की जनता को लूटा। इस पर भी निजाम पर कर्ज़ का बोझ बढ़ता गया। १८५१ में कर्ज चुकाने के नाम पर ३६ लाख रुपये सालाना मालगुजारी का प्रदेश अंग्रेजों को दे देना पड़ा। अंग्रेज महाजन जमींदारी के साथ सूदखोरी का काम भी करते थे। सूद पर रुपये देकर जमीन हथियाना महाजनों का पुराना नुस्खा है; उसी नुस्खे पर अंग्रेज भी अमल कर रहे थे। दो साल बाद कर्ज अदा करने के नाम पर ही निजाम ने अंग्रेजों को बरार का प्रदेश सौंप दिया। इस तरह अंग्रेजों ने जिसे अपने संरक्षण में लिया, उस पर कर्ज का बोझ बढ़ता गया और वे उसकी रियासत को

अप्रत्यक्ष रूप से लूटने के अलावा समय-समय पर उसके बड़े-बड़े भाग प्रत्यक्ष रूप से भी अपने राज्य में मिलाते रहे। इस संरक्षण में फलने-फूलने वाले सामन्त नाममात्र को ही सामन्त रह गये थे; वे अपने अस्तित्व के लिये भी अंग्रेजों की कृपा के भिखारी थे।

१८०१ में कर्नाटक के नवाब के मरने के बाद उसके लड़के ने अंग्रेजों की अपमानजनक शर्तों पर राज करने से इन्कार कर दिया। इस पर अंग्रेजों ने उसके भतीजे को गद्दी पर बिठाया और रियासत का वास्तविक शासन अपने हाथ में कर लिया। १८५५ में अंग्रेज़ों ने नवाबी के उम्मीदवार को ढाई हजार साल का भत्ता देकर रियासत को अंग्रेजी राज में मिला लिया। तंजोर के राजा के यहाँ पहले अंग्रेज़ी फौज रखने की सन्धि हुई; उसके बाद राजा ने किला, मालगुजारी का कुछ हिस्सा और कुछ लाख रुपये सालाना की आमदनी कबूल करके रियासत अंग्रेजों को सौंप दी। अंग्रेज अपने को बड़े जमींदारों का कारिन्दा बना रहे थे जो रियासत का प्रबन्ध अपने हाथ में लेकर जमींदार को ऐश के लिये रुपये जुटाते रहते हैं और फिर रियासत के मालिक खुद बन बैठते हैं। १८५५ में राजा उत्तराधिकारी छोड़े बिना मर गया और तंजौर राज्य का भी अन्त हो गया।

दक्षिण में अंग्रेजों ने अपने राज्य-प्रसार के लिये कर्नाटक और हैदराबाद को आधार बनाया, पूर्व में बंगाल उनकी कार्यवाही का आधार था, वैसे ही उत्तर में उन्होंने अवध को अपना मित्र बनाकर सारे भारत में राज्य का प्रसार करने और उसकी नींव को सुदृढ़ करने के लिये इस समृद्ध प्रदेश का उपयोग किया। अवध के नवाब आसफुद्दौला ने अपनी माँ और दादी से रुपये वसूल करके अंग्रेजों का कर्ज पाटा। आसफुद्दौला के मरने पर उसके भाई और गोद लिये हुए लड़के में गद्दी के लिये झगड़ा हुआ। अंग्रेजों ने गोद लिये हुए लड़के को गद्दी पर बिठाया। बाद को उसके व्यवहार से अप्रसन्न होकर और उसे वैध सन्तान न मानकर अंग्रेजों ने उसे बनारस भेज दिया। आसफुद्दौला को गद्दी मिली; उसने दस हजार सेना रखना मंजूर किया और अंग्रेजों को इलाहाबाद का किला दे दिया। वैधानिक रूप से अवध १८५६ में अंग्रेज़ी राज में मिलाया गया लेकिन कौन वहाँ का नवाब हो और कौन गद्दी से उतर कर बनारस जाय, इसका फैसला अंग्रेज १७९८ में

ही करने लगे थे। आसफुद्दौला के दत्तक पुत्र वजीर अली को बनारस भेजकर अंग्रेजों ने मानों वाजिदअली शाह के लिये उधर जाने का रास्ता साफ कर दिया था। १८०० में अवध के नवाब ने अपनी सेना भङ्ग करके अंग्रेजी फौज रखना स्वीकार किया। अगले साल फौज का खर्च देने के लिये नवाब ने दोआब और रुहेलखण्ड का कुछ प्रदेश अंग्रेजों के हवाले किया। १७३१ में बेंटिक ने नवाब को धमकी दी कि वह शासन में सुधार न करेगा तो उसे पेंशन देकर गद्दी से हटा दिया जायगा और अंग्रेज शासन अपने हाथ में ले लेंगे। १८५१ में स्लीमैन ने अवध के शासन पर अपनी रिपोर्ट तैयार की और अंग्रेज हुकूमत को सलाह दी कि वह अवध को अंग्रेजी राज में मिला ले। डलहौजी के आलोचकों का कहना था कि स्लीमैन ने अवध-भ्रमण के पहले ही तै कर लिया था कि रिपोर्ट का निष्कर्ष क्या होगा।[१३८] अवध के वफादार नवाबों से की हुई सन्धियों का जरा भी ध्यान कानून-प्रेमी अंग्रेजों को न रहा। उस पर तुर्रा यह कि उन्होंने अवध के नवाब वजीर को दिल्ली की बादशाहत से आजाद करके एक दूसरा बादशाह बना दिया था! अब वह न बादशाह रहा, न नवाब रहा। वाजिदअली शाह को चुपचाप मटियाबुर्ज़ (कलकत्ता) की राह लेनी पड़ी। नवाब वाजिदअली शाह ने नवाबी के अन्त समय में एक ही अच्छा काम किया जो अंग्रेजों की पेंशन लेकर उन्हें राज्य देना मन्जूर न किया। इससे अंग्रेजों की वैधानिकता को थोड़ा धक्का जरूर लगा। यद्यपि अवध के नवाब को कुशासन के अपराध पर गद्दी से उतारा गया था किन्तु इतिहासकार के ने लिखा है, "अवध के शासकों में, वे चाहे वजीर हों चाहे बादशाह, अत्याचारी शासक बनने की शक्ति ही नहीं थी।"[१३९] आउट्रम ने जब सन्धि के कागज पेश किये तो नवाब वाजिदअली शाह ने रेजीडेंट के हाथ में अपनी पगड़ी रखदी और इंगलैण्ड के तख्त के सामने अपना दुख कहने का विचार किया। लेकिन नवाब ने कहा, संधि बराबर के लोगों के बीच होती है; अंग्रेज़ों ने मुल्क लिया, इज्जत ली; अपना पेट भरने के लिये वह अंग्रेज़ों की पेंशन मंजूर न करेंगे। उस समय अंग्रेज़ों से इतना कह सकने वाले ग़ैरतमन्द नवाब भी इस देश में बहुत कम थे। अवध अंग्रेज़ी राज में मिला लिया गया "और अवध की जनता ने चींचपड़ किये बिना अपने नये मालिकों को मन्जूर कर लिया।"[१४०] अवध की जनता ने किस

भाव से यह परिवर्तन देखा और किस भाव से क्रमशः अवध पर अंग्रेजों के बढ़ते हुए अधिकार को देखती रही थी, यह शीघ्र ही अंग्रेजों को बहुत अच्छी तरह मालूम हो गया।

अंग्रेज़ों की हिम्मत खुल गई थी। एक के बाद दूसरे नवाब या राजा को गद्दी से उतार कर या उसे पेंशन देकर या वारिस न होने का बहाना करके वे बड़ी-बड़ी रियासतों पर अधिकार करते चले जाते थे। नेपाल और अफगानिस्तान तक में उन्होंने अपने वफादार दोस्त बना रखे थे। उन्हें बाहर से हमले का डर न था; यहाँ के सामन्तों की शक्ति को सौ साल में वे कूटनीति और युद्धों से नष्ट कर चुके थे। सिख सर्दार, सिन्धिया और होलकर, निजाम और दिल्ली का सम्राट् उनके संरक्षण में थे। वैधानिक रूप से नहीं किन्तु वास्तव में अंग्रेज़ों ने अपना सार्वभौम प्रभुत्व कायम कर लिया था। वे सामन्त जो अंग्रेज़ों की कूटनीति समझते थे, जो उन्हें देश के लिये सबसे बड़ा खतरा समझकर उनके विरुद्ध यहाँ की शक्तियों को एक करके स्वधीनता के लिये लड़ने का प्रयत्न करते थे, भारतीय रंगमंच से विदा हो चुके थे। सामन्तवर्ग के छोटे सर्दारों आदि में लड़ने, मर मिटने की आन बहुत कुछ अब भी थी किन्तु चक्रवर्ती लोग देश की रक्षा करने में पूरी तरह असमर्थ सिद्ध हो चुके थे। अंग्रेज़ अब उनकी भावनाओं की पर्वाह न करके उन्हें अपमानित करने का हौसला रखते थे। नागपुर के राज्य को अंग्रेज़ी राज में मिलाने के बाद अंग्रेज़ों ने राजपरिवार के जवाहरात और महल की सजावट का सामान बाज़ार में नीलाम कराया। लखनऊ की प्रसिद्ध इमारत छतर मंजिल में शाही खानदान के लोग रहते थे, वहाँ अंग्रेज़ रेजीडेंट कवरले जैकसन ने डेरा जमाया। इस पर जनता में इतना असंतोष फैला कि उसे महल से बाहर निकलना पड़ा। मुसलमान कदम रसूल नाम की इमारत को बहुत पाक समझते थें। उनका विश्वास था कि उसमें एक पत्थर है जिस पर मोहम्मद साहब के पैर का निशान है। अंग्रेज़ों ने यहाँ अपने हथियार जमा करने का गोदाम बनाया।[१४१] कई पुरानी इमारतों को अंग्रेज़ों ने अपने जंगलीपन से तोड़कर गिरा दिया।[१४२]

डलहौजी ने भारत से वापस जाने के पहले अपना वक्तव्य तैयार किया

जिसमें उसने यहाँ की स्थिति का पर्यवेक्षण किया । नेपाल के राजा ने बराबर सन्धि की शर्तों का पालन किया था । नेपाल के मंत्री ने यूरोप जाकर अपनी आँखों से अंग्रेजों का वैभव देख लिया था, इसलिये उधर से आक्रमण की कोई भी आशंका न थी । कश्मीर के राजा गुलाबसिंह के बारे में डलहौजी ने लिखा कि "वजीराबाद के दर्बार में हृदय के सच्चे भाव प्रदर्शित करते हुए उसने दोनों हाथों से मेरे कपड़े पकड़कर जोर से कहा, "इस तरह मैंने अंग्रेज़ सरकार का दामन पकड़ा है और मैं उसे छोड़ूँगा नहीं' ।"[१४३] पंजाब के सिपाहियों ने अंग्रेज़ों से लड़ते हुए कश्मीर में इस आशा से शरण ली थी कि देशी राजा उनके प्राणों की रक्षा करेगा । उन्हें यह न मालूम था कि ये देशी नरेश अंग्रेज़ों के दामन के सहारे तख्त पर बैठे थे । जैसे कुछ लोगों का विचार है कि समाजवाद की ओर शान्तिपूर्ण संक्रमण सम्भव है, वैसे ही डलहौजी को विश्वास हो चला था कि देशी सत्ता से अंग्रेज़ी सत्ता की ओर शान्तिपूर्ण संक्रमण हो रहा है । नागपुर राज्य के बारे में डलहौजी ने प्रसन्न होकर लिखा, "एक सीधे से हुक्म पर राज्य ब्रिटिश ताज के अधिकार में आ गया । उस सूबे में एक भी और सिपाही नहीं भेजा गया । हर जिले में हमारा नागरिक शासन चालू कर दिया गया है । फौज के जितने हिस्से की जरूरत थी, वह हमारे वेतन पर अनुशासित और प्रस्तुत कर दी गई है । बाकी को पेंशन दे दी गई है या अच्छी रकम देकर अलग कर दिया गया है । चारों ओर पूर्ण सन्तोष और शान्ति है । महल के बाहर चूं की आवाज भी नहीं सुनाई दी और तमाम जिलों में एक जगह भी शान्ति भंग नहीं हुई ।" निजाम से डलहौजी ने जो प्रदेश पाया था, उसमें कपास खूब होती थी; इससे उसे आशा थी कि इंगलैण्ड के उद्योगपति प्रसन्न होंगे । इससे भी अधिक प्रसन्नता उसे इस बात से थी कि वहाँ के किलों में अरब और रुहिल्ले सिपाही थे जिन्होंने एक भी गोली दागे बिना शान्तिपूर्वक और तुरत किले अंग्रेज़ों के हवाले कर दिये । अवध के शान्तिपूर्ण अधिकार पर डलहौजी ने लिखा : "अभी तक विरोध का कोई प्रयत्न नहीं हुआ; कहीं भी शान्तिभंग नहीं हुई । बादशाह के सैनिक सन्तोष के साथ वेतन लेकर हमारी नौकरी कर रहे हैं और कम से कम अभी तक किसी जमींदार या सर्दार ने हमारा अधिकार मानने में उज्र नहीं किया ।"

दिल्ली के बारे में डलहौजी ने डायरेक्टरों को लिखा था कि बहादुरशाह का उत्तराधिकारी मर चुका है और अब किसी दूसरे को वारिस न माना जाय। इस पर डायरेक्टरों ने कुछ अनिच्छा से यह अनुमति दे दी थी कि वर्तमान बादशाह के मरने पर तैमूर का वंश खत्म कर दिया जाय। डायरेक्टरों की अनिच्छा को देखते हुए डलहौजी ने, अपने कथनानुसार, उस अधिकार का उपयोग नहीं किया। वास्तव में उसे जनता की प्रतिक्रिया का भय था। उसने बादशाह के नाती को उत्तराधिकारी के रूप में इस शर्त पर स्वीकार किया कि वह दिल्ली का महल छोड़कर कुतुब में जाकर रहे, अब वह गवर्नर जनरल से बराबरी का व्यवहार करे। इस शर्त का कारण यह था कि गवर्नर जनरल अभी तक वैधानिक दृष्टि से मुगल सम्राट् की प्रजा था; बादशाह के साथ उसे बराबरी का व्यवहार करने का अधिकार न था। १८५७ की राज्यक्रान्ति में ऐसे लोग थे जो यह मानते थे कि अंग्रेज हमलावर हैं और उन्हें यहाँ राज करने का कोई अधिकार नहीं है। गोरखपुर के नाजिम मुहम्मद हसन ने खैरुद्दीन के पत्र का उत्तर देते हुए यह तथ्य बहुत स्पष्ट शब्दों में प्रकट किया था, "अवध के बादशाह और अंग्रेज़ सरकार, इन दो बड़ी ताकतों के बीच जो आपसी इकरारनामे और संधियाँ हुई हैं, उन्हें सारी दुनिया जानती है। इनके अनुसार अंग्रेजों को अवध में पैर जमाने का कोई अधिकार नहीं था।......हम अवध के बादशाह के अधीन रहने वाले लोग और उनके सेवक लोक परलोक में अपनी भलाई इसीमें समझते हैं कि पूरी लगन से सल्तनत की रक्षा करें और जो हमलावर उसमें पैर जमाना चाहते हैं, उनकी कोशिशों का विरोध करें। हम यह नहीं करते तो हम दगाबाज साबित होंगे और लोक-परलोक दोनों में हमारा मुँह काला होगा।"[१४४] अंग्रेज़ों ने अपने वादों और सन्धियों को तोड़कर अन्याय से यहाँ अपने पैर जमाये हैं, यह सत्य लोगों से छिपा न था। जब बड़े सामन्तों ने हथियार डाल दिये और अंग्रेजों का पेंशनभोगी बनना पसन्द किया, तब देशी राज्य की प्रभुसत्ता के लिए छोटे सामन्तों और जनता ने संघर्ष किया।

अंग्रेज शान्तिपूर्ण संक्रमण से प्रसन्न थे; साथ ही उन्हें भय और आशङ्का भी थी कि जनता विद्रोह न कर बैठे। उन्होंने यहाँ के अनेक राज्य ही न हड़प लिये थें वरन् जो तथाकथित स्वाधीन राज्य बचे थें,

वहाँ अपनी फौज भी कायम कर रखी थी। इस तरह ग्वालियर, जोधपुर आदि स्थानों में ब्रिटिश पल्टनें मौजूद थीं जिनका लक्ष्य इन राज्यों को ब्रिटिश छत्रछाया में बनाये रखना था। डलहौजी ने डायरेक्टरों को सूचित किया था कि उसके शासनकाल में नये-नये राज्य मिलाने से अंग्रेजी राज की आमदनी चालीस लाख पाउंड बढ़ गई है। फिर भी उसे भय था कि इस शान्तिपूर्ण लूट में बिघ्न पड़ सकते हैं। इसलिए उसने यह भी लिखा था, "कोई भी बुद्धिमान आदमी, जिसे पूर्व के मामलों की थोड़ी भी जानकारी है, यह कहने का साहस न करेगा कि हमारे पूर्वी राज्य में बराबर शान्ति बनी रहेगी। बारबार के, कठोर और हाल के अनुभव ने हमें सिखा दिया है कि हमारे विरुद्ध कभी भी बाहर से लड़ाई छिड़ सकती है या भीतर से विद्रोह फूट पड़ सकता है और ये युद्ध और विद्रोह ऐसे लोग शुरू कर सकते हैं जिनसे हम इनकी कम से कम आशा करते हैं, जो युद्ध और विद्रोह के लिए बहुत ही कमजोर समझे जाते हैं और जिनसे लड़ाई की कल्पना नहीं की जाती। इस लिए कोई भी व्यक्ति बुद्धिमानी से इस बात का आश्वासन नहीं दे सकता कि हिन्दुस्तान में बराबर शान्ति बनी रहेगी।"[१४५]

डलहौजी को किन कमजोर लोगों से भय था? कौन लोग थे जिनसे लड़ाई की कल्पना न की जा सकती थी लेकिन फिर भी जो लड़ने पर आमादा हो सकते थें? निस्सन्देह वह जानता था कि सभी लोग गुलाबसिंह की तरह अंग्रेजी राज का दामन पकड़ने को तैयार नहीं हैं। यहाँ पर बड़े सामन्तों के अलावा और लोग भी हैं, शहरों और गावों के साधारण लोग हैं जो अंग्रेजी राज को अन्यायपूर्ण समझते हैं। ये लोग कमजोर हैं, फिर भी लड़ सकते है। साथ ही उसे अपनी हिन्दुस्तानी सेना पर भी पूरा विश्वास नहीं था। डलहौजी ने ब्रिटिश मंत्रिमण्डल को जोर देकर लिखा था कि भारत में और ज्यादा गोरी सेना भेजनी चाहिये।[१४५] स्लीमैन ने अवध पर अधिकार करने की सलाह दी थी लेकिन उसे देशी राज्यों का महत्व भी मालूम था। अच्छा हो, ऊपर से राज्य स्वतन्त्र रहें; वास्तव में राजा लोग अंग्रेजों के हाथ की कठपुतली बने रहें। उसे भय था कि ये सब रियासतें खत्म हो जायँगी तो अंग्रेजों को अपनी देशी फौज का ही सहारा रह जायगा और सम्भव है कि उस पर उनका नियंत्रण न रहे।[१४६] स्लीमैन ने डलहौजी को एक पत्र में लिखा था कि

देशी फौज अंग्रेजों की निर्भरता पहचान सकती है और कुछ घटनाओं से आपसी एका करके कोई भयानक काण्ड कर सकती है।[१४७] टकर नाम के एक अधिकारी ने १८३२ में ही यह भय प्रकट किया था कि विद्रोह होने पर ताल्लुकदार हमारे विरुद्ध हो जायँगे और उनकी रैयत और उनके सिपाही भी उनके झंडे के नीचे एक हो जायँगे ।[१४७] अंग्रेज़ सेनापति नेपियर को विश्वास था कि सिपाही विद्रोह करेंगे और उसे पंजाब से फौज लेकर विद्रोह का दमन करने आना पड़ेगा।[१४८] डलहौजी को यह सुनकर आश्चर्य हुआ था कि नेपियर के अनुसार फौज में इतनी विद्रोह-भावना भर गई थी कि उसे अंग्रेज़ी राज संकट में दिखाई देने लगा था। [१४९] जब कैनिंग गवर्नर जनरल होकर भारत आने लगा, तब उसकी शान में लन्दन में एक दावत दी गई । उसमें पहली अगस्त १८५५ को कैनिंग ने कहा था, "हमें यह न भूलना चाहिये कि भारत के शान्त दिखने वाले आकाश में एक छोटा सा बादल उठ सकता है जो पहले मुट्ठी भर से बड़ा न हो लेकिन जो बढ़ते-बढ़ते ऐसी घटाओं का रूप ले ले जो बरस कर हमें तहस-नहस करने वाली बन जायँ।"[१५०] इस तरह पेशावर से लन्दन तक अग्रेजों को इस बात की आशंका बनी हुई थी कि उन्होंने सामन्तों को परास्त करके यहां जो शान्ति स्थापित की है, वह असन्तोष के विस्फोट से अचानक भंग हो सकती है। क्या उन्हें अपने पेंशनभोगी सामन्तों से भय था? या उनसे भय था जिनकी पेंशन बन्द कर चुके थे ? या उन देशी राज्यों से भय था जिन्हें वे अपनी छत्रछाया में ले चुके थे ? उन्हें यह भय अपनी देशी सेना से था, यहाँ के छोटे सामन्तों, उनकी प्रजा किसानों और यहाँ की साधारण जनता से था। उनका यह भय निर्मूल नहीं था, यह आगे की घटनाओं ने ही नहीं सिद्ध कर दिया, डलहौजी के शब्दों में हाल के, बारबार के और कठोर अनुभव भी ने अंग्रेजों को सिखा दिया था कि सतह पर जो शान्ति दिखाई दे, वे उसका भरोसा न करें । इसका कारण यह था कि १६ वीं सदी के पूर्वार्द्ध में जब क्रमशः सामन्ती सत्ता खत्म हो रही थी, तब यहाँ की जनता ने और देशी सेना ने किसी न किसी रूप में अंग्रेजों के विरुद्ध अपना प्रतिरोध बराबर जारी रखा था।

भारतीय प्रतिरोध

भारतीय सामन्तों के अलावा अंग्रेज़ी राज के विरुद्ध यहाँ के किसान लड़े और उनकी लड़ाइयाँ अंग्रेजी राज कायम होने के आरम्भ से ही छिड़ गई थीं। इन लड़ाइयों का सम्बन्ध किसानों के सामन्ती शोषण से था जिसे अंग्रेजों की पुलिस और न्याय-व्यवस्था ने और तीव्र कर दिया था। इन संघर्षों ने बहुत जगह सशस्त्र संग्राम का रूप ले लिया और अंग्रेज उसे फौज के द्वारा ही दबा सके। इस तरह भारतीय प्रतिरोध आरम्भ से ही एक सीमा तक सामन्त-विरोधी भी था। मार्क्स ने भारतीय घटनाक्रम पर अपनी पुस्तक में इन किसान संघर्षों का उल्लेख किया था। मार्क्स के अनुसार क्लाइव ने कम्पनी के नौकरों को व्यापार करने की छूट दे दी थी; इसके फलस्वरूप "उन्होंने रैयत को बुरी तरह लूटा।" १७७२ में कम्पनी के कारनामों की जाँच करने के लिये जो कमीशन बना, उसने "व्यक्तिगत रूप से धन बटोरने के लिये जो धोखा-धड़ी, मारपीट, उत्पीड़न की व्यवस्था चलाई गई थी, उस सब का पर्दाफाश किया।" वारन हेस्टिंग्स के समय में कम्पनी के नौकरों ने "धन बटोरा था, मेहनत से नहीं, हिन्दुस्तानियों से रुपये खींचकर।" इसी तरह कर्नाटक में अंग्रेज महाजनों ने उस प्रदेश की जनता को तबाह कर दिया। "ये मुफ्तखोर बड़े जमींदार बन बैठे और उन्हें खूब धन बटोरने का अवसर मिला। उन्होंने रैयत को सताया। इन नये अंग्रेज जमींदारों ने देशी किसानों पर घोर अनैतिक अत्याचार किये। उन्होंने और नवाब ने सारे कर्नाटक को उजाड़ दिया।" मार्क्स ने अपनी इन टिप्पणियों द्वारा दिखलाया है कि अंग्रेजों ने यहाँ के जुलाहों और बुनकरों के अलावा किसानों पर भी भारी अत्याचार किये। ये अत्याचार सामन्ती किस्म के थे यद्यपि पुराने सामन्तों ने जनता को इस तरह न सताया था। इस उत्पीड़न के फलस्वरूप किसानों ने विद्रोह किये। ये विद्रोह अखिल भारतीय पैमाने पर या किसी समूचे प्रदेश में संगठित न थे। फिर भी कहीं कहीं उन्होंने काफी व्यापक रूप ले लिया था। मजदूरवर्ग का नेतृत्व कायम हुए बिना किसानों के संघर्ष अलग-अलग और बिखरे हुए होते हैं। इस दृष्टि से सन् सत्तावन के पहले यहाँ जो किसान-विद्रोह हुए, वे कम महत्वपूर्ण नहीं थे।

मार्क्स ने दिखलाया है कि अंग्रेजों की न्याय-व्यवस्था से बंगाल में "जनता की हालत न सुधरी; उल्टे हालत और गिर गई, जनता और भी सताई गई और समूची कर-व्यवस्था विश्रृङ्खल हो गई।" किसानों के असन्तोष का मूल कारण अंग्रेजों की कर-व्यवस्था थी। किसानों से मन-माना लगान और तरह-तरह के टैक्स वसूल किये गये। नतीजा यह कि "किसानों की 'सामान्य और व्यक्तिगत संपत्ति' की इस लूट का तात्कालिक फल था, अपने ऊपर लादे हुए टैक्स वसूल करने वाले जमींदारों के खिलाफ़ किसानों के विद्रोहों का ताँता।" १८ वीं सदी के अन्त में रंगपुर और बिष्णुपुर में किसान-विद्रोह हुए, मिदनापुर, ढाका आदि जिलों में भी भारी असन्तोष फैला। बंगाल के पड़ोस में उड़ीसा के जगन्नाथ धल ने किसानों के साथ अंग्रेजों के विरुद्ध छापेमार युद्ध चलया। अवध में जनता के असन्तोष ने व्यापक रूप लिया। कर्नल हैने ने अवध के नवाब के यहाँ नौकरी की। नवाब की छत्रछाया में अंग्रेज किस तरह यहाँ की जनता को लूटते थे, हैने के अत्याचार इसकी मिसाल थे। उसने गोरखपुर, बहराइच और बस्ती जिलों का शासन अपने हाथ में कर लिया। तीन साल में हैने ने जनता को लूटकर तीन लाख पाउन्ड कमाये। हैने के अनुसार घाघरा नदी के पूर्व के प्रदेश में जनता सशस्त्र विद्रोह कर उठी; उसके सिपाही भाग खड़े हुए, किले छिन गये, उसके हलकारों का खबरें ले जाना बन्द हो गया।[१५०] अफवाह यह थी कि वहू बेगम ने चेतसिंह से मिलकर अंग्रेजों का सफाया करने की योजना बनाई है। हेस्टिंग्स ने चेतसिंह पर पचास लाख रुपए का जुर्माना किया था और न दे पाने पर उन्हें कैद कर लिया। जनता ने विद्रोह कर दिया। श्री रमेश चन्द्र मजूमदार ने सन् सत्तावन के विद्रोह पर अपनी विख्यात पुस्तक में इस विद्रोह के बारे में लिखा है, "शीघ्र ही यह स्थानीय विद्रोह न रह गया। सारा प्रदेश विद्रोह कर बैठा और यह उथत-पुथल अवध और विहार में फैल गई।"[१५१]

अवध में वजीर अली का विद्रोह काफी शिक्षाप्रद है। यह किसानों का विद्रोह न था किन्तु अवध के सताये हुए किसान अंग्रेजी राज से लड़ने वाले वजीर अली कें साथ थे। वैध सन्तान न होने के सन्देह पर अंग्रजों ने वजीर अली को गद्दी से उतार दिया था। उसे पहले बनारस भेजा गया। वहाँ उसके रहने से खतरा दिखाई दिया तो अंग्रेजों

ने उसे कलकत्ते भेजना चाहा जिस पर उसने बग़ावत करदी । वजीर अली को अवध और विहार के अनेक जमींदारों का समर्थन प्राप्त था । श्री मजूमदार के अनुसार वज़ीरअली को अवध और अंग्रेजी राज के अनेक हिस्सों से काफी सहायता मिली । नवाब की फौज दमन करने के लिये भेजी गई तो काफी सैनिक वजीर अली से मिल गये । कई हजार आदमियों की फौज लेकर वजीरअली ने गोरखपुर में अग्रेजी व्यवस्था को विश्रृंखल कर दिया । वजीरअली ने काबुल के शाह और ढाका के नवाव से संपर्क स्थापित किया था । उसने दौलतराव सिन्धिया से गुप्त सन्धि कर ली थी और संभवतः टीपू सुल्तान से भी उसका संपर्क था । श्री मजूमदार ने इस विद्रोह के महत्व के बारे में लिखा है कि वह न तो स्थानीय था, न व्यक्तिगत था; उसका सम्बन्ध उस समय के अखिल-भारतीय षड़यंत्र से था । लगता है कि कुवँरसिंह, लक्ष्मीबाई, बहादुरशाह आदि के संघर्ष स्थानीय और व्यक्तिगत थे; वजीरअली का संघर्ष ही अखिल-भारतीय षड़यंत्र का एक रूप था । वास्तव में वजीर अली के संघर्ष में सन् ५७ के संघर्ष की अनेक विशेषताएँ विद्यमान थीं । अंग्रेज़ों द्वारा अपहृत अधिकारों वाला सामंत नेता था; किसानों और अनेक जमींदारों का समर्थन उसे प्राप्त था । नवाब की सेना का काफी हिस्सा उसे मिल गया था और एक हिन्दुस्तानी राजा ने ही बज़ीर अली को अन्त में अंग्रेज़ों के हवाले किया था । इससे सिद्ध हुआ कि जनता के विभिन्न असंतुष्ट अंगों के मिल जाने से कोई भी विद्रोह व्यापक होकर जातीय स्वाधीनता-संग्राम का रूप ले सकता था । श्री चौधरी ने इस विद्रोह के बारे में यह मत प्रकट किया है, "चेतसिह के विद्रोह की तरह वज़ीर अली के विद्रोह में भी राष्ट्रीय विद्रोह के सभी लक्षण विद्यमान थे । उसे भारी संख्या में हिन्दुओं और मुसलमानों दोनों का ही समर्थन प्राप्त था ।" [१५३] वजीर अली के विद्रोह से सिद्ध हो गया कि हिन्दुस्तान के लोग संगठन कर सकते थे और व्यक्तिगत स्वार्थों से ऊपर उठकर देश की स्वाधीनता के लिये लड़ सकते थे ।

दूसरे मराठा-युद्ध के बाद बुन्देलखण्ड के अनेक सामन्तों ने अंग्रेज़ों की अधीनता स्वीकार न करके उनसे युद्ध किया । अजयगढ़ और कालिंजर के किलेदारों ने भीषण युद्ध किया । अजयगढ़ के राजा ने पराजित होने के बाद अंग्रेज़ों से प्रार्थना की कि उन्हें तोप के मुँह से उड़ा

दिया जाय। उसके श्वसुर ने अपनी लड़की, राजा की माँ और बच्चों को मार डाला और अपने प्राण भी दे दिये जिससे उन्हें गुलामी का अपमान न सहना पड़े। बरेली में टैक्स और किसानों पर जुल्म के कारण भारी विद्रोह हुआ। इसमें जनता ने सशस्त्र होकर भाग लिया और विद्रोह में शाहजहाँपुर और रामपुर की जनता ने भी भाग लिया। मालगुजारी-विभाग में काम करने वाले डबल्यू.ऐच. टैंट ने इस विद्रोह के बारे में कहा था, "मैंने जनता को पूरी तरह सशस्त्र भारी समूहों में एकत्र होते और खुल्लमखुल्ला विद्रोह करते देखा।"[१५४] इस तरह १८१६ में बरेली की जनता ने अंग्रेज़ी फौज से सशस्त्र संघर्ष किया। हाथरस, अलीगढ़ आदि स्थानों में अनेक जमींदारों ने अंग्रेज़ों से टक्कर ली। इसके एक साल बाद लगान बढ़ाने और जमींदारियाँ बेचने से उड़ीसा में असंतोष बढ़ा। मराठों ने दस लाख पन्द्रह हजार रुपयों की मालगुजारी बांधी थी; अंग्रेज़ी बन्दोबस्त से यह रकम बढ़ कर ग्यारह लाख अस्सी हजार रुपये हो गई। इस पर उड़ीसा की जनता ने जिस तरह विद्रोह किया, उस पर श्री चौधरी ने लिखा है कि अनेक रूपों में वह १८५७-५८ में अंग्रेज़ों के विरुद्ध ताल्लुकदारों के नेतृत्व में लड़ने वाले अवध के किसानों के संघर्ष से मिलता-जुलता था।[१५५] अंग्रेज़ों के शोषण की यह विशेषता थी कि वे किसानों के साथ छोटे सामन्तों को भी तबाह कर रहे थे, इसलिये अनेक स्थानों में अंग्रेज़ों के विरुद्ध इन दोनों का संयुक्त मोर्चा बनना स्वाभाविक था। उड़ीसा के मंदिरों के पुजारियों तक ने घोषणा कर दी कि अंग्रेज़ी राज खत्म हो गया है और पुराने पुनीत राजवंश का स्वत्व फिर स्थापित हो गया है। अंग्रेज़ों ने मार्शल लॉ जारी करके जनता के सभी वर्गों के इस संयुक्त विद्रोह का दमन किया।

दक्षिण में आर्कट के नवाब ने तिन्नेवेली और कर्नाटक प्रान्त का प्रबन्ध अंग्रेज़ों को सौंप दिया तो वहाँ के पोलीगारों ने युद्ध किया। श्री चौधरी के अनुसार १८५७ के पहले ब्रिटिश फौज को किसी भी विद्रोह में इतनी क्षति न सहनी पड़ी थी। "कंपनी का सौभाग्य था कि उसने इन लोगों से १६ वीं सदी के आरम्भ ही में अपना हिसाब-किताब दुरुस्त कर लिया और उन्हें अपनी शासन-व्यवस्था में खपा लिया, वर्ना दक्षिण भारत सन् सत्तावन का दूसरा अवध होता।"[१५६] दक्षिण के

विभिन्न स्थानों में फूट पड़ने वाले इन विद्रोहों के बारे में श्री मजूमदार ने लिखा है, "ये सब एक ही संघर्ष के अंग थे जिसका उद्देश्य ब्रिटिश प्रभुत्व का नाश करना था। बहुत समय तक अपने देश और स्वाधीनता की रक्षा करने के लिये अंग्रेज़ लेखकों तक ने उनके साहसी और देशभक्ति-पूर्ण संघर्ष की भूरि-भूरि प्रशंसा की है।" [१५७] सन् सत्तावन के पहले देशभक्ति पूर्ण संघर्ष हुए, अंग्रेज लेखकों तक ने उनकी प्रशंसा की और इतिहासकार श्री मजूमदार ने भी उनके व्यापक क्षेत्र और उद्देश्य की प्रशंसा की है। सन् सत्तावन का संघर्ष ही किसी कारण वश देशभक्ति-पूर्ण न बन पाया !

१८०६ में त्रावणकोर के मंत्री वेलू थम्पी ने राज्य की स्वाधीनता के लिये जनता के युद्ध का नेतृत्व किया। इस युद्ध का कारण राज्य में ब्रिटिश फौज का रखना और उसका बेहद खर्च था। वेलू थम्पी के मृत शरीर को अंग्रेज़ों ने टिकटी पर प्रदर्शित किया जो सन् ५७-५८ में उनकी बर्बरताओं की पूर्व सूचना थी। वेलू थम्पी के बाद जो व्यक्ति दीवान बना, उसने भी अंग्रेज़ी प्रभुत्व खत्म करने की कोशिश की, इसलिये कर्नल मनरो स्वयं दीवान बन गया। देशी राज्यों को अधीन बनाने और उनके यहाँ फौज रखने की अंग्रेज़ी नीति के विरुद्ध मैसूर में विद्रोह हुआ। राजा के कुशासन से जनता में बहुत असन्तोष फैल गया था। अंग्रेज़ों ने अपनी फौज के द्वारा ही प्रजा के विद्रोह को दबाया। इस प्रकार सावन्तवाडी, खानदेश, गंजम, कोल्हापुर, सिल्हट, पर्लाकीमेंडी, विज़ागापटम, कच्छ, सीमान्त प्रदेश—लगभग हर जगह जहाँ अंग्रेज़ों के चरण पड़े, जनता ने विद्रोह और युद्धों से उनका स्वागत किया। इन संघर्षों में कभी किसान अकेले लड़े, कभी सामन्तों के साथ लड़े, कभी अंग्रेज़ों के हाथ बिके हुए अपने राजा के विरुद्ध लड़े। अक्सर इन संघर्षों का ध्येय जहाँ अंग्रेज़ों को निकालना होता था, वहाँ अंग्रेज़ी राज में बढ़ते हुए सामन्ती उत्पीड़न को खत्म करना भी उनका लक्ष्य होता था। जनता के विभिन्न वर्ग भिन्न-भिन्न अवसरों पर संघर्ष के विभिन्न रूपों में अंग्रेज़ी राज के विरुद्ध खड़े हुए। १८११ में बनारस के व्यापारियों और जनता ने हड़ताल करके अंग्रेज़ी टैक्स के प्रति विरोध प्रदर्शित किया। १८४४ में नमक पर कर लगने से सूरत की जनता और व्यापारियों ने हड़-ताल की। १८५२ में खानदेश के लोगों ने ज़मीन की पैमायश करने वाले

अधिकारियों का वहिष्कार किया । उन्होंने फौजी और अन्य कार्यों के लिये अपनी गाड़ियाँ देने से इन्कार कर दिया । कई जगह उन्होंने अपने नेता चुन कर अपनी जनतांत्रिक परम्परा का परिचय दिया। रंगपुर के विद्रोह के सिलसिले में श्री चौधरी ने लिखा है कि अनेक स्थानों के किसानों ने एकत्र होकर अपना नवाब स्वयं चुन लिया। [१५७]

श्री रमेशचन्द्र मजूमदार ने इन विद्रोहों को कई वर्गों में बाँटा है। पहली तरह के विद्रोह राजनीतिक उद्देश्यों से हुए । इनमें सबसे पहले व्यक्तिगत असन्तोष वाले विद्रोहों की चर्चा है। इन व्यक्तिगत कारणों वाले विद्रोहों में उन्होंने वज़ीर अली के विद्रोह को गिना है जिसके बारे में स्वयं लिखा है कि यह विद्रोह न तो स्थानीय था, न व्यक्तिगत था ! इसी वर्ग में उन्होंने उस विद्रोह की गिनती की है जिसे चेतसिंह ने शुरू किया था और जो श्री मजूमदार के अनुसार, अवध और बिहार में फैल गया। उन्होंने आर्थिक कारणों से फूटने वाले विद्रोहों को राजनीतिक विद्रोहों से अलग रखा है लेकिन आर्थिक कारणों से फूटने पर भी ये विद्रोह राजनीतिक रूप ले लेते थे जिनका उद्देश्य अंग्रेज़ी राज का खात्मा होता था, जैसे बरेली में। वहाबी आन्दोलन का उद्देश्य अंग्रेज़ी राज का उन्मूलन था । उसे उन्होंने उन विद्रोहों के अन्तर्गत रखा है जो धार्मिक अन्धविश्वासों से प्रेरित थे । इसी के अन्तर्गत उन्होंने बंगाल के संन्यासी विद्रोह को रखा है जिसे उन्हीं के अनुसार हिन्दू संन्यासियों और मुसलमान फकीरों ने शुरू किया था और जो भूखे किसानों, ज़मीन खोने वाले जमींदारों और फौज से अलग किये हुए सिपाहियों के समर्थन से शक्तिशाली बना था । कोल, खसी, सन्थाल आदि अर्द्ध आदिम व्यवस्था में रहने वाली जातियों के संघर्षों को उन्होंने "आदिम कबीलाई प्रेरणा" (primitive tribal instincts) के अन्तर्गत रखा है ! इस सब का परिणाम यह है कि अंग्रेज़ी राज की स्थापना के साथ-साथ भारतीय जनता ने पग-पग पर जो उसका प्रतिरोध किया, उसकी सही तस्वीर पाठक के सामने नहीं आती ।

इन संघर्षों की एक विशेषता यह भी थी कि उनमें सामन्ती भारत के अलावा अर्द्ध-सामन्ती अथवा प्राक् सामन्ती भारत ने भी हिस्सा लिया था। १८३१-३२ के कोलसं-घर्ष के बारे में श्री मजूमदार ने लिखा है कि इससे पता चलता था कि सदियों से चली आती स्वाधीनता

का नाश करने के प्रयत्नों के विरुद्ध आदिम समाज-व्यवस्था के कबीलों ने किस तरह जमकर संघर्ष किया था। १८२० के एक विद्रोह का उल्लेख करने के बाद वह कहते हैं, "किन्तु कृषिसम्बन्धी सामान्य असन्तोष से १८३१ में दूसरा विद्रोह हुआ।" इन कबीलों और जातियों के संघर्ष स्वाधीनता के लिये थे, भले ही वह "राष्ट्रीय" स्वाधीनता न हो। उनका कारण अंग्रेज़ी राज में निर्मम सामन्ती शोषण था, इसलिये आर्थिक कारणों को राजनीतिक कारणों से अलग करके आदिम कबीलाई प्रेरणा के शब्दों के प्रयोग से उनकी व्याख्या नहीं की जा सकती। इसी प्रकार खसी सर्दारों ने संघ बनाकर अपनी भूमि पर अंग्रेज़ों के अधिकार का विरोध किया। १८३९ में पश्चिमी घाट के कोली लोगों ने विद्रोह किया और पहाड़ों की अन्य जातियों ने उनका साथ दिया। इनका नेतृत्व तीन ब्राह्मणों ने किया जिनका कबीलों वाली व्यवस्था से कोई सम्बन्ध न था वरन् जो सनातन वर्णव्यवस्था के प्रतिनिधि थे। १८१९ में मध्यभारत के भीलों ने शक्तिशाली संघर्ष किया। गाँवों की पुलिस ने इनकी सहायता की। पता चला कि गाँवों के पटेल तक भीलों से मिले हुए हैं। कई साल के दमन के बाद ही अंग्रेज़ भीलों के इलाके में अपनी न्यायव्यवस्था कायम कर पाये। श्री चौधरी ने इन्हें जङ्गली और लुटेरों का कबीला कहा है, कोली जाति के लिये श्री मजूमदार ने लुटेरों के कबीले शब्दों (predatory tribes) का प्रयोग किया है। इन्हें सामन्तवाद ने उनकी जमीन छीन कर जङ्गलों में भटकने के लिये छोड़ दिया था। जो लोग वर्षों तक अंग्रेज़ी राज का मुकावला करते रहे और जिन्होंने पुलिस और पटेलों तक की सहानुभूति प्राप्त कर ली थी, उनका नाम भारतीय स्वाधीनता के इतिहास में आदर से लिया जाना चाहिये। उन्हें लुटेरों का कबीला कहना अंग्रेज़ी न्याय-व्यवस्था के प्रेमियों की परम्परा है।

१८५५-५६ में संथालों का महत्वपूर्ण विद्रोह हुआ। श्री मजूमदार के अनुसार पक्के बन्दोबस्त के अन्तर्गत जमींदारों ने इनकी पुश्तैनी भूमि छीन ली। उन्हें राजमहल की पहाड़ियों में शरण लेनी पड़ी। महाजनों ने उन्हें वहाँ भी चैन न लेने दिया। इसके सिवा साहबों की निगाह संथाल स्त्रियों पर भी थी और उन्हें इस बात का ध्यान न था कि संथाल अपनी स्त्रियों की इज्जत के लिये जान पर खेल सकते हैं।

श्री नटराजन ने किसान-विद्रोहों पर अपनी पुस्तिका में सहृदयता से संथाल-विद्रोह का वर्णन किया है। संथालों को कटक, ढलभूम, मानभूम बरभूम, छोटा नागपुर, पालामऊ, हजारीबाग, मिदनापुर, बाँकुरा और बीरभूम के जिलों से हटना पड़ा। उन्होंने राजमहल की पहाड़ियों के पास जङ्गल साफ करके खेती शुरू की। श्री नटराजन ने "कैलकटा रिव्यू" के समसामयिक लेखक का हवाला दिया है जिसके अनुसार जमींदारों, अदालती अमलों और पुलिस ने मिलकर संथालों को सताया और लूटा, उनकी सम्पत्ति से उन्हें वंचित किया और गैरकानूनी ढङ्ग से उनसे ब्याज वसूल करते रहे। कर्ज के नाम पर उनके खेतों और मवेशियों की कुड़की कर ली गई और संथाल किसानों को सपरिवार कर्ज की अदाई में बिक जाना पड़ा। रेल बनाते हुए अंग्रेज़ों ने उनकी मुर्गियों और जानवरों के अलावा औरतें भी गायब करदीं। संथाल बहुत सीधे-सादे लोग थे किन्तु इस अत्याचार से पीड़ित होकर उन्होंने गुप्त सभाएँ कीं और ग्राम-समितियों के द्वारा अपना संगठन मजबूत किया। उन्हें अपमानित करने के लिये उनके नेता बीरसिंह को उनके सामने जूतों से पीटा गया। संथालों ने शिकायत की कि अंग्रेज़ी न्याय में उनके साथियों को दण्ड दिया गया लेकिन महाजनों का कुछ भी न हुआ। अंग्रेज़ी न्याय के सामने गरीब-अमीर कैसे बराबर होते हैं, यह उसी का प्रदर्शन था। संथालों ने साल वृक्ष को अपनी एकता का प्रतीक बनाया और उसकी डाली को वैसे ही जनता तक पहुँचाया जैसे आगे चलकर रोटी बाँटी गई। संथालों ने गैर संथालों से भी एकता की। ग्वाले, तेली, लुहार आदि जातियों के लोग उनकी सहायता कर रहे थे। उन्होंने अंग्रेज़ों के यातायात साधनों को छिन्न भिन्न कर दिया। राजमहल और भागलपुर के बीच डाक और रेल का आना जाना बन्द हो गया। उन्होंने घोषित किया कि कम्पनी का राज खत्म हो गया है। सन् सत्तावन की राज्यक्रान्ति की तरह इस संघर्ष में भी साम्राज्य-विरोधी और सामन्त-विरोधी उद्देश्य मिल गये थे। संथाल जमींदारों और महाजनों का शोषण खत्म करना चाहते थे, साथ ही वे कम्पनी का राज्य भी समाप्त कर देना चाहते थे। अंग्रेज़ों ने मार्शल लॉ जारी कर दिया। अपने धनुष-बाणों और कुल्हाड़ियों से संथाल वीरता से लड़े। जमींदारों और निलहे गोरों

ने अंग्रेज़ों का साथ दिया। संथालों के गाँव के गाँव वर्बाद कर दिये गये। उनके विरुद्ध काफी फौज लगाई गई। लगभग पन्द्रह हजार संथालों ने अपने प्राणों की आहुति दी। छोटे-छोटे लड़कों तक को दण्ड दिया गया। मार्क्स के शब्दों में "भारी रक्तपात के साथ" संथाल-विद्रोह का दमन हुआ।

संथालों का विद्रोह एक जातीय प्रदेश की साम्राज्य-विरोधी और सामन्त-विरोधी क्रान्ति थी। उसे समग्र जाति का समर्थन प्राप्त था। संथालों ने जनवादी संगठन और युद्ध चलाने में जनवादी सूझबूझ का परिचय दिया। उन्होंने जमींदारों, महाजनों और अंग्रेज़ी फौज की सम्मिलित शक्ति का विरोध छापेमार लड़ाई से किया। इस छापेमार लड़ाई की सफलता के लिये उन्होंने यातायात के साधनों को छिन्न भिन्न करना आवश्यक समझा। फौज से बचने के लिये वे छोटी-छोटी टुकड़ियों में बँट जाते थे और ढोल बजने पर बड़े-बड़े समूहों में फिर एकत्र हो जाते थे। उन्होंने राजनीतिक उद्देश्य भी अपने सामने स्पष्ट रखा। अपनी शक्ति के अनुसार गैर-संथालों को उन्होंने अपने युद्ध में शामिल किया। यह दिलचस्प बात है कि ऐसे व्यापक जनतांत्रिक आधार पर चलने वाले संघर्ष के लिये अंग्रेज़ों ने प्रचार किया कि संथाल बंगालियों को भून डालते हैं और उनकी स्त्रियों का पेट फाड़ डालते हैं। यह समझना कठिन है कि संथाल जातीय द्वेष से पीड़ित थे तो उन्हें गैर-संथालों का सहयोग कैसे मिला। सत्य यह है कि अमानुषिक अत्याचार करके उनके विद्रोह का दमन किया गया।

संथालों का दमन करने के लिये जो हिन्दुस्तानी सिपाही भेजे गये थे, उन्होंने संथालों से कुछ सीखा भी। बैरकपुर में जलते हुए तीर चलाकर सिपाहियों ने अफ़सरों के बँगलों में आग लगाई थी। के ने लिखा है, "यह तरकीब वे संथालों से सीख आये थे।"[१५८] शाहाबाद जिले में जो छापामार लड़ाई चली, उसकी एक मिसाल पहले संथालों ने कायम की थी।

इन संघर्षों के पीछे कहीं यह चेतना भी थी कि अंग्रेज़ हिन्दुस्तान को गुलाम बनाते जा रहे हैं या ये छुटपुट संघर्ष ही थे? श्री चौधरी ने इन विद्रोहों के फूटने के समय पर रोचक टिप्पणी लिखी है। उनका कहना है कि जब अंग्रेज़ प्रथम मराठा युद्ध में लगे हुए थे, तब अवध में जनता

के असन्तोष ने तीव्र रूप ले लिया। चेतसिंह का विद्रोह एक व्यापक योजना का अङ्ग था जिसका उद्देश्य अंग्रेज़ी राज का विनाश था। इस विद्रोह को बहुसंख्यक जनता का समर्थन प्राप्त हुआ और उसकी प्रति-ध्वनि गोरखपुर तक में सुनाई दी। उसी समय बंगाल के कई जिलों में अंग्रेज़ी सत्ता को निर्मूल करने के प्रयत्न हुए। श्री चौधरी के अनुसार टीपू के बलिदान से प्रेरणा लेकर भारत के अनेक स्थानों में लोगों ने अंग्रेज़ी राज का प्रसार रोकने का प्रयत्न किया। मैसूर की स्वाधीनता खत्म होने के बाद पड़ोसी प्रदेशों में असन्तोष फैला और पोलीगारों के संघर्ष हुए। दूसरा मराठा युद्ध छिड़ने पर अवध के सामन्तों ने संघर्ष छेड़ दिया और उनमें से कई ने मराठों के साथ मिलकर युद्ध भी किया। नेपाल के युद्ध में अंग्रेज़ों को जो क्षति उठानी पड़ी, उससे सारे देश में विद्रोह फूट पड़े। बर्मा की लड़ाई में अंग्रेज़ों की क्षति के समाचारों ने फिर विद्रोहों को प्रेरणा दी। इन दिनों के बारे में सर जॉन शोर ने लिखा था कि अंग्रेज़ों ने जनता का दमन करने के लिये तुरंत और कार-गर उपाय न किये होते तो सारा देश विद्रोहों से आक्रान्त हो जाता।[१५९]

इन तथ्यों से जनता की राजनीतिक चेतना, उसका स्वाधीनता-प्रेम और अंग्रेज़ों के प्रति उसकी तीव्र घृणा सिद्ध होती है। शोर ने लिखा था, "मैंने कई देशी राज्यों की यात्रा की है। मैं पूरे विश्वास के साथ यह दावा करता हूँ कि लोगों को जो चीज सबसे ज्यादा नापसन्द है, वह अंग्रेज़ी राज की अधीनता में आना है।"[१६०] विद्रोहों के दौरान में जनता क्या सोचती थी, इसे जॉन शोर ने अच्छी तरह देखा और पहँचाना था। उसने लिखा था, सारे देश में जनता को बटोरने के लिये बड़े उत्साह से जो नारा लगाया जाता था, वह यह था, "अंग्रेज़ी-राज खत्म हो गया; अंग्रेज़ों का नाश हो!"[१६१] कोई आश्चर्य नहीं कि सर जॉन मैलकम को लगा था कि हिन्दुस्तानियों को यह विश्वास बना हुआ था कि अंग्रेज़ी हुकूमत स्थायी न होगी।[१६२] इससे अच्छा प्रमाण जनता की आकांक्षाओं का और क्या होगा? देश ने अंग्रेज़ी राज को अस्थायी ही माना; उसके सामने सर न झुकाकर बराबर संघर्ष किया। स्वाधीनता-प्रेम डेविड ह्यूम से न शुरू हुआ था। लोग स्वाधीनता का नाम लेते डरते थे और कांग्रेस ने पहले अर्जियाँ भेजकर और फिर सत्याग्रह करके लोगों को अंग्रेज़ों के सामने सिर उठाना सिखाया, ये

तमाम "ऐतिहासिक" बातें उन्नीसवीं सदी के पूर्वार्द्ध के गौरवपूर्ण इतिहास से असत्य प्रमाणित होती हैं।

पादरी मार्टिन ने खेत जोतने वाले जिस ब्राह्मण से पूछा था, ब्राह्मण होकर तुम खेत क्यों जोतते हो, उसके उत्तर से कि अंग्रेज़ों ने हमारा देश लूट लिया है, किसान जनता की राजनीतिक चेतना का पता चलता है। पटना में पालकी पर बैठकर जाते हुए मार्टिन ने लोगों की आँखों में जो क्रोध और घृणा देखी, उसे वह भूल न सका। उसने लिखा, "यहाँ जिस देशी आदमी से मिलता हूँ, वही मेरा दुश्मन होता है क्योंकि मैं अंग्रेज़ हूँ। इंगलैण्ड मुझे धरती का स्वर्ग लगता है क्योंकि वहाँ मुझे अन्याय से भीतर घुस आने वाला नहीं समझा जाता।" ("Here every native I meet is an enemy to me because I am an Englishman. England appears almost a heaven upon earth, because there one is not viewed as an unjust intruder.")[१६३] शायद अंग्रेज़ों से घृणा न करनी चाहिये थी; यह घृणा सत्य और अहिंसा के सिद्धान्तों के विरुद्ध थी। उस समय की जनता अंग्रेज़ आततायियों को अन्याय से देश में घुस आने वाला समझती थी, इसलिये उसकी स्वाभाविक प्रतिक्रिया इस घृणा-प्रदर्शन से ही व्यक्त होती थी। यह तीव्र घृणा जनता के तीव्र देश-प्रेम का ही दूसरा रूप था।

जनरल हे मैकडौवल ने यहाँ की जनता की बातचीत, उसके असंतोष और आकांक्षाओं के बारे में लिखा था, "विदेशी आक्रमण और आन्तरिक विद्रोह से ब्रिटिश-साम्राज्य का विनाश सारे देश में जनता की बातचीत का साधारण विषय रहा है। साधारणतः लोगों की राय यह रही है कि इस तरह की क्रान्ति करना न तो कोई बड़ा कठिन काम है और न उसके होने में बहुत बिलम्ब है।"[१६४] सन् सत्तावन की राज्य-क्रान्ति किस तरह जनता के मनोभावों को प्रतिबिम्बित करने वाली थी, उसका प्रमाण उपर्युक्त अंग्रेज़ अफ़सर का पत्र है जिसमें उसने लोगों की साधारण बातचीत का उल्लेख किया है। १८२२ में आर्काट की देशी (ब्रिटिश) सेना के सवारों की लाइनों में एक इश्तहार गिराया गया था जिसमें लिखा था, आर्काट से दिल्ली के बीच में असंख्य हिन्दू और मुसलमान हैं। यूरोपियन लोग थोड़े हैं, इसलिये एक ही दिन में

उन सब का सफाया करना कठिन न होगा। बस एक होने की देर है और नतीजा पक्का हो जायगा।" इतिहासकार जॉन विलियम के ने सिपाही विद्रोह पर अपनी पुस्तक के पहले खंड में पृष्ठ ३६२ पर यह इश्तहार उद्धृत किया है। पता नहीं राष्ट्रीय स्वाधीनता की चेतना और क्या होती है? दिल्ली से आर्काट तक हिन्दुओं और मुसलमानों में एक होकर अंग्रेज़ों का नाश करने की अपील की गई है। इसके साथ अगर कोई कह दे, यह धर्म का काम है या धर्म की रक्षा के लिये मिलकर प्रयत्न करने की जरूरत है तो क्या इसी से राष्ट्रीयता में बट्टा लग गया। आश्चर्य है कि अंग्रेज़ी चर्च और राज्यसत्ता के गठबन्धन से अंग्रेज़ों की प्रगतिशीलता में बट्टा नहीं लगा!

अंग्रेज कहाँ जीतते हैं, कहाँ हारते हैं, इसकी तात्कालिक प्रतिक्रिया हिन्दुस्तानियों के मन पर होती थी। १८३२ के अफ़गान-युद्ध की प्रतिक्रिया का वर्णन के ने इस प्रकार किया है, "उत्तरी भारत के सभी हिस्सों में बाजारों की बातचीत यह थी कि जीत का सैलाब फिरंगियों के खिलाफ हो गया है और अब वे जल्दी ही समुद्र में ढकेल दिये जायेंगे।"[१६५] फिरंगी की हार से यह उल्लास, उसके समुद्र में ढकेले जाने की यह उल्लासपूर्ण आशा जनता के स्वाधीनताप्रेम से ही उत्पन्न हुई थी। अंग्रेज अपनी पराजय से लज्जित थे; हिन्दुस्तानियों के मन की भावना भी वह पहचाते थे। "उसी समय की यह बात है कि हम लोगों में से जो खूब जानते थे कि हिन्दुस्तानी समाज के हृदय में किस तरह के भाव घुमड़ रहे हैं, वे देशी लोगों से आँख मिलने में शर्माते थे।"[१६५] १८४५-४६ में जब सिख-युद्ध हो रहा था, तब "लोगों में यह अस्पष्ट सा विश्वास था कि लाखों पंजाबी योद्धा देश में फैल जायँगे और अंग्रेज़ समुद्र में ढकेल दिये जायँगे।"[१६६] यह भावना इस बात का प्रमाण थी कि उत्तरी भारत के लोगों की निगाह में पंजाबी उन्हीं के भाई थे और दोनों के शत्रु अंग्रेज़ को निकालना देश के लिये हितकर होगा। इस समय पटना के फौजी सिपाहियों में विद्रोह-भावना फैली हुई थी। यह कहा जाता था कि सभी जमींदार, काश्तकार और शहर के लोग विद्रोह कर देंगे बशर्ते कि देशी फौज तटस्थ रहे और उनका दमन न करे।[१६६] पटना में अफवाह यह थी कि दिल्ली के बादशाह की आज्ञा

है कि जनता अंग्रेज़ों से लड़े; पंजाब और नेपाल की सेनाएँ उसकी मदद के लिये आयेंगी। एक लंबे कागज़ पर पटना के सैकड़ों हिन्दू-मुसलमान नागरिकों ने हस्ताक्षर किये और धर्म के लिए लड़ने की प्रतिज्ञा की।[१६७] पटना में इस समय विद्रोह नहीं हुआ किन्तु उससे जनता की चेतना का पता चलता है। स्टोकलर नाम के व्यक्ति ने १८५७ में एक पुस्तिका प्रकाशित की थी जिसमें उसने दीनापुर में लोगों को यह कहते बताया था,—इस बार तो अंग्रेज़ बच गये हैं लेकिन १८५७ में जब इनके राज को सौ साल हो जायँगे, तब ऐसा तमाशा होगा जैसा देश ने कभी देखा न होगा।[१६८]

१८५७ के संघर्ष से क्राइमिया के युद्ध का विशेष संबन्ध था। विद्रोह के एक नेता अज़ीमुल्ला ने रूसियों की वीरता और युद्ध-कौशल को देखकर यह नतीजा निकाला था कि अंग्रेज़ अजेय नहीं हैं। इसके सिवा जनसाधारण में इस युद्ध की चर्चा थी। "यह बात खुल कर कही जाती थी कि रूस ने इँगलैण्ड को जीत लिया है और अपने राज में मिला लिया है और रानी विक्टोरिया ने भागकर हिन्दुस्तान के गवर्नर जनरल के यहाँ आश्रय लिया है।"[१६९] इसकी अतिरंजित कल्पना यहाँ के लोगों ने की हो तो कोई आश्चर्य नहीं; हर देश की जनता जो कुछ होते देखना चाहती है, उसे सत्य के साथ मिलाकर एक सुन्दर कहानी गढ़ लेती है। एक बात निश्चित है कि अंग्रेज़ जिस सामन्ती अराजकता और अत्याचार से यहाँ की जनता का उद्धार करके उसे न्यायव्यवस्था में खुशहाल कर रहे थे, वह सारी प्रक्रिया यहाँ की जनता को बिलकुल नापसन्द थी। आज के इतिहासकार उसके बारे में चाहे जो राय जाहिर करें! उस समय अंग्रेज़ों की स्थिति के बारे में के ने लिखा है, "हिन्दुस्तान में अंग्रेज़ों की दशा दिन पर दिन घिरे हुए लोगों की होती जा रही थी और उनके बाहरी शत्रुओं की जीत से उनकी स्थिति और भी संकटमय हो गई।"[१७०] बहुत से अंग्रेज़ इस भुलावे में थे कि उनके सुन्दर शासन से जनता सन्तुष्ट है; अंग्रेज़ी राज से जिन्हें लाभ हुआ था, वे अपने मालिकों तक ऐसी ही खबरें पहुँचाते थे। के ने लिखा है, "लोगों के अधीनता स्वीकार करने को हम उनके सन्तोष का लक्षण मानते थे, चुपचाप स्थिति को सहने को वफादारी समझते थे। हम राष्ट्रीय भावना का अनुमान उन थोड़े से लोगों के भावों से लगाते थे जिनका

अभिव्यंजना को आदर की दृष्टि से देखते थे। किन्तु एक ही वर्ण के काले इतिहासकार भी क्यों यह नहीं समझते थे कि एक एशियाई जाति भी अपने देश से प्रेम कर सकती थी, इसका कोई कारण नहीं हैं सिवा इसके कि इनका दृष्टिकोण अंग्रेज़ों से भी ज्यादा अंग्रेज़ी है।

उन्नीसवीं सदी के पूर्वार्द्ध में हिन्दुस्तान की जनता को यह उत्कट विश्वास था कि अंग्रेज़ी राज अस्थायी होगा। वह अंग्रेज़ आततायियो से घृणा करती थी और यह घृणा उस में व्यापक रूप ले चुकी थी। अंग्रेज़ों के अन्यायापूर्ण प्रसार, लूट और शोषण के विरुद्ध यहाँ की जनता ने बार-बार संघर्ष किये। उन संघर्षों के पीछे जो देशप्रेम काम कर रहा था, उसके प्रमाण अनेक अंग्रेज़ों के पत्रों, वक्तव्यों आदि में मिलते हैं। ये तमाम संघर्ष एक ही भावना से अनुप्राणित थे कि भारत से अंग्रेज़ी राज का नाश हो। श्री चौधरी ने ठीक लिखा है कि अन्त में इनकी परिणति १८५७ के महान् विद्रोह में हुई। श्री चौधरी का अनुसरण करते हुए श्री मजूमनदार ने भी लिखा है कि ये विद्रोह एक ही शृंखला की कड़ियाँ हैं जिनकी परिणति १८५७ के महान् अग्निकाण्ड में हुई। अन्तर इतना है कि श्री चौधरी ने उसे महान् विद्रोह कहा है, श्री मजूमनदार ने उसे महान् अग्निकाण्ड कहा है। यह दूसरी बात है कि अग्निकाण्ड की भूमिका लिखते हुए उसका महत्व जितना उजागर था, आगे उसका इतिहास लिखते हुए वह उतना ही आँखों से ओझल हो गया।

इन विद्रोहों और संघर्षों से अंग्रेज़ी राज के विरुद्ध जनता का तीव्र प्रतिरोध सिद्ध हुआ। इस प्रतिरोध को दबाने में अंग्रेज़ों ने देशी फौज से काम लिया किन्तु यह फौज इस प्रतिरोध से अछूती नहीं थी और आगे चलकर उसे क्रान्तिकारी संघर्ष का रूप देने में उसने महत्वपूर्ण योग दिया।
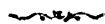
देशी सेना का असंतोष

मुगल साम्राज्य के पतन काल में अवध, दोआब और रुहेलखंड के बहुत से आदमी रोटी-रोजी की तलाश में बंगाल पहुँच गये थे। अंग्रेज़ों ने बंगाल में अपनी देशी सेना इन्हीं लोगों को भर्ती करके बनाई थी।[१७३] उन्होंने अवध के नवाब से दोस्ती बढ़ाई और वहाँ के किसानों को कुछ सुविधाएं देकर उन्हें फौज में अधिकाधिक भर्ती करना शुरू कर दिया। अवध बंगाल की फौज के लिये रंगरूट भर्ती करने का प्रधान स्रोत बन गया। मुख्यतः इस फौज के बल पर अंग्रेज़ों ने यहां के सामन्ती राज्यों की प्रभुसत्ता खत्म की। इन युद्धों में सबसे आगे बढ़कर मोर्चा देशी सिपाहियों ने लिया; नाम हुआ अंग्रेज़ों का कि उन्होने हिन्दुस्तान जीत लिया। बंगाल में यह सेना बंगाली जाति को दबाये रखने के लिये अंग्रेज़ों का प्रबल अस्त्र थी। इसी सेना के बल पर उन्होंने सिन्ध और पंजाब जीता था और अनेक युद्धों में मराठा-शक्ति को छिन्न-भिन्न किया था। हिन्दुस्तानी सिपाहियों की इस भूमिका के कारण अन्य प्रदेशों के लोग उनसे घृणा करने लगे हों, तो आश्चर्य नहीं। १८५७ में अंग्रेज़ों ने जातीय विद्वेष को भड़काने और हिन्दुस्तानियों के विरुद्ध पंजाबियों को लड़ाने में कुछ उठा नहीं रखा। अंग्रेज़ इतिहासकारों ने इस बात पर बहुत ज़ोर दिया है कि सिपाही अन्धविश्वासी थे, इसलिये उनकी पोशाक में कोई तबदीली हुई या कहीं उनके तिलक लगाने पर आपत्ति हुई तो वे विद्रोह करने पर तुल गये। सत्य यह है कि अंग्रेज़ हिन्दुस्तानियो को अपने से तुच्छ नस्ल का समझते थे। वे उनकी वीरता के बल पर सुख भोगते थे लेकिन उस सुख में उन्हें साझीदार बनाने के लिये तैयार न थे। तनखाह, भत्ता, तरक्की, हर मामले में देशी सिपाही अंग्रेज़ी न्याय-व्यवस्था का वास्तविक रूप देखते थे। यह न्यायव्यवस्था वर्ण भेद पर आधारित थी। अंग्रेज़ श्रेष्ठ था, हिन्दुस्तानी काला आदमी था, इसलिये वह तुच्छ था। स्वयं अंग्रेज़ी सेना अभिजातवर्ग के बेटों की उन्नति के लिये बनी थी। हर अंग्रेज़ उसमें अपनी योग्यता के बल पर उन्नति न कर सकता था, अफ़सर होने के लिये किसी खानदानी रईस की छत्रछाया आवश्यक थी।

हिन्दुस्तान में कम्पनी की फौज अलग थी और महारानी विक्टोरिया

की अलग थी । इनमें भी बड़े-छोटे का भेदभाव रहता था। ग्रीव्स ने ब्रिटिश फौज के लिये लिखा है कि उन्नीसवीं सदी में उस पर शाही खानदान और अभिजातवर्ग का नियंत्रण था। उसके सङ्गठन पर शाही घराने का बहुत असर था। साधारणत: सेनापति राजपरिवार का कोई व्यक्ति होता था।"जिस परम्परा के अनुसार सामन्ती समाज में चर्च के साथ फौज का काम अभिजातवर्ग का पेशा होता है, उसका महत्व ब्रिटिश जनतन्त्र में भी था। अफ़सर धनीवर्ग से होते थे, सिपाही गरीबों में से होते थे।" लिडेलहार्ट के अनुसार जिन धनी लोगों के बेटे और किसी पेश में उन्नति न कर सकते थे, उन्हें फौज में भेज दिया जाता था। फौज में तरक्की पाने के लिये आदमी या तो ऊँचे खानदान का हो या फिर पैसा खर्च करके पद खरीद ले। मार्क्स ने इस सिलसिले में लिखा था, "फौज के कुछ पदों पर आदमी खानदानी रक्त के बल पर पहुँच सकता है। उम्मीदवार के नाते-रिश्तेदार ऊँचे खानदानों के हों या उनके साथ कोई पक्षपात करने के लिये तैयार हो, तभी उन्हें वे पद मिल सकते हैं। लेकिन पैसे की भी चलती है क्योंकि सिक्का देकर कमीशनों की खरीद-फरोख्त हो सकती है। हिसाब लगाया गया है कि विभिन्न पल्टनों में जो अफ़सर काम कर रहे हैं, उन्होंने उन पदों के लिये साठ लाख पाउंड की पूँजी लगा दी है।" अंग्रेज़ यह दावा करते थे कि हिन्दुस्तान के सिपाहियों में जाति-प्रथा और ऊँचनीच का भेद-भाव है। खुद ब्रिटेन की सेना में अफ़सरी के लिये कुलीनता का सवाल सबसे पहले उठता था। अंग्रेज़ी जनतन्त्र का जो रूप हम ऊपर देख चुके हैं, उसकी रक्षा करने वाली सेना का रूप उससे भिन्न कैसे हो सकता था?

कमीशनों की बिक्री के बारे में जेम्स लीसर ने लिखा है कि घुड़सवारों का कप्तान अपना पद छः हजार पाउंड में खरीद सकता था; पैदल सिपाहियों का कप्तान अपने पद को चार हजार आठ सौ पाउंड में प्राप्त कर सकता था। इस तरह के अफ्सर फौज की नौकरी को धन बटोरने का साधन समझते थे। जब अपने भाई अंग्रेज़ों की योग्यता की पर्वाह न करके पैसे, खानदान या सिफारिश के बल पर वे ऊँचा पद पा सकते थे, तब यह असंभव था कि वे हिन्दुस्तानियों को उनकी योग्यता के अनुसार उन्नति करने देते और उन्हें ऊंचा पद देते। इसके सिवा

कम्पनी की फौज में जो अंग्रेज़ भर्ती किये जाते थे, वे अक्सर ऐसे लोग होते थे जिनके लिये समाज में जगह न होती थी। उन्होंने अपराध किया हो, जुर्म किया हो, कोई बात नहीं; डाक्टर का सर्टिफिकेट हो, वे भर्ती कर लिये जाते थे। हैवलौक की जीवनी लिखने वाले आर्चीबाल्ड फ़ोर्ब्स ने इनके बारे में लिखा है,"एक बार हिन्दुस्तान आ गये तो वे अधिकतर फिर घर लौटने का विचार छोड़ देते थे। उनका सिद्धान्त यह होता था: खाओ, पियो, खासकर पियो, क्योंकि कल तो मरना ही है। और वे काफी संख्या में मरते थे क्योंकि अर्क और बाज़ार की रम से हिन्दुस्तान की जलवायु में मनुष्य की आयु नहीं बढ़ती।" [१७८] अंग्रेज शासकवर्ग बड़े बड़े पार्क और चरागाह बनाकर किसानों की ज़मीन पर कब्जा करने के बाद मुफलिसों को अमरीका और आस्ट्रेलिया रवाना कर रहा था। उनसे पिंड छुटाने का एक तरीका उन्हें फौज में भर्ती करके हिन्दुस्तान भेजने का भी था। हिन्दुस्तानी और अंग्रेज़ सिपाहियों की तुलना करते हुए के ने लिखा है कि अंग्रेज सिपाही को ज़्यादा तनखाह मिले तो वह उसे शराब में खर्च कर देगा; हिन्दुस्तानी सिपाही उसे अपने कुनबे के लोगों पर खर्च करेगा। [१७९] अंग्रेज़ों ने अपनी भेदभाव की नीति से हिन्दुस्तानी सिपाहियों को समझा दिया कि जब तक वे लड़ेंगे नहीं, तब तक गोरे उनके साथ साधारण इन्सान की तरह पेश न आयेंगे। सन् सत्तावन की राज्यक्रान्ति से चार साल पहले जेनरल जौन जेकब ने लन्दन के "टाइम्स" को पत्र लिखा था, "हमारे भारतीय साम्राज्य को जितना खतरा बंगाल सेना की दशा से है, उस भावना से है जो देशी और यूरोपियन लोगों में है और जो वहाँ से सारे देश में फैलती है, उतना खतरा और सब कारणों से मिलकर नहीं है।" [१८०]

हिन्दुस्तानी अफ्सर चाहे जितना वीर और अनुभवी हो, उसे ऊँचे पद न मिलते थे। के ने स्वीकार किया है, "अंग्रेज़ सार्जेंट बड़े से बड़े देशी अफ्सरों पर हुक्म चला सकता था था।" और भी, "नौसिखिये गोरे अफ्सर उन देशी अफ्सरों को भी खुले आम गाली दे बैठते थे जिनके नौकरी करते-करते बाल सफेद हो गये थे।" [१८१] हिन्दुस्तानी अफसरों को शिकायत थी कि अंग्रेज़ साहबों की रखेलों को भी उनसे ज्यादा तनखाह मिलती है, उनके सईसों और घसियारों को हिन्दुस्तानी सिपाहियो से ज्यादा पैसे मिलते हैं। [१८२] मद्रास के गवर्नर को डाक से एक

पत्र मिला था जिसमें कहा गया था कि वह देशी सिपाहियों और अफ्सरों की ओर से भेजा गया है। उसमें यह शिकायत की गई थी कि पैसा और इज्जत साहबों के बाँटे पड़ती है, सिपाहियों के हिस्से में मेहनत और परेशानी ही आती है।[१८३] हिन्दुस्तान में अंग्रेज़ों के अधीन पूरी फौज पर (३, १५, ५२० आदमियों पर) ६८,०२, २३५ पाउंड रकम खर्च होती थी, इसमें से गोरों पर (केवल ५१,३१६ आदमियों पर) ५६,६८, ११० पाउंड खर्च होते थे।[१८४] सिपाही को सात रुपये तनखाह मिलती थी, इसमें उसे अपनी फौजी पोशाक के लिये पैसे देने होते थे, खाने-पीने का प्रबन्ध करना होता था। अक्सर वह बनिये से उधार लाता था और तनखाह मिलने पर उसके दाम चुकाने के बाद उसके पास रुपया-धेली ही बचता था। इस पर उसे गोरे साजेंन्ट या हवलदार की पूजा के लिये भी कुछ देना पड़ता था। हवल्दार से रुपये उधार लेता था तो उसका सूद अलग भरना पड़ता था। अंग्रेज़ आराम से खाता था, पीता था, मेमों के अलावा हिन्दुस्तानी स्त्रियाँ रखता था, मेहनत के काम काले आदमी को सौंप दिये जाते थे।[१८५]

पलासी की लड़ाई को सात साल ही बीते थे कि बंगाल-सेना में पहला विद्रोह हुआ। मीरजाफर से फौज को कुछ रुपया मिलने वाला था जिसे अधिकारियों ने रोक दिया था। गोरी फौज ने बग़ावत की; उसके बाद हिन्दुस्तानी सेना ने भी विद्रोह कर दिया। किसी तरह रुपये दे दिलाकर यह विद्रोह शान्त किया गया। उसी साल सेना में फिर विद्रोह फूटा, एक बटालियन ने गोरे अफ्सरों को पकड़ कर कैद कर लिया। छपरा में चौबीस सिपाहियों को तोप से उड़ा देने का हुक्म हुआ। जब कुछ सिपाहियों को तोपों के मुँह से बाँधा जा रहा था, तब बाकी में से चार लम्बे तगड़े सैनिक आये और उन्होंने अंग्रेज़ों को चुनौती देते हुए कहा, सबसे पहले हमें बाँधो। बीस आदमियों को तोपों से उड़ा दिया गया। चार को दूसरी जगह उड़ाने के लिये रखा गया। छः को बैरकपुर में उड़ाया गया।[१८६] यह इसलिये कि अलग-अलग छावनियों में यह क्रूर मृत्युदण्ड देखकर सिपाही आतंकित हो जायँगे। दो साल बाद गोरे अफ्सरों ने फिर विद्रोह किया, इस समय क्लाइव ने काली पलटनों का भरोसा किया और इनके सहारे अपने देशवासियों का विद्रोह दबा दिया।

१८०६ में वेल्लोर का प्रसिद्ध विद्रोह हुआ। सिपाहियों ने गुप्त रूप से संगठित होने की क्षमता का परिचय दिया। रात में वे चुपचाप सभाएँ करते। उन्होंने मैसूर के जमींदारों को विदोह करने के लिये पत्र लिखे। रात में विद्रोह करने के बाद उन्होंने महल पर टीपू का झन्डा फहरा दिया। टीपू के तीसरे लड़के ने सिपाहियों को अपने हाथ से पान दिया और उन्हें लड़ने के लिये उत्साहित किया। उसके यहाँ से सिपाहियों के लिये भोजन आया। विद्रोह को बर्बर आतंक द्वारा दबा दिया। इस विद्रोह की कई विशेषताएँ ध्यान देने योग्य हैं। अभी चर्बी लगे हुए कार्तूसों का कहीं नाम भी न था, फिर भी अंग्रेज़ी राज खत्म करके देशी राज्य स्थापित करने का प्रयत्न किया गया था। के ने इस विद्रोह का जो वर्णन किया है, उससे यही प्रतीत होता है कि इस कार्य में सिपाहियों ने ही पहल की थी। यह राजनीतिक विद्रोह था; धर्म बिगड़ने के डर से सिपाहियों ने बगावत कर दी और रियासत खोये हुए सामन्तों ने उससे फायदा उठाया, यह कह कर उसकी व्याख्या नहीं की जा सकती। के ने भी उसका राजनीतिक रूप अप्रत्यक्ष रूप से इन शब्दों में स्वीकार किया है कि यह केवल सैनिक विद्रोह न था। महल के लोग सिपाहियों से भाईचारा कायम कर रहे थे। [१८७] सिपाहियों ने गोरों को मारा लेकिन उनकी स्त्रियों के हाथ भी नहीं लगाया। के ने लिखा है, "महल में जो गोरी स्त्रियाँ थी, उनसे कुछ न कहा गया।" [१८८] यह दिलचस्प बात है कि इस विद्रोह के बारे में अंग्रेज़ों ने तुरन्त ही सिपाहियों के निर्दय अत्याचारों की कहानियाँ गढ़ लीं। इनमें कहा गया कि अंग्रेज़-स्त्रियों की हत्या की गई है और छोटे बच्चों के सिर, उनकी माताओं के सामने, तोड़ दिये गये हैं। के ने इन्हें झूठी कहानियाँ कहा है। अंग्रेज़ों की यह नीति थी कि अपना खूनी आतंक फैलाने के पहले गोरे सैनिकों को बच्चों और स्त्रियों की हत्या की कहानियाँ सुनाकर उत्तेजित कर देते थे। यह काम पचास साल बाद उन्होंने और भी बड़े पैमाने पर किया।

वेल्लोर के विद्रोह में सिपाहियों ने टीपू के खानदान का सहयोग लेने का प्रयत्न किया। टीपू का लड़का, जो रियासत से अलग कर दिया गया था, निजाम हैदराबाद की गद्दी पर बैठा हुआ था। सिपाहियों ने अंग्रेज़ों के विरुद्ध उसे भी मिलाने की कोशिश की। सामन्तों में निजाम अंग्रेज़ों का सबसे वफादार चाकर था। उसने सिपाहियों का साथ देने

से इन्कार कर दिया । [१८९] इस समय अन्य कई स्थानों में विद्रोह करने के प्रयत्न किये गये जिनमें हिन्दू-मुसलमान सिपाहियों की एकता दृढ़ करने के प्रयत्न उल्लेखनीय हैं। दक्षिण में ऐसे एक प्रयत्न के बारे में के ने लिखा है, "मुसलमान और हिन्दू सिपाहियों ने एक साथ दावत खाई और एक ही उद्देश्य के लिये भाइयों की तरह मिल कर काम करने की कसम खाई । उन्होंने प्रतिज्ञा की कि वे फिर विद्रोह करेंगे और अंग्रेज़ अफ्सरों का वध करेंगे ।" [१९०] यह विशुद्ध राजनीतिक एकता थी जिसे दृढ़ करने में सिपाहियों ने पहल की थी । इस एकता की व्याख्या यह कह कर नहीं की जा सकती कि हिन्दुओं को गाय की चर्बी का भय दिखाया गया था और मुसलमानों को सुअर की चर्बी का; इसलिये दोनों ही एक साथ भेड़चाल चल पड़े ।

इसके बाद पल्लमकोट्टा में फिर विद्रोह का प्रयत्न किया गया । इसके लिये सेना के अधिकारियों ने ही कहा कि यह राजनीतिक विद्रोह है जिसकी जड़ में टीपू का खानदान है । सिपाही विभिन्न जातियों को एक साथ अपने संघर्ष में लाना चाहते थे, इसका एक प्रमाण यह है कि उन्होंने अपना इश्तहार हिन्दुस्तानी, तमिल और तेलगु में निकाला था ।

१८२२ में जो कागज आर्काट की घुड़सवार लाइनों में डाला गया था, उसमें धार्मिक अत्याचार के बाद इस बात का भी उल्लेख था कि अंग्रेज़ सब जागीरें लिये ले रहे हैं । उनके राज में लोग बेकार हो जायेंगे । यहाँ हम धार्मिक कारणों के साथ आर्थिक और राजनीतिक कारणों से सिपाहियों का असन्तोष बढ़ता हुए देखते हैं । उन्होंने संगठन की यह योजना बनाई थी, सूबेदार जमादारों को शिक्षित करें और वे सिपाहियों को शिक्षित करें । विद्रोह के लिये उन्होने १७ मार्च का दिन भी निश्चित किया था । विद्रोह हो जाने के बाद सूबेदार पल्टनों की कमान अपने हाथ में ले लेते और उनका पद कर्नल का हो जाता । सन् ५७ में यही हुआ भी । यह इश्तहार अधिकारियो तक पहुँचा दिया गया और विद्रोह की योजना भी अमल में न लाई गई ।

बर्मा के युद्ध में अंग्रेज़ों की हार से हिन्दुस्तान के लोग बहुत प्रसन्न थे । सिपाहियों को बर्मा जाने की आज्ञा हुई । उन्होंने दूने भत्ते की माँग की । अंग्रेज़ों ने उन्हें घेर कर उन पर तोपों से बाढ़ छोड़ी । सिपाहियों की बंदूकें खाली थीं जिससे सिद्ध हुआ कि वे लड़ने की तैयारी न

कर रहे थे। किन्तु अंग्रेज ज़रा भी विरोध प्रदर्शन को खूनी आतंक से दबा कर सिपाहियों को जानवरों की तरह अपने अनुशासन में रखना चाहते थे। उन्होने ४७ वीं पल्टन का नाम ही काट दिया। बहुतों को फांसी दे दी। सिंध जाने वाली ३४ वीं पल्टन में भी भत्ते को लेकर असंतोष उत्पन्न हुआ। उसके साथ सातवीं घुड़सवार पल्टन और तोपखाने की कुछ कम्पनियाँ भी थीं। इस समय अधिकारियों को यह भय भी था कि गोरी पल्टनें हिंदुस्तानियो से मिल जायेंगी। एक गोरी पल्टन ने तो साफ-साफ कह दिया कि काली पल्टन अपना हक माँग रही है, उसके खिलाफ वह कुछ न करेगी। इस समय सिख प्रचारक सिपाहियों को यह समझाने का प्रयत्न कर रहे थे कि वे अंग्रेज़ों की आज्ञा न मानें। सिपाहियों को पीछे लौटने की आज्ञा दी जायगी तो सारे सीमांत में विद्रोह की लपटें फैल जायँगी, इस भय से मोसले नाम के अफ़सर ने अपनी जिम्मेदारी पर भत्ते का वादा कर दिया। तनखाह मिलने के दिन सिपाहियों को भत्ते के नाम पर कुछ न मिला। ६४ वीं पल्टन ने तनखाह लेने से इन्कार कर दिया। परेड पर उसने अपने जनरल पर ईटों और पत्थरों की वर्षा की और कहा कि उसे सिंध तक बहका कर लाया गया है। किसी तरह फुसलाने पर लोगों तनखाह ले ली लेकिन हथियार रख दिये और उठाने से इन्कार कर दिया। वे धूप में सत्याग्रह करते हुए खड़े रहे और बराबर यही कहते रहे—वादा पूरा नहीं किया। सारा दिन और सारी रात वे वहीं खड़े रहे। उनकी माँग थी, या तो पुराने हिसाव से भत्ता दो या बर्खास्त करो और घर जाने दो। उन्होंने न खाना पकाया न खाया। आखिर जनरल हन्टर ने उनसे मिलने और शिकायत सुनने का वादा किया। हर कम्पनी में से एक प्रतिनिधि जनरल से मिला। हन्टर ने उस वक्त किसी तरह मामला ठंढा किया। बाद को छः आदमियो को मौत की सजा दी गई। और कई को सख्त कैद की सजा दी गई।

१८४३ में मद्रास की छठी घुड़सवार पलटन को जबलपुर भेजा गया। भत्ते को लेकर उसने भी विरोध-प्रदर्शन किया। अगले साल ४७ वीं पलटन ने बर्मा जाने के सिलसिले में भत्ते को लेकर फिर अपनी मांगें अफसरों के सामने रखीं। सिपाहियों ने परेड के मैदान में एकत्र होकर सत्याग्रह कर दिया। उनको मैदान से हटने का हुक्म दिया गया।

अफ्सरों ने पूछा, हुक्म नहीं सुना। सिपाही बोले, सुना है। पूछा, फिर जाते क्यों नहीं ? सिपाहियों ने जवाब दिया, खाना चाहिये ! अफ्सरों ने सिपाहियों को समझा कर वापस भेजा, नेताओं को पकड़ लिया और कुछ पैसा देकर वाकी को शान्त कर दिया।

१८४५ में पंजाब-युद्ध के समय अंग्रेजों को पता चला कि बिहार के सिपाहियों में विद्रोह का प्रचार किया जारहा है। एक धनी ज़मीदार से सिपाहियों का पत्र-व्यवहार चल रहा था। इस तैयारी में जनता और सिपाहियों का संयुक्त मोर्चा बनाने का प्रयत्न किया गया। के ने लिखा है कि "जनता को विद्रोह के लिये तैयार करने के उत्कट प्रयत्न किये गये थे।" [१२१] कुछ सिपाहियों ने मेजर रौक्रौफ्ट को बताया कि गाँव वाले कहते हैं, हमारे गाँव ने तुम्हारी फौज को पाँच सौ आदमी दिये हैं लेकिन हमारी बात न मानोगे तो तुम्हारा मुकाबला करने को हम दो हज़ार जवान भेजेंगे। इस समय सिपाहियों के प्रतिनिधि पल्टनों में जाकर प्रचार करते थे। अफवाह यह थी कि दिल्ली के बादशाह ने हर सिपाही और अफ्सर को एक महीने की तनखाह देने का वादा किया है बशर्ते कि वे तटस्थ रहें; इस तरह अंग्रेजी राज खत्म हो जायगा। अंग्रेज़ों का विचार था कि विद्रोह की इस तैयारी में सूत्रधार खोजा हसनअली नाम का व्यक्ति था जो सोनपुर के मेले में लोगों से मिलकर कार्य-संचालन करता था। उन्हें एक घुमन्तू पुस्तक विक्रेता पर भी सन्देह था जो पल्टन के मुंशियों को फारसी की किताबें बेचने के नाम पर लोगों से मिलता रहता था।

इस तैयारी में बहादुरशाह का प्रभुत्व स्वीकार करना, शहर के लोगों का फौज से भाईचारा स्थापित करना, पटना में इसी समय हिन्दू-मुसल्मानों का एक लंबे प्रतिज्ञापत्र पर हस्ताक्षर करके अपनी एकता दृढ़ करना—ये सब ऐसे लक्षण हैं जो आगे सन् ५७ में भी देखने को मिले। उनसे पता चलता है कि फौज और जनता का असन्तोष मिल कर विद्रोह का कौनसा रूप लेता जारहा था। इन्हीं दिनों अंग्रेज सेनापति नेपियर ने उत्तरी प्रान्तों का दौरा करके यह पता लगाया था कि हर जगह सेना में असन्तोष है। दिल्ली में उसे इस बात का प्रमाण मिला कि कई पल्टनों ने मिलकर अपना संघ बना लिया है और यह तै कर लिया है कि ज्यादा तनखाह मिले बिना वे पंजाब न जायेंगी। उसने

यह भी सुना कि चौबीस पल्टनें बग़ावत की तैयारी कर रही हैं। बज़ीराबाद में एक पल्टन ने तनखाह लेने से इन्कार कर दिया। चार सिपाहियों के बेड़ियाँ डाल कर सड़क पर काम करने भेजा गया। तीन सिपाहियों को विद्रोह का प्रचार करने के अपराध में पन्द्रह साल की क़ैद की सज़ा दी गई। कुछ को काले पानी की सज़ा मिली। गोविन्दगढ़ में ६६वीं पल्टन ने किले पर कब्ज़ा करने की कोशिश की। फौज से इस पल्टन का नाम काट दिया गया। यह विद्रोह भी भत्ते को लेकर हुआ था। सरकारी आज्ञा आने तक नेपियर ने कुछ पैसा देने का प्रबन्ध कर दिया। इससे लार्ड डलहौज़ी बहुत बिगड़ा। नेपियर ने उसका व्यवहार अनुचित समझकर इस्तीफा दे दिया। सिपाहियों में सेनापति नेपियर और गवर्नर-जनरल डलहौज़ी के झगड़े की जो प्रतिक्रिया हुई, उससे उनकी राजनीतिक चेतना का पता चलता है। के ने लिखा है कि सिपाहियों में जो समझदार थे, उन्होंने देखा कि सरकार के प्रमुख व्यक्तियों में ही आपस में झगड़ा है; इस फूट से अंग्रेज़ी राज से उनका ऐतबार उठ गया।[१९२] लोग इस तरह के झगड़ों को बड़े ध्यान से देखते थे। बाज़ारों और पल्टनों में इस झगड़े की चर्चा होने लगी। इस तरह सिपाहियों की रोटी-रोज़ी की लड़ाई राजनीतिक रूप लेने लगी। सर हेनरी लारेन्स ने लिखा था कि "देशी सेना में मैंने जितनी बार असन्तोष उभरते देखा है, वह प्रायः हर बार तनखाह से संबन्धित था और प्रायः हर बार सिपाहियों ने वही माँगा था जिस पर मौजूदा नियमों के अनुसार उनका हक था।"[१९३] इस समय डलहौजी एक के बाद दूसरा देशी राज्य अंग्रेज़ों के अधिकार में करता जा रहा था। सिपाही इस नीति से भी असंतुष्ट थे। के ने इस पर टिप्पणी की है : सिपाही राज्यों पर अधिकार करने के अंग्रेज़ी सिद्धान्त से सहमत न थे; पंजाब और सिन्ध में वे इस नीति से अप्रसन्न थे। इससे भी स्पष्ट है कि सिपाहियों की राजनीतिक चेतना प्रखर हो रही थी; वे अंग्रेजों की अन्यायपूर्ण कूटनीति का मर्म समझते थे। अंग्रेज़ों ने जब सिन्ध को बंगाल के सूबे में मिला दिया तो एक सिपाही ने इस पर व्यंग्य करते हुए कहा था, शायद अब हुक्म होगा कि लंदन को बंगाल में मिला लिया जाय![१९४] भारतीय जनता के अन्य अंगों की तरह सिपाहियों को भी विश्वास होगया था कि अंग्रेजी राज टिकाऊ नहीं है। के ने एक अंग्रेज अफसर से हिन्दुस्तानी

सूबेदार की बातचीत का उल्लेख किया है। १८३२ में उस सूबेदार ने नौकरी खत्म होने पर अफ्सर से विदा लेते हुए, उससे कहा, अगले पच्चीस साल में कंपनी का राज ख़त्म होजायगा और हिन्दू राज कायम होगा। [१९५]

इन तमाम उदाहरणों से एक बात स्पष्ट हो जाती है कि हिन्दुस्तानी फौज अंग्रेजी राज से असन्तुष्ट थी और उसे उसके स्थायित्व में विश्वास न था। सिपाहियों ने सबसे अधिक असन्तोष भत्ते और तनखाह को लेकर प्रकट किया था। उनका यह आन्दोलन ज़ोर पकड़ता गया यहाँ तक कि सेनापति नेपियर को विश्वास होगया कि उत्तर भारत की तमाम देशी पल्टनें विद्रोह करने पर तुली हुई हैं। नेपियर ने अंग्रेज़ों को चेतावनी दी थी कि "वह [सिपाही] अभी वफादार है लेकिन हम उसे वफ़ादार बनाये रखने के लिये कुछ भी नहीं करते। मुझे इससे क्या करना है। जो आगे होने वाला है, उसे मैं देख रहा हूँ। जब वह होगा तब मैं मर चुका हूँगा लेकिन वह होगा ज़रूर।"[१९६] सर सिडनी कौटन ने लिखा है कि विद्रोह आरंभ होने के पहले उसका नौकर उसे छोड़ जाना चाहता था। उसका कहना था, "सारे देश में बगावत होने वाली है जिसमें सिपाहियों की फौज अगुवाई करेगी।"[१९७] यदि कातूसों की घटना न भी होती, तो भी विद्रोह होता। पलासी के युद्ध के बाद से नेपियर के बिदा होने तक की सारी घटनाएं एक ही तथ्य की ओर संकेत करती हैं: अंग्रेज़ों के व्यवहार से दिन पर दिन सिपाहियों का असंतोष बढ़ता जाता था और वे अंग्रेज़ी राज का खात्मा करने की तैयारी करने लगे थे। के ने यह दिखाने का प्रयत्न किया है कि सिपाही अन्धविश्वासों से पीड़ित थे। भेड़चाल के नियम से एक जिधर भागा, उधर ही सब भाग चले। उनके धार्मिक विश्वासों को ठेस न लगती तो अंग्रेज़ों को सन् सत्तावन की चुनौती का सामना न करना पड़ता। के ने पचास साल का जो इतिहास दिया है, उसीसे इस स्थापना का खंडन हो जाता है। नेपियर के समय में कातूसों का नाम निशान यहाँ न था; फिर भी सेनापति को पल्टनों के संघबद्ध होने और विद्रोह की तैयारी करने का प्रमाण मिला था। उसने बड़े आत्मविश्वास से कहा था कि सिपाहियों को वफादार बनाये रखने के लिये कोई प्रयत्न नहीं किया जा रहा है और उसे भविष्य के प्रति जो शंका है, वह सत्य

होकर रहेगी। के आदि इतिहासकारों से नेपियर की बात ही अधिक तथ्यपूर्ण है।

फील्डमार्शल रौबर्ट्स ने हिन्दुस्तानी सेना में अंग्रेजों के अटूट विश्वास का उल्लेख करते हुए इस बात पर आश्चर्य प्रकट किया है कि लगभग सौ साल तक चेतावनी पाने पर भी अंग्रेजों ने परिस्थिति को न समझा। [१९८] चेतावनी देशी सेना के असन्तोष के बारे में थी। जब से इस सेना का निर्माण हुआ, तभी से उसमें असंतोष भी बढ़ता रहा। अंग्रेज इस चेतावनी पर ध्यान इसलिये न देते थे कि उनकी मार और गाली सहने वाले हज़ारों सिपाही मौजूद थे। दस सिपाही विद्रोह करते थे तो पचास वफ़ादारी दिखाने के लिये तैयार रहते थे। इसलिये उन्हें विश्वास था कि कुछ पल्टनों को तोड़कर और हजार-पाँच सौ सिपाहियों को मृत्युदंड देकर वे फिर अपना आतंक बनाये रहेंगे। सन सत्तावन में सिपाहियों के व्यापक असन्तोष और उसके संगठित रूप ने उन्हें आश्चर्य में डाल दिया। यह असन्तोष लगभग सौ साल से पनप रहा था। कार्तूसों की घटना को इस लम्बे चले आते व्यापक असन्तोष के संदर्भ में देखना चाहिये।

कार्तूसों में वस्तुतः चर्बी मिली हुई थी जिसकी जानकारी सिपाहियों को थी। मैरियट ने इस सत्य को स्वीकार किया है: "चर्बी लगे कार्तूसों की कहानी सच्ची थी। बेहद मूर्खता और लापर्वाही से सुअर और गाय की चर्बी को वह कागज़ चिकना करने के लिये इस्तेमाल किया गया था जिसमें बारूद रहती थी।" [१९३] के ने लिखा है कि कार्तूसों-सम्बन्धी धारणा झूठ नहीं थी। [१९४] चर्बी सप्लाई करने का काम गंगाधर बनर्जी नाम के सज्जन करते थे। २९ जनवरी १८५७ को सरकार ने एक गश्ती चिट्ठी भेजी कि सुअर और गाय की चर्बी काम में न लाई जाय। इस चिट्ठी का उल्लेख करने के बाद के ने लिखा है कि यद्यपि सुअर की चर्बी (Hog's lard) सप्लाई न की गई थी, फिर भी इसमें कोई सन्देह नहीं कि गाय की चर्बी मिलाई गई थी ("There is no question that some beef-fat was used in the composition of the tallow.") [१९५] अंग्रेज़ों का व्यवहार सन्देह उत्पन्न करने वाला था। इसके साथ ही वे अनेक फौजी अफ़सरों को ईसाई धर्म का प्रचार करते देख चुके थे। इसलिये अंग्रेज़ों के सफ़ाई देने पर उनका

विश्वास न करना स्वाभाविक था। कातूँसों के कारण विद्रोह हुआ, इस मनगढ़न्त कहानी पर अनेक अंग्रेज़ लेखकों को भी विश्वास नहीं है। मैलीसन ने उन लेखकों की आलोचना की है जो विद्रोह के कारणों की छानबीन करते हुए कातूँसों के उल्लेख से सन्तुष्ट हो जाते हैं। अधिकांश सेना को चर्बी लगे कातूँस दिये भी नहीं गये थे। यदि यह कहा जाय कि हिन्दू धर्म या इस्लाम की रक्षा के लिये सहानुभूति के कारण और सिपाहियों ने विद्रोह मे भाग लिया तो इस तथ्य की व्याख्या करनी होगी कि धर्म के लिये इतना ही जोश दक्षिण में क्यों नहीं था। जेम्स् लीसर ने ठीक लिखा है, "विद्रोह उन कातूँसों की प्रसिद्ध घटना से स्वत: फूट पड़ने वाली आकस्मिक घटना न थी जिनके बारे में सिपाहियों को विश्वास था कि उनमें गाय और सुअर की चर्बी लगी है। घटनाओं की शृङ्खला में यह एक कड़ी थी लेकिन निस्संदेह सबसे महत्वपूर्ण कड़ी नहीं थी।"[१९६]

के ने सिपाहियों के ईमान के बारे में लिखा है कि कभी-कभी उनका ईमान बहुत लचीला हो जाता है; ऐसा भी होता है जब हिन्दू और मुसलमान दोनों ईमान के मामले में अड़ जाते हैं।[१९७] के ने यह समझने की कोशिश नहीं की वह समय कौन सा होता है जब वे ईमान पर अड़ जाते हैं अथवा उसे लचीला बना लेते हैं। जब देशभक्ति का तकाजा होता था, तब वे गाय और सुअर की चर्बी के प्रति अपनी धार्मिक भावना को उठाकर ताक पर रख देते थे। जब अंग्रेज़ों की ओर से उनकी धार्मिक भावनाओं का अनादर किया जाता था, तब वे ईमान पर अड़ जाते थे। मेरठ में उन्होंने चर्बी लगे कातूँसों के विरुद्ध विद्रोह-प्रदर्शन किया और विद्रोह होने पर सबसे पहले उन्होंने इन कातूँसों को अपने झोलों में भरा! ह्यू गफ़, जो बाद में जनरल हो गया, मेरठ में मौजूद था। उसने आंखों देखे दृश्य का वर्णन करते हुए लिखा है कि लाइनों में आग लगाने के बाद सिपाही मैगजीन की ओर दौड़े और उन्होंने इस बात की जरा भी चिन्ता न की कि जिन कातूँसों को वे लिये जा रहे हैं, वे अपवित्र हैं।[१९८] १५ अगस्त १८५७ को बौम्बे टाइम्स के दीनापुर-स्थित सम्वाददाता ने लिखा था कि वहाँ के सिपाहियों ने मेजर आयर के दल के विरुद्ध अपने एनफील्ड राइफलों और चर्बी लगे कातूँसों—सभी का उपयोग किया ("used their Enfield rifles,

greased cartridges and all against Major Eyre's party.")।[१९९] अवध से हटती हुई जो विद्रोही सेना नेपाल पहुँची थी, उसके पास आठ-दस एनफील्ड राइफल तब भी बचे रह गये थे।[२००] इन तथ्यों से स्पष्ट है कि सिपाहियों ने क्रान्ति के आरम्भ से ही एनफील्ड राइफल और उसके लिये आवश्यक उन कातूसों का उपयोग किया था जो धार्मिक दृष्टि से वर्जित थे। आगरा कालेज के अध्यापक डाक्टर सत्यनारायण दुबे की ननिहाल के लोगों ने सन् सत्तावन में सिपाहियों की हैसियत से युद्ध किया था। उनके यहाँ यह इतिहास अभी तक प्रसिद्ध है कि कट्टर ब्राह्मण-परिवार में जन्म लेकर भी उन लोगों ने अंग्रेज़ों के विरुद्ध उन वर्जित कातूसों को काटकर चलाया। १५ जून १८५७ को कैप्टेन ग्रीन ने मेजर-जेनरल ह्येयर से को पत्र में लिखा था कि कातूसों के बारे में पूछने पर एक मुसलमान सिपाही ने उत्तर दिया कि शुरू में तो लोग चर्बी की बात पर विश्वास करते थे "लेकिन बाद को सभी समझते थे कि कातूसों का सवाल सिर्फ सिपाहियों को उत्तेजित करने के लिये उठाया गया था जिससे अंग्रेज़ी हुकूमत का तख्ता उलटने के लिये सारी सेना विद्रोह करे।"[२०१] १५ जून के पहले ही सिपाही जानते थे कि मूल उद्देश्य अंग्रेज़ी हुकूमत का तख्ता उलटना है; पहले वे भले कातूसों की बात पर विश्वास करते रहे हों लेकिन विद्रोह के प्रसार से उसका कोई सम्बन्ध न था।

उस समय हिन्दुस्तान में ऐसे अंग्रेज़ थे जो सरकार की ओर से दिये हुए विद्रोह के कारणों से असहमत थे। उन्हें कातूसों के कारण विद्रोह होने की बात पर विश्वास न था। बौम्बे टाइम्स ने अपने दीनापुर के सम्वाददाता का समाचार उद्धृत करने के बाद लिखा था, "हम समझते हैं कि विद्रोह के कारण-स्वरूप कातूसों की कहानी अब खत्म हो जाती है और देशी लोगों की धार्मिक भावनाओं को चोट लगने की रट पच्चीस साल के लिये बन्द हो जायगी।" इससे भी पहले, मेरठ में विद्रोह आरम्भ होने के दो दिन पहले, ८ मई १८५७ को बौम्बे टाइम्स के सम्वाददाता ने सेना के असन्तोष और सिपाहियों की विद्रोह-भावना पर टिप्पणी करते हुए लिखा था, "बंगाल की देशी सेना में विद्रोही और विद्रोह-भावना सुअर या बैल की चर्बी से या ईसाई बनाये जाने के

डर से या जात जाने के भय से या हिन्दू-मुसलमान सिपाहियों के मन में हाल की किसी शंका से उत्पन्न नहीं हुए वरन् उनका कारण सरकार है जो अब स्वभावतः घबड़ा उठी है और परेशान है।" इस लेखक का यह मत नहीं है कि अंग्रेज़ सरकार के कुशासन से सिपाही विद्रोह कर रहे हैं। उसका आशय यह है कि सरकार ने सीधे-सादे सिपाही को अंग्रेज़ सैनिक जैसा बनने की धुन में उसे होशियार, झगड़ालू, हथियारों से लैस और अपने भरोसे चलने वाला सैनिक बना दिया है। सम्वाददाता की राय में अंग्रेज़ अफ़सरों ने देशी आदमी का चरित्र न समझ कर उसे सुविधाओं पर सुविधाएँ देकर उसका दिमाग आसमान पर चढ़ा दिया है; इसलिये वह अब अपने को "फौजी तानाशाही" (मिलिटरी डिक्टेटर-शिप) का अङ्ग समझने लगा है। बौम्बे टाइम्स के लेखक की बातों में यह तथ्य सही नहीं है कि सिपाही अपने को फौजी तानाशाही का अङ्ग समझने लगा था क्योंकि अंग्रेज़ों की गालियों और उन्हें अपने से ज्यादा तनखाह और सुविधाएँ मिलते देखकर वह असन्तुष्ट रहता था। यह बात जरूर सच है कि अंग्रेज़ों ने यहाँ फौजी तानाशाही कायम कर रखी थी और उससे लड़ने का मुख्य कारण कातूसों की घटना न थी। सिपाही कातूसों के कारण विद्रोह करने पर नहीं तुल गये, इसका एक प्रमाण यह भी है कि पहली मई ५७ को हेनरी लारेंस ने गवर्नर जेनरल को लिखा था, "फौज की अवस्था के बारे में मेरे पास बहुत से पत्र आये हैं। इनमें से अधिकांश में कातूस या अन्य ऐसी किसी समस्या को वर्तमान असंतोष का कारण नहीं माना गया है। उनके अनुसार सरकार के हाल के बहुत से कामों से असन्तोष पैदा हुआ है जिसका उपयोग भड़काने वालों ने चतुराई से किया है। मेरा यही मत है।"[२०] केव ब्राउन ने यह मत प्रकट किया है कि विद्रोह का कारण कातूस न था वरन् मुगल-साम्राज्य को फिर स्थापित करने का प्रयत्न था।[२०३] लेफ्टिनेंट जेनरल मैक्लिग्रौड इन्स ने कातूसों को विद्रोह की व्याख्या के लिये समुचित कारण नहीं माना।[२०४] नेपियर के एक अनुयायी ने डलहौजी को विद्रोह का मूल कारण माना है जिसका यही अर्थ हो सकता है कि भारतीय जनता उसकी देशी राज्य हड़पने की नीति से असन्तुष्ट थी।[२०५] होप ग्राएट ने कातूसों को हवा का झोंका बतलाया है; उनके अनुसार विद्रोह की कारण-

सामग्री वर्षों से एकत्र हो रही थी।[२०६] जिन अंग्रेज़ों ने विद्रोह के कारणों को समझने का प्रयत्न किया है और सिपाहियों को अन्ध-विश्वासी मानकर सन्तोष नहीं कर लिया, उन सभी ने कातूसों वाला तर्क अस्वीकार किया है।

सिपाहियों ने संथालों से जो अग्निबाण चलाने की कला सीखी थी, उसका उपयोग उन्होंने बैरकपुर में अंग्रेज़ अफ़सरों के बँगले जलाने के लिये किया। सौ मील दूर रानीगंज में भी इसी तरह बँगले जलाये गये। विभिन्न पल्टनों में संपर्क कायम था, इसीलिये बैरकपुर और रानीगंज में एक सी घटनाएँ हुईं। असन्तोष सेना के बाहर भी था। के ने लिखा है कि मुर्शिदाबाद के नवाब का इशारे पाने पर शहर के हजारों आदमी विद्रोह कर देते क्योकि खुद कमजोर होने पर भी नवाब के नाम का असर बहुत था।[२०७] मुर्शिदाबाद का नवाब साथ देता तो बहरामपुर में सेना का विद्रोह (२६ फर्बरी १८५७) क्रान्तिकारी रूप ले लेता और पूर्वी बँगाल में फैल जाता। इस विद्रोह में सिपाहियों ने कातूंस लेने से इन्कार किया था किन्तु उन्होंने अफ़सरों को नहीं मारा, न हथियार लेकर वहाँ से वे भागे ही। उन्होंने अफ़सरों के कहने से परेड के मैदान में अपने हथियार जमा कर दिये। अंग्रेज़ों ने अपने चलन के अनुसार सिहाहियों को तोपों से घेर कर हथियार रखने की आज्ञा दी थी। ३१ मार्च को बैरकपुर में १६ वीं पल्टन को भंग कर दिया गया। सिपाहियों को कुछ पैसा देकर घर रवाना कर दिया। सम्भवत: ३४ वीं पल्टन के लोगों ने १६ वीं से विद्रोह करने और अंग्रेज़ों से लड़ने को कहा था लेकिन उसने यह प्रस्ताव अस्वीकार कर दिया था।[२०८]

सिपाहियों की विद्रोह-भावना षड़यन्त्र का रूप न लेकर एक आंदोलन का रूप ले रही थी। अंग्रेज़ी राज से जीवन-मरण का युद्ध छेड़ने के लिये सभी पल्टनों को तैयार करना आसान न था। १६१७ में जार की पल्टनों को लगातार प्रचार और आन्दोलन के बाद क्रमश: राज्य-सत्ता के विरुद्ध लड़ने को तैयार किया जा सका था। हिन्दुस्तान में विदेशी सत्ता थी, इसलिये सिपाहियों का संगठन करना ज्यादा आसान था। लेकिन यह संगठन हिन्दुस्तान के लोग १६१७ से साठ साल पहले किसी राजनीतिक पार्टी के बिना ही कर रहे थे, यह भी ध्यान में रखना चाहिये। सिपाहियों ने संगठित होकर अंग्रेज़ी राज का विरोध किया

या जहाँ जिसके मन में आया, वह लड़ गया—इस समस्या को हल करने में इतिहासकारों ने यह दलील दी है कि संगठित संघर्ष होता तो एक ही दिन सब छावनियों में विद्रोह फूट पड़ता। ऐसे लोग षड़यन्त्र और संगठन को पर्यायवाची शब्द समझते हैं। सिपाहियों का विद्रोह षड़यन्त्र न होकर एक आन्दोलन था। इस आन्दोलन को संगठित करने और उसे बढ़ाने के प्रयत्न आरम्भ से ही किये गये थे। देशी पल्टनें स्वेच्छा से ही विद्रोह कर सकती थीं। यदि धार्मिक अन्धविश्वासों का मामला होता, यदि सिपाही सचमुच भेड़चाल का अनुसरण करने वाले होते तो फर्वरी में ही सारे भारत में विद्रोह फैल गया होता। संगठन और प्रचार में समय लगता है; सभी सिपाहियों और पल्टनों को उस सीमा पर लाने के लिये बड़े धैर्य की आवश्यकता थी जहाँ वे शक्तिशाली अंग्रेज़ी राज से अन्तिम युद्ध के लिये तैयार हो जायँ। इसलिये सेना का विद्रोह पहले कुछ धीमे, फिर तीव्र गति से आगे बढ़ा था। इस तरह की विषम प्रगति किस क्रान्तिकारी आन्दोलन में नहीं मिलती?

बंगाल की दूसरी पल्टन ने होली के अवसर पर तेंतालीसवीं पल्टन को दावत देना चाहा। ये दोनों पल्टनें कन्दहार में साथ रह चुकी थीं। तेंतालीसवीं को अवश्य ही दावत का राजनीतिक उद्देश्य मालूम रहा होगा; उसने दावत में शामिल होने से इन्कार कर दिया। दूसरी पल्टन के एक ज़मादार ने सत्तरवीं पल्टन के लोगों को समझाया कि झोंपड़ी मत बनाओ क्योंकि इनमें आग लगायी जायगी। उसने कार्तूस न काटने के लिये भी उनसे कहा। सत्तरवीं के कुछ आदमियों ने उस जमादार को अंग्रेज़ों के हवाले कर दिया। दूसरी पल्टन के दो सिपाहियों ने चौंतीसवीं के लोगों को विद्रोह करने की सलाह दी। चौंतीसवीं के सूबेदार ने उन्हें पकड़वा दिया। इन घटनाओं से पल्टनों की चेतना के स्तर की भिन्नता का पता चलता है। विद्रोह की तैयारी में पहल करने वालों को भारी कीमत चुकानी पड़ रही थी, यह भी स्पष्ट है। बंगाल की इन पल्टनों में दूसरी पल्टन की राजनीतिक चेतना सबसे प्रखर थी। यह पल्टन संथालों के सम्पर्क में आ चुकी थी। अंग्रेज़ों को शक था कि रानीगँज में इसीने बँगलों में आग लगाई है। संथालों के तीरों से बैरकपुर के तारघर का बँगला जलाया गया था। तारघर का जलाना विद्रोह की तैयारी का सूचक था। एक डाक्टर ने दूसरी पल्टन के एक

सिपाही को यह कहते सुना था कि बहरामपुर और दीनापुर की पल्टनों को कासिद भेजा गया है जो उनसे विद्रोह में शामिल होने को कहेगा। यह बात मेजर मैथ्यूज ने १२ फर्वरी को अपने बयान में कही थी जिसके बहुत दिन बाद दीनापुर की फौज ने विद्रोह किया था। दूसरी पल्टन के बुद्धीलाल तिवारी और वहादुरसिंह नाम के दो वीर सैनिकों को विद्रोह-भावना फैलाने के अपराध में कोर्ट-मार्शल द्वारा चौदह वर्ष के लिये कठिन कारावास का दण्ड दिया गया था। जिस सूबेदार ने इनके विरुद्ध गवाही दी थी, उससे स्वयं बुद्धीलाल ने जिरह की थी। बुद्धीलाल ने उससे पूछा था, "क्या हमारी-तुम्हारी पहले से जान-पहचान थी जो मैंने तुमसे किले में चलने को कहा था?"

२६ मार्च को ३४ वीं पल्टन के सैनिक प्रसिद्ध मंगल पांडे ने विद्रोह किया। अपनी झोंपड़ी से निकलकर उन्होंने और सिपाहियों से पीछे आने को कहा लेकिन सिपाहियों ने साथ न दिया। लेफ्टिनेंट बौ (Baugh) तलवार और पिस्तौल लेकर उन्हें पकड़ने दौड़ा। मंगल पांडे ने तोप के पीछे से निशाना साध कर गोली चलाई। बौ का घोड़ा घायल होकर गिर पड़ा। बौ ने किसी तरह ज़मीन से उठकर गोली चलाई लेकिन वह लगी नहीं। इस पर उसने तलवार निकाल ली। मंगल पाँडे भी तलवार निकाल कर बौ पर टूट पड़े। इस बीच अंग्रेज़ सार्जेंट मेजर भी बौ की सहायता के लिये आ पहुँचा। मंगल पाँडे ने दोनों को घायल कर दिया और वे जान लेकर भागे। इसके बाद मेजर-जेनरल हेयरसे वहाँ अपने लड़कों के साथ आया। मंगल पाँडे ने सिपाहियों को ललकारा लेकिन वे अभी इस हद तक ही आगे बढ़े थे कि अंग्रेजों की मदद न करें। मंगल पाँडे ने उन्हें कायर कह कर लज्जित किया और उन पर यह दोष भी लगाया कि पहले तो उन्हें उत्तेजित किया, बाद को साथ न दिया।[२१०] इसका अर्थ यह है कि मंगल पाँडे का कार्य आकस्मिक-क्रोध का विस्फोट न था। विद्रोह की तैयारी की गई थी लेकिन उनके साथियों ने समय पर साहस न दिखाया। साथियों के दग़ा करने पर मंगल पाँडे ने हेयरसे पर गोली न चला कर बंदूक का कुन्दा ज़मीन पर रखा और नली छाती से सटा कर पैर से कुन्दा दबा दिया। छब्बीस वर्ष का यह तरुण सैनिक घायल होकर ज़मीन पर गिर पड़ा। आठ अप्रैल सन् सत्तावन को बैरकपुर में सिपाहियों के सामने घायल मंगल

पाँडे को अंग्रेज़ों ने फाँसी दी।

सार्जेंट मेजर ह्यूसन ने मंगल पाँडे से लड़ने के सिलसिले में बयान दिया था कि उस पर किसी ने पीछे से दो बार बंदूक के कुन्दे से आक्रमण किया था। विद्रोह करने के अपराध में जमादार ईसुरी पांडे को भी मृत्यु-दंड मिला।

यह विद्रोह-भावना दो-चार आदमियों को फांसी देने से दबनेवाली न थी। अंग्रेज जानते थे कि वह बहुत व्यापक है। ११ फरवरी ५७ को ही हेयरसे ने सेना के अजटंट-जेनरल को लिखा था, "लगता है कि यहाँ के सिपाहियों में विद्रोह-भावना बहुत गहरी समा गई है। जब ३४ वीं पल्टन के विद्रोही सिपाहियों को निकालने की बात चली तब कैनिंग ने आज्ञा दी कि किसी एक धर्म या जाति के ही सिपाही विद्रोही नहीं हैं, इसलिये सभी धर्मों और जातियों के लोगों को सज़ा मिलनी चाहिये। ६ मई को ३६३ आदमियों को सेना से निकाला गया जिनमें २६ सिख और ४६ मुसलमान थे।[२११] इस पल्टन के एक सिपाही ने फर्वरी में बयान दिया था कि कई पल्टनों के सिपाही अपने प्रतिनिधि भेजकर सभा करने वाले थे।[२१२] एक जमादार ने बयान दिया था कि लोग रात में मुँह ढके हुए परेड के मैदान में मिले थे और उन्होंने अफ्सरों को मारने और छावनी को लूटने की योजना बनाई थी। इन सब तथ्यों से यह निष्कर्ष निकलता है कि विद्रोह की तैयारियाँ फर्वरी से आरंभ हो गई थीं। अंग्रेज हिन्दुस्तानी सिपाहियों की विद्रोह-भावना से अपरिचित न थे। उन्हें दिनरात सेना और जनता दोनों के विद्रोह का भूत सताया करता था। हेयरसे के पत्रों में विद्रोह की आशंका का उल्लेख है। उसने सर चार्ल्स मेटकाफ के इन शब्दों को उद्धृत किया था, "किसी दिन सबेरे उठ कर देखूंगा कि हिन्दुस्तान अंग्रेजों के हाथ से निकल गया है।"[२१२] के ने लिखा है कि कलकत्ते में अफवाह थी कि मार्च में देशी सेनाकी आम बग़ावत होगी।[२१३] कैनिंग ने लिखा था, बाज़ारों में लोग विश्वास के साथ कहते हैं कि दूसरी और चौंतीसवीं पल्टनें उन्नीसवीं का साथ देना चाहती हैं। बंगाल में विद्रोह न फैलने का एक कारण अनेक सामंतों द्वारा अंग्रज़ों की सहायता थी। कर्नल जौर्ज मैकग्रिगर के कहने से बंगाल के नवाब नाज़िम ने "शान्ति और व्यवस्था" के पक्ष में अपना सारा ज़ोर लगा दिया।[२१४]

२४ अप्रैल को तीसरी घुड़सवार सेना ने मेरठ में अफ्सरों की आज्ञा मानसे से इन्कार कर दिया । विद्रोहियों को कैद कर दिया गया।

३ मई को लखनऊ में सातवीं पैदल सेना ने विद्रोह किया। उसके हथियार रखवा लिये गये और नेताओं को पकड़ लिया गया।

१० मई को मेरठ में सिपाहियों ने अपने साथियों को जेल से छुड़ा लिया। हथियार रखने के बदले उन्होंने अपने को और भी हथियारों से लैस किया। इस तरह फर्वरी से अप्रैल तक की घटनाओं की परिणति मेरठ में दस मई के विद्रोह में हुई।

सत्ता के लिये संघर्ष

मई सन् सत्तावन

मेरठ में पचासी घुड़सवारों ने कार्तूस लेने से इन्कार कर दिया। इनमें ३६ हिन्दू और ४६ मुसलमान थे। क्या उन्हें चर्बी लगे हुए कार्तूस दिये गये थे ? गफ़ का कहना है कि सिपाहियों को मालूम था कि मैगज़ीन से निकाले हुए ये पुराने कार्तूस हैं।[1] गफ़ की यह बात सत्य मानी जाय तो सिपाहियों का कार्तूस न लेना एक बहाना ही सिद्ध होगा। मेरठ में जिस तरह विद्रोह की तैयारी हुई थी, उससे इस तरह की बात होना असंभव नहीं है। कार्तूस न लेने वाले सिपाहियों का कोर्टमार्शल हुआ। अजटेंट की बातें सुन कर उन्होंने चिल्लाकर कहा, झूठ है, झूठ है। उन पर जो अभियोग लगाया गया था, उससे वे सहमत न थे। मैदान में उनकी वर्दियाँ उतरवा कर उनके बेड़ियाँ डलवाई गईं। गोरी पल्टन ने उन्हें दोनों ओर से घेर लिया था और विद्रोह होने पर वे दमन के लिये तैयार थे। जब वे हाथों में जूते लिये हुए गोरी पल्टन के पास से निकले तो कई ने कर्नल की तरफ़ जूते फेंके और उसे मातृभाषा में ज़ोर से गालियाँ सुनाईं। सिपाहियों को जेल भेज दिया गया।

उस दिन, ६ मई की शाम को, गफ़ के पास एक हिन्दुस्तानी अफसर आया। उसने कहा कि मेरठ के सिपाही निश्चित रूप से दस मई को विद्रोह करेंगे। उसने यह भी कहा कि वे जेल से अपने साथियों को छुड़ायेंगे। गफ़ अपने कर्नल के पास गया और उसे सारी घटना सुना दी। कर्नल ने इस तरह की खबरें लाने के लिये उसे डाटा। इसके बाद गफ़ ब्रिगेडियर के पास गया और वहाँ भी उसे फटकार सुनने को मिली। मेरठ-विद्रोह के बारे में अंग्रेज़ों द्वारा एक प्रचारित कहानी यह है कि बाज़ार की वेश्याओं ने सिपाहियों पर ताने कसे कि उन्होंने अपने

साथियों को चुपचाप बेड़ियाँ पहन कर चला जाने दिया। इससे विद्रोही उत्तेजित हो गये और उन्होंने निश्चित दिन—३१ मई—की राह न देख कर अचानक विद्रोह कर दिया।

यदि सिपाहियों ने आवेश में आकर विद्रोह कर दिया तो एक दिन पहले उस हिन्दुस्तानी अफ्सर को कैसे मालूम होगया कि कल विद्रोह होने जारहा है? वह गफ़ का मित्र था और दूसरे दिन उसने अपने अंग्रेज मित्र की प्राणरक्षा भी की। उसने जो सूचना दी थी, वह निराधार नहीं थी। इसके सिवा विद्रोही अचानक उत्तेजित होगये तो वे इतवार को दिन भर क्यों शान्त बैठे रहे? या उन्होंने वेश्याओं के ताने दोपहर को सुने थे? इसके सिवा सिपाहियों से पहले शहर की जनता विद्रोह के लिये कैसे तैयार हो गई थी? यह विद्रोह अंग्रेजी राज के खिलाफ जनता का युद्ध था। इसका संकेत १० मई को ही मिल गया। कमिश्नर विलियम्स नाम के अफ्सर का कहना था कि "शहर के लोग हथियारों से लैस होगये थे, सिपाहियों के आततायीपन शुरू करने के पहले ही हमले के लिये तैयार होगये थे।" [२] यह असंभव है कि क्षणिक आवेश में सिपाही विद्रोह करने पर तुल जायँ और उसी क्षण सिपाहियों से भी पहले शहर की जनता भी हथियार-बंद हो जाय। अवश्य ही विद्रोह की तैयारी काफी पहले से होती रही थी। सिपाहियों और जनता में संपर्क बना हुआ था। दस मई का दिन विद्रोह के लिये निश्चित किया हुआ दिन था। साधारण जनता की तैयारी इसके बिना असंभव होती। शहर के ही नहीं, मामूली खेड़ों और गाँवों के लोग भी हथियारबंद हो चुके थे। सिपाहियों के गोली चलाने के पहले सदर बाज़ार के निवासी भाले, तलवार आदि लेकर गलियों-कूचों में तैयार थे। [२] अंग्रेज़ों के हिन्दुस्तानी नौकर साधारणतः उस दिन उन्हें छोड़ कर चल दिये थे। उन्हें मालूम था कि क्या होने जारहा है। के ने लिखा है कि आसपास के गाँवों में हलचल के चिन्ह दिखाई देते थे। "बच्चे तक देख सकते थे कि कुछ होने जा रहा है। हर तरह के आदमी हथियारों से लैस हो रहे थे।"[३] इस तरह की तैयारी राज्य-क्रान्ति की विशेषता है। अचानक फूट पड़ने वाले सैनिक-विद्रोहों में जनता इतनी तैयारी से हिस्सा नहीं ले सकती। मेरठ में अंग्रेजों तक यह अफवाह भी पहुँची थी कि शहर में इश्तहार चिपकाये गये हैं जिनमें अंग्रेजी राज के

विरुद्ध उठ खड़े होने के लिये जनता का आह्वान किया गया था।[४] एक आया की कहानी भी इतिहासकारों ने लिखी है जिसने पादरी को गिर्जाघर जाने से रोका था।

शाम को विद्रोह आरम्भ करने के बाद सिपाहियों ने हथियार-घर से हथियार लिये और वे कार्तूस भी सँभाले जिन्हें अपवित्र कहा जाता था। उसके बाद वे जेल की ओर चले। के ने लिखा है कि कुछ तो वर्दी में थे, कुछ सादी पोशाक में थे। ऐसा मालूम होता है कि अंग्रेज़ों के मन में सन्देह उत्पन्न न हो, इसलिये सिपाही अपने साधारण कामों में लगे थे। नियत समय आने पर जो जैसा था, वैसा ही उठकर हथियार लेने और जेल से अपने साथियों को छुड़ाने चल दिया। सिपाहियों ने लोहे के सींखचे निकाल कर फेंक दिये। लुहारों ने बन्दी सिपाहियों की बेड़ियाँ काट दीं। पच्चासी सिपाही जेल से बाहर आ गये। सिपाहियों ने और बंदियों को नहीं निकाला, न उन्होंने गोरे जेलर के परिवार पर आक्रमण किया। जेल की फौजी गारद उनके साथ हो ली। पुलिस ने सिपाहियों का साथ दिया। अंग्रेज़ी न्याय-व्यवस्था के स्तम्भ जेल और पुलिस देखते-देखते ढह गये। खजाने की गारद ने सिपाहियों को चार्ज सौंप दिया। के ने सिपाहियों की ईमानदारी के बारे में लिखा है, "सिपाहियों ने एक रुपया भी नहीं छुआ।"[५]

सिपाहियों ने उस दस मई की शाम को अनेक अंग्रेज़ों की जान बचाई। गफ ने स्वीकार किया है कि देशी अफसरों की कृपा के फल-स्वरूप उस पर हमला नहीं हुआ। कुछ सिपाहियों ने उसके घोड़ों की लगाम पकड़ कर उसे भाग जाने को कहा। कुछ लोग उसके पीछे चिल्लाते हुए दौड़े "यद्यपि मुझे अब भी विश्वास नहीं है कि वे हमारी जान लेना चाहते थे या बचकर निकलने से हमें रोकना चाहते थे क्योंकि ऐसा होता तो हम निकल न सकते थे।"[६] गफ ने बाजार में देखा कि लोग तलवार, भाले और लाठियाँ लिये खड़े हैं। विद्रोह में जनता की यह एकता देखकर वह चकित रह गया यद्यपि उसकी समझ में यही आया कि काले आदमी गोरों से यह घृणा नस्लभेद के कारण प्रकट कर रहे हैं। उसे लगा कि वह घृणा और क्रोध का नरक पार कर रहा है। गफ़ के रक्षक ने हिन्दुस्तानी अफ्सर और उसके दो सवारों ने उसे तोपखाने की लाइन तक पहुँचा दिया। गफ़ ने उस अफ्सर से रुकने

के लिये कहा। वह गफ़ की प्राण-रक्षा इसलिये न कर रहा था कि उसे अंग्रेज़ी राज से प्रेम था। उसे गफ़ से या अन्य किसी अंग्रेज़ से व्यक्तिगत द्वेष न था। उसने उत्तर दिया कि उसे अपनी पल्टन के साथियों के प्रति अपने कर्तव्य का पालन करना है। इसलिये चाहे जिये, चाहे मरे, उसे अपने साथियों के पास लौटकर जाना है। अंग्रेज़ लेखकों ने विद्रोही सिपाहियों को स्त्रियों और बच्चों का हत्यारा, लुटेरा, आग लगा कर शैतान की तरह नाचने वाला, क्या-क्या नहीं कहा है। उपर्युक्त घटनाएँ बतलाती हैं कि विद्रोही-पक्ष में कितने उदार और सहृदय व्यक्ति थे जिन्होंने अंग्रेज़ों के नस्लभेद से ऊँचे उठकर एकमहान् कर्तव्य के लिये युद्ध आरम्भ किया था। गफ़ ने उसकी वीरता की प्रशंसा की है क्योंकि गोरे अफसर की रक्षा करने में उसके प्राणों के लिये खतरा था। गफ़ ने उस वीर सैनिक का नाम नहीं लिखा; इतना ही बताया है कि वह अवध का रहने वाला था।

इसी तरह सिपाहियों ने लेफ्टिनेंट मैकेंजी और कैप्टेन क्रैंगी तथा उनके परिवारों की रक्षा की थी। गफ़ ने इनकी सहृदयता की प्रशंसा के साथ कल्पना से दिल्ली में उन्हें हत्याएँ करने वाला मान लिया है। "वास्तव में मैं कह सकता हूँ कि हमारे आदमियों ने एक अफसर की भी जान नहीं ली यद्यपि दिल्ली में बाद को जो हत्याकाण्ड हुआ, वे उनके सरगना थे।"[७] दिल्ली में जिसे हत्याकाण्ड कहा जा सकता है, उससे सैनिकों का कोई सम्बन्ध नहीं था। गफ़ ने जो आँखों से देखा, वह ठीक लिखा; बाकी बातें उसके द्वेष-भाव की सूचक हैं। इसका यह अर्थ नहीं कि मेरठ में अंग्रेज़ मारे नहीं गये किन्तु अंग्रेज़ इतिहासकारों ने स्त्रियों और बच्चों के मारे जाने के अतिरंजित क़िस्से गढ़े और सिपाहियों के उदार व्यवहार को अधिकतर छिपाने की ही कोशिश की। कहा जाता हैं कि श्रीमती चेंबर की हत्या की गई; इसके लिये एक कसाई को प्राणदण्ड मिला किन्तु अंग्रेज़ों ने प्रचार यही किया कि यह सब सिपाहियों ने किया है।

मेरठ हिन्दुस्तान में तोपखाने की सबसे बड़ी छावनी था लेकिन सिपाहियों और जनता के संगठित विद्रोह के कारण अंग्रेज़ों से कुछ भी न करते बना। जब मेरठ से सैनिक दिल्ली चले तब उनका पीछा न करने के लिये अंग्रेज़ लेखकों के अलावा श्री सुरेन्द्रनाथ सेन ने भी उनकी

लानत-मलामत की है। रात में सिपाही कहाँ जा रहे हैं, इसका पता अंग्रेज़ों को अवश्य ही न था। बाद को भी मेरठ की गोरी फ़ौज तुरत दिल्ली न गई, इसके लिये उन्हीं अंग्रेज़ों ने आलोचना की है जो दिल्ली जीतना बहुत आसान समझते थे।

श्री रमेशचन्द्र मजूमदार का मत है कि १० मई की शाम को एक आदमी के चिल्लाने से कि गोरे देशी पल्टनों से हथियार डलवाने आ रहे हैं, अचानक विद्रोह हो गया। पहले से उसकी कोई योजना नहीं थी। इसके बाद जब वे दिल्ली चले, तब इसका भी विचार उन्होंने पहले न किया था। बँगलों में आग लगाने के बाद सिपाही बहुत देर तक सोच-विचार में पड़े रहे कि कहाँ जायँ। अन्त में उन्होंने सोचा कि दिल्ली चलना ही ठीक है। मजूमदार महोदय इससे यह सिद्ध करना चाहते हैं कि विद्रोह की कोई योजना नहीं थी, इसलिये दिल्ली जाकर जो राज्यसत्ता के लिये संघर्ष हुआ, वह भी आकस्मिक घटना थी। गफ़ के अनुसार चालीस-पचास आदमियों को छोड़कर सारे सिपाही दिल्ली चले गये। इस तरह की एकता उन सिपाहियों में असम्भव है जिन्होंने अंग्रेज़ी राज का तख्ता उलटने का बीड़ा न उठाया हो। गफ़ के ही अनुसार उन्होंने घोषित कर दिया था कि अंग्रेज़ी राज खत्म हो गया।[८] इसके सिवा मेरठ के सिपाही दिल्ली चले तो पूरे साज-सामान के साथ चले; वे अपने साथ नाई और भिश्ती भी ले चले मानों वह किसी साधारण मुहीम पर जा रहे हों।[९] सिपाहियों ने बार-बार जिस वीरता और अनुशासन का परिचय दिया, उसका आरम्भ मेरठ से ही हुआ था। वे हड़बड़ी में भागकर जान बचाने के लिये दिल्ली न जा रहे थे जहाँ अभी मैगजीन पर विद्रोहियों का अधिकार न था और न वहाँ की देशी पल्टनों नें विद्रोह ही किया था। यदि मेरठ के सिपाहियों को पहले से मालूम न होता कि दिल्ली पहुँचने पर वहाँ के सैनिक उनका साथ देंगे तो रात में अचानक उधर के लिये चल पड़ना परले सिरे की मूर्खता होती। जो नगर अंग्रेज़ों के अधिकार में था, वहाँ जान बचानें के लिये जाने में क्या तुक थी?

तथ्य यह है कि दिल्ली की पल्टनें मेरठ के सिपाहियों के स्वागत के लिये तैयार थीं। के ने लिखा है कि दस मई को मेरठ से एक गाड़ी दिल्ली की छावनी पहुँची। इसमें बिना बर्दी के देशी सैनिक थे। उन्होंने

क्या कहा-सुना, यह नहीं मालूम लेकिन दूसरे दिन हर पल्टन विद्रोह के लिये तैयार थी।[10] दिल्ली की तैयारी के बारे में जॉन लारेंस ने लिखा था, "ज़बानी सबूतों से अब तक यह पता चला है कि दिल्ली की पल्टनें विद्रोह के लिये तैयार थीं और एक हद तक महल के सिपाही भी खुराफात के लिये आमादा थे, फिर भी ऐसे गम्भीर आन्दोलन में भाग लेने का विचार बादशाह या उसके सलाहकारों ने न किया था।"[11] के ने इस बात को लक्ष्य किया है कि मेरठ और दिल्ली की घटनाओं में कहीं आन्तरिक सम्बन्ध था। ईसुरी पांडे के दण्ड का विवरण जब दिल्ली की छावनी में पढ़ा गया तो सिपाहियों ने अपना असन्तोष प्रकट किया। किस छावनी में क्या हो रहा है, इसका पता सिपाहियों को रहता था। मेरठ की ओर उनकी आँखें विशेष रूप से लगी हुई थीं क्योंकि वहाँ तोपखाने की सबसे बड़ी छावनी थी।

रौबर्ट्स ने लिखा है कि दिल्ली की पल्टनें मेरठ से आने वाले विद्रोही सिपाहियों से मिल जाने के लिये तैयार बैठी थीं।[12] यदि इस बात पर ध्यान दिया जाय कि दूसरी छावनियों में सिपाहियों का विद्रोह किस तरह रुक-रुक कर हुआ था तो यह तथ्य और भी स्पष्ट हो जायगा कि दिल्ली में सिपाहियों का यों तुले बैठे होना आकस्मिक घटना न थी। संगठित विद्रोह में मेरठ और दिल्ली के सिपाहियों ने धुरी का काम किया, इसमें सन्देह नहीं। थ्योफिलस मेटकाफ ने कहा था कि विद्रोह के पन्द्रह दिन पहले यह अफवाह थी कि मजिस्ट्रेट को एक गुमनाम पत्र मिला था जिसमें लिखा था कि कश्मीरी दरवाजा अंग्रेज़ों के हाथ से छिन जायगा। बहादुरशाह के मुकदमे में कई अंग्रेज़ों ने बताया कि विद्रोह की तैयारी के उन्हें संकेत मिले थे। कैप्टेन टाइटलर का नौकर छुट्टी जाने लगा और टाइटलर ने उससे लौटकर आने के बारे में पूछा तो उसने कहा कि लौट तो आऊँगा लेकिन आप अगर नौकरी देने के काबिल रहे तब। सारजेंट फ्लेमिंग का लड़का शाहजादा जवाँबख्त को सवारी कराने जाता था। एक दिन जवाँबक्त ने उसे न आने के लिये कहा और फिरंगियों को मारने की धमकी भी दी। विद्रोह से पहले जामा मस्जिद की दीवाल पर इश्तहार चिपकाया गया था जिसमें लिखा था कि ईरान का बादशाह हिन्दुस्तान आने वाला है। डाक्टर सैयद अतहर अब्बास रिजवी ने
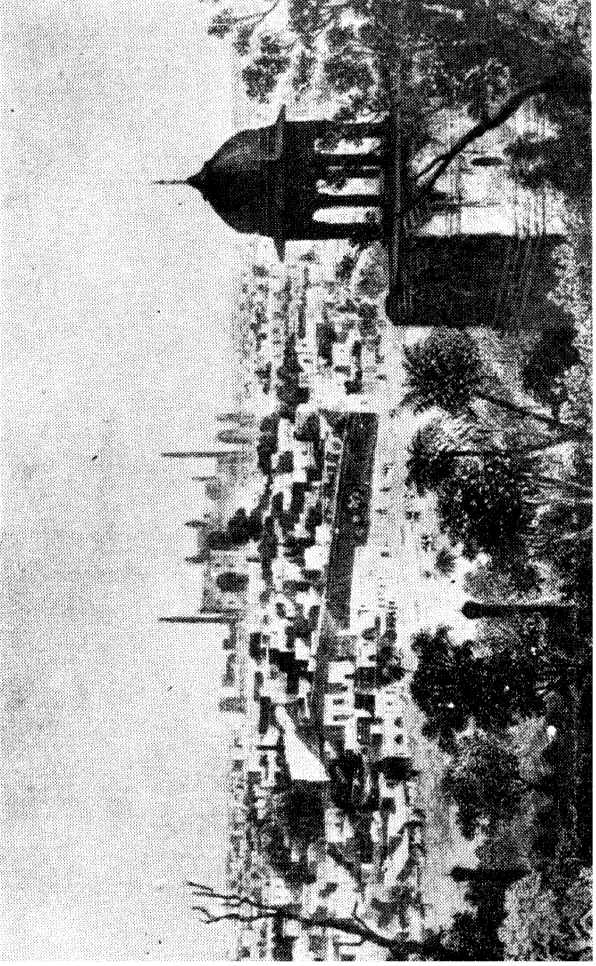
राजधानी दिल्ली

"स्वतन्त्र दिल्ली" नाम की अपनी पुस्तक में इस इश्तहार पर "सादिकुल अखबार" की यह टिप्पणी उद्धृत की है : शाह ईरान के हिन्द पर अधिकार करने से हिन्दियों को क्या प्रसन्नता ? "इस विज्ञापन से ज्ञात होता है कि (ईरान के बादशाह) स्वयं भारतवर्ष के राज-सिंहासन पर आरूढ़ होगा। वे तो तब प्रसन्न हों कि जब हमारे सुल्तान को सिंहासनारूढ़ करके अब्बासशाह सफ़वी (शाह तहमास्प सफवी) के समान व्यवहार करे।"[13] इन सब संकेतों से एक ही नतीजा निकलता है कि दिल्ली की जनता वह निश्चय कर चुकी थी कि अंग्रेज़ों की दासता से मुक्त होने का समय आ गया है। रौबर्ट्‌स ने ठीक लिखा है, "सिपाहियों ने तै कर लिया था कि अंग्रेज़ों की अधीनता खत्म कर देना हैं; कब और कैसे यह काम हो, यह समय और अवसर की बात रह गई थी।

मेरठ के सवारों ने राजघाट दरवाजे से दिल्ली में प्रवेश किया। बादिशाह की जै और मारो फिरंगी को कहते हुए जैसे ही वे दिल्ली की सड़कों पर बढ़े, शहर की जनता उनके साथ हो ली। अंग्रेज़ों ने काश्मीरी दरवाजे पर अड़तीसवीं पल्टन के सिपाहियों को रखा था। गोरे अफ्सर ने जब उन्हें विद्रोहियों पर गोली चलाने का हुक्म दिया तो सिपाहियों ने अंग्रेज़ों को मुंह चिढ़ाया और गोली चलाने से इन्कार कर दिया। दिल्ली की सारी देशी सेना ने मेरठ के सिपाहियों का साथ दिया। दिल्ली की मैगजीन पर सिपाहियों ने आक्रमण किया। उसके अन्दर जो हिंदुस्तानी थे, उन्होंने बाहर वालों का साथ दिया। अंग्रेज़ों ने मैगज़ीन को बारूद से उड़ा दिया किन्तु सारा सामान नष्ट करने में सफल नहीं हुए। कई सिपाहियों ने अंग्रेज़ अफ्सरों से भाग जाने को कहा। सिपाहियों और नगर की जनता ने तुरन्त भाईचारा स्थापित कर लिया। के ने लिखा है कि गलियों में हथियारबन्द लोग सिपाहियों को बढ़ावा देते थे और उनको सहायता देते थे। अंग्रेज़ लेखकों ने दिल्ली की स्थिति का जो वर्णन किया है, उससे यह स्पष्ट हो जाता है कि जनता सिपाहियों के साथ अंग्रेज़ी राज के बदले अपनी देशी राज्यसत्ता स्थापित करने का प्रयत्न कर रही थी। उन्होंने जनता को बुरा भला कहा है, उसे समाज की तलछट, भेड़ियाधसान आदि के पर्यायवाची अंग्रेज़ीं शब्दों से याद किया है। किन्तु वे यह सत्य छिपा नहीं सकते कि लोगों के हृदय में अपूर्व उत्साह था और अंग्रेजों के प्रति उनकी घृणा की आग जल उठी

थी। बाद को दिल्ली के नागरिकों को लूटते और उन्हें फाँसी देते या गोली मारते हुए उन्होंने तलछट और भद्र नागरिकों में कोई भेद नहीं किया। उनकी निगाह में सारा नगर ही अपराधी था। दिल्ली में यह ऐसी क्रान्ति थी जिसमें बड़े पैमाने पर जनता ने पहली बार इतने उत्साह से भाग लिया था। लोगों के मन में कौन सी भावना थी, इसका सही चित्रण के ने कहीं-कहीं दो-चार वाक्यों में कर दिया है। उसने लिखा है, "फिरंगी का जूआ उतार फेंकना था। अब समय आ गया था जब मुगलवंश के फिर सत्तारूढ़ होने के बाद राज्य के सभी पद पूर्व के लोगों हिन्दुओं और मुसलमानों को मिलेंगे।" [१४] सामन्तों का समर्थन मिलने के कारण "वह महान् राष्ट्रीय उद्देश्य विराट् आकार ग्रहण करता जा रहा था।" [१४]

जनता और सैनिकों के लिये बहादुरशाह उनकी प्रभुसत्ता का प्रतीक था। जब मेरठ के सिपाही महल की खिड़की के नीचे आकर खड़े हुए तब उनके लिये शहर का दरवाज़ा न खुला। तब वे राजघाट दरवाजे से अन्दर आये। उस समय उनमें कितना उल्लास था, इसकी एक झलक बुलन्दशहर के इनायतुल्ला नाम के सिपाही के पत्र में मिलती है। अपने भाई फैज़ुल हसन के नाम इनायतुल्ला ने लिखा था, "मुख्तसर बात यह कि हर तरफ़ से देसी सिपाही दिल्ली में इकट्ठे हुए और यह ख्वाहिश जाहिर की कि बादशाह को तख़्त पर बैठना चाहिये। बादशाह ने इन्कार कर दिया लेकिन सिपाहियों ने कहा, आपको तख़्त पर बैठना होगा वर्ना हम आपका सर कलम कर देंगे और धड़ को तख़्त के नीचे गाड़ देंगे और अपने में से हम किसी एक को तख़्त पर बिठा देंगे।" [१५] संभव है, सिपाहियों ने ऐसा न कहा हो और इनायतुल्ला ने सुनी सुनाई बातें बढ़ा-चढ़ा कर लिख दी हों। लेकिन इससे सिपाहियों की भावना का पता जरूर चलता है। वे बादशाह को अपना मालिक न समझते थे; एक हद तक राज्य का मालिक नहीं तो उसमें अपने को साझीदार जरूर समझते थे। बादशाह की स्थिति के बारे में जीवन लाल ने अपने रोजनामचे में लिखा था, "बादशाह के घराने के आदमी भी बादशाह की आज्ञा मानना अस्वीकार करते थे।" [१६] एक दिन की घटना के बारे में जीवन लाल ने लिखा है. "सायंकाल के समय कुछ हिन्दुस्तानी अफ्सर उपस्थित हुए और उन्होंने खाद्य-सामग्री न मिलने की शिकायत

की। प्रातःकालीन आदेश की अलंकृत भाषा तथा उसकी सरलतापूर्ण ओजस्विता की, जिससे बादशहा का गौरव पूर्ण रीति से व्यक्त हो सकता था, कुछ परवाह न की गई थी वरन् उन्होंने उद्दंडता तथा अशिष्टतापूर्ण शब्दों में बादशाह को सम्बोधित किया। किसी ने कहा, ओ बादशाह मेरी सुन, दूसरे ने कहा, अरे बुड्ढे, अरे बादशाह ! तीसरे ने हाथ पकड़ कर कहा कि मेरी सुन। बादशाह ने उनके व्यवहार से खीझ कर और साथ ही यह समझ कर कि मुझ में उनकी उद्दंडता रोकने की शक्ति विद्यमान नहीं है, अपने कर्मचारियों के सामने अपने भाग्य का रोना आरम्भ किया।...आज सारे दिन बादशाह चिन्तित रहे और यह देखकर कि वह भीड़ के हाथ में कठपुतली-मात्र बने हुए हैं, अत्यन्त दुखी थे।"[१७] जीवन लाल अंग्रेजों का भेदिया था और यह संभव है कि उसने बात को नमक-मिर्च लगाकर कहा हो। किंतु सत्ता वास्तव में सेना के हाथ में थी और बादशाह सेना से बहुत प्रसन्न न रहता था, इसके और भी प्रमाण हैं। दिल्ली में बहादुरशाह के नाम पर सेना ने प्रभुसत्ता अपने हाथ में रखी, इसमें सन्देह नहीं है।

उधर पंजाब में हिन्दुस्तानी सैनिकों ने लाहौर के किले पर अधिकार करने की योजना बनाई थी।[१८] केवब्राउन का मत था कि मियां मीर, अमृतसर, फीरोजपुर, फिल्लौर, जलंधर आदि स्थानों में सिपाहियों ने बिद्रोह की तैयारी कर ली थी। अंग्रेजी तोपखाने से घेर कर मियाँमीर के सिपाहियों के हथियार रखवा लिये गये। फीरोजपुर में भी सिपाहियों के हथियार रखवाये गये। जब सिपाही बाजार से निकले तब वहाँ की जनता ने अपनी विद्रोही चेतना का प्रदर्शन किया। के ने लिखा है, "खरीद-फरोख्त करने वालों में राज्यद्रोह के प्रचारक थे और एक भारी विस्फोट के लिये चारों ओर चिनगारियाँ उचट रही थीं।"[१९] यह पंजाब का एक नगर था। अंग्रेज जानते थे कि जनता की सहानुभूति सिपाहियों के साथ है। इसीलिये उन्होंने तुरत सिपाहियों को निःशस्त्र करने का विचार कर लिया। उनके दिये हुए तथ्यों से यहाँ भी स्वाधीनता-संग्राम के प्रति पंजाब की जनता की सहानुभूति का पता चलता है। यह सहानुभूति अधिक सक्रिय रूप नहीं ले पायी, इसका एक कारण यह था कि पंजाब पर अधिकार करने के बाद अंग्रेजों ने वहाँ की जनता को

निःशस्त्र कर दिया था। इसके विपरीत अवध में लोगों के पास काफ़ी हथियार थे। अंग्रेज़ों को जितना भय सिपाहियों से था, उतना ही शहर की जनता से था। फीरोजपुर की छावनी संकट में थी क्योंकि "बड़े बाजार ने लूट और बर्बादी के लिये अपनी भीड़ें छोड़ दी थीं।"[२०] जनता बड़े पैमाने पर अपना विरोध प्रदर्शन कर रही थी। सामन्तों के अलावा जनसाधारण में अंग्रेज़ों को अपने हिमायती ढूँढ़े न मिलते थे। पैंतालीसवीं पल्टन ने दिल्ली की ओर कदम उठाये। अंग्रेज़ों ने उनका पीछा किया लेकिन काफी सिपाही दिल्ली पहुँचकर वहाँ के युद्ध में शामिल हो सके। फिल्लौर में अंग्रेज़ों का शस्त्रागार था। उनका कहना है कि सिपाही उस पर अधिकार करना चाहते थे लेकिन जलंधर से गोरी पल्टन ने आकर उसे बचा लिया। लाहौर और पेशावर की देशी पल्टनों के भी हथियार रखवा लिये गये। ये सब घटनाएँ मेरठ-विद्रोह के बाद तीन-चार दिन के अन्दर ही हो गईं। वहाँ के अंग्रेज अधिकारियों ने तार से खबर पाकर हिन्दुस्तानी सिपाहियों को तुरत निःशस्त्र करने की नीति अपनाई। वे पहले से चौकन्ने थे और तोपखाना हाथ में होने के कारण अधिकांश छावनियों में उन्हें सफलता भी मिली। पेशावर में सिपाहियों के जो पत्र अंग्रेज़ों को मिले, उनसे व्यापक असन्तोष का पता चला। विद्रोह का संगठन कितने बड़े पैमाने पर हो रहा था, इसकी झलक इस वाक्य में मिलेगी: "थानेसर के ब्राह्मण और पटना के मुसलमान, स्वात घाटी के कट्टर हिन्दुस्तानी और गिताना के उच्छृंखल डाकू सिपाहियों को आमंत्रित कर रहे थे कि विद्रोह कर दो।"[२१] हिन्दुस्तानियों से अंग्रेज़ों को खास चिढ़ थी। वे पंजाब से गैर फौजी हिन्दुस्तानियों को बाहर निकालने लगे। उन्हें शंका थी कि वे जनता को विद्रोह के लिये उत्तेजित करते हैं।

पठानों के हृदय में अंग्रेज़ों के प्रति तीव्र घृणा भरी हुई थी। उन्होंने दोस्त मुहम्मद को खरीद लिया था लेकिन पठान जनता में उनके प्रति रोष भरा हुआ था। एडवर्ड्स ने लिखा था, "लोगों को काबुल याद है। ऐसे आशाहीन उद्देश्य का साथ देने को सौ आदमी भी न मिलेंगे।"[२१] इस घृणा ने सक्रिय रूप भी धारण किया। पेशावर के निःशस्त्र सिपाही छावनी छोड़ कर चलने लगे। अंग्रेज़ों ने उन्हें जहाँ पकड़ पाया, उन्हें प्राणदंड दिया। मर्दान के सिपाहियों से हथियार रखवाने के लिये

पेशावर से अंग्रेज़ी सेना गई। यह सारा काम सिपाहियों को बहला कर धोखे से किया जाता था। अंग्रेज़ अफ्सरों में कम से कम एक व्यक्ति हयादार था। अपने देशवासियों का यह फरेब देखकर कर्नल स्पौटिसवुड ने आत्महत्या कर ली। सिपाही चौकन्ने थे। उन्होने एक साथ विदोह किया और अपने हथियारों समेत स्वात के पहाड़ों की ओर चल दिये। साथ में जितना खजाना और गोली बारूद ले जा सके, वह भी लेते गये। निकलसन ने पीछा किया लेकिन पहाड़ी धरती पर तोपें काम न देती थीं। काफी सिपाही बचकर निकल गये और उन्होने पठानों से मिल कर अंग्रेज़ी राज से लड़ने का प्रयत्न किया।

मई के महीने में पंजाब की अनेक छावनियों में सिपाहियों के विदोह हुए; अनेक स्थानों में विद्रोह के पहले ही उनसे हथियार रखवा लिये गये। इन सिपाहियों के साथ अनेक स्थानों की जनता की सहानुभूति भी थी, यह भी हमने देखा। स्वात घाटी की ओर जाने वाले सिपाहियों के बारे में कैप्टेन एच. आर. जेम्स ने पंजाब सरकार की ओर से भारत-सरकार को लिखा था, "सिपाही लुन्डखोर घाटी से होकर स्वात की ओर भागे। वहाँ के लोग उनका सफाया कर सकते थे लेकिन उन्होने कुछ भी विरोध न किया। इस तरह उन्हौंने जाहिर कर दिया कि वे कम से कम हम से सहयोग करने को तैयार नहीं हैं। वास्तव में यह तथ्य और इसके साथ सिपाहियों ने भागने का जो रास्ता पकड़ा, इन दो बातों से पता चलता है कि उनकी योजना पहले से बनी हुई थी और वे जानते थे कि उन्हें शरण मिल जायगी। कहा जाता है कि हाल में पचपनवीं पल्टन और सीमान्त पार के प्रदेश के बीच में कई दूत, मुख्यतः मुल्ला, आये-गये हैं।[२२] इसी समय अबूज़ाई की पहाड़ियों में अजून खाँ आया। उसका उद्देश्य अंग्रेज़ों के विरुद्ध वहाँ के पठानो का नेतृत्व करना था। पंजाब सरकार का मत था कि अबूज़ाई के किले में जो सिपाही थे, उनके कहने से वह वहाँ आया था। अंग्रेज़ों को भय हुआ कि पचपनवीं पल्टन के स्वात की ओर बच निकलने वाले पाँच सौ सिपाही, बहुत से आस-पास के कबीले और अबूज़ाई की देशी पल्टनें अजून खाँ से मिल जायँगी और उनसे युद्ध करेंगी। सीमान्त प्रदेश की जनता के बारे में कैप्टेन जेम्स ने लिखा था कि वह उत्तेजित है। इसलिये उसे पेशावर में अपनी स्थिति बहुत नाजुक मालूम होती थी।

निकलसन ने कहा था कि गोरी पल्टनों के खेमाबर्दार तक अंग्रेज़ों के खिलाफ जेहाद की बातें करते हैं। मेरठ से लेकर पेशावर तक न केवल सिपाही वरन् जनता भी अंग्रेज़ी राज के विरुद्ध उत्तेजित थी। पंजाब के अधिकारियों ने बहावलपुर के नवाब से पाँच सौ घुड़सवार माँगे थे लेकिन कारगर मदद मिलने की आशा न थी। कारण यह कि "रियासत तो वफादार है लेकिन शराब के नशे में नवाब की हरकतों से रियासत में इस समय बड़ी खलबली है।"[२३] अंग्रेज़ों को इस तरह की खलबली हर जगह दिखाई देती थी। और उसका कारण शराब के नशे में किसी नवाब की हरकतें ही न थीं। मई के अन्तिम सप्ताह की घटनाओं के बारे में जेम्स ने लिखा था, थानेसर जिले के एक हिस्से में गड़बड़ी है; दिल्ली से कुछ सिपाही हाँसी और हिसार गये हैं और सिपाहियों और साधारण लोगों को विद्रोह करने के लिये भड़का रहे हैं।[२४]

सन् सत्तावन की राज्यक्रान्ति में अनेक बार और अनेक स्थानों में सिपाहियों ने राजनीतिक प्रचारकों का काम किया। वे केवल लड़ने वाले सैनिक न थे; वे जनता को विद्रोह के लिये उभाड़ने में महत्वपूर्ण राजनीतिक भूमिका भी पूरी कर रहे थे। इससे सेना और जनता के घनिष्ठ संबन्ध का पता चलता है, राज्यक्रान्ति के गहरे जनतांत्रिक आधार का पता चलता है। अंग्रेज़ लेखकों ने सिपाहियों को लूट मार के लिये उतावला चित्रित किया है। लेकिन जनता को लूटने वाले गाँवों में जाकर अंग्रेज़ों के विरुद्ध लड़ने के लिये किसानों को उभाड़ते कैसे थे? या जैसे च्यांग से लड़ने वाले सैनिकों को और रज़ाकारों से लड़ने वालों तेलंगाना के वीरों को शासक डाकू और लुटेरा कहते थे, वैसे ही अंग्रेज़ों ने भी हिन्दुस्तानी सिपाहियों को लुटेरा कहा था?

मेरठ के विद्रोह और दिल्ली पर देशी सेना के अधिकार की खबर पाते ही दूरन्देश अंग्रेज़ हेनरी लॉरेन्स ने समझ लिया कि भारत में अंग्रेज़ी साम्राज्य के लिये फिर संघर्ष करना पड़ेगा। विद्रोह की संभावना से जो अंग्रेज़ शंकितचित्त रहते थे, उनमें हेनरी लॉरेन्स भी था। उसने तेरह साल पहले कल्पना की थी कि दिल्ली अंग्रेज़ों के हाथ से निकल गई तो हिन्दुस्तान में अंग्रेज़ों की हालत क्या होगी। उसने लिखा था, "मान लो यह घटना दूसरी जून को होती है। क्या कोई आदमी होशहवास में

इस बात पर शक कर सकता है कि हज़ारों विद्रोहियों की संख्या बढ़ कर हज़ारों तक पहुंचेगी और एक हफ्ते में दिल्ली राज्य के प्रत्येक हल से तलवार बना ली जायगी? और जब काफी सैन्यदल एकत्र हो जायगा जिसके लिये महीने भर से कम समय न लगेगा, तब जैसा खेल क्लाइव ने पलासी में खेला था या वेलिंगटन ने असायी में खेला था, क्या उससे मुश्किल खेल हमें न खेलना पड़ेगा ? तब हमें वर्ष की सबसे कष्टदायी ऋतु में अक्षरशः अपने प्राणों के लिये लड़ना पड़ेगा जब हमारे इक-बाल पर धब्बा लग चुका होगा।"[२५] लारेन्स को दिल्ली का महत्व मालूम था, यहाँ की किसान-जनता अपने हलों से तलवारें बनाकर लड़ सकती थी, यह भी मालूम था। गर्मी में लड़ाई शुरू हुई तो अंग्रेज़ों को जान के लाले पड़ जायँगे, यह भी वह समझता था। विद्रोह आरंभ होने से पहले ही उसने यह संभावना देख ली थी कि सिपाही और जनता मिल कर अंग्रेज़ी राज के विरुद्ध लड़ सकते थे। १८ अप्रैल को लारेन्स ने गवर्नर जनरल को लिखा था कि अवध की पुरानी सेना से जो सिपाही ब्रिटिश फौज में भर्ती हुए थे, उनमें ब्रिटिश फौज के सिपाहियों में एका करने के प्रयास दिखाई दे रहे थे; इनके साथ पुलिस के बटा-लियन और शहर के प्रमुख लोग भी थे। "विस्फोट के अनेक तत्त्व थे; अब वे इस तरह विकसित होने लगे थे जिससे मालूल होता था कि आम जनता का असन्तोष फूड़ पड़ेगा।"[२६] उस दिन लारेन्स जुडीशल कमिश्नर ओमैनी और मेजर ऐन्डरसन के साथ बग्घी में जा रहा था। लखनऊ के किसी बिगड़े दिल शरीफज़ादे ने एक ढेला ओमैनी के मारा जो शायद लगा नहीं और दूसरा ऐण्डरसन के मारा जो लग गया।[२६] यह घटना अप्रैल की है जिससे आम जनता के असन्तोष और शहर में अंग्रेज़ों के रौबदौब के खात्मे का पता चलता है।

दिल्ली पर देशी सेना का अधिकार होने के बाद दूसरे दिन १२ मई को हेनरी लारेन्स ने दरबार किया। उसमें सिपाहियों, अफसरों और शहर के कुछ नागरिकों के सामने उसने भाषण दिया। उसने अंग्रेज़ों की उदार धर्म-संबन्धी नीति की प्रशंसा की। आलमगीर और हैदर-अली ने लोगों को ज़बर्दस्ती मुसलमान बनाया था। रणजीतसिंह के राज में मुसलमानों को नमाज़ पढ़ने की इजाज़त नहीं थी। सबसे महत्व-पूर्ण खोज लारेन्स ने यह की थी, "साल भर पहले लखनऊ में कोई

हिन्दू मंदिर बनवाने का साहस न कर सकता था।" इसके बाद उसने अंग्रेज़ी राज की शक्ति और धनवैभव के गीत गाये। उसने सिपाहियों को समझाया, "आप लोगों को मालूम है कि दुनियाँ में ऐसी कोई सरकार नहीं है जो ताक़त, दौलत, साधनों और राज्य में ब्रिटिश हुकूमत का मुक़ाबला कर सके।" उसे यह मालूम था कि क्राइमिया के युद्ध में अंग्रेज़ों की क्षति का हाल सिपाहियों को मालूम है। इसलिये उसने रूसियों पर अंग्रेज़ों की जीत की भी डींग हाँकी। हिन्दुस्तान में सिपाहियों के बिगड़ने पर अंग्रेज़ कितनी फौज इकट्ठी कर सकते हैं, इसके बारे में उसने कहा, "ज़रूरत हुई तो चंद महीनों में हिन्दुस्तान में किसी भी जगह एक लाख सिपाही इकट्ठे किये जा सकते हैं।" सिपाहियों को लालच देते हुए उसने कहा कि बुढ़ापे में पेंशन पाते हुए दिन बिताने में कितना सुख है ! सिपाहियों की तो कमी नहीं है। एक के लिये कहो तो पचास भर्ती होने आते हैं। पिछले हफ्ते तीन सौ बुलाये थे तो तीन हज़ार आये थे ! फिर सिपाहियों की तारीफ करते हुए उसने कहा कि बंगाल की फौज ने सौ साल से ऊपर तक शानदार सेवा की है। इरावदी से लेकर सिन्धु तक उसने कितने प्रदेश जीते हैं। जावा, चीन और नील नदी के तट पर उसकी वीरता की जै जै कार हो चुकी है। [इस बात से लारेन्स ने अंग्रेज़ी साम्राज्य के प्रसार में हिन्दुस्तानियों और देशी सेना की भूमिका पर प्रकाश डाला।] उसने धमकाया भी। अवध की सातवीं पैदल सेना के पचास सर्दार जेल में डाल दिये गये हैं। "सरकार बहुत ताकतवर है और कोई उसका मुकाबला नहीं कर सकता।"[२७]

एक सूबेदार, एक हवल्दार और दो सिपाहियों को बफादारी के लिये इनाम दिये गये। इन्होंने अंग्रेज़ी राज के प्रति विद्रोह का आह्वान करने वाले पत्र को ले जाने वाला एक व्यक्ति पकड़वा दिया था। इसके लिये उन्हें इनाम में तलवार, दुशाले, बड़ा कोट, जरी के काम के कपड़े आदि मिले। सिपाहियों को रुपये भी दिये गये।

दरबार में शामिल होने वाले सिपाही यह सब देखते रहे। लारेन्स को कितनी सफलता मिली, यह सिपाहियों की प्रतिक्रिया से पता चलता है। गबिन्स के अनुसार वे कहते थे कि अंग्रेज़ यह सब डरके मारे कर रहे हैं।

३० मई को सेना ने विद्रोह कर दिया। १० मई के बाद से अंग्रेज़ आत्मरक्षा की बराबर तैयारी कर रहे थे। रेजीडेन्सी में उन्होंने मोर्चा-बन्दी कर रखी थी। लखनऊ की ७१ वीं पल्टन ने विद्रोह में अगुवाई की। ४८ बीं पल्टन को विद्रोही सिपाहियों का दमन करने की आज्ञा दी गई। उसने आज्ञा न मानी; साथ ही विद्रोहियों का साथ भी न दिया। लखनऊ में सैनिकों के धीरे-धीरे विद्रोह-पथ पर आगे बढ़ने से अंग्रेज़ों को तैयारी का अवसर मिल गया। सैनिकों की अपेक्षा शहर की जनता विद्रोह के लिये अधिक तत्पर दिखाई दी। हुसेनाबाद में जनता ने विराट् प्रदर्शन किया। तलवारें और बन्दूकें लिये हुए नागरिकों ने सिपाहियों से सम्पर्क स्थापित करने का प्रयत्न किया। अंग्रेज़ों ने तोपों की सहायता से जनता के इस सशस्त्र प्रदर्शन को दबा दिया। लोगों को आतंकित करने के लिये उन्होंने बहुतों को फाँसी पर चढ़ा दिया। नगर के कई प्रतिष्ठित लोगों को गिरफ्तार कर लिया गया। दिल्ली की तरह लखनऊ की घटनाओं से भी सिद्ध हुआ कि राज्यक्रान्ति में सैनिकों के अलावा आम जनता भी हिस्सा ले रही थी।

मेरठ और दिल्ली में विद्रोह के समाचारों से शाहजहाँपुर की जनता भी अंग्रेज़ों से लड़ने की तैयारी करने लगी। के ने लिखा है, "अंग्रेज़ों को शहर के लोगों के विद्रोह कर बैठने का भय था।"[२८] ३१ मई को वहाँ की देशी सेना ने विद्रोह आरम्भ कर दिया। "शहर की जनता विद्रोहियों (अर्थात् सिपाहियों) से मिल गई और आस-पास के गाँवों ने भी विद्रोह कर दिया।"[२९] २८ मई को नसीराबाद में बँगाल सेना की १५ वीं और तीसवीं पल्टनों ने विद्रोह किया। अंग्रेज़ों ने बम्बई की पल्टन को हुक्म दिया कि विद्रोही सेना से तोपें छीन लें। बम्बई सेना के सिपाही तोपों के निकट गये; उसके बाद अचानक हमला किये बिना पीछे लौट पड़े। अंग्रेज़ अफसर विद्रोहियों और तोपों का मुका-बला करने के लिये अकेले रह गये। अन्य स्थानों की तरह नसीराबाद में भी अंग्रेज़ों को मालूम था कि विद्रोह होने जा रहा है। प्रिचार्ड १५ वीं पल्टन के साथ नसीराबाद में था। उसने लिखा है, "हमें चेतावनी मिल चुकी थी और अनेक बार लेकिन कभी तो हमने ध्यान न दिया और कभी, शायद अधिकतर, हम अपनी विचित्र स्थिति के कारण बिल्कुल असहाय थे। हमारे लिये एक ही रास्ता था कि हम

आशा करते रहें कि सब कुछ अच्छा ही अच्छा होगा।"[३०] उसे विद्रोह के पहले का समय सबसे अखरा था। कारण यह था कि अंग्रेज़ों को मालूम था कि विद्रोह की तैयारियाँ हो रही हैं लेकिन न तो वे सेना को निःशस्त्र कर सकते थे और न उसे छोड़कर भाग सकते थे। पंजाब में वे देशी सेना से हथियार डलवा सके, इसका कारण वहाँ गोरी पल्टनों की उपस्थिति थी, हर जगह गोरी पल्टनें मौजूद न थीं, इसलिये देशी सेना के हथियार डलवाना सम्भव न था। यदि सिपाहियों में कातूसों के कारण व्यापक क्षोभ होता और वे दरअसल भेड़चाल का अनुसरण करते तो विद्रोह के प्रसार की गति विषम न होती। यह एक आन्दोलन था जो अंग्रेज़ों की निगाह से छिपा न था। नसीराबाद में विद्रोह की खुली चर्चा होती थी। अंग्रेज सिपाहियों से पूँछते तो एक पल्टन के सिपाही दूसरी के सिपाहियों को दोष लगा देते। प्रिचार्ड का कहना है कि तीसवीं पल्टन के सिपाही विद्रोह की योजना बना रहे थे। तीसवीं पल्टन के लोग कहते, पन्द्रहवीं पल्टन बगावत की तैयारी कर रही है। विद्रोह करने के बाद बहुत से सिपाहियों ने अपने अंग्रेज़ अफसरों से भाग जाने को कहा। प्रिचार्ड ने सिपाहियों को बहुत बुरा भला कहने के बाद भी यह स्वीकार किया है कि उन्होंने स्त्रियों-बच्चों का कत्लेआम नहीं किया। अन्य स्थानों की तरह नसीराबाद में भी सिपाहियों के साथ शहर के "बदमाश" भी मिल गये। किन्तु जब अंग्रेज नसीराबाद से अजमेर चले तब उन्हें मालूम हुआ कि हर गांव हथियार लिये हुए आत्मरक्षा अथवा आक्रमण के लिये तैयार है।[३१]

२० मई को अलीगढ़ की सेना ने विद्रोह किया। अंग्रेज़ों का कहना था कि शहर के लोगों ने सिपाहियों को भड़काने की कोशिश की थी कि अपने अफसरों को मार कर भाग जायँ।[३२] अलीगढ़ की जेल के दरवाजे खोल दिये गये। अंग्रेजों ने अपनी न्याय-व्यवस्था के प्रतीक-स्वरूप जो इमारतें बनाई थीं, उनमें आग लगा दी गई। "सिपाहियों ने अपने अंग्रेज़ अफ्सरों की जान न ली लेकिन सब को बचकर निकल जाने के लिये वाध्य किया गया, उन सबको जो किसी प्रकार सरकार या विदेशी ईसाई के समाज का प्रतिनिधित्व करते थे।[३३] लेडी आउट्रम अपने बच्चे के साथ छावनी से होकर गईं लेकिन सशस्त्र

सिपाहियों ने उन्हें चुपचाप निकल जाने दिया।

२३ मई को मैनपुरी और इटावा में विद्रोह हुए। मैनपुरी में सिपाहियों ने एक गोरे लेफ्टिनेंट को बच निकलने के लिये वाध्य किया। मैनपुरी की जनता भी सिपाहियों के साथ थी। इटावा में अंग्रेज़ों ने विद्रोही सिपाहियों को पकड़ने के लिये कुछ दस्ते इधर-उधर भेजे थे। इस तरह के एक दस्ते ने जसवन्तनगर में तीसरी घुड़सवार पल्टन के कुछ विद्रोही सिपाहियों को पकड़ना चाहा। विद्रोहियों ने एक बाग के अन्दर मन्दिर में आत्मरक्षा का प्रबन्ध किया। फौज और पुलिस ने मन्दिर को घेर लिया लेकिन "शहर के लोगों की सहानुभूति विद्रोहियों के साथ थी।"[३४] घेरे के बावजूद शहर के लोगों और मंदिर के भीतर के सिपाहियों में सम्पर्क बना रहा। उन्हें लड़ने के लिये गोली-बारूद मिली और खाना भी आ गया। पुलिस काफी बड़ी संख्या में थी लेकिन बन्दूकों की मार सह कर आगे बढ़ने को कोई तैयार न था। घेरा डालने वाले दूर से हवा में फायर करते रहे। रात में विद्रोही सिपाही मन्दिर छोड़कर वहाँ से अन्यत्र चले गये। अंग्रेज़ अफसरों ने इटावा लौट चलने में ही कुशल समझी, खासकर इसलिये कि शहर के लोग उग्र होते जा रहे थे और पुलिस त्रस्त होती जा रही थी।[३५] जसबन्त नगर की घटना में शहर की जनता और सिपाहियों का सहयोग कोई अनूठी बात न थी। हर जगह जनता की सक्रिय सहानुभूति और सहयोग के बल पर ही सिपाहियों ने अंग्रेजों से मोर्चा लिया।

१६ मई की रात को गुड़गाँव का असिस्टेंट मजिस्ट्रेट मथुरा के मजिस्ट्रेट थौर्नहिल के पास आया। उसने सूचना दी कि विद्रोही गुड़गाँव में आ पहुँचे हैं और गाँव के लोगों ने उनका साथ देने के लिये बग़ावत करदी है। थौर्नहिल भरतपुर-सेना के साथ कोसी गया। वहाँ उसने देखा कि विद्रोह की खबर और बहादुरशाह के बादशाह घोषित किये जाने से जनता बहुत आन्दोलित है। आगरे से सिपाहियों की एक टुकड़ी खजाना लाने के सिये मथुरा भेजी गई। सूबेदार ने अंग्रेज़ अफ़सर से पूछा, खजाना कहाँ ले चलना है ? उसके आगरा कहने पर सिपाही चिल्ला उठे, नहीं, दिल्ली को, दिल्ली को। एक सिपाही ने उस अंग्रेज़ अफ़सर को गोली मार दी। जेल से क़ैदी छोड़ दिये गये। सिपाही खजाना लेकर दिल्ली चले और रास्ते में तमाम सरकारी इमारतों में

आग लगाते गये।[३६]

३१ मई को बरेली की जनता और सेना ने एक साथ विद्रोह किया। जेल के कैदी छोड़ दिये गये और खजाने पर अधिकार कर लिया गया। सिपाहियों ने अनेक अफ़सरों की जान बचाई और उन्हें बचकर निकल जाने का अवसर दिया। कैदियों को छुड़ाने और खजाने पर अधिकार करने की घटनाओं का उल्लेख करने के बाद के ने लिखा है, "इस आततायीपन में बरेली की जानता फौज के बागियों से किसी तरह पीछे न थी।"[३७] इसी तरह मुज़फ्फ़रनगर, एटा, रुड़की आदि स्थानों में भी मई का महीना खत्म होने के पहले विद्रोह हुए।

१० मई से ३१ मई तक उत्तर-पश्चिम प्रदेश, अवध और सीमान्त प्रदेश में पचासों जगह अंग्रेज़ी राज को चुनौती दी गई। सौ साल पहले इतने विशाल प्रदेश में इतने बड़े पैमाने पर अंग्रेज़ी राज के विरुद्ध संघर्ष करना एक चमत्कार ही था जो जनता और सेना के सहयोग से सम्भव हुआ। यदि ३१ मई का दिन विद्रोह के लिये तै किया गया होता तो भिन्न-भिन्न स्थानों पर भिन्न-भिन्न दिनों में विद्रोह न होते, न ३१ मई बीत जाने पर भी अनेक स्थानों में सिपाही चुप रहते या बाद को विद्रोह करते। इससे यह निष्कर्ष निकालना अनुचित है कि विद्रोह असंगठित था। उसका संगठन वैसा ही था जैसा किसी जन-आन्दोलन का हो सकता है जिसमें जनता को राजनीतिक कार्यवाही में लाने और शासकों के विरुद्ध संघर्ष चलाने का काम साथ-साथ चलते हैं। जनता का आन्दोलन कोई मशीन नहीं है जो एक जगह बटन दबाने से चालू हो जाय। एक महीना बीतने के पहले ही इतने विशाल प्रदेश में संघर्ष का फैलना उसकी बहुत बड़ी सफलता थी। यदि किसी प्रकार षड़यन्त्र करके देशी सेना एक निश्चित दिन विद्रोह कर देती लेकिन जनता को साथ लेने के लिये आवश्यक राजनीतिक कार्य न करती तो उसे कभी सफलता न मिलती। सन् सत्तावन में देशी सेना एक विशाल जन-आन्दोलन का अग्रदल थी। वह चारों ओर अपने उद्देश्य से सहानुभूति रखने वाली जनता से घिरी हुई थी। इसीलिये वह देखते-देखते उत्तर भारत में अंग्रेज़ी राज को प्रायः निर्मूल कर सकी और अंग्रेज़ों के प्रत्याक्रमण करने पर वह आगे भी संघर्ष चला सकी।

के आदि अंग्रेज़ लेखकों के वक्तव्यों से ही सिद्ध हो जाता है कि

जगह-जगह शहरों और गाँवों की जनता ने देशी सेना का साथ दिया। यही नहीं, उसने सेना को विद्रोह करने के लिये उत्तेजित भी किया; कई जगह उसने विद्रोह करने में पहल भी की। ये सब लक्षण एक लोकप्रिय राज्यक्रान्ति के थे जिसे जनता के विभिन्न स्तरों का हार्दिक समर्थन प्राप्त था। अंग्रेज़ों का यह दावा कि कुछ अन्धविश्वासी सिपाहियों ने भ्रमवश बग़ावत कर दी है, अंग्रेज़ी राज ने सामन्ती अराजकता दूर करके किसानों के लिये सुव्यवस्था कायम की है, ये सब दलीलें तीन हफ्तों में ही हवा में उड़ गईं। इस विशाल संघर्ष का प्रतीक दिल्ली थी। जहाँ-जहाँ विद्रोह हुए, देशी सत्ता ने अपने को दिल्ली का नायब घोषित किया। अंग्रेज़ी राज के विरुद्ध देश की स्वाधीनता का यह युद्ध संगठित था, इसका सबसे बड़ा प्रमाण यह है कि कहीं भी किसी राजा या नवाब ने, जो विद्रोह के साथ रहा हो, अपने को दिल्ली से स्वतन्त्र घोषित न किया। दिल्ली प्रतीक था नयी राज्यसत्ता का किन्तु न तो मई में सारा संघर्ष दिल्ली में केन्द्रित था और न दिल्ली के पतन के बाद वह समाप्त हो गया जैसा कि अंग्रेज़ सोचते थे। संघर्ष की तीव्र गति, उसका विशाल प्रसार, उसका व्यापक जन-समर्थन उसकी राष्ट्रीय विशेषता सिद्ध करता था। इन प्रारम्भिक दिनों के बारे में श्री रमेशचंद्र मजूमदार ने लिखा है, "सिपाही-विद्रोहों का ताँता लग गया जिनके पीछे बहुत जगह जनता ने विद्रोह किया। इससे प्रायः समूचे उत्तर भारत में उथल-पुथल मच गई।"[३७] उत्तर भारत आधा महाद्वीप है। यह साधारण सफलता न थी कि सामन्ती शक्तियों के छिन्न-भिन्न हो जाने के बाद, यहाँ की जनता और सिपाहियों ने कुछ हफ्तों में यहाँ अंग्रेज़ी राज का सफाया कर दिया। यदि अंग्रेज़ों को के सामन्तों से सहायता न मिलती तो उनके भारत से विदा होने की घड़ी आ पहुँची थी।

क्रान्ति का प्रसार

जून में संघर्ष और भी तीव्र हुआ और उसका प्रसार अन्य नये प्रदेशों में हुआ। क्रान्ति की लोकप्रिय विशेषताएँ और भी स्पष्ट होकर सामने आयीं।

रौबर्टसन सहारनपुर ज़िले में ज्वाइंट मजिस्ट्रेट था। उसने लिखा है कि ज़िले के दक्षिणी भाग में जगह-जगह हथियार-बंद गिरोह लड़ने को तैयार थे। "२३ मई से कुछ दिन पहले हमें पता लगा कि पड़ोस के कई बड़े गाँव हम पर आक्रमण करने के लिये एक साथ संगठित होगये हैं।"[३८] देओबंद के पास अपराधियों की खोज की गई तो मालूम हुआ कि गाँव के गांव अपराधी है। छः हफ्ते तक वहाँ ऐसी शान्ति थी कि कोई विद्रोह की कल्पना हो न कर सकता था। रौबर्टसन ने जनता के असन्तोष के यों प्रकट होने पर लिखा है, "सेना विद्रोह कर सकती थी लेकिन मुझे इसका अनुमान न था कि शान्तिपूर्ण ग्रामवासियों में इतनी तेज़ी से परिवर्तन होजायगा।"[३९] इस प्रदेश की समूची जनता अंग्रेज़ों के विरुद्ध थी। अंग्रेज़ अधिकारियों को बहुत जल्दी मालूम होगया कि जमींदार निम्न वर्गों के साथ हैं। सहारनपुर के लोग पहले भी अंग्रेज़ों से लड़ चुके थे। अंग्रज़ों ने पहली बार जब वहाँ अधिकार किया तब कई वर्षों तक वे अंग्रेज़ी सेना से लड़ते रहे। अनेक जिलों की तरह सिपाहियों ने यहाँ भी राजनीतिक प्रचार किया था। जब वे छुट्टी पर आते थे तब किसानों को अंग्रेज़ी राज से लड़ने को कहते थे। यहाँ पर विद्रोही योद्धाओं की जो बंदूकें अंग्रेज़ों को मिली थीं वे यहीं की बनी हुई थीं। रौब्रर्टसन ने इस बात पर आश्चर्य प्रकट किया है कि गाँवों के लोग भी यहाँ इतनी जल्दी हथियार बना लेते हैं। अन्य स्थानों की तरह यहाँ भी अंग्रेज़ों की न्याय व्यवस्था पर जनता को विशेष रोष था। अंग्रेज़ों ने महाजनों को जो सुविधाएं दी थीं जिससे वे कर्ज लेने वाले किसानों को तबाह कर सकते थे, उनसे किसान जनता विशेष असंतुष्ट थी। उनके बही-खाते जला दिये गये। छोटे जमींदारों ने अवध की तरह, यहां भी अंग्रेज़ी राज से तीव्र संघर्ष किया। अंग्रेज़ों को आम हिन्दुस्तानी जनता के तीव्र रोष और घृणा का सामना करना पड़ा। रौबर्टसन को लगा था कि अंग्रेज़ों के विरुद्ध यह घृणा की आग कभी न बुझेगी। "दर-

असल हिन्दुस्तानी हमसे घृणा करते हैं और अध्याय के अंत तक घृणा करते रहेंगे । वे हमारे शासन से और उसकी सुख-सुविधा से चाहे जितना संतुष्ट और प्रसन्न दिखें, कोई भी विजित जाति अपने विजेताओं से घृणा ही करती है ।"४०

जे० डबल्यू० शेरर फतेहपुर का मजिस्ट्रेट था । सन् सत्तावन के विद्रोह पर उसकी पुस्तक से बाँदा, फतेहपुर, इलाहाबाद के आसपास के किसानों और जनता की भावनाओं पर अच्छा प्रकाश पड़ता है । खुला विद्रोह न होने पर भी चारों ओर अंग्रेज़ी शासन टूट रहा था । अंग्रेज शहरों में अपने अधिकार लिये बैठे थे, गांवों में जनता ने उसे व्यवहार में अस्वीकार कर दिया था । खेतों में किसानों को व्यस्तता से इधर-उधर जाते देख कर उसने लिखा है, "लगता था कि किसान-विद्रोह हो गया है । लोगों में घोर उत्तेजना है लेकिन कोई निश्चित उद्देश्य नहीं है ।"४१ बाँदा के पास एक गाँव में डिप्टी कलक्टर ने सूचना दी कि गाँव सरकश हो गया है । दो चपरासी मजिस्ट्रेट के बराबर आकर बैठ गये । उनमें से एक बोला, इस चपरास के कितने पैसे ? दूसरे ने जवाब दिया, एक चवन्नी । इस पर दूसरा नाक सिकोड़ कर बोला, चपरास तो चवन्नी की लेकिन सरकार ! ४२ इस एक घटना से पता चल जाता है कि अंग्रेज़ों का रौब-दौब खत्म हो गया था और उनके प्रति घृणा का भाव जनसाधारण की नस-नस में भर गया था । किसानों ने डिप्टी-कलक्टर से पूछा, आप फिर लौट करके आयेंगे ? डिप्टी के हाँ कहने पर सब किसान हँस पड़े ।

एक अंग्रेज़ अफ्सर बेनेट ने सिपाहियों को एक जगह हथियार इकट्ठे करने का आदेश दिया । एक भी सिपाही अपनी जगह से न हिला । इस पर बेनेट ने पास के सिपाही से कहा, हुकुम नहीं सुनता ? इस पर जमादार ने तलवार खींच ली और बोला, क्या कुली की तरह सिपाही को भी मारोगे ?४३ जनतांत्रिक भावना किस में अधिक थी, बेनेट में या उस सूबेदार में ?

अन्य स्थानों की तरह बाँदा में भी जनता और सिपाहियों ने मिल कर विद्रोह किया । "सिपाहियों, महल के रक्षकों और शहर की भीड़ ने एका कर लिया और चारों ओर बलवा और खूंरेज़ी फैल गई ।"४४

फतेहपुर की किसान-जनता के असंतोष को शेरर ने यह कह कर टाल दिया है कि उसे शासन मात्र से घृणा थी। लेकिन किसानों को ही शासन से घृणा न थी। कालिंजर में कुछ महाजनों ने अपने घरों की रक्षा करने वाले सिपाहियों को थाने के सामने लाकर उनसे परेड कराई। शेरर के अनुमार इसका उद्देश्य उसे यह दिखाना था कि अंग्रेज़ों का राज खत्म होगया है। यदि विद्रोही सिपाही और किसान हर जगह लूटमार में लगे थे तो इस "ग़दर" से कालिंजर के ये महाजन क्यों इतने प्रसन्न थे ?

शेरर जब इलाहाबाद पहुँचा तो उसने देखा कि नाव खेने वाले मल्लाह तक हुकुम न मानने पर तुले हुए हैं। एक को धमकाया तो वह चलता बना। इसलिये शासक अंग्रेज़ को कूटनीति से काम लेना पड़ा। जनता की देशभक्ति और अंग्रेज़ी शासन के प्रति उसकी घृणा न देख कर श्री रमेशचंद्र मजूमदार ने विभिन्न स्थानों में क्रान्ति की विशेषताओं का मूल्याङ्कन इस प्रकार किया है। सिपाहियों के विद्रोह के बाद नगर की जनता ने विद्रोह किया। इसमें सबसे पहले गुंडे रहते थे जो हर हलचल से फायदा उठाते हैं। सिपाहियों ने जेल से कैदी छोड़ कर उन्हें उत्साहित किया। इन कैदियों और गुंडों से और लोग मिल गये जो उन्हीं जैसे थे। इन्होंने मिल कर लूटमार और हत्याएं कीं। इनके बाद गूजर आदि जरायामपेशा जातियाँ थीं। जमींदारों और किसानों ने अराजकता से फायदा उठा कर बनियों का हिसाब साफ़ कर दिया। अब रह गये भद्र लोग, सो पहले तो हिन्दी भाषी प्रदेश में भद्र लोग होते ही नहीं हैं और जो रहे होंगे, वे अंग्रेज़ों के साथ रहे होंगे !

इलाहाबाद जिले के किसान पुराने ताल्लुकदारों के नेतृत्व में उठ खड़े हुए। अंग्रेज़ी अदालतों की कृपा से जिनकी रियासतें छिन गई थीं, उन्होंने उन पर फिर अधिकार कर लिया। जिन लोगों ने नीलाम में रियासतें खरीदी थीं, वे अधिकतर शहर में रहते थे। किसानों को उनसे ज़रा भी प्रेम न था। अंग्रेज़ी राज के समर्थन में भी ये नये रईस कमज़ोर साबित हुए। के लिखता है, "खेतिहर जातियों का सारा कसबल हमारे खिलाफ़ जुट गया।"[४५] गंगा-जमुना के बीच के प्रदेश के तमाम किसान अंग्रेज़ों के विरुद्ध उठ खड़े हुए। हिन्दुओं और मुसलमानों ने मिल कर इलाहाबाद में अंग्रेज़ों का मुकाबला किया। के तक मानता है

कि प्रारंभिक लूटपाट के बाद "संगठित विद्रोह जैसी चीज़ उभर कर सामने आई।"[४६] इलाहाबाद में सेना के विद्रोह के साथ जनता ने भी विद्रोह किया। "वह महान् नगर एक क्षण में विद्रोह कर बैठा।"[४७] जेल से बेड़ियाँ पहने हुए कैदी अंग्रेज़ों से लड़ने के लिये निकल पड़े। अंग्रेज़ी सेना के पेंशनयाफ्ता सिपाही बुढ़ापे में देश के लिये लड़ने को आगये। शहर के अंदर गुंडों ने बड़ी लूट मार की होगी ! के लिखता है कि "व्यक्तिगत लोभ की पहली प्रेरणा जातीयता की किंचित् भावना से नियंत्रित रही।"[४८] इसके साथ वह जोड़ देता है कि यह जातीयता की भावना बहुत थोड़ी देर रही लेकिन कुछ देर के लिये वह झलक दिखा गई, इतना तो वह मानता है। श्री मजूमदार ने तो एक क्षण के लिये भी "गुंडों" और सिपाहियों के हृदय में इस जातीय प्रेरणा को स्वीकार नहीं किया। यहाँ भी सिख सैनिकों ने हिन्दुस्तानी सिपाहियों का साथ दिया।[४९]

आज़मगढ़ में सिपाहियों ने अंग्रेज़ अफ्सरों को खजाना लेजाने से रोका। एकाध अफ्सर को छोड़ कर उन्होंने बाकी सब अफ्सरों की प्राणरक्षा की। पुलिस ने सेना का साथ दिया। जेल से कैदी छोड़ दिये गये। यदि ये गुंडे होते तो अंग्रेज़ों को जान बचाकर भागने तक का मौका न मिलता। सिपाहियों ने बड़ी शिष्टता से अफ्सरों को गाड़ी पर बिठा कर गाज़ीपुर की ओर रवाना कर दिया और साथ में कुछ रक्षक भी भेज दिये। विद्रोही सिपाही फौजी ढंग से व्यवस्थित रूप में मार्च करते हुये फैज़ाबाद के लिये चले।

बनारस में सिपाहियों के विद्रोह के बारे में अंग्रेज़ों को शक था कि शहर के "बदमाश" उनसे मिले हुए हैं। यहाँ भी सिपाहियों ने अंग्रेज़ अफ्सर मेजर बेनेट की प्राणरक्षा की। यहाँ पर सिख पल्टन ने भी अंग्रेज़ों के विरुद्ध विद्रोह कर दिया। शहर की जनता की सहानुभूति सिपाहियों के साथ थी। कचहरी के नाज़िर पं० गोकुलचंद, वफादार रईस देवनारायण सिंह और बनारस के राजा अंग्रेज़ों के साथ थे। इनके प्रभाव से बनारस शहर का विस्फोट रुका रहा। "लेकिन यद्यपि नगर में अनुपम शान्ति थी किन्तु आसपास के प्रदेश में चकित कर देने वाले वेग से हिंसा और अराजकता फैल गई। यही नहीं कि विद्रोही सिपाही आसपास के गाँवों में जाकर दूसरों को विद्रोह के लिये उकसा

रहे थे (इसकी तो आशा थी), वरन् ग्रामीण समाज के अन्तर से एक विशाल आन्दोलन फूट कर अब सतह पर आ रहा था। कुछ समय के लिये अंग्रेज़ी हुकूमत के सब चिन्ह तेज़ी से मिटते जा रहे थे। थोड़े ही दिन में शान्ति और न्याय की व्यवस्था खत्म होगई और संपत्ति में ऐसी क्रान्ति हुई जिससे यहाँ के लोगों के स्वभाव और चरित्र से परिचित लोग भी चकित रह गये।"[५०] जिस-न्याय व्यवस्था से अंग्रेज़ों ने किसानों के स्वामित्व-अधिकार छीने थे, उन्हें अपनी लगान और कर-व्यवस्था से तबाह कर दिया था और कचहरी-पुलिस के बल पर उनके बैल बछिया कुड़क करा दिये थे, उसी न्याय-व्यवस्था को, जिसके सामने गरीब-अमीर "बराबर" थे, किसानों ने खत्म कर दिया। नीलाम में रियासतें खरीदने वालों की ज़मीनें छिन गईं। उनके कारिन्दों को मारकर भगा दिया गया। अंग्रेजों ने इलाहाबाद और बनारस में मार्शल लॉ जारी करके फिर अपनी शान्ति-व्यवस्था कायम की।

जौनपुर में लुधियाना की पल्टन का एक दस्ता था। बनारस की तरह यहाँ भी सिख सिपाहियों ने जनता का साथ दिया और वे अंग्रेज़ों से लड़े। शहर के लोगों ने सिपाहियों का साथ दिया। "पैसे के लिये लड़ने वाले थोड़े से सिख सैनिकों की बग़ावत जनता के आम विद्रोह में परिणत हो गई।"[५१]

८ जून को फ़ैज़ाबाद में सिपाहियों ने विद्रोह किया। इनकी राजनीतिक चेतना का प्रमाण हचिनसन के इन शब्दों से मिलता है, "उन्होंने कोई असन्तोष का वहाना नहीं गढ़ा। उन्होंने कहा कि हममें इतनी शक्ति है कि तुम्हें देश से बाहर निकाल दें और यही करने की हमारी इच्छा है।"[५२] न चर्बी, न कार्तूस, न आटे में हड्डियों का चूना, न क्रिस्तान बनाये जाने का डर। सीधी सी बात कि तुम्हें हिन्दुस्तान छोड़ कर जाना है और हमारे मन में है कि तुम्हें निकाल बाहर करें। अत्यन्त पवित्र उद्देश्यों से आन्दोलित होने वाले योद्धा ही ऐसा कह सकते हैं और शत्रु को खुली चुनौती देकर प्राणपन से युद्ध कर सकते हैं। फैज़ाबाद की २२ वीं पल्टन ने अंग्रेज़ अफ्सरों से कहा कि वे सकुशल जा सकते हैं और अपने साथ निजी हथियार और संपत्ति ले जा सकते हैं। सार्वजनिक संपत्ति वे नहीं ले सकते क्योंकि वह अवध के बादशाह की है। उन्हें नौ सौ रुपये राह खर्च के लिये दे दिये गये और जाने के लिये नावों का

प्रबन्ध कर दिया गया।[५३] आगे चल कर इन अंग्रेज़ अफ्सरों पर आक्रमण किया गया जिसके लिये कुछ लेखकों ने फैज़ाबाद के सिपाहियों पर विश्वासघात का आरोप लगाया है। फौरेस्ट का मत है कि इसके लिये समुचित प्रमाण नहीं हैं। फैजाबाद के सिपाही उन्हें मारना चाहते तो कोई उनका हाथ पकड़नेवाला न था। उन्हें धोखे से मृत्यु के हवाले करने का सवाल तब उठता जब अंग्रेज़ अधिकारी शक्तिशाली होते और उनका वध करने में उन्हें कोई कठिनाई होती। फैजाबाद में विद्रोह के संगठन और व्यवस्था से चमत्कृत होकर हेनरी लारेन्स ने लिखा था, "हर चीज एकदम नियमित ढंग से की गई थी। देशी शासन के अधिकारियों ने प्रमुख स्थान ग्रहण कर लिये। दिल्ली के बादशाह के प्रभुत्व की घोषणा कर दी गई। हर जगह हम इस तरह नियमित और व्यवस्थित ढँग से काम करने की बात सुनते हैं।...यह शान्तिपूर्ण पद्धति किसी प्रभावशाली नेतृत्व की ओर संकेत करती है।"[५४] यह व्यवस्था इसीलिये संभव हुई कि फैजाबाद के सैनिक एक महान् उद्देश्य के लिये लड़ रहे थे। उन्होंने नयी राज्यसत्ता के प्रतीक-स्वरूप बहादुरशाह को सम्राट् घोषित किया। यह विद्रोह के संगठन और उसकी आन्तरिक एकता का प्रतीक भी था।

फैजाबाद से श्रीमती मिल नाम की अंग्रेज़ महिला अकेले चलीं। अनेक गाँवों से होते हुए उन्होंने यात्रा की लेकिन उनका बाल भी बांका न हुआ। गब्बिन्स के वर्णन के अनुसार गाँव की स्त्रियों ने उनके साथ बड़ी भलमानसाहत का व्यवहार किया।[५५] उन दिनों की यह एकमात्र घटना नहीं है जिसमें अरक्षित अंग्रेज़ महिला गाँवों में घूमती हुई सकुशल चली गई हो। इस तरह की घटनाएँ भारतीय जनता के उदात्त नैतिक चरित्र का पुष्ट प्रमाण हैं। फैजाबाद से लेनौक्स-परिवार गोरखपुर चला तो विद्रोह के नेता मोहम्मद हसन ने उनकी प्राणरक्षा की थी।

सीतापुर, मोहम्दी, दरियाबाद, गोंडा, बहराइच आदि स्थानों में इसी प्रकार विद्रोह हुए। अवध में विद्रोह के बारे में फौरेस्ट ने लिखा है कि दस दिन में अंग्रेज़ी राज का अन्त हो गया। "सिपाहियों ने विद्रोह किया और जनता ने शासन का जुआँ उतार फेंका। कुछ अपवादों को छोड़ कर बहादुर किन्तु सरकश जनता ने शासक जाति के भागने वाले

लोगों के साथ दयालुता का व्यवहार किया। अवध के सामन्तों ने अपने उन पदच्युत स्वामियों के साथ शिष्टता का व्यवहार किया जिन्होंने अपनी सत्ता के दिनों में नेक नियत से उनमें से बहुतों के साथ भारी अन्याय किया था।" [५६] अंग्रेज़ों ने फिर सत्ता कायम करने के लिये जब अपना खूनी आतंक आरम्भ किया, तब वे शिष्टता की ये सब बातें भूल गये। अवध की धरती को उन्होंने उसकी वीर जनता के रक्त से रँग दिया।

गबिन्स को अंग्रेजी राज के बदले हर जगह अराजकता दिखाई दी। उसने क्षुब्ध होकर लिखा कि अवध में लखनऊ और उसके आसपास आठ मील का इलाका ही व्यवस्थित रह गया है। के ने लिखा है, "समूचा अवध हमारे विरुद्ध शस्त्र लेकर उठ खड़ा हुआ था।" [५७] जून का अन्त होने के पहले अवध में कोई छावनी न थी जहाँ विद्रोह न हुआ हो। अंग्रेजों को हर गाँव में अपने शत्रु दिखाई देते थे।

यह स्थिति अवध में ही नहीं थी। बदायूँ के कलक्टर एडवर्ड्स ने लिखा था, "बदायूँ में आम जनता ने एक साथ विद्रोह किया। सारे जिले में अराजकता और अव्यवस्था फैल गई।" [५८] इस अव्यवस्था का रूप क्या था? बदायूँ जिले की रियासतें नीलाम की गई थीं। जनता पर उसके नये मालिकों का कुछ भी प्रभाव न था। नीलाम में बोली बोलने वाले भगा दिये गये और पुराने मालिकों ने अपनी संपत्ति पर अधिकार कर लिया। यदि नये मालिक लोकप्रिय होते तो किसान उनका और अंग्रेज़ों का साथ देते। लेकिन किसान उनसे घृणा करते थे; इसलिये उन्होंने अपने पुराने मालिकों के साथ मिलकर अंग्रेज़ों का विरोध किया।

फर्रुखाबाद के लिये के ने लिखा है कि मई का अन्त होने के पहले ही सारा जिला विद्रोही हो गया। इसका कारण यह था कि "ऊपरी सतह के नीचे गोरों से वही पुरानी घृणा बनी हुई थी, उसका नाश करने और धरती से उसकी जड़ तक उखाड़ देने की पुरानी तमन्ना बनी हुई थी।" [५९] यह विद्रोह एक महीने तक रहा; उसके बाद सिपाहियों ने बग़ावत की। फर्रुखाबाद की मिसाल बतलाती है कि क्रान्ति की जड़ें आम जनता की भावनाओं में कितनी गहरी पैठी हुई थीं। के ने स्वीकार किया है कि उत्तर-पश्चिमी प्रान्त में बहुत जगह सिपाहियों की मदद

के बिना ही हिंसक विद्रोह हुए। [६०] ऐसा होना स्वाभाविक था क्योंकि सारे प्रान्त की जनता अंग्रेज़ी राज की जगह देशी सत्ता के लिये संघर्ष कर रही थी। "लोगों में ऐसी शंकाएं और असन्तोष भी था जिनका कोई भी संबन्ध चर्बी लगे कार्तूसों से न था। और जनता ने जो बगावत की, उसमें खजाना लूटने की प्रेरणा न थी। ये शंकाएं और असंतोष उन शक्तिशाली वर्गों के थे जो समझते थे कि अंग्रेज़ों ने उन्हें कुचल दिया है और उनके पुराने खानदान मिट्टी में मिला दिये गये हैं, उनकी पुरानी परम्पराओं को ठुकराया गया है, उनका पुराना चलन तोड़ा गया है, पुरानी व्यवस्था भंग की गई है।"[६१] विद्रोह का सम्बन्ध अंग्रेज़ों के नये बन्दोबस्त से था, उसकी यह स्वीकृति थी। के ने यह नहीं लिखा कि किसानों को भी उनके सदियों से चले आते स्वामित्व-अधिकारों से वंचित किया गया था। यदि पुराने खानदानों के मिटने का ही सवाल होता तो किसान इतने बड़े पैमाने पर उनका साथ न देते।

झाँसी में विद्रोह हुआ तो विद्रोह उस शहर तक सीमित न रहा। "लगभग सारा बुन्देलखण्ड हमारे विरुद्ध शस्त्र लेकर खड़ा हो गया था।"[६२] आगरे के बारे में के ने लिखा है कि सारा जिला अंग्रेजों के हाथ से निकला जा रहा था। यहाँ भी बन्दोबस्त की समस्या थी। अंग्रेज़ों ने जो व्यवस्था कायम की थी, वह भंग कर दी गई। भूमि-सम्बन्धों में क्रान्ति हुई। अंग्रेज़ों को जिस व्यबस्था पर बहुत अभिमान था, वह खत्म हो गयी। आगरा, अवध, रुहेलखंड, हर जगह अंग्रेज़ों ने जमीन के पुराने मालिकों, किसानों और सामन्तों के हक छीने थे। इसीलिये हर जगह उन्हें देहात में लगभग एक सी परिस्थिति का सामना करना पड़ा।

अंग्रेज़ों के विरुद्ध इस संग्राम का एक प्रमुख केन्द्र पटना था। सेना के बिना ही यहाँ जनता विद्रोह के लिये तत्पर थी। पुलिस आम जनता के साथ थी। कमिश्नर टेलर को "उस बड़े नगर की जनता पर घोर अविश्वास था।"[६३] उसने जनता को आतंकित करने की नीति अपनाई। उसने अली करीम को पकड़ने के लिये पाँच हजार रुपये का इनाम घोषित किया। टेलर ने न जाने कितने लोगों को गिरफ्तार किया और न जाने कितनों को फाँसी दी। पटना के तीन बुजुर्ग मौलवियों को घर पर मेहमान बनाकर उसने धोखे से गिरफ्तार कर

लिया। तीसरी जुलाई को पटना की जनता ने सशस्त्र प्रदर्शन किया। अंग्रेज़ों ने पीर अली को पकड़ कर मृत्युदंड दिया। उनके वर्णन से मालूम होता है कि वह बिहार और अवध के सूत्रों को मिलाने वाले एक प्रमुख नेता थे। उनके यहाँ बहुत से कागज पत्र मिले थे। इनमें से एक में पटना की स्थिति का वर्णन था जिससे उस समय जनता की मनोदशा का पता चलता है। उसमें लिखा था, "पटना की हालत इस तरह की है। शहर के कुछ प्रतिष्ठित लोग जेल में हैं। सारी प्रजा सरकार के अत्याचार और उत्पीड़न से परेशान है और उसे गाली देती है। ईश्वर दुखियों की पुकार जल्दी सुने!" [६४]

पीर अली पर एक अंग्रेज़ को गोली मारने का अपराध लगाया गया। घायल अवस्था में उन्हें कमिश्नर के सामने लाया गया और अपनी जान बचाने के लिये अपने साथियों का भेद बताने को कहा गया। पीर अली ने वीरता से उत्तर दिया, "कुछ मौके ऐसे होते हैं जब जान बचाना अच्छा होता है और कुछ मौके ऐसे होते हैं जब जान दे देना ही बेहतर होता है।" उन्होंने कमिश्नर टेलर के खूनी आतंक की तीव्र आलोचना की और अंत में अंग्रेज़ों को ललकारा, "तुम मुझे और मुझ जैसों को रोज फांसी दे सकते हो लेकिन हजारों आदमी मेरी जगह लेने आजायेंगे और तुम अपने मकसद में कभी कामयाब न हो गे।" अंग्रेज़ों ने पीर अली को फांसी दे दी, उनकी संपत्ति जब्त कर ली और उनका घर जमीन में मिला दिया। किन्तु वे उस आग को न बुझा सके जो पीर-अली के हृदय में जल रही थी। जिस तरह फैजाबाद के वीर सैनिक एक पुनीत उद्देश्य से प्रेरणा लेकर लड़ रहे थे, उसी तरह पीर अली ने अपने बलिदान से स्वाधीनता के उद्देश्य को और उज्ज्वल कर दिया।

सुदूर हैदराबाद से ब्रिटिश रेजीडेंट ने कलकत्ते की सरकार को सूचना दी कि सैनिक अफसरों से छुट्टी लिये बिना शहर में जाते हैं और यह प्रचार करते हैं कि गोरों के खिलाफ मिलकर विद्रोह करने का समय आगया है।[६५] यहाँ भी सिपाहियों ने राजनीतिक प्रचारक का काम किया। २७ जून १८५७ के अंग्रेज़ी पत्र "इंगलिशमैन" ने लिखा कि शहर के लोगों ने जगह-जगह इश्तहार लगाये हैं जिससे उनकी विद्रोह करने की इच्छा प्रकट होती है। इस पत्र के अनुसार शहर के भले लोग बगावत न करना चाहते थे। यह भावना निम्नवर्ग के लोगों में थी। हैदराबाद की

दूसरी पैदल सेना में २५० आदमी अवध के भी थे। इनसे गोरे अफसरों को बड़ी परेशानी थी। हैदराबाद के सिपाहियों के विद्रोह को अंग्रेज़ों ने बर्बरता से दबाया। २१ आदमियों को गोली मारी गई और तीन को तोपों से उड़ाया गया। कई को फाँसी दी गई। हैदराबाद की जनता ने रेजीडेन्सी पर भारी आक्रमण किया। इसमें रुहेलों ने प्रमुख भाग लिया। सिकंदराबाद की ओर जाने वाली सड़क पर नरमुण्डों का समुद्र दिखाई देता था।[६६] रुहेलों ने रेजीडेन्सी के सामने दो साहूकारों की हवेलियों से रेज़ीडेन्सी पर गोलियाँ चलाई। सारी रात हैदराबाद की जनता रेजीडेन्सी पर अधिकार करने का विफल प्रयास करती रही। अंग्रेज़ों की तोपों का मुकावला उसके साधारण हथियार न कर सकते थे। जनता के व्यापक असन्तोष के बारे में रेजीडेंट ने लिखा था, "न तो निज़ाम के दर्बार के सरदार और न वज़ीर इस वक्त अपने आदमियों को काबू में रख सकते हैं।"[६७] रेजीडेंट की इच्छा थी कि "हैदराबाद की तमाम सशस्त्र जनता" को शस्त्रबल से कुचल दे और उसे आशा थी कि सर्दारों के निजी सिपाही उसका साथ देंगे लेकिन उसे देशी सेना पर भरोसा न था। निजाम का मंत्री सालारजंग बिल्कुल लोकप्रिय न था और रेजीडेंट के अनुसार इसका कारण यह था कि हर कोई जानता था कि वह सोलह आने अंग्रेज़ों के साथ है। इससे स्पष्ट है कि हैदराबाद की सारी जनता अंग्रेज़ों के विरुद्ध थी। निजाम और उसके सर्दारों की सहायता से ही अंग्रेज़ जनता का असन्तोष दबा सके। हैदराबाद के संघर्ष में एक उल्लेखनीय बात यह है कि उसमें विद्यार्थियों ने भी भाग लिया था।[६८]

लखनऊ में अपने भाई हेनरी लारेन्स की तरह पंजाब में जॉन लारेन्स ने हिन्दुस्तानी सिपाहियों को साम-दाम-दंड-भेद से अपनी ओर करने का प्रयत्न किया था। अंग्रेज़ पलक मारते हजारों सिपाही भर्ती कर सकते हैं, पुरबिये सिपाही यह मौका हाथ से निकल जाने देंगे तो फिर हाथ मलते रह जायेंगे! इस समय जलंधर, होशियारपुर, फिल्लौर आदि की छावनियों में अंग्रेज़ों के बँगलों में आग लगाने के काण्ड होते रहे। फरीदकोट और नाभा की रियासतों में शामदास नाम के फकीर ने जनता के विद्रोह का नेतृत्व किया। उनके गिरोह में तीन हजार लड़ाके थे। अंग्रेज़ों ने पटियाला की सेना की सहायता से इस विद्रोह

का दमन किया। लुधियाना के बारे में रिकेट्स ने जॉन लारेन्स को सूचित किया था कि शहर में विद्रोहियों के नेता मौलवी अब्दुल कादिर हैं। वह दो बार शहर को आन्दोलित कर चुके थे। लुधियाना की सेना के कमाण्डर गौर्डन का विचार था, सिपाही शहर के "बदमाशों" से मिलकर षड़यन्त्र कर रहे हैं। लुधियाना में दुशाले बनाने वाले कश्मीरियों का एक मुहल्ला था। कुछ काबुल के पठान भी वहाँ रहते थे। लुधियाना के पंजाबियों, कश्मीरियों, पठानों और हिन्दुस्तानी सिपाहियों ने मिलकर विद्रोह किया। वहाँ के व्यापारियों ने पैसे से सहायता की। के ने अफसोस जाहिर करते हुए लिखा है, इन व्यापारियों को अंग्रेज़ी राज से चाहे जितना लाभ हुआ हो लेकिन इस संकट में वे अंग्रेज़ों की मदद करेंगे, इस बात की आशा न की जा सकती थी।

२५ जून ५७ को पंजाब सरकार ने कलकत्ते की सरकार को सूचित किया कि वान कोर्टलैण्ट नाम का अफ्सर हांसी और हिसार के पश्चिम में सिरसा जिले पर फिर से अधिकार करने गया है। उसका उद्देश्य है कि पंजाब में विद्रोह न फैलने दिया जाय। उसने विद्रोही जनता को आतंकित किया। [६९] लगभग एक हज़ार भट्टी लोगों ने उस पर आक्रमण किया। बाद को तीन हजार विद्रोहियों से उसकी टक्कर हुई। ३० जून को पंजाब सरकार की ओर से ब्रैण्डरेथ ने कलकत्ता-सरकार को लिखा कि जमुना और सतलज के बीच में और कर्नाल के पास शान्ति कायम रखने के लिये जोरदार उपाय काम में लाने पड़े। इसी तरह लुधियाना, अम्बाला और थानेसर में जनता को आतंकित करके अंग्रेज़ों ने शान्ति कायम रखी।

१२ जून को पंजाब के जुडीशल कमिश्नर मौंटगोमरी ने कलकत्ता-सरकार को लिखा कि नाभा और फरीदकोट के राज्यों से तीन हजार जमींदार शामदास फकीर के नेतृत्व में इकट्ठे हुए हैं और फरीदकोट की ओर बढ़ना चाहते हैं। रियासतों के सर्दार अंग्रेज़ों के साथ थे किन्तु जनता की सहानुभूति विद्रोही पक्ष के साथ थी।

पंजाब की सेनाएं सीमान्त प्रदेश के पठानों से संपर्क बनाये थीं और उनके साथ मिल कर काम करना चाहती थीं, इस तथ्य की झलक ८ जुलाई को ब्रिगेडियर-जेनरल कौटन के नाम लिखे हुए एडवर्ड्स के पत्र से मिलती है। फोर्ट मैकेसन की १४ वीं पैदल सेना और अफरी-

दियों में वार्ता चल रही थी कि वे सिपाहियों को अपने यहाँ शरण दें।

अंग्रेज़ों को नरिञ्जी नाम का गाँव विशेष रूप से कष्ट दे रहा था। इसे वे पहले भी दंड दे चुके थे। स्वात के लोगों ने इस पर अधिकार कर लिया था। अंग्रेज़ों ने इस बार पूरे गाँव को बर्बाद कर दिया। [७०] १७ अगस्त को ब्रैण्डरेथ ने कलकत्ता-सरकार को लिखा कि जो दंड नरिञ्जी को दिया गया है, वह पूरे सीमान्त प्रदेश के लिये लाभदायी होगा। १३ अगस्त को एडवर्ड्स ने ब्रैण्डरेथ को लिखा कि सिपाही-विद्रोह से लाभ उठाकर पेशावर जिले के जिस हिस्से में लोगों ने शान्ति भंग की है, वह स्वात, पंजतर और बोनेर की स्वतन्त्र घाटियों से लगा हुआ यूसुफाज़ाई सीमान्त है जहाँ बहुत दिनों से हिन्दुस्तान से भागने वाले कट्टर लोगों को शरण मिलती रही है । पठानों और हिंदुस्तानियों का संपर्क पुराना था। इस समय अंग्रेज़ों को बारबार जो सीमान्त प्रदेश में शान्तिभंग होती दिखाई देती थी, उसका कारण सिपाहियों का विद्रोह था। इस तरह विद्रोह की ये तमाम कड़ियाँ एक ही शृंखला का अंग थीं।

मर्दान के किले से अंग्रेज़ यूसुफ़ज़ाई प्रदेश पर दबदबा कायम रखते थे। यहाँ गाइड्स नाम की टुकड़ी रहती थी । उसके दिल्ली चले जाने पर ५५ वीं पैदल-सेना वहाँ आई। २१ मई को इस पल्टन के एक दस्ते ने नौशेरा में विद्रोह कर दिया "और उस घड़ी के बाद से किला दरअसल अंग्रेज़ अफसरों के लिये जेलखाना और असंतोष का केन्द्र बन गया।" [७१] पेशावर से ५५ वीं पल्टन के हथियार डलवाने के लिये फौज चली तो सिपाही किले से निकल कर पहाड़ों में चले गये। स्वात में अंग्रेज़ों की कूटनीति के संकेत पर अखुन्द (धर्माचार्य) और बादशाह में झगड़ा था। अखुन्द की सहानुभूति हिन्दुस्तान के साथ थी। अंग्रेज़ों को भय था कि बादशाह और अखुन्द मिल गये और उन्होंने ५५ वीं पल्टन के सिपाहियों का स्वागत किया तो पेशावर घाटी में विद्रोह की लपटें फैल जायँगी । अखुन्द के शिष्य ५५ वीं सेना के सिपाहियों को दुर्गम पहाड़ों में रास्ता दिखाते हुए ले गये। अंग्रेजी राज से बहुत दूर उन्होंने सिंधु नदी को पार किया। उनका उद्देश्य था कि वे कश्मीर के महाराज गुलाबसिंह के यहाँ पहुँच जायँ।

अंग्रेज़ों के संकेत पर बादशाह के लड़के मुबारकशाह को सर्दारों ने

निकाल दिया था। मुबारकशाह भी हिन्दुस्तानियों के साथ थे। उन्होंने पंजतर की घाटी में आकर डेरा जमाया। यहाँ मंगल थाना नाम की जगह में हिन्दुस्तानी मुसलमानों की एक बस्ती थीं। ये वहाबी मत के धर्मप्रचारकों के असर में थे। हजारा के सामने सिन्धु नदी के तट पर सिताना में वहाबियों का जो केन्द्र था, यह उसी की शाखा थी। हिन्दुस्तान की सहायता से यह केन्द्र बहुत दिन से स्थापित था और अंग्रेज़-विरोधी कार्यवाही में लगा हुआ था।[७२] सीमान्त पर हिन्दुस्तानी सिपाहियों के मित्र विद्यमान थे और वे पठानों के साथ– भले ही छोटे पैमाने पर हो—उनकी सहायता करने के लिये तैयार थे।

पंजतर की पहाड़ियों के पास यूसुफ़जाई प्रदेश में महमूदजाई नाम की एक जवार थी। फौजी छावनियाँ वहाँ से दूर थीं; आसपास के पहाड़ी इलाके से लोगों को सहायता मिल सकती थी। हिन्दुस्तान में अंग्रेज़ी राज के खत्म होने की खबर से उत्साहित होकर यहाँ के लोगों ने विद्रोह कर दिया। उन्होंने सरकार को लगान देना बंद कर दिया—बार्दोली सत्याग्रह से बहुत पहले लगानबंदी आन्दोलन में उन पठान किसानों ने यह पहल की थी। उन्हें मर्दान बुलाया गया तो उन्होंने आने से इन्कार कर दिया। उन्होंने ढोल बजाकर पंजतर के सर्दारों और मुल्लाओं को इकट्ठा किया और अंग्रेज़ों के खिलाफ जेहाद करने को कहा। अंग्रेज़ों ने कई गाँव जला दिये; औरों पर जुर्माना किया। पठानों के साथ जान मुहम्मद खाँ नाम का एक रुहेला सर्दार था। अंग्रेज़ों ने उसे फांसी दे दी। इन दिनों मंगल थाना के हिंदुस्तानी मुसलमानों के नेता मौलवी इनायत अली पंजतर आये। महमूदजाई विद्रोह के बाद उन्होंने सीमा पार की और नरिञ्जी गाँव में जेहाद का ऐलान किया। युसुफज़ाई के मलिकों ने मौलवी साहब का साथ दिया। उनके साथ कुछ हिन्दुस्तानी अनुयायी थे, कुछ ५५ वीं सेना के सिपाही थे, नरिंजी के चार सौ लड़ाके थे, कुछ पंजतर के घुड़सवार थे। अंग्रेज़ों ने हमला किया और नरिंजी का नाश कर दिया। लेकिन गाँव का ऊपरी दुर्गम हिस्सा वे नष्ट न कर पाये। मौलवी साहब फिर लौट आये। चिगलाई, पंजतर और बोनेर से उन्हें अब की और भी ज्यादा सहायता मिली। उन्होंने आत्मरक्षा के लिये मोर्चाबंदी भी की। इसबार अंग्रेजों ने कहीं बालिश्त भर दीवाल न खड़ी रहने दी, यहाँ तक कि इंजिनियरों ने पेड़ और कुएँ तक बारूद से उड़ा

दिये।[७३] अंग्रेज जिस तरह सीमान्त प्रदेश में शान्ति स्थापित करते थे, यह घटना उसकी सुन्दर मिसाल है। अंग्रेज़ों ने जिन तीन आदमियों को पकड़ने में सफलता प्राप्त की, उनमें एक बरेली के मौलवी भी थे।

यूसुफज़ाई प्रदेश के असिस्टेंट कमिश्नर हौर्न ने लिखा था कि ५५ वीं पल्टन के विद्रोह ने यूसुफज़ाई पठानों का मन अव्यवस्थित कर दिया है। सिपाहियों का विद्रोह राजनीतिक प्रचार का काम करता था। जो लोग पहले ही अंग्रेज़ी राज से खार खाये बैठे थे, उन्हें उससे प्रोत्साहन मिलता था। यह बात उत्तर भारत में हुई और सीमान्त प्रदेश में भी। अब्दुर्रहीम नाम के नेता ने बकशाली के पठानों को सलाह दी कि वे अंग्रेज़ों को लगान न दें। उसने दूसरे दिल्ली-साम्राज्य की प्रशंसा भी की। इस दिल्ली के सूत्र से सुदूर यूसुफज़ाई प्रदेश के किसानों का लगानबंदी आन्दोलन हिन्दुस्तान के विशाल विद्रोह से संबद्ध था। अंग्रेज़ों ने जमान शाह नाम के मौलवी को फांसी दे दी। शेखजाना नाम के गाँव के मलिकों ने अधिकारियों से शिकायत की कि गाँव वाले सरकश हो गये हैं, इसलिये उनसे लगान वसूल करना संभव नहीं है। एक बार एक पुलिसवाला मलिकों को बुलाकर मर्दान चला लेकिन उसी समय किसानों ने ढोल बजा कर इकट्ठा होने का संकेत किया। मलिक पुलिसवाले को छोड़कर भाग खड़े हुए। अंग्रेज़ों ने दंडस्वरूप एक हजार से ऊपर रुपयों का (सौ साल पहले के ये रुपये थे) गेहूँ, जौ, भूसा आदि जब्त कर लिया।

पेशावर के डिप्टी कमिश्नर जेम्स ने १८ जुलाई को लिखा था कि लगानबंदी का आन्दोलन उन प्रमुख चार विद्रोही गाँवों तक सीमित न था। मलिकज़ाई, खिदिरज़ाई, मोहम्मदज़ाई, मनीज़ाई आदि के टप्पों से भी लगान की दो किस्तें अंग्रेज़ वसूल न कर पाये। यह दिलचस्प बात है कि पठानो में भी विद्रोह का कारण अंग्रेज़ों की कर-व्यवस्था थी। उन्होंने अंग्रेज़ों का विरोध करने का यही सबसे अच्छा उपाय समझा कि उन्हें लगान न दिया जाय। इस तरह इस राज्यक्रान्ति का भीतरी तत्त्व हर जगह किसानों का असन्तोष था। हर जगह किसान अंग्रेज़ी न्याय-व्यवस्था से मुक्ति पाकर अपने सनातन स्वामित्व-अधिकार प्राप्त करना चाहते थे।

इन लोगों में मौलवी इनायत अली ने प्रचार-कार्य किया था।

अंग्रेज़ों को हिन्दुस्तान में कैसी हार खानी पड़ी है, इस के समाचार वह सुनाते थे। वह पेशावर और अबोज़ाई के सिपाहियों से पत्र-व्यवहार भी कर रहे थे। इन सब सूत्रों से विद्रोह के आन्तरिक संगठन का कुछ आभास मिलता है अंग्रेज़ों ने ऐसे बहुत से सूत्र नहीं छोड़े लेकिन जो भी छोड़े हैं, उनसे यह निष्कर्ष अवश्य निकलता है कि अंग्रेज़ी-शासन खत्म करके देशी राज्य-सत्ता स्थापित करने के लिये एक बड़े पैमाने पर यह संघर्ष व्यवस्थित ढंग से चल रहा था।

कैप्टेन जेम्स को सबसे बड़ी परेशानी यह थी कि नरिंजी के लोग बहुत जिद्दी हैं यानी वे अंग्रेजों की प्रभुसत्ता स्वीकार नहीं करते हैं। इसके अलावा वे अंग्रेज़ों की वास्तविक कमज़ोरी को बहुत बढ़ा-चढ़ा कर अफवाहें फैलाते हैं। पठानों के सिवा अंग्रेज़ों को अन्य जातियों से भी भय था। कश्मीर के राजा की रियासत में रहने वाले चिब लोगों ने अंग्रेज़ी सीमा पर हमला किया। खेलात के खान की प्रजा मरी लोगों ने इसी तरह हमला किया। ओरकज़ाई कबीले को संयुक्त करके अंग्रेज़ों से लड़ने के प्रयत्न किये गये। चीफ़ कमिश्नर को पेशावर और कोहाट के सीमान्त प्रदेश से बड़ी परेशानी थी। अंग्रेज़ों को यह शंका भी थी कि खैबर के दर्रे में जेहाद का प्रचार करने काबुल से मौलवी आया है। काफी दिनों तक सीमान्त प्रदेश में अंग्रेज़ों की यह परेशानी बनी रही। ११ सितंबर को पंजाब सरकार की ओर से ब्रैण्डरेथ ने लिखा था कि पेशावर की घाटी बिल्कुल राजनीतिक ज्वालामुखी" ("a perfect political volcano") बनी हुई है।

१८ सितंबर को ब्रैण्डरेथ ने लिखा कि दिल्ली की लंबी लड़ाई से हज़ारा के लोगों की वफादारी खत्म होरही है। खरल नाम के लोग हज़ारों की संख्या में एकत्र होकर लड़ने को तैयार थे। "उनके सर्दार ने कह रक्खा था कि उसे यह सेवा करने का आदेश दिल्ली के बादशाह से मिला है।"[७४] भले ही सर्दार ने दिल्ली न देखी हो, नाम ही सुन रखा हो लेकिन जब वह लोगों को दिल्ली के नाम पर बटोरता है, तब इसे कबीलाई अन्तः प्रेरणा का विस्फोट तो अवश्य नहीं कहा जा सकता। "खरल लोगों के पास बहुत थोड़े हथियार हो सकते हैं और वह भी बहुत घटिया किस्म के जिन्हें उन्होंने अपने घरों की कच्ची दीवालों में छिपा रखा होगा। लेकिन वे भारी संख्या में इकट्ठे हो सकते हैं और

यदि एक जगह बग़ावत सफल हुई तो फिर जल्दी फैलती है।"७४ अंग्रेज़ इन कबीलों के विद्रोह का राजनीतिक महत्व समझते थे। हर कबीला उनके राज से मुक्ति चाहता था; फिर अब तो दिल्ली एक केन्द्र था जहाँ अनेक स्थानों के विद्रोह सूत्र आकर मिल जाते थे। खरल लोगों के साथ कुट्टिया नाम की जाति ने अंग्रेज़ों को तंग करना शुरू किया। मुल्तान की सड़क पर उन्होंने पुलिस से हथियार रखवा लिये। सतलज के किनारे वट्टू नाम की जाति ने अंग्रेज़ों के यातायात के साधनों के लिये संकट उत्पन्न कर दिया। लाहौर से अस्सी मील दूर खरल, खट्टिया, बट्टू आदि जातियों ने पुलिस को निःशस्त्र किया और डाक-व्यवस्था भंग करदी। अंग्रेज़ों के हमला करने पर ये लोग घने जंगलों में चले जाते थे। ६ अक्तूबर को बैरण्डरेथ ने लिखा लाहौर और मुल्तान के बीच के जंगली इलाकों में भी विद्रोह चल रहा है। पंजाब के विद्रोह-संबन्धी कागज-पत्रों में बहाबलपुर के नबाब के नाम एक दिलचस्पी अर्जी है। मुहम्मद, नत्थू, मुराद आदि जमींदारों ने नवाब साहब की ख़िदमत में सलाम भेजने के बाद दरख़ास्त की थी कि दिल्ली का बादशाह अंग्रेज़ी राज से लड़ रहा है, इसलिये मुल्तान डिवीजन के सब जमींदार अंग्रेज़ अधिकारियों के ख़िलाफ़ लड़ने पर तुल गये हैं। नवाब साहब इस ज़माने के अरस्तू हैं, इसलिये उन्हें अच्छी तरह मालूम होगा कि जमीदारों की लड़ाई सरकार का मुकाबला नहीं कर सकती। नवाब साहब ने सतलज पार करने पर रोक लगा रखी थी, इसलिये ये जमींदार व्यास की घाटी में बस गये हैं। उनके पास अठारह हज़ार आदमी लड़ने को तैयार हैं और नवाब साहब को इस्लाम में सच्चा यकीन हो तो मदद करें।

नवाब साहब इस्लाम के ऐसे भक्त न थे कि अंग्रेज़ों से लड़ाई मोल लेते। उन्होंने १६ अक्टूबर को उन्हें फटकारते हुए जवाब लिखा कि तुमने ऐसे वक्त बग़ावत की है जब तुम्हें सरकार की मदद करनी चाहिये थी। अंग्रेज़ इस देश के मालिक हैं; तुम गरीब आदमियों ने उनके खिलाफ़ बगावत करने की जुर्रत कैसे की? नवाव साहब की मूल इबारत का अंग्रेज़ी तर्जुमा यह था: "The English are lords of the country. How dared you, poor people, mutiny against them ?" हैदराबाद की तरह यहाँ भी नवाबों की सहानुभूति अंग्रेज़ों के ाथ थी; ग़रीब आदमी अंग्रेज़ों से लड़ने की जुर्रत करते थे।

पंजाब में जनता के अनेक स्तरों ने राज्यक्रान्ति को लोकप्रिय रूप दिया। इनमें मुहम्मद, नत्थू, मुराद आदि ज़मींदार भी थे जो इस्लाम के भाईचारे में विश्वास करके बहावलपुर के नवाब को अंग्रेज़ों से लड़ने के लिये बुलावा दे रहे थे।

पंजाब की जनता के साथ वहाँ की छावनियों की हिन्दुस्तानी सेना लड़ रही थी। स्यालकोट के सिपाहियों ने कर्नल फर्कुहारसन और कैप्टेन कौलफील्ड को कैद कर लिया। उन्हें अंग्रेज़-मात्र से द्वेष नहीं था, न इन अफ्सरों से व्यक्तिगत घृणा थी। ब्रैण्डरेथ की सूचना के अनुसार उन्हें निकल जाने दिया गया। जब अफ्सरों ने उनसे कहा कि ग़दर में न शामिल हो तो उन्होंने जवाब दिया कि यह सम्भव नहीं है। "उन्हें सामान्य उद्देश्य के लिये लड़ना ही चाहिये।"[७६] मेरठ में ग़फ के मित्र हिन्दुस्तानी अफ़्सर ने ऐसा ही उत्तर दिया था। फैजाबाद के सिपाहियों ने अंग्रेज़ अफ्सरों के प्रति ऐसा ही व्यवहार किया था। स्यालकोट के सिपाहियों ने कर्नल फर्कुहार के सामने प्रस्ताव रखा कि वह सिपाहियों की ओर से लड़े तो वे उसे दो हज़ार रुपये मासिक वेतन देंगे और गर्मियों में पहाड़ों पर रहने का प्रबन्ध कर देंगे। कैप्टेन कौलफील्ड को उन्होंने एक हज़ार रुपये मासिक वेतन देने का वादा किया। ये बातें सिपाहियों ने माज़ाक में न कही थीं। वे इन अफ्सरों से बहुत दुख प्रकट करते हुए विदा हुए थे। जो सिपाही अंग्रेज़ अफ़्सरों को हज़ार-दो हज़ार रुपये माहवार देने का वादा कर सकते थे, वे जरूर राज्य और खजाने पर अपना अधिकार समझते थे। वर्ना इस तरह का वादा करना संभव न था। दिल्ली में जो अंग्रेज़ सिपाहियों की ओर से लड़ा था, संभव है, उसे वे इसी तरह अपने साथ लाये हों।

एक दूसरा अंग्रेज़ अफ्सर था कर्नल कैम्बबेल। इसे भी सिपाहियों ने बच निकलने के लिये वाध्य किया। जिस दिन स्यालकोट में सिपाही विद्रोह करने वाले थे, उस दिन सबेरे हवल्दार मेहरवानसिंह ने कैम्पबेल को जगाया और उससे भाग जाने को कहा। इस तरह सिपाहियों ने न जाने कितने अँग्रेज़ों की जान बचाई लेकिन अंग्रेज़ी प्रचार में जो मारे गये, उनका बड़ा शोर हुआ और जिनके साथ भलमनसाहत का सलूक किया गया—जिसके लिये सिपाहियों की कोई जिम्मेदारी न थी—उनका उल्लेख न हुआ और हुआ भी तो दबी जबान से। ये सिपाही हवल्दार

या सूबेदार जो अंग्रेज़ों की जान बचाते थे, उसका कारण अंग्रेज़ों के इकबाल में उनका विश्वास न था। वे स्वाधीनता-संग्राम के सच्चे योद्धा थे जिनके हृदय में गहरा मानवता-प्रेम था और इसीलिये भिन्न धर्म, जाति, और नस्ल का होते हुए भी उन्होंने कैम्पबेल की प्राणरक्षा की थी। हवल्दार मेहरबानसिंह कैसे वीर थे, इसकी एक झलक उपर्युक्त सरकारी वक्तव्य में ही मिल जाती है। उन्होंने अंग्रेज़ों की तोपें छीनने के लिये वीरता से आक्रमण किया। उन्होंने एक घुड़सवार तोपची के पिस्तौल से गोली मारी लेकिन गोली न लगी। "इस पर उन्होंने इतने जोर से और ऐसा सच्चा निशाना साधकर पिस्तौल फेंक कर मारी कि उस तोपची के दाँत टूट गये और वह ज़मीन पर गिर पड़ा।" [७७] ऐसे वीर सैनिक अंग्रेज़ी इकबाल से आतंकित होने वाले न थे।

स्यालकोट से विद्रोही सेना चली तो छावनी के खिदमतगार, सईस, घास काटने वाले और बाजार के लोग भी उनके साथ हो लिये। यदि यह उद्देश्य की लोकप्रियता उसकी जनतांत्रिक विशेषता नहीं है, तो जनवादी उद्देश्य और होता क्या है? ये सब अंग्रेजी न्याय-व्यवस्था से पीड़ित थे। इसलिये स्यालकोट की कचहरी जला दी गई। तमाम सरकारी रिकार्ड भस्म कर दिये गये। जेल के दरवाजे खोल दिये गये। डिप्टी कमिश्नर का विचार था कि पुलिस और जेल के रक्षक विद्रोहियों से मिले हुए थे। अंग्रेज़ों ने बाद को घुड़सवार पुलिस के रिसालदार को फांसी दे दी। अंग्रेज़ों को शिकायत थी कि गाँव वालों ने सिपाहियों का विरोध नहीं किया वरन् बहुतों ने उनसे सहानुभूतिपूर्ण व्यवहार भी किया। इस पर अंग्रेज़ अधिकारियों ने बहुत से गाँवों पर जुर्माने कर दिये। इस पर भी वे दावा करते थे कि पंजाब की जनता उनके साथ है! स्यालकोट के हिन्दुस्तानी अमलों का व्यवहार उन्हें विशेष रूप से नापसन्द था। वे अपने काम में बड़े मुस्तैद थे, यह वे मानते थे। सिपाहियों के प्रति उनकी सहानुभूति उन्हें अच्छी न लगती थी। स्यालकोट में अंग्रेज़ों ने २४ आदमियों को गोली मारी, दस को फाँसी दी, आठ को जेल भेजा, बाईस को नौकरी से निकाला और १०६ को बेतों से पीटा। २७ गावों पर उन्होंने सामूहिक जुर्माने किये। यह आतंक ही विद्रोह के प्रसार की सूचना देता है।

७ अगस्त ५७ को पंजाब की स्थिति के बारे में ग्रैण्डरेथ ने लिखा

था, "पंजाब में शान्ति बनी हुई है। उसके जो निवासी विद्रोहियों से सहानुभूति रखते हैं, वे लुधियाना, थानेसर, खितल और जमुना के किनारे के हैं। इन स्थानों में कठोर दंड देना पड़ा है।" ३० नवम्बर को पंजाब सरकार की ओर से गवर्नर-जनरल को सूचित किया गया था कि सारे प्रान्त को पूरी तरह निःशस्त्र करने के लिये भरसक प्रयत्न किया जा रहा है। इससे मालूम हो जाता है कि पंजाब में किस तरह की शान्ति बनी हुई थी। कुलू में प्रतापसिंह और बीरसिंह नाम के राजपूतों ने विद्रोह संगठित करने का प्रयत्न किया। इनका संघर्ष दबा दिया गया। हांसी जिले में हरियाना के सिपाहियों के साथ मिलकर रांगड़ों ने युद्ध किया। अंग्रेज़ों की ओर से जो बीकानेरी सिपाही लड़े, वे परास्त कर दिये गये। रांगड़ों के साथ गूंजरों ने हर जगह अंग्रेज़ों से युद्ध किया और उनके यातायात के साधनों को छिन्नभिन्न किया। कैप्टेन ड्रमंड के १६ नवम्बर के पत्र में अंग्रेज़ों द्वारा मेवातियों के १२ गांव जलाने का उल्लेख है। ३१ जनवरी ८ के एक सरकारी पत्र में दिल्ली से दस मील दूर एक गूजर गाँव के नब्बे किसानों को पकड़ने और उन सबको गोली मारने का हवाला है। इस पर पत्र-लेखक पैस्क (Paske) ने टिप्पणी की थी, "इस मिसाल से यह सरकश और लुटेरी जाति अवश्य आतंकित हो जायगी।"[७१]

मई ५७ के बाद राजस्थान, मध्यभारत, बिहार, हैदराबाद, अवध, रुहेलखंड, दिल्ली के आसपास का प्रदेश, पंजाब, सीमान्त प्रदेश, महाराष्ट्र—पूर्व, पश्चिम और दक्षिण के कुछ भागों को छोड़कर सारे भारत में अंग्रेज़ों को लेने के देने पड़ रहे थे। जहाँ दिल्ली, लखनऊ, कानपुर, शाहाबाद, झांसी आदि केन्द्रों में अंग्रेज़ों से डटकर सैनिक संघर्ष हुआ, वहां अन्य प्रदेशों में विद्रोहाग्नि ठंढी नहीं थी। संघर्ष के इन केन्द्रों के अलावा भी राज्यक्रान्ति के देशव्यापी प्रसार पर ध्यान देना आवश्यक है। के आदि इतिहासकारों ने दिल्ली, लखनऊ, कानपुर आदि की कहानियाँ लिखकर एक परम्परा कायम कर दी जिससे विद्रोह के प्रसार का तीव्र वेग और उससे प्रभावित भारत का अधिकांश भाग आँखों से ओझल रहा। उन्होंने कभी इसे मुसलमानों का विद्रोह, कभी हिन्दुओं का असन्तोष, कभी सतीप्रथा और विधवा-विवाह की प्रतिक्रिया और कभी अधिकारच्युत सामंतों की बगावत कह कर उसके अखिल-भारतीय

रूप पर, जनता के विभिन्न स्तरों में उसके व्यापक लोकप्रिय समर्थन पर पर्दा डाल दिया। जिस अंग्रेज़ी राज के सामने शक्तिशाली सामंतों ने हथियार डाल दिये थे, जिसके विरुद्ध देशभक्त सामन्त भी विशाल मोर्चा बनाकर लड़ने में असफल रहे थे, उसके विरुद्ध देशी फौज के सिपाहियों, किसानों, शहर के लोगों और कुछ सामन्तों, मुख्यतः छोटे सामन्तों ने इतने बड़े पैमाने पर मोर्चा बनाया, इतनी तेजी से राज्यक्रान्ति का प्रसार किया, यह भारतीय जनता की अविस्मरणीय गौरवगाथा है। इसीलिये क्रान्ति के इस बहुजातीय रूप—अर्थात् जिसमें "हिन्दुस्तानियों" के अलावा अन्य जातियों ने भी भाग लिया—और उसके लोकप्रिय समर्थन पर बल देना आवश्यक है ।

नसीराबाद के सिपाहियों ने जब विद्रोह किया तब बम्बई की घुड़सवार-सेना ने उनसे युद्ध करने से इन्कार कर दिया। प्रिचार्ड का मत है कि दोनों में पहले से कोई समझौता हो चुका था। बंबई की सेना में अवध के सिपाही भी थे लेकिन वे उसका एक हिस्सा ही थे। उसमें गैर-हिन्दुस्तानी भी थे और उन्होंने हिन्दुस्तानियों की सहायता की। विद्रोही सिपाहियों से लड़ने के लिये जब जोधपुर और जयपुर दरबारों के दस्ते आये (अंग्रेज़ों के नेतृत्व में राजस्थान में रहने वाली देशी पल्टनों से ये भिन्न थे), तब उन्होंने लड़ने से इन्कार कर दिया। उन्होने इस बात को छिपाया नहीं कि उनकी सहानुभूति विद्रोहियों के साथ है।[८१] सड़कें खराब थीं और सिपाहियों के साथ स्त्रियाँ, बच्चे और कुछ बीमार लोग भी थे। इन सबको लेकर वे सकुशल आगे बढ़ गये। पीछा करने वालों को एक भी आदमी पीछे घिसटता न मिला। अवश्य ही जनता की सहानुभूति उनके साथ थी, नहीं तो इतने बड़े काफिले के साथ उनका बढ़ना संभव न होता। अंग्रेज़ों ने और उनके अनुवर्ती अनेक हिन्दुस्तानी इतिहासकारों ने गूजरों आदि को लुटेरी जाति की संज्ञा दी है । इन्होंने विद्रोही पक्ष के लोगों को क्यों नहीं लूटा? औरतों, बच्चों, और बीमारों के साथ बहुत सा सामान लिये हुए यह काफिला क्यों नहीं लुट गया? नसीराबाद में जो अंग्रेज़ों के नौकर थे, वे प्रायः सबके सब विद्रोहियों के साथ हो लिये। कर्नल हुल्डम का एक नौकर उसके साथ सोलह साल से था और अब नौकरों का सर्दार बन गया था; वह भी सिपाहियों के साथ चला। नीमच में विद्रोह होने पर कोटा दरबार के सिपाहियों ने

लड़ने से इन्कार कर दिया। नीमच में सिपाहियों के एक नेता सूबेदार हरीसिंह थे। जब सिपाही विद्रोह करनेवाले थे तब हरीसिंह कतार छोड़ कर अपने डेरे पहुँचे। उन्होंने अपनी नयी वर्दी निकाली और जैसे वार्षिक जाँच के समय भी न सजते थे, वैसे सजकर परेड के मैदान में आ गये। "उन्होंने महान् मुगल की सेवा का आरंभ नये कपड़े पहन कर किया जिसे उन्होंने इस अवसर के लिये रख छोड़ा था।[८१] प्रिचार्ड को यह घटना और नीमच सेना के बारे में अन्य तथ्य प्रत्यक्षदर्शी कैप्टन मैकडौनैल्ड के रोजनामचे से मिले थे। यहाँ भी मुगल सम्राट् नयी राज्य-सत्ता का प्रतीक था जिसकी सेवा के लिये उल्लास और उत्साह से सूबेदार हरीसिंह ने नयी वर्दी पहनी थी।

नीमच में विद्रोह बहुत व्यवस्थित ढँग से हुआ। सारी बातें पहले से तै कर ली गई थीं। अनेक अंग्रेज़ अफ्सरों को भाग जाने के लिये वाध्य किया गया। ग्वालियर की सातवीं पल्टन के लिये प्रिचार्ड ने लिखा है कि अंग्रेज़ अफ्सरों के प्रति निरादर सूचक एक शब्द भी नहीं कहा गया। जमादार लाला तिवारी ने [इनका नाम अंग्रेज़ी में Lalla Tewang छपा है; संभवतः यह लाला या लल्ला तिवारी का रोमन अपभ्रंश है] सारे कार्य को व्यवस्थित ढँग से चलाने में विशेष योग दिया। सैनिक अपने साथ स्त्रियों, बच्चों के अलावा डेढ़ लाख से ऊपर रुपयों का खजाना भी ले गये। नीमच से सोलह मील दूर दिल्ली के रास्ते में नीमच की सेना टोंक के नवाब की अमलदारी में निंबहरा नाम के स्थान पर रुकी। यहाँ नगर के देशी अधिकारियों ने सेना का स्वागत सत्कार किया। सिपाहियों ने अपने मार्च की उचित फौजी व्यवस्था की जिससे मालूम होता था कि वे अपनी सैनिक शिक्षा भूले नहीं है।[८२] ब्रिगेड के साथ तेज ऊंटों पर सवार स्काउट रहते थे जो इधर-उधर जाकर शत्रु के बारे में खबरें लाते थे। वे फौजी ढँग से अपने कैम्प की व्यवस्था करते थे और पुराने चलन के अनुसार इतवार को हाल्ट जरूर करते थे। इस सैनिक अनुशासन के बल पर ही नीमच का प्रसिद्ध ब्रिगेड आगरा और दिल्ली में अंग्रेज़ों से वीरतापूर्ण संघर्ष कर सका।

राजस्थान की जनता के लिये प्रिचार्ड ने लिखा है कि उसे अंग्रेज़ी सरकार पर बिल्कुल विश्वास न रह गया था। "देशी लोग खुल्लमखुल्ला हमारा अपमान करते थे और उन्हें दृढ़ विश्वास था कि हमारा साम्राज्य

खत्म हो गया है और अब फिर कभी स्थापित न होगा ।" [८३] जनता को इस पर दुख न था कि व्यक्ति की स्वाधीनता स्थापित करने वाली जनतांत्रिक सरकार का जनाज़ा उठ रहा है । वह प्रसन्न थी और आशा करती थी कि उसे सदा के लिये दफना दिया जायगा । निःसन्देह सन् सत्तावन का विद्रोह देश की आम जनता के हृदय की भावनाओं को प्रकट करता था । राजस्थान के सामन्त-शासकों की प्रशंसा करते हुए प्रिचार्ड ने लिखा है कि वे अपने कर्तव्य-पथ पर अडिग रहे अर्थात् अपनी जनता के प्रति विश्वासघात करके अंग्रेज़ों का साथ देते रहे । लेकिन इस लेखक ने स्वीकार किया है कि अनेक सामन्त अपने सिपाहियों और प्रजा को नियंत्रण में न रख सके । इन्होंने अपनी सेनाएँ अंग्रेज़ों की सेवा के लिये भेजीं लेकिन कुछ अपवादों को छोड़कर उन्होने विद्रोहियों से लड़ना अस्वीकार कर दिया । इन स्वतन्त्र राजाओ के पास जो इलाके थे, वे अंग्रेज़ों के प्रति शत्रुता का भाव रखते थे । प्रिचार्ड का कहना है कि ये स्वतंत्र इलाके थे, इसलिये यहाँ विद्रोह का सवाल नहीं उठता; शत्रुभाव की ही बात की जा सकती है । यहाँ के राजा अंग्रेज़ों से मिले हुए थे; प्रिचार्ड का अनुमान है कि दिल्ली का संघर्ष कुछ दिन और चलता तो यहाँ की प्रजा अपने राजाओं के प्रति विद्रोह कर देती । ब्रिटिश साम्राज्य के साथ ही इन राजाओं का अस्तित्व था; प्रिचार्ड का यह मत बिल्कुल सही है कि अंग्रेज़ी राज की इमारत चरमरा कर बैठ जाती तो ये छोटे-मोटे राजघराने भी उसी की लपेट में भूमिसात् हो जाते । इस अंग्रेज़ लेखक की इस गवाही से राज्यक्रान्ति के सामन्त-विरोधी पक्ष पर प्रकाश पड़ता है । प्रजा में राजाओं के प्रति इतना सम्मान न था कि उनके अंग्रेज़ों से मिल जाने पर भी सदा उन्हें अपना प्रभु स्वीकार करती रहे ।

जोधपुर में ग्वालियर का एक दस्ता था जिसका नेतृत्व अंग्रेज़ों के हाथ में था । यह नाम के अलावा ब्रिटिश सेना का ही अंग था । इस दस्ते को नसीराबाद भेजा गया कि वहाँ विद्रोह का दमन करे । यह दस्ता जोधपुर की सड़कों पर मार्च करता हुआ निकला और उसने नागरिकों से पुकार कर कहा, "अपने राजा के विरुद्ध विद्रोह कर दो क्योंकि अंग्रेज़ी सरकार खत्म हो गयी है ।" [८४] इस घटना से सिपाहियों की राजनीतिक

चेतना, राजनीतिक प्रचारक के रूप में जनता को जाग्रत करने में उनकी भूमिका और राज्यक्रान्ति के सामन्त-विरोधी पक्ष का पता चलता है। सिपाही उन्हीं सामन्तों को साथ लेना चाहते थे जो अंग्रेज़ों से लड़ें; अंग्रेज़ों के सहायक सामन्तों को वे अपना शत्रु समझते थे। क्रान्ति का मुख्य उद्देश्य अंग्रेज़ी राज को खत्म करना अर्थात् साम्राज्यविरोधी था, अंग्रेज़ों के सहायक सामंतों पर दवाव डालना या उनसे लड़ना, यह सामन्तविरोधी लक्ष्य उस मुख्य उद्देश्य के अधीन था।

प्रिचार्ड हिन्दी बोल लेता था। उसे राजस्थान में बहुत जगह भटकना पड़ा और वह जनता की प्रतिक्रिया का अध्ययन कर सका। एक रात को वह नींद का बहाना किये लेटा था। उसके देशी रक्षक मारवाड़ी शब्दों की मिलावट लिये हुए हिन्दी में बातचीत कर रहे थे। उनकी बातचीत से मालूम हुआ कि "वे अपने देश मारवाड़ में भी आम विद्रोह करने की बात सोच रहे हैं। उनमें से एक बोला कि देश के हर गाँव में लोग हथियार उठाने और विद्रोही सर्दार का साथ देने को तैयार हैं।"[८५] राजस्थान की जनता का हृदय अंग्रेज़ों से लड़ने वाली देश की शेष जनता के साथ था। अपने सामन्तों और अंग्रेज़ शासकों के संयुक्त मोर्चे के कारण वह अपनी भावनाओं को भले सक्रिय रूप से बड़े पैमाने पर प्रकट न कर सकी हो किन्तु उसकी भावनाओं के बारे में सन्देह नहीं हो सकता।

अजमेर के लोग अंग्रेज़ों से लड़ना चाहते थे। कैदियों ने जेल तोड़ कर निकलने का प्रयत्न किया और बहुत से निकल भी गये। आबू में जोधपुर की ब्रिटिश सेना ने अंग्रेज़ अफ्सरों और उनके परिवारों को बचकर निकल जाने दिया। जब सेना चलने लगी तो कनौली (Conolly) नाम के अफ्सर ने मज़ाक में हाथ हिलाया। सिपाही बैण्ड बजाते हुए चल दिये और कनौली को देखकर हँसते-चिल्लाते गये। आवा के ठाकुर पर अंग्रेज़ों को सन्देह था कि उन्होंने सिपाहियों से संपर्क स्थापित कर रखा था। जोधपुर के महाराज अंग्रेज़ों के मित्र थे "लेकिन जनता या उनके सिपाही उनकी भावनाओं में शरीक न थे।"[८६] दरबारी सेना में भी असन्तोष था। दरबारी सेना आवा के ठाकुर को दंड देने भेजी गई। साथ में अंग्रेज सलाहकार हीथकोट भी था। सेना पराजित हुई और हीथकोट को जान बचाकर भागना पड़ा। आवा के ठाकुर के विरुद्ध

जार्ज लारेंस (हेनरी लारेंस और जॉन लारेंस के भाई) ने सेना का नेतृत्व किया लेकिन पराजित हुआ। लारेन्स की हार से "ब्रिटिश सत्ता के गिरे हुए इकबाल को यह एक धक्का और लगने से देशी लोग अपना वास्तविक आनन्द छिपा न पा रहे थे।"[८७]

कोटा की जनता ने अपने राजा को प्रायः बन्दी बना लिया और लगभग छः महाने तक कोटा नगर पर विद्रोही जनता का शासन रहा। मैलीसन ने लिखा है, "महाराव ने तुरत घटना का समाचार जनरल लारेन्स के पास भेजा और उस पर अपना खेद भी प्रकट किया। उन्होंने यह भी कहा कि सेना ने कानून अपने हाथ में ले लिया था और वह कुछ न कर सकते थे।"[८८] अंग्रेजों को महाराव पर सन्देह था लेकिन जैसा कि प्रिचार्ड ने संकेत किया है, राजस्थान की जनता अंग्रेजों का साथ देने वाले राजाओं के विरुद्ध विद्रोह कर सकती थी। कोटा की घटना यह सिद्ध कर सकती है कि सिपाहियों और जनता ने जहाँ जमकर क्रांतिकारी संघर्ष चलाया, वहाँ उन्होंने सामन्ती अड़चनों को अपने मार्ग में टिकने न दिया।

कोटा की तरह अनेक स्थानों में सिपाहियों और जनता ने सामन्तों की साम्राज्य-भक्ति की चिन्ता न करके स्वाधीनता के लिये लड़नेवालों का साथ दिया। इंदौर में अंग्रेज़ों ने होलकर को एक अंग्रेज़ शिक्षक द्वारा लिखा-पढ़ा कर अपनी मुट्ठी में कर रखा था। लेकिन इन्दौर के अधिकांश लोग "खुल्लम खुल्ला अंग्रेज़ी राज के पतन की डींग हाँकते थे।"[८९] पोलीटिकल एजेंट ड्यूरेंड ने मध्यभारत के लिये लिखा था कि चारों ओर शान्ति है, "लेकिन लोगों में उत्तेजना है और वे उत्सुकता से दिल्ली के समाचारों की बाट जोहते हैं।"[९०] इन्दौर में जब विद्रोह हुआ तब सारे नगर ने होलकर की सैना का साथ दिया। ड्यूरैण्ड के शब्दों में "होलकर की सेना और नगर ने विद्रोह किया" और रेज़ीडेन्सी पर आक्रमण किया।[९१]

हैदराबाद, लखनऊ, इन्दौर—हर जगह रेज़ीडेन्सी पर हमला हुआ, कारण यह कि ये रेज़ीडेन्सियाँ अंग्रेज़ी राज्यसत्ता का प्रतीक थीं और अंग्रेज़ों ने आत्मरक्षा के लिये वहाँ किलेबंदी भी की थी। भोपाल की (ब्रिटिश) सेना ने अपने देशवासी विद्रोहियों पर गोली चलाने से इन्कार कर दिया। उल्टा उन्होंने गोरे सार्जेंट की तरफ बंदूकें घुमा दीं। अंग्रेज़ों

की अपनी देशी सेना होलकर के सिपाहियों से मिल गई। मऊ की छावनी में मार्शल लॉ जारी कर दिया गया। विद्रोही सिपाहियों ने होलकर से अंग्रेज़ों के विरुद्ध उनका नेतृत्व करने को कहा। उन्होंने उसके पुरखों की वीरता का स्मरण कराया, उसकी कायरता पर उसे धिक्कारा भी लेकिन होलकर अंग्रेज़ों को सँदेसा भेज रहा था कि जल्दी आकर विद्रोह का दमन करो। उसने अपने जवाहरात वगैरह मऊ की छावनी भेज दिये। यह सोचकर कि होलकर भी विद्रोहियों के साथ होगा, हंगरफोर्ड ने उसे फटकारा था : "तुम्हें अंग्रेज़ों से इतना कुछ मिला है, और इनके प्रति शत्रु-भाव दिखाने से तुम ऐसे तबाह हो सकते हो कि मुझे विश्वास नहीं है कि अपने हितों को न देख कर तुम अंग्रेज़ सरकार के शत्रुओं की सहायता करोगे और उनके साथ मित्रता का व्यवहार करोगे।" इस पर होलकर ने उत्तर दिया, "ब्रिटिश हुकूमत के प्रति वफादारी और मित्रता के मार्ग से मैं स्वप्न में भी कभी विचलित नहीं हुआ।"[९२] अंग्रेज़-भक्त सामन्तों और जनसाधारण की चेतना में इतना अन्तर था। एक ओर लोग दिल्ली की ओर आशाभरी आँखों से देखते थे, इन्दौर में खुलमखुल्ला ब्रिटिश सत्ता के पतन पर खुशियाँ मनाते थे, होलकर के अपने सिपाही ब्रिटिश सेना के हिन्दुस्तानी सिपाहियों का साथ दे रहे थे, सारा नगर विद्रोह कर उठा था लेकिन महाराज होलकर स्वप्न में भी वफादार और मित्रता के मार्ग से विचलित न होने की कसमें खा रहे थे। अंग्रेज़ों का विचार था कि पड़ोस के छोटे सामन्त विदोह के लिये तैयार हैं।[९३]

इन्दौर की तरह धार की सेना ने भी विद्रोह किया। इस पर अंग्रेज़ अधिकारियों ने ईस्ट इंडिया कंपनी के डायरेक्टरों को लिखा था कि इस राज्य को अंग्रेज़ी राज में मिला लेना चाहिये। तब डायरेक्टरों ने बहुत बुद्धिमानी से उत्तर दिया था कि जब ग्वालियर, इन्दौर और खुद ब्रिटिश सरकार सेना को काबू में न रख सकी तब इसके लिये किसी को दंड देना उचित नहीं है।[९४] अंग्रेज़-भक्त सामन्त अपनी सेना पर और अपने यहाँ रहने वाले ब्रिटिश दस्तों पर नियंत्रण खो चुके थे। क्रान्ति का ज्वार उनकी वफादारी के रोड़ों को बहा ले गया था। हर जगह सेना और जनता को नियंत्रण में रखना संभव न था

सिन्धिया का दीवान दिनकर राव अंग्रेज़ों का वफादार सेवक था।

वह पोलिटिकल एजेंट मैकफर्सन के कहने पर चलता था। ग्वालियर की ब्रिटिश सेना के बारे में संदेह था कि उससे कलकत्ता और दिल्ली से दूत आकर मिले हैं।[९५] ग्वालियर के सिपाहियों ने सिन्धिया और दिनकर राव की राजभक्ति की न चिन्ता करके विद्रोह कर दिया। इन सिपाहियों के बारे में के ने लिखा है कि वे स्त्रियों और बच्चों के खून के प्यासे न थे। ग्वालियर से एक अंग्रेज़ महिला श्रीमती कैम्पबैल धौलपुर होती हुई आगरे आई। "वह बहुत सुन्दर महिला थी। रास्ते में, जिन सिपाहियों और गाँववालों ने उसे देखा, वे उसके सौन्दर्य पर मुग्ध हुए विना न रहे लेकिन उसके साथ अत्यन्त सम्मान का व्यवहार किया गया। उसने देशी वेश बना रखा था लेकिन वेश का भेद बहुत जल्दी खुल जाता था। कहा जाता है कि उसे देखने वालों में कुछ उसके छोटे पैरों की प्रशंसा करते हुए—सभी जातियों के लोग छोटे पैरों की तारीफ करते हैं—बोल उठे, देखो तो देशी चप्पलों में इनके पैर कितने खूबसूरत मालूम होते हैं।"[९६] भारतीय जनता साधारणतः स्त्रियों का सम्मान करती है। लंबी यात्रा करके यह निःसहाय महिला अपनी सौन्दर्यनिधि सुरक्षित लिये हुए आगरे पहुंच गई, यह उस समय इस देश की जनता के महान् चरित्र का अकाट्य प्रमाण है।

अंग्रेज़ों को बंबई की सेना पर भरोसा था लेकिन उसमें बहुत से पुरबिये भी थे जिनसे वे चिन्तित रहते थे। सिन्ध प्रान्त के हैदराबाद में और अहमदाबाद में विद्रोह करने के प्रयत्न किये गये। करांची में सेना ने विद्रोह किया। महाराष्ट्र में कोल्हापुर के राजा का भाई अंग्रेज़ों के विरुद्ध था। नाना साहब और दक्षिण के मराठा सर्दारों के दूत कोल्हापुर आये और विद्रोह के लिये प्रयत्न करने लगे। दिसंबर में विद्रोह हुआ। अंग्रेज़ों ने ३६ व्यक्तियों को फाँसी दी। "इस तत्परता के बिना सारे दक्षिणी महाराष्ट्र प्रदेश में विद्रोह फैल जाता।"[९७] इसके पहले सितंबर में कोल्हापुर की सेना विद्रोह कर चुकी थी। सतारा में रंगोबापोजी ने विद्रोह का प्रयत्न किया किन्तु असफल रहे। अंग्रेज़ों को पता लगा कि पूना के एक वहाबी मौलवी दक्षिण महाराष्ट्र में अपने शिष्यों से पत्र-व्यवहार करते रहे थे।[९८] उन्हें यह भी पता चला कि कोल्हापुर की सेना और बंगाल सेना में बहुत दिन से पत्र-व्यवहार चल रहा था। बंबई में पुलिस अधिकारी फोर्जेट किसी को विद्रोहियों की सफलता के बारे

में खुश होकर बात करते देखता तो उसे पकड़ लेता। उसने एक भेदिये की सहायता से सैनिकों की एक गुप्त बैठक देखी और उनकी बातें सुनीं। उनकी योजना थी कि दिवाली में विद्रोह किया जाय। सैनिकों को फाँसी और कालेपानी की सजा दी गई। नागपुर में भी विद्रोह का प्रयत्न हुआ। अगले साल महाराष्ट्र में और संघर्ष भी हुए।

बंगाल में चटगाँव की देशी सेना ने नवंबर में विद्रोह किया। उन्होंने खजाने पर अधिकार करने के अलावा जेल से कैदियों को छुड़ा दिया। गोरे अफ्सरों को उन्होंने न मारा। टिपरा के राजा ने अंग्रेजों की सहायता की। वे अगरतला में टिपरा के राजा के पास ही जा रहे थे। संभवतः उन्हें आशा थी कि वह उनकी सहायता करेगा। उसके आदमियों ने उनका रास्ता रोका तो वे कुमिल्ला के उत्तर से सिलहट की ओर बढ़े। जंगलों और पहाड़ों में उन्हें बहुत कष्ट सहने पड़े। पहाड़ के लोगों ने उन्हें रास्ता दिखाया, मैलीसन के अनुसार पैसों के लालच से। पैसे के लालच से पहाड़ के लोगों ने उन्हें लूटने का प्रयत्न नहीं किया, यह उसने नहीं लिखा। सिलहट की सेना लेकर अंग्रेज़ों ने उनका पीछा किया। चटगाँव के विद्रोही सिपाहियों ने सिलहट के सैनिकों को समझाने का प्रयत्न किया कि वे न लड़ें। पर वे लड़े और उनका अंग्रेज़ नेता मेजर बिंग मारा गया। मणिपुर प्रदेश में आने पर वहाँ के एक सर्दार ने अपने अनुयाइयों समेत उनका साथ दिया। अगले वर्ष जनवरी में अंग्रेज़ों ने उन्हें परास्त किया अथवा वे जंगलों में चले गये और अंग्रेज़ों को उनका पता न चला।

नवंबर में ही ढाका के देशी सिपाहियों के हथियार डलवाने का प्रयत्न किया गया। सिपाहियों ने मैगज़ीन के पास तोपें जमा कर के अंग्रेजों का मुकाबला किया। वहाँ से वे जलपाईगुड़ी की ओर चले जहाँ पल्टन की मुख्य छावनी थी। जलपाईगुड़ी पर संकट आता देख कर यूल नाम का अंग्रेज़ नायक सेना लेकर पहुँचा। वह जहाँ भी रास्ता रोकने की कोशिश करता, सिपाही उसे चकमा देकर निकल जाते। एक बार वह सारा दिन उनके आने की राह देखता रहा। जब शाम होगई तब वह अपने भूखे सैनिक लेकर खेमों की ओर चला। उनके सड़क छोड़ते ही थोड़ी दूर पर विद्रोही सैनिक जाते हुए दिखाई दिये। यूल ने एक दस्ता उनके पीछे भेजा। विद्रोही सैनिक जंगल में गायब होगये और अंग्रेज़

दो-तीन घंटे की खोज के बाद भी खाली हाथ लौट आये। जल्पाईगुड़ी से आने वाली एक टुकड़ी को विद्रोहियों के बारे में झूँठी खबर दे दी गई थी। अंग्रेजों ने नेपाल में उनका पीछा किया और जंगहबहादुर की सहायता से उन्हें घेरना चाहा लेकिन विद्रोही सिपाही ढाका से लंबी यात्रा करते हुए अवध आ पहुँचे जहाँ वे और लोगों के साथ अंग्रेजों से लड़े। सन् सत्तावन के अनेक दु:साहसिक कार्यों में से यह भी एक है।

दिसंबर में मदारीगंज और जलपाईगुड़ी के सैनिकों ने विदोह किया और "जिलें में सनसनी फैलाते चले गये।"[९९] रंगपुर का कलक्टर हाथियों पर खजाना रख कर जंगल में चला गया। पूर्निया में यूल से उनकी टक्कर हुई। उसके बाद वे नेपाल चले गये।

इस प्रकार ढाका से लेकर कराँची तक और स्वात की घाटी से लेकर हैदराबाद तक १० मई ५७ के बाद विद्रोहों का ताँता लगा रहा। कहीं केवल सिपाहियों ने विद्रोह किया, कहीं सिपाहियों और जनता ने मिलकर संघर्ष किया। कुल मिला कर देश की सभी जातियों की सहानुभूति विद्रोही पक्ष के साथ थी।

दिल्ली

श्री सुरेन्द्रनाथ सेन ने लिखा है कि अंग्रेज़ सरकार तैयार न थी, इसलिये विद्रोहियों को काफी अवकाश मिल गया। उनकी राय में १२ मई से ८ जून तक विद्रोहियों को जो समय मिला, वह उन्होंने बर्बाद कर दिया। इसशंका का उत्तर हमें मुईनुद्दीन के रोज़नामचे में मिलता है। उसने लिखा था, "११ मई से लेकर पच्चीस मई तक का समय शहर का प्रबन्ध करने में व्यतीत हुआ। अंग्रेज़ों की ओर से आक्रमण की आशंका थी। बारूद की अत्यन्त कमी थी। बारूद की मैगज़ीन शहर दिल्ली के बाहर वजीराबाद में स्थित थी जिसे जमींदारों ने लूट लिया था और बारूद लेकर चम्पत हो गये थे। मैगज़ीन में एक लाख

रुपये से अधिक की बन्दूकें मिलीं। ये सब शाही अधिकार में चली गईं किन्तु बारूद बिल्कुल न थी। अतः उसे तैयार करने के लिये आवश्यक आज्ञाएँ जारी की गईं और मई के अन्त तक कुछ परिमाण में तैयार भी हो गईं।'

८ जून तक बरेली की सेना दिल्ली न पहुँची थी। अभी नीमच ब्रिगेड दिल्ली से बहुत दूर था। दिल्ली और मेरठ के सिपाही नगर पर अधिकार किये हुए थे। उनके सामने सैनिक व्यवस्था के अलावा नगर की व्यवस्था की समस्या भी थी। इन दोनों दिशाओं में उन्होंने प्रशंसनीय कार्य किया। उनके विरुद्ध बर्नार्ड उत्तर से सेना लेकर आ रहा था। उससे मिलने के लिये मेरठ से अपना सुरक्षित तोपखाना लिए हुए विलसन आ रहा था। देशी सेना के नेताओं के सामने नगर की रक्षा का प्रश्न था, विलसन और बर्नार्ड को न मिलने देने की भी कार्य-नीति थी।

देशी सेना के एक हिस्से ने विलसन का रास्ता रोका। पहले दिन की लड़ाई में ही अंग्रेज़ों को पता चल गया कि उनके विरुद्ध किस तरह के आदमी लड़ रहे हैं। ११ वीं पल्टन के एक सिपाही ने जानबूझ कर गोली-बारूद की गाड़ी में फायर किया। वह जानता था कि इससे भयानक विस्फोट होगा और उसकी जान चली जायगी किन्तु इसकी पर्वाह न करके उसने गोली चला दी जिससे कैप्टेन ऐंड्रूज और उसके साथियों का नाश हो जाय। कई अंग्रेज़ इस विस्फोट से मारे गये और बहुत से घायल हुए। इस सैनिक की वीरता पर के ने लिखा है, "इसने हमें सिखा दिया कि विद्रोहियों में कुछ जान पर खेल जाने वाले वीर हैं जो राष्ट्रीय उद्देश्य के लिये मृत्यु का आलिंगन करने को तत्पर रहते हैं। युद्ध के इतिहास के अनेक पृष्ठ इस तरह की वीरता के अनेक कृत्यों से प्रकाशित हैं और निःसन्देह इस तरह के और भी बहुत से कृत्य हुए होंगे जिनका इतिहास में उल्लेख नहीं है।" देश के लिये इस तरह प्राणों की आहुति देने वाले इस वीर का नाम हवल्दार देवीसिंह था। ग्रेटहेड के अनुसार मेरठ में जिस ग्यारहवीं पल्टन ने विद्रोह किया था, उसी में वह हवल्दार था। अंग्रेज़ सैनिकों ने उसके मृत शरीर को अपमानित करके अपनी बर्बरता शान्त की। डॉ० बिडल नाम के अंग्रेज ने उसे ठोकरें मारी और राइफल सेना के कुछ जवानों ने उसके शव में अपनी संगीनें भोंकीं। देवीसिंह का
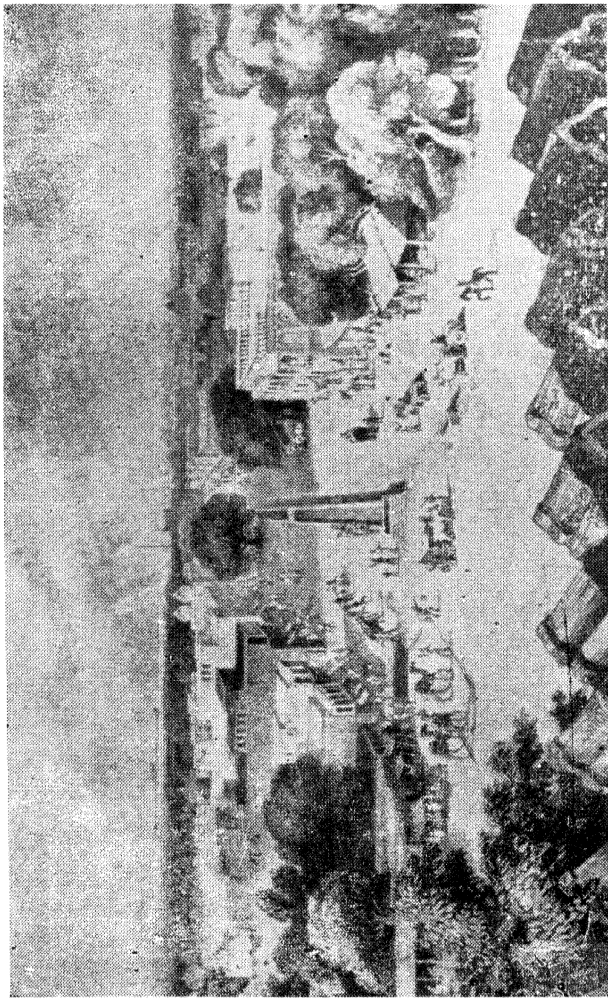
चांदनी चौक, दिल्ली

बलिदान उस पवित्र उद्देश्य के अनुकूल था जिसके लिये सैनिक लड़ रहे थे; अंग्रेज़ों की बर्बरता उनकी उस साम्राज्यवादी दस्युता के अनुकूल थी जिसके लिये वे लड़ रहे थे। दूसरे दिन कुछ और कुमक पाकर देशी सेना ने हिन्डन नदी पर अंग्रेज़ों का मुकाबला किया। दो घण्टे तक दोनों ओर से धुँआधार तोपें चलती रहीं। इसके बाद सिपाही "व्यवस्थित ढँग से पीछे हट आये।"[१००] वे अपने साथ तोपें और लड़ाई का सारा सामान लेते गये। अंग्रेज़ी फौज ने उनका पीछा करना उचित न समझा।

७ जून को विलसन और बर्नार्ड की सेनाएँ मिल गईं। इनके साथ अब गुरखों की सिरमूर बटालियन भी थी। दिल्ली की फौज ने बदली की सराय पर अंग्रेज़ों का मुकाबला किया। उसके नेताओं ने रौबर्ट्स के अनुसार बहुत अच्छी जगह चुनी थी। दाहिनी ओर एक सराय और घिरा हुआ गाँव था। उसके पास एक भारी दलदल था जिससे यह अंग सुरक्षित था। दूसरी ओर कुछ ऊँचाई पर तोपें लगाई गईं। इस ओर भी दलदल था। सबेरा होते ही अंग्रेज़ी तोपें हमला करने के लिये बढ़ीं "लेकिन इसके पहले कि वे उचित स्थान पर जमाई जायँ, लड़ाई शुरू हो गई। शत्रु के तोपखाने ने बाढ़ दागी जिससे हमें भारी नुकसान हुआ।"[१०१] अंग्रेज़ हिन्दुस्तानी तोपों का उचित उत्तर न दे सके। अंग्रेज़ों के साथ जो देशी गाड़ीवान थे, वे अपने बैल लेकर चल दिये। अंग्रेज़ी सेना ने संगीनें लेकर तोपों पर हमला किया। हिन्दुस्तानी सैनिकों ने तोपों के लिये वीरता से संघर्ष किया। "उन्होंने दिखा दिया कि काली चमड़ी के नीचे भी कुछ वीर आत्माएँ हैं।"[१०२] अनेक वीर तोपें छोड़कर भागने के बदले अंग्रेज़ संगीनों का मुकाबला करते हुए वहीं खेत रहे। अन्त में हिन्दुस्तानी सेना दिल्ली लौट आई। अंग्रेज़ रिज की ओर बढ़े जहाँ वे तीन महीने तक दिल्ली लेने के लिये संघर्ष करते रहे। भारतीय सैनिक कश्मीरी या लाहौरी दरवाजों से निकल कर पेड़ों में छिपते हुए अंग्रेज़ों पर छापा मारते। अंग्रेज़ सेनापति बर्नार्ड ने भारतीय तोपों के बारे में लिखा था कि उनका अभ्यास हमसे पाँच गुना अच्छा है। रिज के ऊपर अंग्रेज़ी तोपें भारतीय तोपों को शन्ति न कर पाईं। गाइड्स घुड़सवार पल्टन का नायक किटिन बैटी मारा गया। हिन्दू राव के महल में अंग्रेज़ों ने अपना निरीक्षक दस्ता रखा था। भारतीय सैनिकों

ने यहाँ की गुरखा-सेना को अपनी ओर मिलाने का प्रयत्न किया। वे लड़ने के साथ राजनीतिक कौशल से भी काम लेते थे। यद्यपि वे गुरखों को अपनी ओर मिलाने में सफल नहीं हुए किन्तु उनके दाँवपेंच इस विषय में बहुत कुछ वही थे जिन्हें जनता की क्रान्तिकारी सेना अपना सकती है। उन्होंने आगे बढ़कर कहा, "हम गोली नहीं चला रहे हैं। हम तुमसे बात करना चाहते हैं। तुम लोग हमारी ओर आ जाओ।" अंग्रेज़ों ने हिन्दू राव के महल में गुरखों को बलि का बकरा बनाकर अगले दस्ते के रूप में वहाँ भेज दिया था। गोलों से यह भवन छलनी हो गया। घायल और बीमार गुरखे इसमें कराहते हुए पड़े रहे।

१२ जून को जमुना के पास से घना कुहरा उठ रहा था। मेटकाफ हाउस के पास कछारों में छिपते हुए भारतीय सैनिक आगे बढ़े। उन्होंने अंग्रेज़ों के निरीक्षक दस्ते पर हमला किया और फ्लैगस्टाफ टावर की तोपों के पास पहुँच गये। नौक्स नाम का अफ्सर मारा गया। इसी समय अंग्रेज़ों की कुमक आ जाने से सैनिक पीछे हट आये। इसके बाद सब्ज़ीमन्डी से सैनिकों का एक भारी दल आगे बढ़ा और उसने हिन्दू राव के भवन पर आक्रमण किया। अंग्रेज़ों ने अपनी रिज़र्व सेना के बल पर उसे पीछे हटाया। इस लड़ाई में अंग्रेज़ी सेना से देशी घुड़सवारों का एक दस्ता भारतीय सेना से आ मिला। मेजर रीड के अनुसार घुड़सवार इस तरह आगे बढ़े मानों हमला करने जा रहे हों लेकिन जैसे ही वे भारतीय सैनिकों के पास पहुँचे, वे उनसे प्रेम से मिल गये। चतुर सैनिकों की राजनीतिक कार्यवाही व्यर्थ नहीं जा रही थी। अंग्रेज़ों के बहुत से तोपची मारे गये और भारतीय सैनिक अंग्रेज़ी खेमे के पीछे से हमला करके उसके भीतर घुसते चले गये।

इस तरह के हमलों का सामना करने से अंग्रेज़ों की शक्ति क्षीण हो रही थी। गर्मी और बीमारी से उनकी संख्या कम हो रही थी और बहुत से लोग लड़ने के योग्य न रह गये। दिल्ली पर अधिकार करना उनके लिये बहुत आवश्यक था क्योंकि जितना ही उनको बिलंब होता था, उतना ही उनके इकबाल में लोगों का विश्वास कम होता जाता था। इसलिये उन्होंने सामने से हमला करके तुरन्त नगर पर अधिकार करने का विचार किया। १३ जून को उन्होंने आक्रमण करने का निश्चय किया। सेना तीन भागों में बाँट दी गई और उसे गोली

बारूद भी दे दी गई। उसके नायकों को आक्रमण की योजना बता दी गई। इस समय पता चला कि एक पल्टन पिछले दिन फ्लैगस्टाफ टावर भेजी गई थी। उसे किसी ने वापस बुलाया ही न था। हुकुम हुआ, पल्टन हाजिर हो। तभी पता चला कि पल्टन (७५ वीं पैदल सेना) गैरहाज़िर है! तब उसे बुलावा भेजा गया और उसके आने तक और गोली बारूद देने तक खूब सबेरा हो गया। क्राइमिया की लड़ाई के ख्याति-प्राप्त जनरल बर्नार्ड को फौजें डिसमिस कर देनी पड़ीं। रौबर्ट्स ने इस तरह आक्रमण टल जाने को ईश्वर की कृपा ही कहा है, वर्ना अंग्रेज़ों का सर्वनाश निश्चित था। आगे चलकर जंगी तोपें आ जाने के बाद, पंजाब से भारी कुमक आ पहुँचने के बाद अंग्रेज़ों ने आक्रमण किया तो उन्हें भारी क्षति उठानी पड़ी और दिन भर में वे शहर के अन्दर पैर ही रख सके। इसलिये रौबर्ट्स ने यह परिणाम निकाला है कि इस समय हमला करने पर विनाश निश्चित था, चाहे वे अँधेरे में ही अचानक हमला करने में सफल हो जाते।

भारतीय सैनिक एक बैटरी का निर्माण कर रहे थे जिससे वे रिज पर गोले बरसा कर अंग्रेज़ी सेना का नाश कर दें। अंग्रेज़ों ने इस बैटरी के विरुद्ध काफी सेना भेजी। भारतीय सैनिकों ने कई ओर से आक्रमण किया जिससे अंग्रेज़ एक ओर अपनी शक्ति केन्द्रित न कर सकें। अंग्रेज़ी सेना के सैपर और माइनर अब दिल्ली की ओर से लड़ रहे थे। बंदूकें चलाने के बाद उन्होंने अपनी तलवारें खींच लीं और प्राणों की चिन्ता न करके अंग्रेज़ी सेना पर टूट पड़े। अंग्रेज़ों ने एक मस्जिद के दरवाजों को बारूद से उड़ा दिया और उसके ३६ रक्षक अपनी जगह लड़ते हुए मारे गये। अंग्रेज़ों के एक दस्ते का नायक टूम्ब्स घायल हुआ और दो बार उसका घोड़ा मारा गया। अंग्रेज़ बैटरी का नाश करने में सफल हुए लेकिन "हर जीत हमारे लिये बहुत महँगी पड़ती थी।"[१०३] भारतीय तोपखाना अंग्रेज़ी खेमे में गोले बरसा कर दुश्मन को क्षति पहुँचाता रहा। उनके विनाशकारी निशाने से अंग्रेज़ व्याकुल थे। के ने दुखी होकर लिखा है कि अंग्रेज़ी तोपें दूरी का सही अनुमान करके ठीक निशाने पर गोले फेंकने में असफल रहीं। भारतीय तोपों का एक गोला हिन्दू राव की कोठी में गिरा और लेफ्टिनेंट ह्वीटले और कई सैनिक मारे गये। भारतीय तोपची दूर से देखा करते थे कि अंग्रेज़ी

खेमे में क्या हो रहा है। जब अंग्रेज़ किसी सैनिक या सामाजिक कार्यवाही में व्यस्त होते, तब वे गोला फेंककर उनका कार्यक्रम भंग कर देते। अगर एक दस्ता दूसरे दस्ते को छुट्टी देने जा रहा हो, यदि कोई अफसर किसी बैटरी का निरीक्षण करने जा रहा हो, यदि बावर्ची सिर पर डेग लिये निरीक्षक दस्तों को भोजन पहुँचाने जा रहे हों, तो भारतीय तोपची घातक निशाना साधकर तोपें दागते। दिल्ली शहर में कालेखाँ का बड़ा नाम था। अंग्रेज़ों के जासूस जीवनलाल ने लिखा था कि उसकी गोलाबारी से प्रसन्न होकर "शहर भर उसकी प्रशंसा में लीन रहा।" जनता और सैनिकों में घनिष्ठ संपर्क था। इस तरह की प्रशंसा से जनता अपने वीर सैनिकों को बढ़ावा देती थी।

१९ जून को भारतीय सेना ने अंग्रेज़ी फौज पर ज़बर्दस्त आक्रमण किया। दोपहर भर घनघोर युद्ध हुआ और अंग्रेज़ों को बार-बार अपने क्षीण होते दस्तों में नये आदमी भेजने पड़े। शाम को अंग्रेजों की लगभग सारी पैदल सेना युद्ध में लगी हुई थी। तभी भारतीय सैनिकों के एक दस्ते ने अंग्रेजों के दाहनी ओर बागों की ओट लेते हुए लगभग डेढ़ मील उनके पीछे निकल कर आक्रमण किया। इस अचानक आक्रमण से अंग्रेजों को भारी क्षति पहुँची। अंग्रेज़ अपनी तोपों और घुड़सवारों से इन पीछे से हमला करने वालों का मुकाबला करते रहे। खाँई और मकानों के बीच में अंग्रेजों की नवीं लान्सर सेना और गाइड्स पल्टन को बहुत नुकसान उठाना पड़ा। गाइड्स का नायक डैली बुरी तरह आहत हुआ। लान्सर सेना का नायक यूल मारा गया। "यह स्पष्ट कहा गया है कि हमारी अपनी [अर्थात् अंग्रेजी] तोपों ने लान्सर सेना पर गोले बरसाये।"[१०४] अँधेरे में अंग्रेजों को दोस्त-दुश्मन की पहचान न रही। वे भयग्रस्त होकर हवा में गोलियाँ चलाते रहे और काल्पनिक शत्रु के विरुद्ध उन्होंने काफी बारूद खर्च की। इस आक्रमण से भारतीय पक्ष के सैनिक अनुशासन और संगठन पर प्रवेश पड़ता है। अंग्रेज़ी सेना का मुख्य भाग जब भारतीय सेना से जूझ रहा था, तभी उसके समर्थन में और उसके साथ सम्मिलित कार्यवाही के रूप में एक काफ़ी बड़े दस्ते ने अंग्रेज़ों पर पीछे से आक्रमण किया। अंग्रेज़ों को इससे भारी क्षति हुई और वे अँधेरे में ही अपनी सेना पर गोले बरसाने लगे। इससे दोनों सेनाओं के अनुशासन का

अन्तर मालूम हो जाता है। इस आक्रमण का एक उद्देश्य यह भी था कि अंग्रेज़ों ने पंजाब से जो यातायात का मार्ग खोल रखा है, उसे भंग कर दिया जाय। "जब दिन की लड़ाई का नतीजा मालूम हुआ तो खेमे में घोर निराशा छा गई।"[१०५]

२३ जून पलासी के युद्ध के शताब्दी-महोत्सव का दिन था। भारतीय सेना ने अंग्रेज शिविर पर प्रबल आक्रमण करके यह महोत्सव मनाया। उसी दिन उसी तरह कानपुर में भारतीय सेना ने अंग्रेज़ी फौज पर दुस्सह आक्रमण करके यह त्योहार मनाया। दो नगर, इतनी दूर, किंतु दोनों स्थानों के सैनिकों में एक ही भावना काम कर रही थी। वे पलासी और क्लाइव को भूले नहीं थे। बंगाल इसी देश का अङ्ग था। वहीं से अंग्रेज़ों ने इस देश में अपने राज्य का प्रसार किया था। स्वाधीनता-संग्राम के सैनिकों का राष्ट्रीय आत्मसम्मान उन्हें प्राणपन से अंग्रेजी राज्यसत्ता से युद्ध करके पलासी का प्रतिशोध लेने के लिये प्रेरणा दे रहा था। उनका सामना करने वाले अंग्रेज़ उनकी भावना से परिचित थे। वे जानते थे कि सौ साल बाद भारत की जनता अंग्रेज़ी राज की समाप्ति का स्वप्न देख रही है। इसलिये उन्होंने पहले से इस आक्रमण का सामना करने की तैयारी कर रखी थी। अनेक अंग्रेज़ इतिहासकार भी इस सत्य को जानते थे। उन्होंने अपने देशवासियों की चिन्ता का उल्लेख किया है। २३ जून को हिन्दू-मुसलमान मिलकर "हमारे ऊपर टूट पड़ेंगे। उनकी लगन और रोष अपूर्व होंगे। वे इस पूर्ण विश्वास के साथ आक्रमण करेंगे कि भारत के एक छोर से दूसरे छोर तक देशी शासन फिर स्थापित हो जायगा।"[१०६] इसके साथ अपनी सहज अशिष्टता से इन इतिहासकारों ने यह भी जोड़ दिया है कि देशी सैनिक इतने ज़ोर-शोर से इसलिये आक्रमण करते थे कि वे भंग के नशे में होते थे।

सब्ज़ी मंडी से निकल कर भारतीय सैनिकों ने अंग्रेज़ों पर आक्रमण किया। शत्रु ने "कभी ऐसा कठोर, ऐसा स्थायी साहस न दिखाया था।"[१०७] यह स्थायी साहस केवल देशभक्ति से प्राप्त होता है। आज तोपों के बदले मुख्यतः पैदल सेना का युद्ध था। "यह ऐसा युद्ध था जो अंग्रेज़ सैनिकों के स्वभाव और रुचि के कम से कम अनुकूल पड़ता है।"[१०७] अंग्रेज सेना के एक नायक रीड ने लिखा था, "१२ बजे के

लगभग विद्रोहियों ने मेरी सेना पर अत्यंत भयानक आक्रमण किया। कोई भी इससे ज्यादा अच्छी तरह न लड़ सकता था। उन्होंने रायफल-पल्टन, गाइड्स और मेरे आदमियों पर बार-बार हमला किया और एक समय मुझे ऐसा लगा कि बाज़ी हाथ से गई। शहर की तोपों से और उन भारी तोपों से जो वे बाहर से लाये थे, तीव्र और भयानक गोलाबारी हुई और मेरी सेना का सारा स्थान गोलों की बाढ़ के अन्दर आगया।"[१०७] अंग्रेज़ों को भारी क्षति पहुँचा कर भारतीय सेना नगर में वापस चली आई। अंग्रेज़ों ने अनुभव किया कि "इस तरह से हम दस पाँच बार और जीते तो यह समर-भूमि हमारे लिये श्मशान-भूमि बन जायगी जिस पर शत्रु शांति से अपना खेमा गाड़ेगा।"[१०८] अंग्रेज़ सेनापति बर्नार्ड ने जॉन लारेन्स को लिखा कि अंग्रेज़ी सेना क्षीण होती जाती है क्योंकि यह पता नहीं रहता कि शत्रु कहाँ प्रहार करेगा। उसकी इच्छा थी कि दिल्ली छोड़ कर चला जाय लेकिन इज्ज़त (उसकी अपनी इज्ज़त) का सवाल था, इसलिये मजबूर था। "फिर भी इस फौज को खतरे में डालने के बदले मैं वापस जाना ज्यादा पसंद करूंगा।"

जुलाई के आरंभ में दोनों ओर सहायता के लिये नयी सेना आयी। नीमच, ग्वालियर, रुहेलखंड आदि की सेनाएं दिल्ली पहुँच गईं। अंग्रेज़ों के पास तोपें, घुड़सवार और पैदल सेना पहुँची। अंग्रेज़ों को अपने देशी सैनिकों का सदा भय बना रहता था। ३० जून को यौर्क और पैक नाम के दो अफसर घायल हो गये थे। अंग्रेजों को शक था कि हिन्दुस्तानी सैनिकों ने ही उन्हें घायल कर दिया है। चौथी सिख पल्टन के सभी हिन्दुस्तानी सिपाहियों को (अर्थात् हिन्दीभाषी क्षेत्र के सैनिकों को) निःशस्त्र करके खेमे से बाहर निकाल दिया गया। नयी कुमक आने पर अंग्रेजों ने दिल्ली पर हल्ला बोलने का विचार किया लेकिन फिर रुक गये। बर्नार्ड के अनुसार आक्रमण न करने का कारण यह था भारतीय सेना अंग्रेजों पर ही आक्रमण करने आरही थी। इसके सिवा निकलसन की सेना के हिन्दुस्तानी सिपाही अंग्रेजों से लड़ने की योजना बना रहे थे। उनके दो अफसरों को फाँसी दे दी गई।

३ जुलाई को भारतीय सेना ने आक्रमण किया। आधी रात को उसने शत्रु को अलीपुर की सराय से खदेड़ दिया और अंग्रेज दस मील पीछे के अड्डे पर रुके जहाँ भिन्द के राजा की सेना थी। अंग्रेजों के दूसरे दल

ने इस पर आक्रमण किया। उनके सैनिक और घोड़े दलदल में फँस गये और भारतीय सैनिक दिल्ली लौट आये। अंग्रेजों की सेना में कोहाट का एक सर्दार मीर मुबारक शाह भी था। दूसरी पंजाब घुड़सवार सेना और नवीं अनियमित सेना के हिन्दुस्तानी सिपाहियों और कुछ अफ्सरों ने मुबारक शाह से संपर्क कायम किया था और उसे समझाने का प्रयत्न किया था कि वह विद्रोहियों के साथ हो जाय। मुबारक शाह और उसके आदमी पहली पंजाब पैदल-सेना में थे। इस सेना के दिल्ली पहुँचने पर उसके सूबेदार से भेद पाकर अंग्रेजों ने उन देशभक्त अफ्सरों को मृत्यु दंड दिया। अंग्रेजों का नमकहलाल दोस्त मुबारकशाह इस लड़ाई में मारा गया। भारतीय सेना का उद्देश्य था कि पंजाब की ओर अंग्रेजों के यातायात मार्ग को ध्वस्त कर दिया जाय। इस समय अंग्रेजी शिविर में हैजे का प्रकोप हुआ। ५ जुलाई को जनरल बर्नार्ड की मृत्यु होगई। इससे पहले अम्बाला से दिल्ली आते हुए कर्नाल में जनरल ऐनसन की मृत्यु हो चुकी थी। दो महीने के अन्दर अंग्रेजों के दो सेनापति मरे।

बर्नार्ड क्राइमिया में चीफ ऑफ स्टाफ़ रह चुका था लेकिन दिल्ली के भारतीय सेना-नायकों ने उसकी सब योजनाएं व्यर्थ कर दी थीं। उसने दो बार आक्रमण करने की योजनाएं बनायी थीं और दोनों बार उन्हें कार्यरूप में परिणत किये बिना छोड़ दिया था। दिल्ली न ले सकने, लौट जाने की इच्छा रखते हुए भी लौट न सकने और अपने सैनिक प्रयासों में असफल रहने के कारण उसका स्वास्थ्य क्षीण हो गया था और जो कसर थी, वह हैजे ने पूरी कर दी। बर्नार्ड का सामान चतुर व्यापारी अंग्रेज अफ्सरों ने नीलाम करके खरीद लिया। साथ ही ऐनसन का सामान भी इसी तरह नीलाम में खरीदा। ऐन्सन के पास जो शराब और सुअर का गोश्त था, वह चार सौ पाउंड में बिका! अंग्रेजी शिविर में यह गोश्त चार रुपये पाउंड और मोमबत्तियाँ तीन रुपये पाउंड के हिसाब से बिकीं। बर्नार्ड के बाद जेनरल रीड सेनापति हुआ।

दिल्ली पर अधिकार होगया, इस तरह की झूठी खबरें कलकत्ते, इलाहाबाद, आगरा वगैरह पहुंचा करती थीं और हर बार वहाँ अंग्रेजों को मालूम होता कि दिल्ली अभी दूर है।

९ जुलाई को भारतीय सेना ने फिर आक्रमण किया। अंग्रेजों ने नवीं अनियमित घुड़सवार सेना के कुछ लोगों को ग्रांड ट्रंक रोड पर निगाह रखने के लिये तैनात किया था। जब भारतीय सैनिक आक्रमण कर रहे थे, तब इस घुड़सवार सेना के एक सिपाही ने अंग्रेज अफसरों को जानबूझ कर देर में सूचना दी जिससे कि अंग्रेज तैयार होकर मुकाबला न कर सकें। भारतीय सैनिक उसी घुड़सवार सेना की वर्दी पहने हुए थे। अंग्रेजों ने पहले समझा कि उनकी पल्टन ने विद्रोह कर दिया है। ये बरेली से आये हुए आठवीं अनियमित सेना के सिपाही थे। उस दिन जोरों से वर्षा हो रही थी। इन वीर भारतीय घुड़सवारों का एक दस्ता अंग्रेजी सेना में पीछे से घुसता चला गया। अंग्रेजों को विश्वास था कि उनकी अपनी नवीं पल्टन इस आक्रमण के बारे में जानती है और वह चाहती भी है कि आक्रमण हो। आक्रमण से विचलित होकर अंग्रेजों के कार्बाइन धारी सैनिक भाग खड़े हुए। उनके प्रसिद्ध डैगून सैनिक पीछे को भाग चले। घुड़सवार और कुछ सवारों बिना घोड़े अंग्रेजी खेमे की ओर भागे। इस आक्रमण का राजनीतिक उद्देश्य भी था। सिपाहियों ने अंग्रेजी सेना के हिन्दुस्तानी तोपचियों का आह्वान किया कि वे अंग्रेजों का साथ छोड़ कर अपनी तोपें लिये हुए दिल्ली के पक्ष से मिल जायं। यद्यपि वे तोपची तोपें लेकर उनकी ओर नहीं आये, फिर भी अपने पक्ष को दृढ़ करने, युद्ध करते हुए भी राजनीतिक कार्यों द्वारा शत्रु के सैनिकों को बारबार अपनी ओर करने का प्रयत्न अत्यन्त सराहनीय था। इसमें वे सदा असफल भी नहीं रहे। सोनपत की देशी पल्टन का बहुत बड़ा भाग दिल्ली की सेना से जा मिला और अंग्रेजों ने सोचा कि बाकी को दिल्ली में रखने के बदले पंजाब भेज देना ही ज़्यादा अच्छा होगा।

अंग्रेजों ने अपना गुस्सा खेमे के देशी नौकरों-चाकरों पर उतारा। उन्होंने उनमें से बहुतों को केवल अपनी हिंसावृत्ति शान्त करने के लिये मार डाला। इससे स्वयं अंग्रेजों की क्षति कम न हुई। जुलाई के एक हफ़्ते में २५ अफ्सर और चार सौ आदमी मारे गये। दिल्ली पर आक्रमण करने की बात टलती जाती थी। १७ जुलाई को जनरल रीड सेनापति-पद से अलग होगया। उसका स्वास्थ्य खराब होगया था। उसकी जगह विलसन सेनापति बना। अंग्रेज घेरा डालने आये थे

लेकिन वे स्वयं घिर गये थे। उनकी सेना में अनुशासन शिथिल होता जारहा था। इसलिये दिल्ली की गलियों और सड़कों पर उनके लड़ने का सवाल न उठता था। विलसन ने जॉन लारेन्स को लिखा कि कुमक न पहुँची तो वह दिल्ली छोड़ कर कर्नाल चला आयेगा।

इंजीनियर बेयर्ड स्मिथ ने विलसन से कहा कि दूर गोला फेंकने वाली तोपें मंगाओ; हिन्दुस्तानियों की तोपें अच्छी हैं, इसलिये हम मार खाते रहे हैं।"[१०९] एक ओर अंग्रेज थे जो पंजाब से रसद और लड़ाई का सामान बराबर पाते जा रहे थे, दूसरी ओर दिल्ली के सिपाही थे जिन्होंने ११ मई को आकर देखा था कि मैगज़ीन में बारूद नदारद है और उन्होंने बारूद बनाने का प्रबंध किया था। अंग्रेज़ों के पास जब तक जंगी तोपें न आगयीं तब तक वे भारतीय सेना का कुछ भी न बिगाड़ सके। उनकी डींग कि पाँच सौ अंग्रेज पाँच हजार हिन्दुस्तानियों को अपनी दिलेरी से भगा देते हैं डींग ही रही। उन्होंने आत्मरक्षा का युद्ध चलाया और भारतीय सैनिकों का पीछा करना बन्द कर दिया। बरसात के दिनों में शराब के सहारे वे किसी तरह दिल्ली के सामने पड़े हुये थे। उनके सैनिक कुनैन न खाते थे। उन्हें शराब का लालच देकर कुनैन खिलाई जाती थी। पंजाब में जॉन लारेन्स यह योजना बनाने में लगा था कि पेशावर की घाटी दोस्त मोहम्मद के हवाले कर दी जाय और सारा ज़ोर दिल्ली जीतने पर लगाया जाय। उसने निकलसन के नेतृत्व में और कुमक भेजी। अंग्रेजी शिविर में घायलों की बुरी दशा थी। बहुत से कराह-कराह कर मर गये। रौबर्ट्स ने लिखा है कि एक परेशानी मक्खियों से थी और खाना खाते हुए दो चार को निगल जाना उसके लिये असंभव नहीं था। जानवर अलग मर रहे थे और खेमों में उनकी सड़ती हुई लोथों से दुर्गन्ध फैली रहती थी। रात को उन्हें स्यार खाते थे और दिन में चील्ह और गिद्ध मँडराते थे।

बकरीद के दिन शहर के हिन्दुओं और मुस्लमानों ने अपनी एकता का शक्तिशाली प्रदर्शन किया। दिल्ली के लोगों ने बारबार अंग्रेजी सेना पर आक्रमण किया। जनता और सैनिकों ने मिलकर युद्ध में भाग लिया। भारतीय सेना ने फीरोज़पुर से आती हुई अंग्रेज़ी कुमक को रोकने का भरसक प्रयास किया। "सिपाही डटकर लड़े और उन्होंने अपने प्राण

महँगे दामों दिये। आमने-सामने सैनिकों में खूनी मुठभेड़ हुई।''[११०] थके और भूखे अंग्रेज़ों ने गीली जमीन में डेरा लगाया।

शहर के अन्दर सेना के लिये संगठन और व्यवस्था की कम समस्याएं नहीं थीं। शत्रु के गुप्तचर भरे हुए थे और उन्हें सामंतवर्ग से प्रश्रय भी मिलता था। सेना के नेताओं की सतर्कता प्रशंसनीय थी। हकीम अहसनुल्ला एक प्रभावशाली व्यक्ति था। उस पर शक था कि वह अंग्रेजों से मिला हुआ है। उसे बादशाह के सामने पेश किया गया और वहाँ उसने वफादारी की कसम खाई।[१११] जीवनलाल ने अपने रोजनामचे में २७ मई को लिखा था, "आज यह बात मालूम हुई कि दमदमों की कुछ तोपों में मेखें ठोंक दी गई हैं और शेष में पत्थर, बजरी और कंकड़ भर दिये गये हैं। इससे बहुत जोश फैल गया क्योंकि इससे लोगों को निश्चय हो गया कि शहर में अंग्रेजों के कुछ प्रबल मित्र विद्यमान हैं। सिपाहियों का बहादुरशाह के कुछ कर्मचारियों पर संदेह था। शहर से कुछ लोग अंग्रेज़ों को रसद भेजा करते थे। उनकी रोकथाम का प्रबन्ध किया गया। रोजनामचा लिखने वाले जीवनलाल पर सेना के अधिकारियों को संदेह था। उसे पकड़कर एक सूबेदार ने कहा था, यही वह व्यक्ति है जो अंग्रेज़ों को समाचार भेजता है।" अमीनुद्दीन खाँ नाम के व्यक्ति पर संदेह था कि वह अंग्रेज़ों से मिला हुआ है। वह शहर छोड़ कर जा रहा था कि कश्मीरी दरवाजे पर सैनिकों ने उसे वापस भेज दिया।

अंग्रेजों ने सिपाहियों की लूट की बहुत सी कहानियाँ गढ़ी हैं। सिपाहियों ने दिल्ली में लूटने वालों के खिलाफ जो कदम उठाये, वे अंग्रेजों के लिये अनुकरणीय थे। दिल्ली पर अधिकार होने के बाद उन्होंने तीन महीने तक जो शहर को लूटा, सिपाहियों की व्यवस्था उससे बिल्कुल उल्टी थी। जीवनलाल के रोजनामचे के अनुसार १६ मई को लूटमार करते हुये एक सवार पकड़ा गया। उसे बादशाह के सामने पेश किया गया, लूटा हुआ माल वापस कराया गया और उसे चेतावनी देकर छोड़ दिया गया। सैनिक अफ्सरों ने बादशाह से शिकायत की कि जो लोग लूट के अपराध में पकड़े जाते हैं, उन्हें शाही पुलिस घूस लेकर छोड़ देती है। सेनापति बख्त खाँ की ओर से घोषणा की गई कि दूकानदार अपने पास शस्त्र रखें, जिनके पास न हों वे फौजी

हेडक्वार्टर से ले लें और जो सिपाही लूटमार करता हुआ पकड़ा जायगा, उसके शस्त्र छीन लिये जायँगे।

रुपया इकट्ठा करने के लिये लूट के बदले चंदा जमा किया गया। २१ मई की तारीख में जीवनलाल ने लिखा कि महाजनों ने एक लाख रुपया चंदा इकट्ठा किया। ४ जून की तारीख में उसने लिखा कि महाजनों की एक सभा हुई जिसमें एक लाख रुपए का चंदा इकट्ठा हुआ और एक लाख रुपये देने के वादे किये गये। तीस जुलाई की तारीख में उसने लिखा कि बादशाह ने कुछ महाजनों से कर्ज माँगा। इस तरह के काम वही शासन कर सकता है जो जनता के भरोसे एक पवित्र उद्देश्य के लिये राज्यसंचालन कर रहा हो। चंदे की रकमों से मालूम होता है कि नगर के धनी लोग भी बहादुरशाह और सिपाहियों के पक्ष में थे। कुछ शाहजादों ने महाजनों से गलत तरीके से रुपया वसूल किया और उनकी रोकथाम की गई।

नगर की शासन-व्यवस्था और नयी राज्य-व्यवस्था वस्तुतः फौजी कोर्ट के हाथ में थी। इस कोर्ट की नियमावली के अनुसार उसमें दस सदस्य थे। इनमें छः फौज से चुने गये थे और चार नागरिक शासन के लिये उत्तरदायी थे। सभापति को एक वोट अधिक देने का हक था। प्रधान सेनापति की स्वीकृति से ही उसके निर्णय कार्यरूप में परिणत किये जा सकते थे। यदि कोर्ट और सेनापति में मतभेद हो तो बादशाह का निर्णय मान्य होता।

पंजाब सरकार की ओर से १९११ में जो "ग़दर संबन्धी कागजात" प्रकाशित हुए थे, उनमें कोर्ट से सम्बन्धित कुछ दस्तावेज़ हैं। इनमें फौजी अधिकारियों के अलावा अन्य गैरफौजी अधिकारियों के नाम नहीं हैं। एक दस्तावेज प्रधान सेनापति बख्त खाँ के नाम भी है। उससे यह नहीं मालूम होता कि सेनापति के अधिकार सर्वोपरि थे। वास्तव में नगर का शासन और नयी राज्यसत्ता फौज द्वारा निर्वाचित अधिका-रियों के हाथ में थी।

दस जुलाई को किसी अज्ञातनाम व्यक्ति को मालगुजारी के संबन्ध में कुछ निर्देश दिये गये हैं। इसमें कोर्ट के इन अफ्सरों के नाम हैं, सूबेदार-मेजर-बहादुर जीवाराम, सूबेदार-मेजर-बहादुर सेवाराम मिश्र, सूबेदार-मेजर तालेयारखाँ, सूबेदार-मेजर हेतलाल और सूबेदार धनी-

राम। अंग्रेजी प्रभुत्व के स्थान में वहादुरशाह को साम्राज्य का प्रतीक बना या गया; नयी शासन-व्यवस्था के संचालक और राज्यसत्ता के वास्तविक अधिकारी ये लोग थे। इन्होंने राज्य की ओर से उस व्यक्ति को लिखा था—आपका परवाना मिला; आपने लिखा है कि आपके पास शाही निर्देश-पत्र है; और जो खजाना लाया गया है, वह फौज की रोज़-बरोज़ की ज़रूरतों पर खर्च किया जा रहा है, जो बचा है, वह कुछ दिन में खर्च हो जायगा और आप चाहते हैं कि कोर्ट के अफसर रुपयों का प्रबंध करें। "हमें कहना है कि निम्नलिखित प्रबंध करना चाहिये और सेना भेज देनी चाहिये :—

पहला प्रस्ताव :—किसी महाजन से सूद पर रुपया ले लेना चाहिये और अंतिम बंदोबस्त होने के बाद व्याज के साथ मूल-धन चुका देना चाहिये।

दूसरा प्रस्ताव :—इलाकों में व्यवस्था कायम करने के लिये डेढ़ हजार पैदल सेना और पाँच सौ घुड़सवार और घोड़ों वाली दो तोपें रवाना कर देनी चाहिएं। थाना, तहसील और डाक व्यवस्था कायम करनी चाहिये जिससे कि मालूम हो जाय कि बादशाह की हुकूमत कायम हो गई है। और जहाँ भी सरकारी रुपया जमा किया गया हो, समझौते के द्वारा उस पर अधिकार कर लेना चाहिये। लेकिन जो फौज भेजी जाय, उसे चेतावनी दे देनी चहिये कि वह अगर लूटमार करेगी या जोर-ज़बर्दस्ती से काम लेगी तो उसे कठोर दंड दिया जायगा।

पहले तो हमारा कहना है कि पैसा बसूल करने के बाबत इन दोनों प्रस्तावों पर अमल करना चाहिये।

दूसरे हमारी प्रार्थना है कि यह सब करने के लिये कोई ऐसा सर्दार भेजा जाय जिसपर आपको भरोसा हो और जिसे आप देश का प्रबंध करने के योग्य समझते हों।

तीसरे हमारा कहना है कि जो सर्दार भेजा जाय उसे कोर्ट द्वारा यह चेतावनी दे दी जाय कि जाने के बाद कि वह किसी गरीब आदमी या जमींदार, थानेदार या तहसीलदार को सतायेगा या घूस या नजरें लेगा तो कोर्ट उसे कठोर दंड देगा। जमींदारों के साथ बन्दोबस्त इस प्रकार होगा। अगर सरकारी मालगुजारी दे देने के बाबत और इसके बाबत कि गाँव का बन्दोबस्त पिछलीबार उसके साथ हुआ था, कोई

तहसीलदार की रसीद पेश करेगा और उसके पेश किये हुए कागज़ात देखने पर और गवाहों के, जैसे कि कानूनगो और पटवारी और गाँव के मुखिया के, बयान से यह मालूम होगा कि वह दरअसल जमींदार और गाँव का नियुक्त किया हुआ लंबरदार था तो बंदोबस्त उसके साथ होना चाहिये। अगर कोई दूसरा फरीक आगे आये और गाँव पर अपना हक़ जाहिर करे तो उसकी अर्जी ले लेनी चाहिये और उस पर यह हुक्म लिखना चाहिये कि उसके हक की जाँच बाद को होगी और उस पर माकूल हुक्म दिया जायगा लेकिन बन्दोबस्त के वक्त लंबरदार का ओहदा उसे दिया गया जिसके पास वह पहले था।

चौथे इस हुक्म के मुताबिक अगर सर्दार बन्दोबस्त न कर पाये तो जमींदार अपनी शिकायत कोर्ट के पास भेज सकेंगे और कोर्ट अगर जरूरत समझेगा तो सर्दार का हुक्म बदल देगा और असली मालिक का हक मंजूर करेगा।''

इस दस्तावेज़ में फौज भेजने का उल्लेख शासन-व्यवस्था के सिलसिले में है। इस व्यवस्था का संबन्ध मालगुजारी वसूल करने से है। थाना, तहसील, डाक की व्यवस्था—इन सभी के बारे में फौजी कोर्ट के अफसर निर्देश भेज रहे हैं। जिस व्यक्ति को यह निर्देशपत्र भेजा गया है, वह संभवतः कोई राजा या नवाब था, इसीलिये प्रार्थना करने की बात लिखी गई है। लेकिन सर्वोपरि अधिकार स्पष्टतः इन फौजी अफ्सरों के हाथ में हैं। संभ्रान्त व्यक्ति अपने विश्वासपत्र सर्दार को तो भेजे लेकिन उसे चेतावनी भी दे दे कि ज्यादती की तो कोर्ट उसे दंड देगा। इसके अलावा यदि उसकी व्यवस्था गलत समझी गई तो उसका बंदोबस्त रद करने का अधिकार कोर्ट को है।

इस दस्तावेज़ से कई दिलचस्प नतीजे निकलते हैं। कोर्ट फौजी अफ्सरों की समिति थी। सेना संचालन के अलावा मालगुजारी का बंदोबस्त वगैरह दीवानी का काम भी उसके हाथ में था। वह एक तरह का सर्वोच्च न्यायालय भी था जिसके सामने बंदोबस्त से असन्तुष्ट जमींदार अपनी अर्जियाँ ला सकते थे। यह कोर्ट बिल्कुल नये ढंग की जनतांत्रिक व्यवस्था कायम कर रहा था। उसने नजर लेने की सनातन प्रथा पर रोक लगा दी थी। घूसखोरी बंद करके उसका उद्देश्य न्यायव्यवस्था को सचमुच न्यायपूर्ण बनाना था। गरीब आदमियों को न सताने पर उसने जोर

दिया था। बलप्रयोग के बदले समझाबुझा कर सरकारी पैसा वसूल करने की उसकी जनतांत्रिक राजनीति के अनुकूल बात थी। सेना का खर्च चलाने के लिये उसने वैध उपाय बताया था कि किसी महाजन से सूद पर रुपया ले लिया जाय। निःसन्देह दिल्ली की नयी राज्यसत्ता जनता के हित में थी और उसकी कार्यनीति पुरानी सामन्ती परंपरा से बिल्कुल भिन्न थी।

नीमच ब्रिगेड के दिल्ली पहुँचने के पहले मोहम्मद बख्त खाँ गवर्नर बहादुर की ओर से जनरल सुधारीसिंह और ब्रिगेड मेजर शेख गौस मोहम्मद ओर विजयी नीमच सेना के सभी अफ्सरों और सैनिकों के नाम ८ जुलाई एक यह पत्र भेजा गया था। इसमें कहा गया था कि दिल्ली की सब सेनाएँ उनका अभिनंदन करती हैं। बादशाह के नाम उनकी अर्जी मिल गई। "आप आइये और अपने बादशाह को खुश कीजिये क्योंकि यह सबसे अहम काम है जिसके पूरा होने के बाद हमारा इरादा, मेरठ, पटियाला, लखनऊ और आगरा वगैरह पर हमला करने का है चूँकि इन जगहों में कुछ गोरे अब भी रह गये हैं।"

इस दस्तावेज में सेना के अधिकारी बहादुरशाह के नाम भेजी हुई अर्जी प्राप्त करते हैं, बादशाह की ओर से जवाब लिखते हैं कि "अपने बादशाह" को आकर खुश कीजिये। फौजी अधिकारी बादशाह के नाम से सैन्य-संचालन करते थे और उसकी ओर से दूसरों से पत्र-व्यवहार करते थे। उनका विचार दिल्ली में अंग्रेज़ों को परास्त करने के बाद मेरठ, पटियाला, लखनऊ, आगरा, वगैरह से अंग्रेज़ों को मार भगाना था। उत्तर-पश्चिम प्रदेश, पंजाब, आगरा अवध इन प्रदेशों को वे सब-से पहले अंग्रेज़ों से पूर्णतः मुक्त करना चाहते थे। इस प्रकार योजनाबद्ध रीति से वे युद्ध का संचालन कर रहे थे। दिल्ली आने से पहले पल्टनें बादशाह को सूचित कर देती थीं और उनका वहाँ सम्मान-सहित स्वागत होता था। बन्धुत्व-भावना से नीमच सेना का अभिनन्दन करने वाले इस पत्र पर दिल्ली के उन वीरों के हस्ताक्षर हैं जिन्होंने अब तक अंग्रेज़ों की कूटनीति और राजनीति विफल कर रखी थी। नामों के साथ कहीं उनकी पल्टनों का उल्लेख है, कहीं नहीं है। नाम इस प्रकार हैं: जीवासिंह कर्नल, तीसरी पल्टन; शेख फैजुल्ला, कर्नल; शमशेरसिंह, कर्नल; शेख खुदाबख्श, कर्नल; भगीरथ मिश्र, कर्नल; ठाकुरप्रसाद, कर्नल, पन्द्रहवीं

पल्टन; गंगादीन दुबे, कर्नल; घनश्यामसिंह, कर्नल, अट्ठाईसवीं पल्टन; राम टहलसिंह, कर्नल, उन्नीसवीं पल्टन; उमरखाँ, कर्नल, तीसवीं पल्टन; हनुमत लाल मिश्र, कर्नल, छत्तीसवीं पल्टन; कुलवन्तसिंह, कर्नल, अड-तीसवीं पल्टन; रामप्रसाद पांडे, कर्नल, चवालीसवीं पल्टन; बलीबिहारी, कर्नल, पैंतालीसवीं पल्टन, शेख़ खैराती; कर्नल, अड़तालीसवीं पल्टन; गज्जा राय [रोमन में नाम है Gujja Rae], कर्नल, सत्तावनवीं पल्टन; शिवचरणसिंह, कर्नल, छठी पल्टन; मंधा विहारी मिश्र [यह नाम गलत लिखा हुआ जान पड़ता है; रोमन में है Mandha Beharee], कर्नल, इक्सठवीं पल्टन; राधेसिंह, कर्नल सड़सठवीं पल्टन; सरवनसिंह, कर्नल, अड़सठवीं पल्टन; नैनसिंह, कर्नल, इकहत्तरवीं पल्टन; मोतीसिंह कर्नल, चौहत्तरवीं पल्टन: मंगलसिंह, कर्नल ? [कर्नल के बाद यह प्रश्नवाचक चिन्ह मूल अंग्रेज़ी रूपान्तर में ही लगा हुआ है]; नत्थासिंह, कर्नल, सिख, लुधियाना की दूसरी पल्टन; तालेयार खाँ, कर्नल, नवीं पल्टन; आठवीं अनियमित घुड़सवार सेना, [मोहर] शफी खाँ, रुहेल खंड सेना, [मोहर] मोहम्मद बख्त खाँ, प्रधान सेनापति।

नीमच सेना का अभिनन्दन प्रधान सेनापति के साथ इतनी सेनाओं के नायकों ने किया, यह फौजों की परस्पर समानता और सौहार्द का द्योतक है। इन पल्टनों में अवध, रुहेलखण्ड और पंजाब के सेनापतियों और सैनिकों ने, हिन्दुओं, मुसलमानों और सिखों ने मिलकर अंग्रेज़ी राज का ध्वंस करने और दिल्ली में नयी राज्यसत्ता स्थापित करने का प्रयत्न किया था।

दिल्ली पर अंग्रेज़ों का अधिकार होने के बाद कुछ कागज-पत्र कैप्टेन शेबियर (Shebbeare) के हाथ लगे थे जिन्हें उसने प्रिचार्ड को दिखाया था। विद्रोही सेनाओं में अनुशासन नहीं है, सिपाही अंग्रेज़ों के नेतृत्व में ही लड़ना जानते थे, गोरे नेतृत्व के बिना काले सिपाहियों में भेड़ियाधसान मच गया था, देशी सेनाओं के पास कोई योग्य नेता नहीं था इत्यादि, इस तरह का प्रचार अंग्रेज़ों ने बराबर किया है और अनेक भारतीय इतिहासकारों ने, जिनमें सत् सत्तावन के संघर्ष को स्वाधीनता-संग्राम कहने वाले भी हैं, इस प्रचार को दोहराया है। यह भेड़ियाधसान का काम नहीं था कि निकम्मे सामन्तों और आततायी अंग्रेज़ों के हाथ से निकल चुकने वाली दिल्ली में ऐसी शासनव्यवस्था कायम करते जिसमें

जनता की लूट पर नियंत्रण था; भेड़ियाधसान तीन महीने तक भारत का सबसे बड़ा तोपखाना लेकर आने वाले विलसन और क्राइमिया में अंग्रेज़ी सेना के चीफ ऑफ स्टाफ बर्नार्ड के दाँत खट्टे न कर सकता था, न अंग्रेज़ों की हर जीत को उनके लिये हार से भी ज्यादा भयंकर बना सकता था। यह इतिहास के इन खोये हुए नामों का बूता था कि उन्होंने अंग्रेज़ों के विरुद्ध इस अविस्मरणीय संघर्ष का नेतृत्व किया और ऐसा ज़बर्दस्त प्रतिरोध संगठित किया कि दिल्ली में प्रवेश पाने के बाद भी सेनापति विलसन इसी नतीजे पर पहुँचा कि वहाँ से लौट जाना ही अच्छा होता। भेड़ियाधसान की मिसाल तो वे इतिहासकार कायम करते है जो सत्य की खोज न करके सिपाहियों की लूट और अनुशासनहीनता के बारे में अंग्रेज़ों के गढ़े हुए क़िस्से आँख मूँद कर दोहराते जाते हैं।

शेबियर के हाथ जो कागज़पत्र लगे थे और उन्हें पढ़कर प्रिचार्ड की जो प्रतिक्रिया हुई, उससे भारतीय सेना के संगठन और अनुशासन का पता चलता है। प्रिचार्ड लिखता है, "ये आम हुक्मनामे (जेनरल आर्डर्स) थे जो विद्रोही प्रधान सेनापति द्वारा रोज भेजे जाते थे और फारसी अक्षरों में लिखे जाते थे और उन पर मोहर की छाप होती थी। ये विचित्र अवशेष-चिन्ह थे। हर रोज़ सिपाही, पल्टनें, ब्रिगेड आदि कहाँ होंगे, इसकी व्यवस्था, रक्षकों की बदली, निरीक्षक-दस्तों की बदली आदि का उनमें विस्तार से उल्लेख होता था जैसे कि शहर के बाहर, मैं कल्पना करता हूँ, जनरल बर्नार्ड और विलसन द्वारा होता था। १५ वीं और ३० वीं पल्टनों का बार-बार उल्लेख था, और भी बहुत सी पल्टनों का उल्लेख था।" [११२] कुछ अंग्रेज़ इतिहासकारों ने लिखा है कि दिल्ली में जो नयी विद्रोही सेना आती थी, उसे अंग्रेज़ों से लड़ने के लिये भेज दिया जाता था। एकबार जब उसे अंग्रेज़ों की वीरता का पता चल जाता था, तब दूसरी बार वह लड़ने से कतराती थी। प्रिचार्ड के वाक्यों से स्पष्ट है कि अनेक सेनाएँ बारबार लड़ने के लिये भेजी गई थीं। इससे अंग्रेजों का वह झूठा प्रचार और उनकी वीरता की हेकड़ी का खंडन हो जाता है। इससे यह भी मालूम होता है कि अंग्रेज़ों से लड़ने के लिये जिसका मन चला, वह निकल पड़ा, यह बात नहीं थी। सारा युद्ध बहुत ही व्यवस्थित ढँग से चलाया गया था।

इन हुक्मनामों में एक सेनापति का उल्लेख है जिनसे नसीराबाद में

प्रिचार्ड परिचित था। इनका नाम उसने भागीरथी मिश्र [Bhagerutty Misr, भागीरथ मिश्र] लिखा है। यह सम्भवतः वही भगीरथ मिश्र हैं जिनका नाम ऊपर के हस्ताक्षरों में सम्मिलित है। यह ब्रिगेडियर जेनरल बना दिये गये थे और उन्होंने विभिन्न अस्त्र-शस्त्र वाली चार-चार पाँच-पाँच पल्टनों का संचालन किया था। ब्रिटिश सेना में वह १५ वीं पल्टन में सूबेदार थे। वह दुबले-पतले व्यक्ति थे, नाक लम्बी थी, मुख की रेखाएँ तीक्ष्ण थीं, सीना तानकर चलते थे, चेहरे का भाव प्रिचार्ड के अनुसार, सुन्दर था और उनकी मुस्कान भली लगती थी। प्रिचार्ड ने यह कल्पना न की थी कि उनमें नेतृत्व के ऐसे गुण विद्यमान हैं। सम्भवतः उनकी नम्रता से प्रिचार्ड को धोखा हुआ था। प्रिचार्ड जैसे लेखक किसी भारतवासी में कोई उत्कृष्टता न देख सकते थे। वर्णभेद पर आधारित घृणा के कारण वे अपनी क्षुद्रता का परिचय दिए बिना न रह सकते थे। प्रिचार्ड ने लिखा है कि भगीरथ मिश्र ने अपने कर्नल का घोड़ा हथिया लिया था और शायद (!) उसकी वर्दी भी चुरा ली थी, इसलिये वह इतनी उन्नति कर सके ! निःसन्देह दिल्ली के सैनिक नेतृत्व में बख़्तखाँ के साथ भगीरथ मिश्र का महत्वपूर्ण स्थान था।

दिल्ली के कागज-पत्रों में सबसे महत्वपूर्ण दस्तावेज़ प्रधान सेनापति के नाम कोर्ट की ओर से लिखा हुआ एक पत्र है। पंजाब सरकार द्वारा १९११ में प्रकाशित ग़दर सम्बन्धी कागज पत्रों में यह भी है। कोर्ट की राजनीति, प्रधान सेनापति से उसके सम्बन्ध, कार्य करने की उसकी जनतांत्रिक पद्धति, इन सभी पर इस पत्र से समुचित प्रकाश पड़ता है। पत्र कोर्ट के इन सर्दारों की ओर से भेजा गया गया है : हेतलाल मिश्र सूबेदार-मेजर; तालेयार खाँ, सूबेदार-मेजर; शिवबख़्श सिंह, सूबेदार मेजर; जीवाराम, सूबेदार मेजर बहादुर; धनीराम सूबेदार। पत्र की तारीख ५ जुलाई (१८५७) है। ऊपर दस जुलाई का जो पत्र उद्धृत किया गया है, उसमें शिवबख़्शसिंह की जगह सेवाराम मिश्र का नाम है। शेष चार नाम दोनों पत्रों में एक से हैं।

इस पत्र में बख़्तखाँ के कार्यों की प्रशंसा की गई है, साथ ही उनके कुछ कार्यों की आलोचना भी की गई है। कोर्ट ने प्रधान सेनापति को लिखा, "आपकी ख्याति से जो आशा की जाती थी, उससे बढ़कर आपने सारा प्रबन्ध किया है और आपने फौज में व्यवस्था कायम करने

के लिये खूब परिश्रम किया है। आप युद्ध के लिये इस तरह प्रबन्ध करते हैं जैसे कोई दूसरा आदमी कर न पाता। आपकी ख्याति से यह आशा थी कि फौज के लिये जो चीज भी नुकसानदेह होगी, आप उसकी जड़ काट देंगे। यह जानकर हमें बड़ी खुशी हुई और हमने आप पर बहुत भरोसा किया। दिल्ली का राज्य, ईश्वर की कृपा से जिसका जन्म हुआ है, अभी बचपन की हालत में है और बच्चे से मिलता-जुलता है। हम समझते थे कि ईश्वर ने आपको इस बच्चे के लालन-पालन के लिये भेजा है और ईश्वर पर भरोसा करके हम आशा करते थे कि आप इस बचपन की हालत के राज्य का प्रबन्ध सन्तोषजनक ढँग से करेंगे। और इस सबसे हम हृदय में प्रसन्न हुए।

"लेकिन बचपन की हालत के राज्य का लालन-पालन करने के लिये बड़ी व्यवहार-कुशलता और अच्छी नीति की आवश्यकता होती है। कारण यह है कि सभी राज्यों का संचालन राजनीति के अनुसार होता है। [मूल पत्र सम्भवतः हिन्दी में था। उसमें राजनीति शब्द का प्रयोग किया गया था जिसे अंग्रेज़ी रूपान्तर में Rajneet लिखा गया है।] जो बड़े-बड़े राजा हो चुके हैं, उन्होंने राजनीति के अनुसार नियम बनाये थे और वर्तमान काल में शासन-कार्य में राजाओं का मार्ग-दर्शन उन्हीं से होता है। आप अच्छी तरह जानते हैं कि अंग्रेज़ों का प्रताप सूर्य की तरह प्रकाशमान था। लेकिन वे राजनीति से अलग हो गये और उन्होंने सबका धर्म बिगाड़ने की ठानी। उन्हें इसका जो दंड मिला है, उसे आपने आखों से देखा है।

"अब हम आपको यह याद दिलाने के लिये लिख रहे है कि १० मई १८५७ को अंग्रेज़ों का प्रताप अग्नि की तरह प्रचंड था। लेकिन जिन सैनिकों ने वीरता से उस अग्नि का सामना किया और अंग्रेज़ों को तलवार के घाट उतार दिया, उन्हें आपने दरकिनार कर दिया है और जिस प्रधान सेनापति ने उस समय सेनाओं का संचालन किया और युद्ध में उनका नेतृत्व किया और १० मई से आज तक जो सेनानायक और अन्य अफसर और सिपाही सबसे पहले आग की लपटों में कूदे थे, उन्हें आपने भुला दिया है। और आप अपने को बहुत बुद्धिमान समझने लगे हैं।

"लेकिन हम एक राज्य का संगठन कर रहे हैं और यह काम तभी

हो सकता है जब हम सारा प्रबन्ध राजनीति के अनुसार करें। यह मोटी बात है जिसे हर कोई जानता है और आपको, जो इतने बुद्धिमान और चतुर हैं, इसे समझने में कोई कठिनाई नहीं हो सकती। आप फौजी मामलों को खूब अच्छी तरह जानते हैं। फौज के प्रथम सेनापति की आज्ञा हर कोई मानता है। यहाँ पर पहले भयानक संघर्ष में हर काम का प्रबन्ध प्रधान सेनापति मिर्ज़ा मुगल ने किया है और वह अब भी कार्य-संचालन करते हैं। और पहले तो वह ऊँचे रुतबे वाले शाहज़ादे हैं और इस विषय में हमीं से नहीं, सभी से ऊँचे हैं।

दूसरे वह प्रधान सेनापति हैं।

तीसरे वह इस पद पर आपके पूर्ववर्त्ती हैं

जिससे कि हर तरह वह आपसे उँचे हैं।

फिर भी आज तक आपने अपने ब्रिगेड की वर्तमान दशा का हाल नहीं दिया, न कोई हुक्म जारी करने के लिये आपने अनुमति माँगी है। यह सब राजनीति के विरुद्ध बातें हैं। अगर आप अपने से बड़ों को आज्ञा न मानेंगे तो आपसे छोटे आपकी आज्ञा कैसे मानेंगे ?

"फिर आप आज पाँच पल्टनें लेकर आये और जनरल बहादुर कहलाने लगे और हर ताकत आपके हाथ में है। कल दस-बारह पल्टनें लेकर कोई दूसरा आदमी आ जायगा और जनरल कहलाने लगेगा। तब आपके हाथ से ताकत निकल जायगी। आप राजनीति पर न चलेंगे तो ऐसा ही होगा।

"हम सर्दारों को, जिनसे यह कोर्ट बना है, केवल इस कर्तव्य का पालन करना है कि हम यह देखते रहें कि राज्य के मामलों का ठीक प्रबन्ध हो, शासन दृढ़ हो और किसी के कामों से उसकी जड़ कमजोर न हो और यह कि हर काम राजनीति के अनुसार किया जाय, और सिपाही और छोटे अफ्सर बड़े सर्दारों का हुक्म मानें और हर चीज अपनी जगह बाकायदा रहे। जैसा हमने सोचा; वैसा लिखा। जवाब जल्द भेजियेगा।"[११३]

इसमें सर्दारों ने लिखा है कि उनसे कोर्ट बना है (अंग्रेजी रूपान्तर में We Sirdars who compose the Court)। इससे मालूम होता है कि कोर्ट के नियम चाहे जो रहे हों, उसके सदस्य फौज के अफ्सर ही होते थे। ऐसा होना स्वाभाविक था। शाही प्रबन्ध अपनी

अयोग्यता बहुत पहले सिद्ध कर चुका था। इसके सिवा वहादुर शाह के आसपास के लोग सदा विश्वास-योग्य न थे। यदि उनके हाथ सत्ता होती तो अव्यवस्था के बढ़ने की शंका रहती।

कोर्ट के सर्दारों ने यह पत्र मूलतः शासन और राज्य-संचालन की समस्याओं को ध्यान में रखकर लिखा है। वे घोषित करते हैं कि उनका कर्तव्य नये राज्य का उचित प्रबन्ध करना है। वे सेना-संचालकों से अधिक राज्य-संचालक हैं। यदि नागरिक शासन का कार्य कोर्ट के गैर-फौजी सदस्यों के हाथ में होता तो वे इस तरह का पत्र न लिखते। वे इस बात के प्रति सचेत हैं कि राज्यसत्ता की बागडोर उनके हाथ में है। वे बार-बार राजनीति के नियमों के अनुसार हर कार्य के संचालन पर जोर देते हैं। उनकी सत्ता प्रधान सेनापति के ऊपर है। सेना राज्यसत्ता के अधीन है, भले ही उस सत्ता की बागडोर सेना के कुछ प्रमुख सेनपतियों के हाथ में हो। कोर्ट पर सैन्य-संचालन का मुख्य उत्तरदायित्व नहीं है। यह दायित्व उसने प्रधान सेनापति को सौंपा है।

कोर्ट के सदस्य प्रधान सेनापति की आलोचना करते हैं। यह आलोचना दृढ़ शब्दों में की गई है, साथ ही वह सौहार्दपूर्ण भी है। उसकी शैली मार्शल जुकोव के सम्बन्ध में निकिता सर्गियेविच ख्रुश्चेव की शैली से काफी भिन्न है यद्यपि आलोचना का उद्देश्य फौज के नेता को शासन-सत्ता के अधीन रखना, उसके कार्य की त्रुटियाँ बताकर उसे संभाव्य संकट के प्रति सचेत करना ही है। कोर्ट के सदस्यों ने प्रधान सेनापति की उचित प्रशंसा की है, सेना को व्यवस्थित करने के लिये उसे साधुवाद दिया गया है। साथ ही उन्होंने अपने सामने राज्य की रक्षा, उसके भावी विकास का उच्च उद्देश्य रखा है। व्यक्ति की महत्ता का प्रश्न इसके सामने गौण है। वे राजनीति के किन्हीं सिद्धान्तों के अनुसार समस्याएँ हल करना चाहते हैं, मनमाने ढँग से कार्य करने से हानि होगी, इस बात को वे जानते हैं। उनका जनतांत्रिक दृष्टिकोण इस बात से प्रकट होता है कि वे संघर्ष के आरम्भ की कठिनाइयों में प्रतापी ब्रिटिश साम्राज्य को चुनौती देने वाले साधारण सिपाहियों और छोटे अफ्सरों को याद करते हैं, उन्हें भूल जाने के कारण प्रधान सेनापति की आलोचना करते हैं। उन्होंने मिर्ज़ा मुगल की प्रधानता का उल्लेख किया है जिसका अर्थ कोर्ट की ही प्रधानता है। सम्भव है जनरल

बहादुर बनकर बख्त खाँ ने अपने व्यवहार में कुछ दम्भ प्रदर्शित किया हो और इस कारण कोर्ट ने उनकी आलोचना करना आवश्यक समझा हो।

जनता के क्रान्तिकारी आन्दोलन के नेताओं द्वारा इस तरह की आलोचना इस कोटि के आन्दोलनों की विशेषता होती है। आदर्शों और सिद्धान्तों के अनुसार राज्य-संचलन, योग्य व्यक्ति की प्रशंसा किन्तु कर्तव्य से विमुख होने पर दृढ़ आलोचना, सेना और राज्यसत्ता में सही सन्तुलत कायम रखना—ये सारे कार्य जैसे एक समर्थ क्रान्तिकारी नेतृत्व को करना चाहिये, वैसे ही कोर्ट ने किये। सौ वर्ष पहले दिल्ली में स्थापित नयी राज्यसत्ता इस देश की जनता के गौरव के अनुकूल ही थी। यह राज्यसत्ता न तो मुगल सामन्तशाही का प्रतिरूप थी, न अंग्रेज़ों के निरंकुश अभिजातवर्गीय शासन की नकल थी। यह नयी जनतांत्रिक सत्ता थी जो देश के भविष्य की ओर—और मानवता के के भविष्य की ओर— संकेत करती थी। सेना के नायक इस तरह की सत्ता स्थापति कर सके, इसका कारण यह था कि अंग्रेज़ों से अपने अधिकारों के लिये लड़ते हुए सेनाओं से प्रतिनिधि चुनना, सभाएं करना, भाषणों और इश्तहारों द्वारा राजनीतिक प्रचार और संगठन करना— इन सब कामों की शिक्षा वे अपने प्रत्यक्ष जीवनमें में पा चुके थे। इसी-लिये वे मुगलों और अंग्रेजों से भिन्न एक नये ढँग की राज्यसत्ता कायम कर सके। विद्रोह में सिपाहियों की जीत होती तो भारत की सामाजिक प्रगति रूक जाती, यह स्थापना दो तरह से गलत है। पहले तो सामंती शक्तियों का प्रभुत्व कायम होना अंग्रेज़ों के प्रभुत्व से—चाहे वह पूँजी-वादी प्रभुत्व हो, चाहे अर्द्धसामन्ती अभिजातवर्गीय प्रभुत्व हो—इस देश के लिये अधिक कल्याणकारी होता। दूसरे राज्यक्रान्ति का सारा इति-हास बतलाता है कि सेना और सामन्तों के संयुक्त मोर्चे में प्रमुख शक्ति सेना थी, न कि सामन्त। यह सत्य सबसे पहले दिल्ली की नयी राज्य-सत्ता के इतिहास से सिद्ध होता है।

बहादुरशाह के नाम से जो घोषणापत्र निकले, राजाओं के नाम जो पत्र लिखे गये, नगर की जो व्यवस्था की गई, वह सब कोर्ट की ओर से थी। दिल्ली देश की एकता, अंग्रेज़ों के विरुद्ध सम्मिलित प्रयत्न का प्रतीक थी। इसलिये बहादुरशाह ने देशी नरेशों के नाम पत्र भेजे थे

जिनमें मुगल साम्राज्य की स्थापना का प्रयत्न नहीं था वरन् विभिन्न सामन्ती शक्तियों को संघबद्ध करने की बात थी । ४ सितम्बर १८५७ की तारीख के अन्तर्गत जीवनलाल ने अपने रोजनामचे में लिखा था, "जयपुर, जोधपुर, बीकानेर और अलवर के राजाओं के नाम बादशाह के हस्ताक्षराङ्कित पत्र भेजे गए, जिसमें लिखा था कि मुझे सेना की आवश्यकता है और मैं अंग्रेजों को नष्ट कर देना चाहता हूँ, किन्तु चूँकि इस समय मेरे पास साम्राज्य का प्रबन्ध करने के लिये विश्वासपात्र व्यक्ति उपस्थित नहीं हैं, अतः मैं रियासतों की एक सभा बना देना चाहता हूँ और यदि वे रियासतें जिनके नाम पत्र भेजे जा रहे हैं, इस निमित्त सभा संगठित कर लें, तो मैं अत्यन्त प्रसन्नता से अपने शाही अधिकार उनके हाथ में दे दूँगा।"[११४] इसका अर्थ यह है कि दिल्ली की राज्यसत्ता न तो १८५७ में सामन्तशाही का पर्याय थी, न जनता की जीत होने पर वह आगे ही होती। दिल्ली का सम्राट् सत्ता के प्रतीक-स्वरूप रहता; उसकी शक्ति राज्य-संघ को अर्पित कर दी जाती। स्वतंत्र दिल्ली के लेखक डाक्टर सैयद अतहर अब्बास रिजवी ने लिखा है,"कोर्ट के सदस्य अपने कार्यक्षेत्र में शाहजादों, अमीरों तथा अन्य शाही अधिकारियों का हस्तक्षेप भी पसंद नहीं करते थे।" इससे कोर्ट के सामंत-विरोधी रुझान का पता चलता है। डाक्टर रिज़वी ने बादशाह के नाम कोर्ट का एक पत्र उद्धृत किया है जिसमें नवाब मुहम्मद हसन खाँ की शिकायत की गई है कि वह साहूकारों से जबर्दस्ती धन वसूल करता है।

दिल्ली की ओर से विद्रोह को संगठित करने के जो प्रयत्न किये गये थे, उनका प्रमाण उपर्युक्त ग़दर-संबन्धी कागज़-पत्रों में पटियाला के नाम बहादुरशाह का पत्र है। इसमें तारीख नहीं पड़ी। लिखा था, "आपने अफ़वाहों से और देशी अख़बारों से शासन-व्यवस्था के टूटने और भारी अव्यवस्था के फैलने की बात सुनी होगी। इसलिये मेरे खानदान के लिये आप की साबित वफ़ादारी की वजह से आपको निर्देश दिया जाता है कि जितनी जल्दी हो सके, अपनी सारी फौज और तमाम सामान लेकर हाजिर हों। देर न करें क्योंकि न तो बचने का और न मेरी तरफ से मुखालिफत का रास्ता रह गया है। आपसे दरखास्त है कि जितनी जल्दी हो सके आप इस तरफ चले आये।"

पुनश्च: "आखिरी सांस लबों पर है। जल्दी आये तो जिन्दा हूँ।

मर गया तो फिर आना किस काम का ?"

दिल्ली की राज्यसत्ता का दृष्टिकोण राष्ट्रीय और जनतांत्रिक था। राष्ट्रीय इसलिये था कि देश के अनेक राज्यों को मिलाकर संघ बनाने की योजना उसके सामने थी, जनतांत्रिक इसलिये कि उसे जनता के हितों का ध्यान था। हिन्दू-मुस्लिम एकता का महत्व समझना और दृढ़ता से उसे स्थापित करना और उसकी रक्षा करना—यह नयी राज्य-सत्ता की दूरदर्शिता का प्रमाण था। जीवनलाल के अनुसार १६ मई को कुछ लोगों ने जामा मस्जिद में जेहाद का झंडा उठाया। २० मई के अन्तर्गत उसने लिखा था कि मौलवी मुहम्मद सईद ने बादशाह से कहा कि "जेहाद का झंडा इसलिये खड़ा किया गया है कि मुसलमानों के विचारों को हिन्दुओं के विरुद्ध भड़काया जाय।" बादशाह ने जेहाद का विरोध किया। ६ जुलाई के अन्तर्गत जीवनलाल ने लिखा कि घोषणा कर दी गई, जो व्यक्ति गोवध करेगा, उसे तोप के मुँह से उड़ा दिया जायगा किन्तु यदि किसी ने बकरी का वध करने में आपत्ति की तो उसे भी दंड दिया जायगा। २७ जुलाई के अन्तर्गत उसने लिखा कि "बादशाह ने आज्ञा दी कि जनरल तथा सेनाओं के अफसरों के नाम इस विषय की चिट्ठयाँ भेजी जायँ कि ईद के अवसर पर शहर में कोई गाय न मारी जाय और चेतावनी दे दी गई कि यदि किसी मुसलमान ने ऐसा किया तो उसे तोप के मुँह से उड़ा दिया जाएगा। यदि किसी मुसलमान ने गोवध की प्रेरणा दी तो उसे भी कत्ल कर दिया जायगा।" इसके बाद के वाक्य से पता चलता है कि अंग्रेज़ों से मिले हुए लोग किस तत्परता से हिन्दू-मुस्लिम दंगे कराने पर तुले हुए थे। "हकीम अहसनुल्ला खाँ ने इस आज्ञा पर अप्रसन्नता प्रकट की और कहा कि मैं मौलवियों को इस ओर प्रेरित करूँगा।" किन्तु इन सब उकसावा पैदा करने वालों की कोशिशें बेकार हुईं। 'बादशाह के आदेशानुकूल जनरल बख्त खाँ ने शहर में घोषणा करा दी कि शहर में गोवध करना निषिद्ध निश्चित हुआ है।"

अंग्रेज़ साम्प्रदायिक उकसावा पैदा करने की कोशिशें किस तरह कर रहे थे, इसकी एक मिसाल जीवनलाल के रोजनामचे से मिलती है। लाहौर से किसी रईस की चिट्ठी का जिक्र है जिसमें लिखा था कि जॉन लारेन्स ने पंजाब में यह घोषणा कराई है कि दिल्ली के शाह ने

ऐसे व्यक्ति के लिये पुरस्कार नियत किया है, जो सिक्खों को कत्ल करे और उनके सिरों को दिल्ली में जाकर पेश करे । [११५] दिल्ली की सेनाओं में जो सिख थे, उन्होंने अंग्रेजों से लड़कर इस तरह के उकसावे का अच्छा उत्तर दिया ।

उकसावा पैदा करने की दूसरी मिसाल यह है । हैदर नाम का एक आदमी अच्छे कपड़े-लत्ते पहन कर अपने साथ कुछ बदमाशों को सिपाहियों के वेश में लाया । अपने को शाहजादा कहकर उसने एक भले आदमी को मारा और उससे चार सौ रुपये छीन लिये । सिपाहियों ने सुना तो उसे गिरफ्तार कर लिया । [११६]

सिपाहियों की वर्ग चेतना और गरीबों के प्रति उनकी सहानुभूति-जो जनतंत्र का महत्वपूर्ण आधार है—ध्यान देने योग्य है । मिर्जा मुगल के घर पर "एक उपद्रवकारी ने अमीनुद्दीन खाँ को ताना दिया कि आप तो ऐश्वर्य-वैभव में जीवन व्यतीत कर रहे हैं और हम हैं कि पेट भर खाना भी नहीं जुटता ।"[११७] गरीब सिपाही लड़ रहा था, किसी सामंत के लिये नहीं, नयी राज्यसत्ता के लिये । ऐसी ही घटना का उल्लेख देहली उर्दू अखबार ने किया था जिसे डाक्टर अतहर अब्बास रिजवी ने "स्वतंत्र दिल्ली" में उद्धृत किया है । कुछ लोगों ने सिपाहियों का वेश बना कर लूटमार का काम शुरू किया था । ऐसे पाँच आदमी पकड़े गये और उनके जूते लगाये गये । डाक्टर रिजवी ने लूटमार की कहानियों के बारे में खानबहादुर ज़काउल्लाह के इतिहास से कुछ महत्वपूर्ण वाक्य उद्धृत करते हुए लिखा है कि इस "इतिहास से भी पता चलता है कि लूटमार तिलंगों के नाम पर गुण्डों द्वारा ही की जाती थी ।" इसके बाद उन्होंने इतिहास से ये वाक्य उद्धृत किये हैं, "शहर के लुच्चे शुहदे हिन्दू-मुसलमान तिलंगों को साथ लेकर हर रोज किसी भले मानुस का घर लूटते थे । गामी खाँ पंजाबी शहर का एक प्रसिद्ध बदमाश था । उसने अपने ही भाई बन्दों, वली मुहम्मद व हुसैन बख्श तथा कुतुबुद्दीन की दूकानों को तिलंगों को साथ लेजाकर लुटवा दिया । सबसे बड़े पंजाबी व्यापारी देहली में यही तीन थे । जब एक घर लुटता था तो सारे मुहल्ले के लुटने की सूचना नगर में प्रसारित हो जाती थी । अगर दस रुपये का माल लुटता था तो हजार रुपये का मशहूर होता था । गरज जैसी उस लूटमार की शहर में प्रसिद्धि थी उसका सौवाँ हिस्सा भी ठीक न होता

था। सैकड़ों मुहल्ले थे जिनमें एक कौड़ी का भी माल न लुटता था।"

यह सब उद्धृत करने के बाद और अपनी ओर से भी यह लिखने के बाद कि लूटमार सिपाहियों के नाम पर गुन्डों द्वारा ही की जाती थी, आश्चर्य है कि डा० रिजवी ने आगे लिखा है कि "नगर वाले भी सेना के नगर में निवास के कारण बड़े कष्ट में थे और वे अधिक दिन तक इस दशा में नहीं रह सकते थे।" उन्होंने स्वयं ही सरकारी कागज-पत्रों से यह तथ्य उद्धृत किया है कि "बहुत से नागरिकों ने अपने घर सेना के निवास-हेतु अपनी इच्छा से प्रदान कर दिये थे।" इससे अधिक सेना की लोकप्रियता का प्रमाण क्या होगा ? उन्होंने बहादुरशाह के मुकदमे का हवाला देते हुए जो तथ्य दिया है, वह सिपाहियों की कठिनाइयों और उनके नि:स्वार्थ संघर्ष पर प्रकाश डालता है। "सेना के लिये केवल जीवनयापन ही कठिन न था अपितु मोर्चों पर भी भोजन न मिलता था। पहली अगस्त को बख़्त खाँ के कार्यालय से बादशाह को एक पत्र प्राप्त हुआ कि कल से २०,००० सेना वर्षा की अधिकता तथा भोजन के अभाव के कारण कष्ट उठा रही है। अत: कोतवाल शहर को आदेश दे दिया जाय कि बुसी पुल के दूसरी ओर के शिविर में १०० मन भुने हुए चने भेज दिये जायँ, अन्यथा सेना के उपवास का यह दूसरा दिन है।" भूखे रहकर, चने चबाकर लड़ने वाले सिपाहियों से उन ब्रिटिश सैनिकों की तुलना की जाय जिन्होंने दिल्ली को हफ्तों लूटा था, तब पता चलेगा कि दोनों सेनाओं की नैतिकता में आकाश-पाताल का अन्तर था।

भारतीय सैनिक ऐश्वर्य - वैभव में दिन बिताने वालों को घृणा की दृष्टि से देखता था। अमीनुद्दीन मिर्जा मुगल बेग के घर से निकल कर बख़्त खाँ के सैनिकों के संरक्षण में ही अपने घर पहुँचा। सिपाही अनेक स्थानों से खजाना लेकर दिल्ली पहुँचे और भारी रकमें उन्होंने शाही खजाने को सौंप दीं, यह उनके उद्देश्य की पवित्रता और ईमानदारी से ही संभव हुआ। उदाहरण के लिये जालंधर की सेनाओं ने अस्सी हजार रुपये शाही खजाने में दाखिल किये।[११८]

दिल्ली के अधिकारियों ने कोशिश की कि युद्ध के कारण चीज़ों का भाव न चढ़े। इसलिये पुलिस को आज्ञा दी गई कि जीवनोपयोगी आवश्यक सामग्री का दैनिक मूल्य निर्धारित करने के लिये पंच नियुक्त कर दे।[११९]

इन सब कार्यों में सूत्रधार की भूमिका कोर्ट की थी । ८ सितम्बर को जब दिल्ली पर अंग्रेज़ी तोपों से गोले गिर रहे थे, नगर में यह घोषणा की गई कि "भविष्य में दिल्ली दरवाज़े के निकटवर्ती छापाखाना के दफ्तर में सैनिक न्यायालय सब शिकायतों को सुना करेगा ।"[१२०] कोर्ट अंतिम दिनों तक जनता के दुखसुख का ध्यान रखकर शासन चलाता रहा । अवश्य ही इस जनतांत्रिक व्यवस्था की सीमाएं थीं । सिपाहियों में गरीबों के प्रति सहानुभूति थी किन्तु उनके प्रतिनिधियों में उसी मात्रा में वह सहानुभूति हो, यह आवश्यक न था । १२ सितंबर को जब दिल्ली की स्वाधीनता का अन्त निकट आ गया था, कोर्ट ने आज्ञा निकाली कि "प्रजा में से किसी को मोर्चों पर काम करने के लिये बलात् नियुक्त न किया जाय । केवल चमारों और मजदूरों को इस काम पर लगाया जाय ।"[१२१] लेकिन सौ साल बाद जिस स्वाधीन दिल्ली में भंगियों पर गोलियाँ चलाई गईं, उससे १८५७ की दिल्ली फिर भी अधिक जनतांत्रिक थी । कोर्ट ने वह आज्ञा तब निकाली थी जब दिल्ली के और समग्र देश के जीवन-मरण का प्रश्न उपस्थित था । सौ साल बाद स्वाधीन दिल्ली में इस तरह का कोई संकट न था; तब तक शासकों की जनतांत्रिक चेतना बढ़ते-बढ़ते समाजवादी हो चुकी थी और वे समाजवादी व्यवस्था को अपना लक्ष्य घोषित कर चुके थे ।

दिल्ली: अंतिम संघर्ष

जिस पतित सामन्तशाही ने दिल्ली को और देश को अंग्रेज़ों के हवाले कर दिया था, उसके बहुत सड़े-गले प्रतिनिधि दिल्ली में विद्यमान थे । ये सब बादशाह बहादुरशाह के चारों ओर मँडराते रहते थे । इनमें एक हकीम अहसनुल्ला खाँ था । बहादुरशाह के मुकदमे में वह अंग्रेज़ों के गवाह के रूप में आया । डॉ० रिज़वी का विचार है कि पहले बादशाह को अहसनुल्ला पर पूरा भरोसा था लेकिन "बाद में बादशाह को भी

ज्ञात होगया होगा कि क्रान्तिकारियों का संदेह निराधार न था और हकीम एहसनुल्लाह निरंतर क्रान्ति को असफल बनाने की चेष्टा कर रहा था।"[१२३] लेकिन जब मालूम होगया, तब भी बादशाह ने उसके विरुद्ध कोई कार्यवाही नहीं की। सैनिक उसकी ओर से सतर्क थे। जब वे उसकी खोज कर रहे थे, तब "बादशाह ने उन्हें सिंहासन के नीचे छिप जाने का आदेश दिया।" बादशाह ने हकीम की रक्षा की लेकिन "रात को उपद्रव कारियों ने किले को घेर लिया और यह माँग उपस्थित की कि हकीम अहसनुल्ला को हमारे सुपुर्द कर दिया जाय।"[१२४] बादशाह को मजबूर होकर हकीम को सुपुर्द करना पड़ा लेकिन उसकी प्राणरक्षा का वादा पहले करा लिया, बाद को बहुत ज़ोर डाल कर उसे मुक्त करा लिया।

दिल्ली में अंग्रेज़ों के गुप्तचर बहादुरशाह के आसपास के लोगों से घनिष्ठ संपर्क बनाये हुए थे। "बादशाह के अधिकारी उनके सहायक थे।"[१२५] मिर्ज़ा इलाहीबख्श बादशाह का समधी था। "वह सर्वदा बादशाह को यही समझाने का प्रयत्न किया करता था कि अंग्रेज़ों से संधि कर लेने में ही उसका हित है।"[१२५] फिर भी बादशाह को उसपर बड़ा विश्वास था। उसी ने अंग्रज़ों के गुप्तचर जीवनलाल को सैनिकों के कोप से बचाया था और उसी ने अंत में बहादुरशाह को क्रान्तिकारी सिपाहियों के साथ दिल्ली छोड़ कर जाने से रोका।[१२५] इस कारण सिपाहियों को दो मोर्चों पर लड़ना पड़ता था, एक तो बाहर अंग्रेज़ों से जिनके साथ कश्मीर और पंजाब के सामन्तों की सेना थी और अन्य देशी सैनिक भी थे, दूसरी ओर इन घर के भेदियों से निपटना था जो बादशाह को घेरे रहते थे और बेगम को अपनी ओर किये हुए थे। जिस समय जीवनलाल बंदी बना कर मिर्ज़ा मुग़ल के सामने लाया गया, उस समय वहाँ मिर्ज़ा इलाहीबख्श भी पहुँच गया। "ठीक उसी प्रकार, जैसे कि सूखे हुए पत्तों में जान डालने के लिए इन्द्र देवता बरस पड़ते हैं, उन्होंने मुझे ढाढस बँधाया और मिर्ज़ा मुग़ल से प्रार्थना की कि निजी भेंट के लिये समय दिया जाय।"[१२६] अन्त में इलाहीबख्श के साथ जाने की उसे आज्ञा मिल गई।

अंग्रेज़ों के गुप्तचरों को और विशेष कर अहसनुल्ला खाँ को बेगम ज़ीनतमहल का बड़ा भरोसा था। डॉ० रिज़वी ने मौलाना फज़लेहक

खैराबादी का यह कथन उद्धृत किया है कि "वह अंग्रेज़ों की उस समय भी आज्ञाकारिणी और मित्र थी, जब वह मलका थी। वह अपने पुत्र जवाँबख़्त को वलीअहद बनाना चाहती थी।" १६ मई को सैनिकों ने अंग्रेज़ों के नाम अहसनुल्ला खाँ और महबूबअली खाँ का पत्र बादशाह को दिखाया, जिसमें लिखा था, "इस स्थान पर शीघ्र आओ तथा मिर्ज़ा जवाँबख़्त को वली अहद बनादो। हम जितने तिलंगे तथा सर्दार किले में हैं, उन्हें गिरफ्तार करा देंगे।"[१२७] अहसनुल्ला खाँ ने पत्र को जाली बता दिया और उसका कुछ न हुआ। ग्रेटहेड ने दिल्ली के घेरे के समय लिखे हुए २३ अगस्त के अपने पत्र में इस बात का ज़िक्र किया है कि ज़ीनतमहल के पास से एक दूत आया और बोला कि बेगम बादशाह पर अपना असर डालने के लिये तैयार है कि किसी तरह मामला ठीक होजाय।[१२८] इससे पहले ४ जुलाई को मेजर-जनरल रीड ने जॉन लारेन्स को तार दिया था, "कहा जाता है कि बादशाह समझौता करना चाहता है, बशर्ते कि उसकी पहले की पेंशन और पद उसे प्राप्त करा दिये जायँ।"[१२९] बख़्त खाँ के साथ न जाकर जब बहादुरशाह ने अंग्रेज़ों के हाथ आत्मसमर्पण करने का विचार किया, तब ज़ीनतमहल की मंत्रणा ने अपना प्रभाव दिखाया। ज़काउल्लाह के अनुसार "ज़ीनतमहल के आग्रह तथा विश्वासघाती परामर्शदाताओं के परामर्श से वह अपने आपको समर्पित कर देने पर विवश कर दिया गया था।"[१३०] बहादुर-शाह की पूरी कार्यवाही इस मंज़िल की ओर उन्हें ठेल रही थी। उनकी नीति ढुलमुलपन की थी। न तो वह क्रान्ति-विरोधी थे और न वह सिपाहियों के हाथ में कठपुतली भर थे। यदि वह क्रान्ति-विरोधी होते तो सादिकुल अख़बार में वे फ़ारसी के शेर न लिखते : "दुश्मन ने हर तरफ से घेर लिया है; या अली, बराये खुदा मदद के लिये ग़ैबी फौजें भेजिये; ज़फर आपसे यही दुआ करता है।"[१३१] किन्तु उनके कार्यों से और ढुलमुल नीति से शत्रु-पक्ष को लाभ होता था। हकीम अहसनुल्ला खाँ जैसे लोगों को उन्होंने अपने संरक्षण में रहने दिया। उनके अधिकारी गुप्तचरों के सहायक थे। बादशाह और पुलिस के संबंध में डॉ० रिज़वी ने लिखा है, "संभव है कि सेना का विचार था कि पुलिस वाले अंग्रेजों से मिले हैं। प्रथम कोतवाल शहर मुईनुद्दीन हसन खाँ 'खदंगे गदर' का लेखक अंग्रेजों का बहुत बड़ा हितैषी था और अपने अत्याचार के
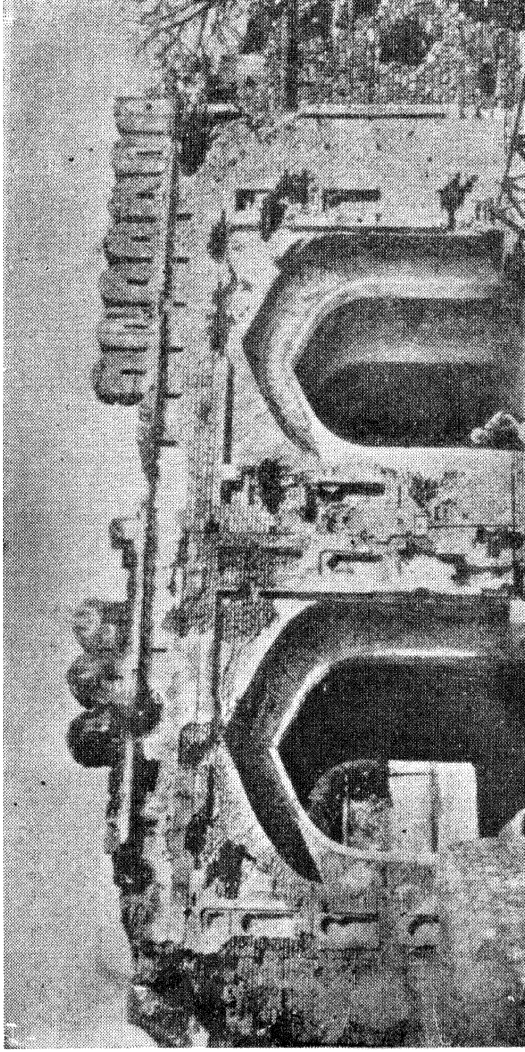
कश्मीरी दरवाज़ा, दिल्ली

कारण शीघ्र पदच्युत किया गया किन्तु शान्ति स्थापित रखने तथा महाजनों को संतुष्ट करने के लिये बादशाह अधिकांश में पुलिस का ही पक्ष लेता था।"[१३२] यदि बादशाह से इन सब तत्त्वों को सहायता न मिलती तो राज्यक्रान्ति और शक्तिशाली ढंग से चलती, इसमें सन्देह नहीं। साथ ही बादशाह ने हिन्दू-मुस्लिम एकता के लिये प्रयत्न किया, सेना के खर्च के लिये अपने जवाहरात देने का प्रस्ताव रखा और कुल मिलाकर सेना को प्रोत्साहन दिया। राजाओं आदि के नाम पत्र भेज कर उन्होंने क्रान्ति की शक्तियों से सक्रिय सहयोग किया। इसलिये उन्हें सिपाहियों के हाथ की कठपुतली समझना ग़लत है।

सामन्तशाही की मदद से अंग्रेज़ों को नगर और किले के तमाम भेद मिलते रहे, उन्हें खाने-पीने का सामान मिलता रहा, वे बारूदखाने को भेदियों द्वारा नष्ट करने में सफल हुए। बारूद की कमी पहले ही थी, उस पर बारूदखाने का ध्वंस घातक ही था। उससे कितनी क्षति हुई होगी, इसका अनुमान इसी बात से हो सकता है कि जीवनलाल के अनुसार उसमें ४६४ आदमी मारे गये। इस क्षति की पूर्ति करना असंभव ही था।

दिल्ली की जनता, सिपाही, जेहादी, सब वीरों की तरह लड़े। लोग अंग्रेजी तोपों के गोलों के आदी हो गये थे। गोले छूटते देखकर वे कहते, वह आया, वह आया।[१३३] नगर में मुहम्मद शरीफ नाम का एक प्रतिष्ठित चित्रकार था। उसने अपनी पत्नी के आभूषण छोड़ कर सारी संपत्ति दान करदी और जेहादियों में शामिल हो गया।[१३४] दिल्ली में अनेक स्थानों से जेहादी आकर इकट्ठे हुए। इनके न खाने का ठीक था, न पहनने का ठीक था। फिर भी वह लड़ने-मरने के लिये उत्सुक थे।

दिल्ली में एक स्त्री सवार की वर्दी पहने, हरा साफा बाँधे जनता की ओर से लड़ी। उसने ब्रिटिश सेना के घुड़सवारों पर आक्रमण किया। हौडसन के शब्दों में वह शैतान की तरह लड़ी। अंग्रेजों के ही अनुसार उसने दो सैनिकों के प्राण ले लिये थे। ब्रिटिश सैनिक कहते थे कि वह अकेले ही पाँच सिपाहियों से अधिक भयानक थी। अंग्रेज सोचते थे कि वह दिल्ली में रहेगी तो लोगों को उत्साहित करती रहेगी। इसलिये उन्होंने उसे पकड़ने के लिये विशेष प्रयत्न किया। इसके बाद अपनी सहज अभद्रता का परिचय देते हुये कर्नल कीथ यंग ने अपनी पत्नी को

लिखा, "वह बूढ़ी और बदसूरत है, इसलिए रोमांस की कोई गुंजाइश नहीं है।"[१३५]

एक बार दिल्ली के बाहर कुछ ब्रिटिश सैनिक एक मस्जिद में घुसे। वहाँ उन्होंने एक बूढ़ी स्त्री को अपने लड़के का शव लिये देखा जो युद्ध में मारा गया था। एक ब्रिटिश सैनिक ने उसे मारने के लिये यह कहते हुए बंदूक उठाई कि स्त्रियाँ पुरुषों से भी खराब हैं।[१३६] उनके अफसर ने उन्हें बंदूक चलाने से रोक दिया। सैनिकों की बात से मालूम होता है कि वे दिल्ली की वीर नारियों से बुरी तरह आतंकित थे। स्त्रियों ने पुरुषों के साथ और कभी-कभी उनसे भी अधिक वीरता से संग्राम किया। राज्यक्रान्ति का उद्देश्य इतना लोकप्रिय था। स्त्रियों का समर्थन किसी भी क्रान्ति की लोकप्रियता का सबसे बड़ा प्रमाण-पत्र है।

जनता के उत्साह का पता उस समय के अखबारों से चलता है। डा० रिज़वी ने "स्वतन्त्र दिल्ली" में इनके अंश एकत्र करके राज्यक्रांति के इतिहास को नयी और महत्वपूर्ण सामग्री दी है। देहली उर्दू अखबार ने रावण और कंस की मिसालें दीं जिनका राज्य अत्याचार के कारण नष्ट हो गया। उसने हिन्दुस्तानी जनता के प्रति अंग्रेज़ों की तिरस्कार-भावना का उल्लेख करते हुए योद्धाओं को ललकारा, "अतः जब तुम यह देखते हो कि किस प्रकार बड़े-बड़े राज्य कुछ समय बाद ईश्वर दूसरी जाति द्वारा नष्ट करा देता है तो तुम यह किस कारण नहीं समझते कि ईश्वर ने अपनी पूर्ण शक्ति से परोक्ष से यह व्यवस्था की है कि उस कौम को जो १०० वर्ष के स्थायी राज्य के कारण ईश्वर के प्राणियों को तुच्छ तथा तुम्हारे भाई-बन्दों को 'काला आदमी, काला आदमी' कहकर तिरस्कृत तथा अनादृत करती थी, अपनी लीला दिखलाई है।" अंग्रेज़ों ने वर्णभेद के दृष्टिकोण से यहाँ की जनता को जिस तरह अपमानित किया था, उसे यहाँ के प्रबुद्ध जन भूले न थे। उसकी याद दिलाकर वे जनता को साहस से कठिनाइयों का सामना करने के लिये उत्साहित कर रहे थे। इस पत्र ने लोगों को नगर छोड़कर भागने से मना किया। उसने लिखा, "दो हाथ तुम्हारे हैं। वही दो हाथ उनके तुम्हारे जैसे हैं। तुममें से एक-एक वीर पुरुष है जो ईश्वर की कृपा से शत्रुओं के लिये शेर बबर है और संख्या में उनसे १०० गुना अपितु हजार गुना है।" देश की जनता अपने शहीदों को कभी नहीं भूलती;

स्वाधीनता के लिये लड़ने वालों का नाम अमर रहेगा। इस आशय के वाक्य लिख कर उस पत्र ने भीम, अर्जुन, रुस्तम, तैमूर आदि का उल्लेख करते हुए कहा, "तुम्हारा यह युद्ध इतिहासों में लिखा जायगा कि तुमने किस वीरता से ऐसे शक्तिशाली एवं अभिमान से पूर्ण राज्य के अभिमान को तोड़ा है। जिस राज्य को बड़े-बड़े बादशाह न ले सकते थे, उसे तुमने छीन लिया है।" कितनी सच्ची बात इस पत्र ने लिखी थी। बादशाहों का काम न था कि वे अंग्रेज़ों से राज्य छीनते; सत्ता के लिये यह संघर्ष चलाना सिपाहियों और जनसाधारण का ही काम था। देहली उर्दू अखबार ने क्रान्तिकारी पत्रकार-कला का उत्कृष्ट नमूना पेश किया। उसने ये बातें १४ जून १८५७ को लिखी थीं।

देहली उर्दू अखबार ने हिन्दू-मुस्लिम एकता के लिये विशेष प्रयत्न किया। उसने सिपाहियों और आम जनता को सम्बोधित करते हुए लिखा, "हे भाइयो, वतन वालो, विशेषकर सेना वालो, तुम्हारे लिये आवश्यक है कि सब हिन्दू-मुसलमान संघठित तथा एक दिल होकर परस्पर अपने को एक दूसरे की भुजाएँ समझो।" ये हृदय से निकले हुए सच्चे उद्‌गार हैं। भारत-राष्ट्र की ये दोनों भुजाएँ एक साथ उठी थीं, इसीलिये अंग्रेज़ों का राज कुछ समय के लिये विध्वस्त हो गया था। एक ओर हिन्दू-मुस्लिम एकता को दृढ़ करने और अंग्रेज़ों का मुक़ाबला करने की यह दृढ़ भावना थी, दूसरी ओर प्रगतिशील अंग्रेज़ अपनी उकसावा पैदा करने वाली नीति से दिल्ली में हिन्दू-मुस्लिम दंगे कराने का बरार प्रयत्न कर रहे थे। डा० रिज़वी के अनुसार "अंग्रेज़ों ने मुसलमानों को बहकाने और उन्हें अपनी ओर मिलाने के लिए एक विज्ञापन छापा।" उसमें उन्होंने दिखलाया कि यह युद्ध हराम है और हिन्दू सेना ने मुसलमानों को बहका दिया है। उन्होंने मुसलमानों का आह्वान किया कि शरीअत के अनुसार अंग्रेज़ों का साथ देकर हिन्दुओं का नाश करें। मुसलमान नेताओं ने इसके विरोध में लेख लिखकर समाचार-पत्रों में छपवाये और तुरत इस उकसावे को जागरूक ढंग से निर्मूल किया। उन्हों ने पुस्तिका तैयार की और धनी लोगों से उसे गरीबों में बँटवाने को कहा। "रद्दे इश्तिहारे नसारा" (अंग्रेज़ों के इश्तहार का खंडन) में उस समय की राजनीतिक चेतना की अच्छी झलक मिलती है। हिन्दुओं का ही धर्म

बिगाड़ा गया तो यह भी आपत्तिजनक बात थी। "फिर स्वयं लिखते हैं कि चर्बी गाय की थी। कोई पूछे कि क्या इससे हिन्दुओं का धर्म नहीं बिगड़ता ? अब इनकी किस बात का विश्वास किया जाय।" अंग्रेज़ किसी के नहीं हैं। उनका उद्देश्य हिन्दुओं और मुसलमानों को लड़ाकर अपना स्वार्थ सिद्ध करना है। इसलिये लिखा, 'मुसलमान सेना अपनी बुद्धिमत्ता से समझ गई कि आज यह अत्याचार हिन्दुओं पर है, कल हम पर होगा और इसी प्रकार होता रहा है।' अंग्रेज़ों ने अपने वादे किस तरह तोड़े, इसकी याद दिलाते हुए लिखा, "पंजाब तथा अवध के इकरारनामों का क्या हुआ ? रियासत झाँसी तथा नागपुर की शक्ति बढ़ जाने पर किस प्रकार उन राज्यों का अपहरण कर लिया। अवध के ऋण की क्या दशा हुई ? हिन्द के राज-सिंहासन से जो इकरारनामे हुए उनमें कौन से पूरे हुए ? इसी प्रकार विभिन्न पैतृक रियासतें उदाहरणार्थ बहादुरगढ़ आदि से कौन-कौन से कुशासन के बहाने बनाये गये और उद्देश्य था, उनके राज्य का अपहरण। आज इसी बहाने से कि तुम से सेवा तथा देश का प्रबन्ध नहीं हो सका, हमारे बादशाह को भी हुकूमत से, जो तुम्हारे बाप दादा की न थी, पृथक् कर देना तुमने आवश्यक समझ लिया।"

हो सकता है, कुछ लोग कहें कि इस पत्रकार-कला में शिष्टता की, सद्भावना की कमी है। किसी से यह कहना कि हुकूमत तुम्हारे बाप-दादा की न थी, सत्य और अहिंसा के सिद्धान्तों के प्रतिकूल हो सकता है। किन्तु यह क्रान्तिकारी पत्रकार-कला थी और देशभक्ति से अनुप्राणित थी। धर्मशास्त्र का उल्लेख करने पर अंग्रेज़ों की यों खिल्ली उड़ाई गई है: "वाह वाह ! क्या बात कही और क्या शरीअत का धोखा दिया...हे भाइयो, मुसलमानो, इनके छल तथा धोखे में कभी न आना।"

देहली उर्दू अखबार ने अंग्रेज़ों के वफादारों को धिक्कारते और जनता से उनकी कार्यवाही के प्रति सतर्क रहने के लिये कहते हुए लिखा, "यह ईश्वर की विचित्र लीला है कि कभी-कभी सुना जाता है अधिकांश हिन्दु-मुसलमान इसी युग तथा काल में अंग्रेज़ों के नमकख्वार तथा उनसे संबन्धित हैं और धर्म तथा ईमान के विरुद्ध कार्य करते हैं। इनके विषय में सुना जाता है कि वे गुप्त रूप से उनके शुभाकांक्षी हैं तथा उनकी विजय चाहते हैं और उन्हें समाचार पहुँचाते रहते हैं। वे हृदय से

उनकी ओर से प्रयत्नशील हैं। सब हिन्दू-मुसलमानों के लिये आवश्यक है कि इन बातों की खोज की चेष्टा करें और ऐसी बातों की छानबीन करते रहें। और उन्हें उचित दंड दें जिससे लोग शिक्षा ग्रहण करें।"[१३८] क्या इस में किसी को सन्देह हो सकता है कि दिल्ली में हकीम अहसनुल्ला, मिर्ज़ा इलाही बख्श, ज़ीनत महल, जीवनलाल जैसे लोग प्रगतिशील नहीं थे; देशभक्त और प्रगतिशील वे थे जो अंग्रेज़ों के विरुद्ध लड़ रहे थे ? एक ओर हिन्दुओं और मुसलमानों को लड़ाने और उनमें उकसावा पैदा करने की कोशिशें थीं, दूसरी ओर इन कोशिशों को नाकाम करने और उस हुकूमत पर कब्ज़ा करने के लिये संघर्ष था जो अंग्रेज़ों के बाप-दादा की न थी। सत्ता के लिये इस संघर्ष में अंग्रेज़ों की प्रगतिशीलता के प्रेमी किस ओर होते ?

जनता से सतर्क रहने और शत्रु की चाल को व्यर्थ करने के लिये वही क्रान्तिकारी आन्दोलन अपील कर सकता है जो सचमुच उसके हितों की रक्षा के लिये लड़ रहा हो। इस क्रान्तिकारी सतर्कता में जन-साधारण और सिपाहियों ने भाग लिया। यदि सामन्तशाही अंग्रेज़ों के भेदियों को इतना प्रश्रय न देती—उस पर तुर्रा यह कि अनेक इतिहास-कारों के अनुसार यह सामन्तशाही अपने छिने हुए राज्यों के लिये लड़ रही थी !—तो जनता की सतर्कता से बचकर ये लोग शत्रु की सहायता न कर पाते। सिपाही भवानीसिंह ने मैगज़ीन की रक्षा के बारे में बादशाह को लिखा था, "जिन लोगों को मैगज़ीन में सेवा प्रदान की जाय उनमें से प्रत्येक से उसके निवास-स्थान का पता पूछकर उस स्थान से उसके विषय में जाँच करा ली जाय अथवा उससे ज़मानत ले ली जाय। उसके विषय में पूर्ण विवरण तैयार किया जाय और उसको कार्यालय में रखा जाय। तत्पश्चात् उसे सेवा प्रदान की जाय। यदि इस प्रकार सावधानी बर्ती जायगी तो मैगजीन की रक्षा के सम्बन्ध में कोई भय नहीं। यदि बिना जांच के लोग भर्ती कर लिये जायँगे तो शत्रु के जासूस भी प्रविष्ट होकर अत्यधिक हानि पहुँचा सकते हैं। इसके अतिरिक्त एक अधिकारी कर्णिक-सहित मजदूरों की भर्ती तथा निरीक्षण हेतु नियुक्त कर दिया जाय। प्रातःकाल तथा सांयकाल इस बात की जांच होती रहे कि कोई अन्य व्यक्ति अथवा शत्रु का गुप्तचर तो प्रविष्ट नहीं होता। दास ने यह प्रार्थना-पत्र अपने उत्साह

के कारण प्रस्तुत किया है और उसे बादशाह की दया से आशा है कि मैगजीन की रक्षा का उत्तम प्रबन्ध किया जायगा।"[१३९] इस युद्ध में साधारण सैनिकों ने अनेक बार पहल करके अपनी सूझबूझ और राज्य-क्रान्ति में अपनी गहरी दिलचस्पी का परिचय दिया। उसी की एक मिसाल सिपाही भवानीसिंह का उपर्युक्त पत्र है।

यह दिल्ली अंग्रेज़ों का मुकाबला कर रही थी जिसमें स्त्रियाँ पुरुषों से वीरता में होड़ कर रही थीं, जिसमें देशभक्त पत्रकार जनता को अंग्रेजी छल-कपट से सचेत करके उन्हें एक होने के लिये आमंत्रित कर रहे थे, जिसमें सड़ी-गली सामन्तशाही से प्रश्रय पाकर अंग्रेज़ों के भेदिये जनता के मोर्चे और युद्ध-सामग्री का विनाश करने का प्रयत्न कर रहे थे, जिसमें जनरल बख्तखाँ, ब्रिगेडियर भगीरथ मिश्र, सूबेदार मेजर तालेयार खाँ, सूबेदार मेजर शिवबख्श मिश्र, सूबेदार मेजर जीवाराम, सूबेदार मेजर घनीराम, सूबेदार मेजर सेवाराम मिश्र, जनरल सुधारीसिंह, ब्रिगेड मेजर शेख ग़ौस मौहम्मद, कर्नल नत्थासिंह, कर्नल उमरखाँ, कर्नल शमशेरसिंह, आदि-आदि वीर अंग्रेज़ों से ऐसी टक्कर ले रहे थे कि उन्हें क्राइमिया की जीत व्यर्थ मालूम होती थी और दिल्ली में प्रत्येक दिन की जीत हार से अधिक हानिकारक मालूम होती थी। रुहेलखण्ड, अवध, पंजाब, मध्यभारत—हर जगह के सैनिकों ने दिल्ली में अपना रक्त बहाकर उसे राष्ट्रीय एकता का अमर प्रतीक बना दिया। इस दिल्ली से भारतीय सैनिकों ने लाहौर के तोपखाने, घुड़सवारों और पैदलसेना के नाम सलाममालेकुम् और राम-राम लिखकर उन्हें दिल्ली आने का निमंत्रण दिया था। उन्होंने लाहौर-स्थित अपने भाइयों को आश्वासन दिया था, "किसी तरह का डर नहीं है। तुरत आओ। सारे सिपाहियों ने आपस में मिलकर सारे हिन्दुस्तान में एक इश्तहार शाया किया है। सारा देश, हिन्दू और मुसलमान हमारे साथ हैं।"[१४०] ये सिपाही जो दूर-दूर से आकर दिल्ली में इकट्ठे हुए थे, सारे देश के लिये लड़ रहे थे। उन्हें विश्वास था कि देश के तमाम हिन्दू-मुसलमान उनके साथ हैं। पंजाब को उन्होंने पत्र में उल्लिखित इश्तहार भेजा था जिससे उसकी नकल करके पंजाब की छावनियों में लगा दिया जाय। यह इश्तहार सौ वर्ष पहले की क्रान्तिकारी देशभक्ति का ज्वलंत प्रमाण है।

दिल्ली में विभिन्न स्थानों से एकत्र होने वाले सिपाहियों ने आपस

में मिलकर इस इश्तहार में[१४१] लिखा था :

"हिन्दुस्तान के सभी निवासियों, हिन्दुओं, मुसलमानों और अन्य लोगों को मालूम हो—

हिन्दुस्तान की फौजें लंदन के बादशाह और औनरेबल कंपनी के लिये वफादारी से लड़ी हैं और उनके लिये कलकत्ते से पेशावर तक का प्रदेश जीता है। इन सेवाओं के लिये उस बादशाह और अंग्रेज़ हुक्मरान ने ये नियामतें बख्शी हैं।

पहले:—हिन्दुस्तान में जहाँ दो सौ रुपये मालगुजारी ली जाती थी, वहाँ उन्होंने तीन सौ वसूल की है, और जहाँ सिर्फ चार सौ रुपये मांगे जाते थे, वहाँ उन्होंने पाँच सौ मांगे हैं। वे अब भी और ज्यादा मांगना चाहते हैं। इसलिये लोग तबाह और कंगाल हो जायँगे।

दूसरे:—उन्होंने चौकीदारी टैक्स दुगना और चौगुना कर दिया है और लोगों को तबाह करने की सोची है।

तीसरे:—सब भले आदमियों और पढ़े-लिखे लोगों के पेशे खत्म हो गये हैं और लाखों आदमी जिन्दगी की मामूली जरूरतें पूरी नहीं कर सकते। जब कोई काम की तलाश में एक जिले से दूसरे जिले जाता है तो सड़कों पर उससे छः पाई चुंगी ली जाती है और हर गाड़ी पीछे उसे चवन्नी से अठन्नी तक देनी पड़ती है। जो पैसा दे सकते हैं, वही आम सड़कों पर चल सकते हैं।"

ये गाँवों के किसान थे जो फौजी वर्दी पहन कर रोटी-रोज़ी की समस्या हल कर रहे थे। वे ब्रिटिश राज का लुटेरा रूप अपने अनुभव से जानते-पहचानते थे। गाड़ी को और अकेले आदमी को कहाँ कितनी चुंगी देनी पड़ती थी, उन्हें मालूम था। उन्होंने इश्तहार में सबसे पहले भूमिकर की बात की। दो सौ की जगह अब तीन सौ देने पड़ते थे और फिर भी अंग्रेज़ों की मांगें बढ़ती जाती थीं। अंग्रेज़ों का बन्दोबस्त कितना सफल हुआ था, उन्होंने सामन्ती अराजकता की जगह कितनी सुन्दर न्यायव्यवस्था कायम की थी और प्रजा को उससे कितना सुख मिला था, यह सब इश्तहार से प्रकट हो रहा था। विद्रोह के कारण क्या थे, इस पर अंग्रेज़ी राज की लूट का उल्लेख प्रायः हुआ है। सवाल यह है कि अंग्रेजों से लड़ने वाले सिपाही भी क्या इस आर्थिक शोषण के प्रति सचेत थे? यह इश्तहार जिसे पंजाब की अंग्रेज़ सरकार ने ग़दरसम्बन्धी

क्रान्तिकारी उथल-पुथल से लाभ उठाकर कोई लूटमार करना चाहे तो उसे इन सिपाहियों ने चेतावनी दी थी, "जो कोई जनता या यात्रियों को लूटेगा, उसका घरबार और संपत्ति जब्त करली जायगी और उसे सख़्त सज़ा दी जायगी।" अंग्रेज़ को लूटे तो बात दूसरी थी। अंग्रेज़ थोड़े हैं, हिन्दुस्तान की जनता बहुत है; शत्रु की ताकत कम है, जनता का एका बहुत बड़ी ताक़त है, यह गहरी राजनीतिक चेतना भी इस वक्तव्य में प्रकट हुई है। "और हममें से हर एक हिम्मत से उन पर एक मुट्ठी धूल ही फेंक दे तो ईश्वर की कृपा से उनका नाम-निशान भी न रहेगा।" अन्त में अंग्रेज़ों का साथ देने वालों को धिक्कारते हुए लिखा था कि उनका लोक और परलोक दोनों में मुँह काला होगा। अंग्रेज़ों से भी कहा कि इस इश्तहार को मिटाने की कोशिश मत करना; ऐसा करने से कुछ लाभ न होगा। जैसे तुमने इश्तहार लगवाये हैं, वैसे ही हम भी लगा रहे हैं।

ये सब भावनाएँ उस कौमी गीत में अच्छी तरह प्रतिबिंबित हुई हैं जिसे गाते हुए सैनिक अंग्रजों पर आक्रमण करते थे।

हम हैं इसके मालिक, हिन्दुस्तान हमारा।
पाक वतन है कौम का, जन्नत से भी प्यारा।
ये है हमारी मिल्कियत, हिन्दुस्तान हमारा।
इसकी रुहानियत से, रोशन है जग सारा।
कितना कदीम कितना नईम, सब दुनियाँ से न्यारा।
करती है ज़रखेज़ जिसे, गंगोजमुन की धारा।
ऊपर बर्फीला पर्वत, पहरेदार हमारा।
नीचे साहिल पर बजता, सागर का नक्कारा।
इसकी खानें उगल रहीं, सोना हीरा पारा।
इसकी शान शौकत का दुनिया में जय कारा।
आया फिरंगी दूर से, ऐसा मन्तर मारा।
लूटा दोनों हाथ से, प्यारा वतन हमारा।
आज शहीदों ने है तुमको अहले वतन ललकारा।
तोड़ो गुलामी की जंजीरें, बरसाओ अंगारा।
हिन्दू-मुसलमाँ सिख हमारा, भाई-भाई प्यारा।
यह है आज़ादी का झंडा इसे सलाम हमारा।

दिल्ली के अखबार और सिपाहियों के इश्तहार यही भाव प्रकट कर रहे थे। इसलिये मानना होगा कि इस गीत में जनता के सच्चे उद्‌गार प्रकट हुए हैं।

युद्ध दिल्ली ही में न हो रहा था किन्तु दिल्ली के युद्ध का विशेष राजनीतिक महत्व था। दिल्ली में अंग्रेजों की पराजय से उनके सहायक सामन्त आशा खो बैठते। वे या तो तटस्थ हो जाते या जनता के शिविर का साथ देने के लिये वाध्य होते। दिल्ली पर अधिकार हो जाने के बाद पंजाब के चीफ़ कमिश्नर के सेक्रेटरी ने १२ अक्तूबर १८५७ को कलकत्ते की सरकार को लिखा था, "चीफ़ कमिश्नर की राय में दिल्ली ऐसा शहर नहीं है जिस पर हम इच्छानुसार अधिकार किये रहें या छोड़ दें। दिल्ली पर हमारा अधिकार नैतिक और राजनीतिक दृष्टि से हमारे लिये शक्ति का स्तंभ है।"[१४२] इसलिये अंग्रेजों के हाथ से यह शक्तिस्तंभ छीनने का प्रयत्न करके देशी सेना ने सही रणनीति का अनुसरण किया था। इससे यह परिणाम निकालना गलत है कि विद्रोही सेना ने सारी शक्ति दिल्ली में लगा दी थी। न दिल्ली के युद्ध से यह साबित होता है कि सैनिक अपने जनपदों के सामन्तों के लिये लड़ रहे थे। यदि यह अवध या रुहेलखंड के सामन्तों के स्वार्थ के लिये लड़ाई होती तो वहाँ विभिन्न प्रदेशों के इतने सैनिकों का जमघट न होता। अंग्रेजों की यह आशा भी निराधार थी कि दिल्ली के पतन के बाद विद्रोह शान्त हो जायगा, या उसका दमन करना आसान होगा। यदि बहादुरशाह के लिये, उनकी पेंशन या बादशाहत के लिये यह लड़ाई होती तो दिल्ली के पतन के बाद और बख्तखां के कहने पर उनके दिल्ली न छोड़ने से युद्ध समाप्त हो जाता। बख्त खाँ का यह कहना ही कि बादशाह दिल्ली छोड़ दें, युद्ध के व्यापक उद्द‌ेश्य की ओर संकेत करता है।

इतिहासकार सिपाहियों पर नाराज़ हो जाते हैं कि उन्होंने तुरन्त अंग्रेजों को खत्म क्यों न कर दिया। दूसरे शब्दों में उन्होंने दिल्ली से निकल कर अंग्रेजी सेना को क्यों न घेर लिया और इतनी संख्या में होने पर भी उन्हें क्यों न खत्म कर पाये। अंग्रेजों ने अपनी वीरता की जो डींग हांकी हैं, उससे प्रभावित होकर इन्होंने भी सिपाहियों को अनुशासनहीन लुटेरा और कायर समझ लिया है।

ब्रिटिश सेना के संगठन के बारे में एक बात याद रखनी चाहिये कि

अंग्रेजों की नीति हिन्दुस्तानियों को तोपखाने से अलग रखने की थी। वे बहुत जगह देशी सेना को तोपों से घेर कर उसके हथियार डलवाने में इसीलिये सफल हुए थे कि तोपों पर उनका एकाधिकार था। हिन्दुस्तानियों को तोपखाने में जहाँ रखा गया, वह अपवाद-स्वरूप। देशी सेना का अर्थ था मुख्यत: पैदल सेना; उसके बाद घुड़सवार। उदाहरण के लिये मेरठ में सेना ने विद्रोह किया तो अंग्रेज अपनी तोपें अपने पास बनाये रह सके। कैप्टेन आर्थर ब्रूम ने बंगाल-सेना के इतिहास में लैबोरेटरी के निर्देशक के संबन्ध में एक दिलचस्प नियम का उल्लेख किया है। नियम यह था : 'कोई विदेशी, चाहे वह हमारे यहाँ नौकर हो चाहे न हो, (सिवा उसके जिसे कोर्ट ऑफ डायरेक्टर्स ने दाखिल कर लिया हो), कोई हिन्दुस्तानी, काला या मिश्रित नस्ल का आदमी, किसी भी जाति (नेशन) का कोई रोमन कैथलिक किसी भी कारण से लैबोरेटरी में या किसी मिलिटरी मैगजीन में, उत्सुकतावश या उनमें काम पाने के लिये कदम न रख सकेगा या उनके नजदीक न आ सकेगा।"[१४३]

धर्म और नस्ल को लेकर इतनी संकीर्णता थी अंग्रेज़ों में ! वे लैबोरेटरी और मैगज़ीन में काले आदमी की छाया भी न देखना चाहते थे। जो अंग्रेज़ों की औलाद थे लेकिन जिनका खून शुद्ध ऐंग्लो-सैक्सन नहीं था, जो गोरे थे लेकिन असल अंग्रेज़ न थे, जो अंग्रेज़ थे लेकिन रोमन-कैथलिक थे, उन में किसी को लैबोरेटरी और मैगज़ीन में पैर रखने की आज्ञा न थी। इस नियम में आगे यह भी कहा गया है कि इस बात की सख्त हिदायत की जाती है कि कोई भी रोमन-कैथलिक या ऐसा अफसर या सैनिक जिसने रोमन कैथलिक से शादी की हो (!!), तोपखाने की कंपनी में न रह सकेगा! ईसाइयों में भी अपने से भिन्न मत वाले के प्रति इतनी शंका और भय था प्रोटेस्टेंट अंग्रेज़ों के मन में। १८५३ में जॉन ब्राइट ने कहा था कि हिन्दुस्तान में फौज के गोरों को मिलाकर जितने यूरोपियन थे, उनमें से लगभग आधे रोमन कैथलिक थे।[१४४] सेना में आयर्लैण्ड के सैनिक काफी थे जो प्राय: सबके सब रौमन कैथलिक थे। सभ्य, उदार, प्रगतिशील अंग्रेज़ों ने मत-मतान्तर के भेदभाव के आधार पर इन्हें अधिकार-च्युत कर रखा था। फिर वे काले आदमियों से कैसे व्यवहार करते होंगे, इसकी कल्पना की जा सकती है।

अंग्रेज़ों को क्राइमिया के युद्ध, ईरान के युद्ध, हिन्दुस्तान में युद्धों के विस्तार और विदेश में सैनिक-आवश्यकताओं के कारण हिन्दुस्तानियों को तोपखानों में जगह देनी पड़ी। मई सन् ५७ में सेना के विद्रोह करने के पहले तीनों प्रेसीडेन्सियों में कंपनी की देशी सेना में २,२६,३५२ सैनिक थे। इनमें घुड़सवारों वाले तोपखानों में हिन्दुस्तानियों की संख्या—सारे भारतवर्ष में—६५६ थी। पैदल सैनिकों वाले तोपखानों में उनकी संख्या ३५१७ थी।[१४५] बरेली जैसे स्थान अपवाद थे जहाँ तोपखाने की एक बैटरी हिन्दुस्तानियों की भी थी। जेम्स लीसर के अनुसार इसकी छः तोपें दिल्ली पहुँची थीं। पाठक विद्रोह का कोई भी इतिहास उठा कर इस बात पर ध्यान दें कि मेरठ, लखनऊ, कानपुर, दानापुर, नसीराबाद, जालंधर आदि स्थानों में किन पल्टनों ने विद्रोह किया था, तो उन्हें तुरत पता चल जायगा कि विद्रोह करने वाले सिपाही अधिकतर पैदल सेना के थे। उनके साथ, अनुपात में बहुत ही कम, घुड़सवार थे। सवा दो लाख से ऊपर सारे हिन्दुस्तान की देशी फौज में घुड़सवार लगभग तीस हज़ार ही थे। इसलिये यह युद्ध मुख्यतः हिन्दुस्तानी पैदल सेनाओं और अंग्रेज़ी फौज—जिसमें घुड़सवार, पैदल और तोपखाने सब थे—के बीच विषम संघर्ष था। इसके सिवा अस्त्र-शस्त्र निर्माण का काम अंग्रेज़ों के हाथ में था। हिन्दुस्तानी सेनाओं के लिये जंगी तोपें बनाना और उनके लिये गोले-बारूद का प्रबंध करना प्रायः असंभव था। उन्होंने जो तोपें बनाईं, वे अंग्रेज़ों की जंगी तोपों के मुकाबले की न थीं। के ने लिखा है कि मेरठ संसार की सबसे अच्छी तोपखाना-पल्टन का केन्द्र था।[१४६] इसके मुकाबले में थी दिल्ली जहाँ मैगज़ीन में बारूद नदारद था। देश के अधिकांश भाग में अपनी छावनियाँ, तोपखाने, लड़ाई का सामान तैयार करने वाले कारखाने और यातायात के साधन सुरक्षित रख सकने के कारण अंग्रेज़ युद्ध-सामग्री में देशी सेनाओं से हमेशा बढ़कर रहे। इसके सिवा समुद्र से लंदन की राह खुली हुई थी और वे वहाँ से फौज और सामान मँगा सकते थे। अंग्रेज़ों का शासक वर्ग युद्ध में धन, जन और सामग्री से पूरी सहायता कर रहा था। इधर भारतीय सामन्तों में अधिकांश अंग्रेज़ों के साथ थे, कुछ तटस्थ, कुछ ढुलमुल, और कुछ पूरे उत्साह से देशी सेना के साथ अंग्रेज़ों से लड़ रहे थे। ऐसी परिस्थिति में अंग्रेज़ों को दिल्ली जीतने में

ीन महीने लगे और दो साल बाद भी पूरी तरह विद्रोह का दमन न ्र पाये, इससे उनके रणकौशल और वीरता के बारे में पाठक उचित ।रिणाम निकाल सकते हैं।

तोपों के अलावा अंग्रेजों के पास एनफील्ड राइफल थे जिनकी मार ुरानी मस्केट से दूर तक होती थी। हिन्दुस्तानियों के पास उंगलियों ।र गिने जने वाले एनफील्ड राइफल छोड़ कर मस्केट और देशी बंदूकें ौर युद्ध में भाग लेने वाली जनता के पास, तलवारें और भाले ही ग्धिक होते थे। इन हथियारों से वीर भारतवासियों ने अंग्रेजों की ोपों का मुकाबला किया था। अनेक स्थानों में अपनी बंदूकें और तल-ारें लिए हुए भारतीय सैनिक अंग्रेज़ों की तोपों पर टूट पड़े। युद्ध-ामग्री में घटकर होने पर भी उन्होंने अनुपम शौर्य से काम लिया।

गुरदासपुर के पास स्यालकोट के विद्रोहियों से अंग्रेज़ों की टक्कर का ार्णन करते हुए कर्नल बूशियर (Bourchier) ने लिखा है कि विद्रोही 'जमकर और कौशल से लड़े और उन्होंने अपनी पूरी पंक्ति से ऐसे नपे ुले ढंग से गोलियाँ चलाईं मानों परेड पर हों। वे हमारी तोपों की ार से लड़खड़ाये जिस पर ४६ वीं पल्टन के कुछ सैनिक वीरतापूर्ण ाहस से तोपों पर टूट पड़े। हमारी नौ तोपों के गोली-गोलों द्वारा आगे ढ़े हुए विद्रोही धराशायी होने लगे। शीघ्र ही ५२ वीं पल्टन की एन-ील्ड राइफलों ने इस बात का घातक प्रमाण देना शुरू किया कि उनका ुकाबला करने में सिपाहियों की चिकनी नलीवाली बंदूकें (मस्केट) खलौनों जैसी हैं।"[१४७]

इस पर भी अंग्रेज़ों की तोपें अक्सर सिपाहियों की मस्केट के सामने 'कार हो जाती थीं। झेलम की छावनी में १४ वीं पल्टन ने विद्रोह िया। कुक नाम का अफ्सर तोपों से मुकाबला करने चला। "शत्रु की ास्केटों ने इतना थोड़ा फासला होने पर हमारे तोपखाने से ज्यादा अच्छा ाम किया।"[१४८] कर्नल एलिस बुरी तरह जख्मी हुआ। कैप्टेन स्प्रिंग ारा गया। "इस टक्कर में हमारे बहुत से आदमी और घोड़े मारे गये।' ीसरे पहर उस गाँव पर आक्रमण हुआ जिसमें विद्रोही एकत्र थे। 'परिणाम विनाशकारी हुआ। सिपाहियों ने फिर अच्छी आड़ ले रक्खी ी। हमने अपने को गलियों में उलझा हुआ पाया जिनमें हानि बहुत

हुई लेकिन कर कुछ न पाये।" तोपों के लिये फिर फासला कम था। "और दुश्मन की मस्केटों की मार तोपचियों के लिये घातक थी।" गोरे थक गये "और कुछ इसलिये भी कि ताज़गी लाने के लिये उन्होंने शराब पी रखी थी।" वे लड़खड़ाने लगे और पीछे हटा दिये गये। पीछे हटने का बिगुल बज गया। सिपाहियों ने एक तोप छीन ली और भागते हुए गोरों पर चलाना शुरू कर दिया। सबेरे तक विद्रोही छावनी छोड़कर चले गये। इस पर जान लारेन्स ने क्रुद्ध होकर लिखा था, "सीधे शब्दों में हम तोपखाना, घुड़सवार और पैदल सेना के होते हुए भी पल्टन के एक हिस्से से पिट गये।"[१४९]

दिल्ली में इन्हीं वीरों के भाईबन्द लड़ रहे थे। उनकी वीरता में कोई कमी न थी। कमी थी युद्ध-सामग्री की। कठिनाई थी, घर के भेदियों से जिन्हें बहादुरशाह और जीनत महल की छत्रछाया प्राप्त थी। अगस्त में बारूद बनाने के कारखाने से उनकी स्थिति और नाज़ुक हो गई थी। इसके सिवा पंजाब से जंगी तोपों के साथ कुमक के पहुँचने के बाद अंग्रेज़ दिल्ली पर आक्रमण करने के साधनों से सम्पन्न हो गये। ऐसी स्थिति में जब शत्रु के पास युद्ध सामग्री अधिक हो, लंबी खिंचने वाली लड़ाई में ही जनता की जीत की संभावना रहती है। अंग्रेज़ों को लंबी लड़ाई में फँसाना, तुरत दिल्ली जीतने और विद्रोह को दबाने के उनके मंसूबों को धूल में मिला देना—यही उचित समर-नीति थी। इस नीति में भारतीय सेना कितनी सफल हुई, यह अंग्रेजों के बयानों से स्पष्ट है।

अंग्रेज़ों के खेमे में चारे के बिना ऊँट मर रहे थे। उन्हें दफनाने के लिये गहरे गड्ढे न खोद पाने के कारण उनकी लोथों के ढेर लग गये थे जो धूप में सड़ते थे। कई जगह हाथियों की विशाल लोथें पड़ी थीं। निरीक्षक दस्तों के सैनिकों को बदबू के मारे क़ै आती थी।[१५०] हैजे में अनेक सैनिक मर गये थे। इसका अलावा लगातार हमलों से कुछ न कुछ ब्रिटिश सैनिक मरते ही रहते थे। कोई ऐसी सुबह शाम न थी जब किसी को दफनाया न जाय।[१५०] गाइड्स दल के चार सौ मूल सैनिकों में ३२० घावों या बीमारी से ही मर गये। इसके सिवा अंग्रेज़ों को चौबीस घंटे इस बात की चिन्ता लगी रहती थी कि उनके साथ के हिन्दुस्तानी धोखा न दें। "लगभग हर रोज़ लोगों को मृत्युदंड दिया जाता

था क्योंकि यह बहुत पहले से मालूम था कि शत्रु की ओर से भेदिये खेमे में काम कर रहे हैं।" [१५१] देशी सेना के दस्ते अंग्रेज़ों के सामान लाने वाली टुकड़ियों पर हमला करते थे और उनकी पीछे की पंक्तियों को विश्रृंखल कर देते थे। अंग्रेज़ हर रोज तीस-चालीस आदमियों से हाथ धोते थे। यह संख्या कभी कभी सौ तक पहुँच जाती थी। इंजिनियर बेयर्ड स्मिर्थ का कहना था कि घेरा डालकर इस तरह आदमी ज़ाया हुए तो हिसाब लगा कर देखने से मालूम होजायगा कि यह बहुत थोड़े दिन चलेगा।[१५२] इसलिये देशी सेना की नीति सही थी कि अंग्रेज़ों को इस लंबे युद्ध में उलझा रखा जाय और अपनी सीमित युद्ध-सामग्री को एक ही निर्णायक टक्कर में न खर्च कर दिया जाय।

जंगी तोपें आजाने के बाद अंग्रेजों ने दिल्ली के सिंहद्वार तोड़ने का और भीतर प्रवेश करने का विचार किया। इनमें इतनी बड़ी तोपें थीं कि एक को खींचने में बीस बैलों की जरूरत पड़ती थी।[१५३] अंग्रेजों ने अपनी तोपें रखने के लिये बैटरी बनाना शुरू किया। सिपाही अपनी बंदूकों से लगातार गोलियाँ चलाकर अंग्रेजों का काम मुश्किल किये हुए थे। वे उनकी तोपों को चुप कर सकते थे लेकिन उनके छिपे हुए निशानेबाज दिन भर ब्रिटिश सैनिकों को बीनते रहते थे।[१५४] १४ जुलाई को सारी तैयारी होजाने के बाद अंग्रेजों ने हमला किया। सेनापति विलसन बड़े सोच-बिचार में था। "अपनी जिम्मेदारियों के खयाल से ही एक जनरल मर चुका था। कुछ हफ्ते पहले रिज पर दूसरा दफनाया जा चुका था और तीसरा जान बचाने के लिये शिमला पहुँच गया था।"[१५५] रीड का कहना था, उसका मन और शरीर दोनों अस्वस्थ हो गये हैं। विलसन को रात को नींद न आती थी। दीवालों में प्रवेश के लिये दरारें करना तो आसान था; कठिनाई थी भीतर प्रवेश करने में! अंग्रेजी सेना सड़कों की लड़ाई बिल्कुल पसंद न करती थी।[१५६] अंग्रेज जैसे ही तोपों की बाढ़ के बाद सीढ़ियाँ लेकर दीवालों पर चढ़ने लगे, जनता और सैनिकों ने उन पर गोलियों की घनघोर वर्षा की। जिनके पास कुछ न था, उन्होंने टूटती हुई दीवालों की ईटें और पत्थर फेंके। मोरी दरवाजे पर हिन्दुस्तानी तोपों ने अंग्रेजों का तगड़ा मुकाबला किया। सैनिक अपनी तोपों के लिये अन्त तक लड़ते रहे। अंग्रेज काबुल दरवाजे पर अधिकार करने में सफल हुए। लेकिन इसके लिये

उन्हें भारी कीमत चुकानी पड़ी। मरे हुए घायल सैनिकों को याद करके के ने लिखा है, "दुश्मन अन्त तक अच्छी तरह लड़ा और हमने उसे जो खूनी पाठ पढ़ाया था, वह अब हमारा नाश कर रहा था। हाय, हमारे दस्ते तबाह हो गये।"[१५७] अपने अनुशासन के लिये विख्यात अंग्रेजी सेना का यह हाल था कि अफ्सर सैनिकों के बिना जा रहे थे और सैनिक बिना अफ्सरों के।[१५८]

सड़कों के दोनों ओर निशानेबाज़ बैठे हुए थे। भीतर घुसती हुई सेना के आदमियों को वे तड़ा-तड़ बीनते जाते थे। कोई आश्चर्य नहीं, ब्रिटिश सैनिक यदि सबसे ज्यादा किसी चीज से निरुत्साहित होता है तो वह सड़कों की लड़ाई है। सैनिकों के साथ अफसर मर रहे थे या घायल हो रहे थे। लाहौरी दरवाज़े की ओर की गोलाबारी से परेशान होकर निकलसन ने तोप पर कब्जा करना चाहा। लेकिन आदमी साथ न दे रहे थे। वह तलवार ऊँची करके आगे बढ़ा और सैनिकों से पीछे आने को कहा। एक सिपाही ने ताककर उस पर गोली चलाई और निकलसन घातक रूप से घायल हो गया।

कश्मीरी दरवाजे को बारूद से उड़ाने के प्रयत्न में दो अंग्रेज़ मारे गये। तीसरा सफल हुआ लेकिन दरवाजा पूरी तरह नष्ट न हुआ। अंग्रेजी सेना को बढ़ने का हुक्म दिया गया लेकिन भारतीय सैनिकों की मार के कारण कोई बढ़ता न था। के ने लिखा है कि कम से कम पचास बार बिगुल बजाया गया, तब कहीं ब्रिटिश सेना आगे बढ़ी। अंग्रेज़ जामा मस्जिद लेने के लिये आगे बढ़े तो भारतीय सैनिकों की मार के कारण उन्हें रुक जाना पड़ा। रीड की गुरखा सेना को यह काम सौंपा गया था कि वह किशनगंज पर अधिकार करके लाहौरी दरवाजे से प्रवेश करे। उसके साथ गुलाबसिंह की भेजी हुई जम्मू की सेना भी थी। सिपाही अपनी बन्दूकों की बाढ़ रोके रहे। जब शत्रु पचास गज़ रह गया तब उन्होंने निशाना साधकर बाढ़ दागी। रीड ने पंद्रह हज़ार आदमियों को लेकर आक्रमण किया। उसके सिर में गोली लगी। जम्मू की सेना अपनी तोपें छोड़कर भागने लगी। इस हमले में अंग्रेज़ बिल्कुल असफल रहे और भारी हानि सहने के बाद उन्हें पीछे हटना पड़ा। अंग्रेज़ों ने माना, "शत्रु अच्छी तरह लड़ा, इससे ज्यादा अच्छी तरह वह कभी नहीं लड़ा। सत्य यह है कि शत्रु तुच्छ न था।"

चेम्बरलेन नाम का अंग्रेज़ अफ्सर हिन्दू राव की कोठी की छत से नगर के अन्दर भारतीय सेनानायकों की गतिविधि देख रहा था। "जिस उत्साह से देशी अफ्सर विद्रोहियों की पांति में घोड़ों पर चढ़े हुए अंग्रेज़ों और जम्मू-सेना के विरुद्ध लड़ने के लिये उन्हें प्रोत्साहन दे रहे थे और उनका नेतृत्व कर रहे थे, उसकी प्रशंसा करनी ही पड़ती थी।"[१५९] यह एक प्रत्यक्षदर्शी अंग्रेज़ का अनुभव था। अंग्रेज़ दिल्ली में घुस आये थे लेकिन सेना-नायकों में भय और आतंक का कहीं चिन्ह न था। दिल्ली की रक्षा के लिये सारी जनता लड़ रही थी। १३ सितंबर के अंतर्गत जीवनलाल ने लिखा था, "शहर में घोषणा करा दी गई कि कल प्रत्येक निवासी अंग्रेज़ों पर आक्रमण करेगा।" किशनगंज में रीड की असफलता से विलसन इतना परेशान था कि वह शहर छोड़कर रिज की ओर लौट जाने का विचार कर रहा था।[१६०] १४ सितम्बर को एक दिन की लड़ाई में अंग्रेज़ों के बयान के अनुसार उनके हताहतों की संख्या ६६ अफसर और १,१०४ सैनिक थी।[१६१]

सब्जीमंडी, किशनगंज और पहाड़पुर में भारतीय सेना ने रक्षा का जो प्रबन्ध किया था, वह दृढ़ और विशाल था। रौबर्ट्स ने लिखा है कि अंग्रेज़ उसे आश्चर्य से देखते रह गये।[१६२] अंग्रेज़ों को दिल्ली में आगे बढ़ते हुए तिल-तिल भूमि के लिये रक्त बहाना पड़ा ("and every inch of our way through the city was stoutly disputed")।[१६२] अंग्रेज़ सैनिकों के हाथ में बहुत सी शराब पड़ गई और पी पाकर वे सब अनुशासन भूल गये। विलसन ने आज्ञा दी कि शराब नष्ट कर दी जाय। १७ सितंबर तक अंग्रेज़ों को हर तरफ प्रतिरोध का सामना करना पड़ रहा था। उन्हें मानना पड़ा कि विद्रोही अभी पस्त नहीं हैं। शहर के लोगों में भी अंग्रेजों का रास्ता रोकने की हिम्मत है।[१६३] लाहौरी दरवाजा अब भी भारतीय सेना के हाथ में था। अंग्रेज़ खुली सड़कों पर लड़ना पसंद न करते थे। उन्होंने योजना बनाई कि हर ब्रिगेड के साथ एक इंजिनियर रहे जो सैनिकों को सड़कों के बदले सुरक्षित मकानों के अन्दर से ले चले। उन्हीं के अन्दर से यातायात का मार्ग बनाया जाय। बड़ी इमारतों पर कब्जा हो जाय तब उनकी किलेबन्दी करने के बाद ही आगे बढ़ा जाय। इससे भारतीय प्रतिरोध की तीव्रता का अनुमान किया जा सकता है। तोपें और एनफील्ड राइफल काम न

दे रहे थे। अंग्रेज़ खुली सड़कों पर आगे बढ़ न सकते थे। उन पर इस तरह चारों ओर से अग्नि वर्षा होती थी कि वे मकानों का आसरा लेकर उनके भीतर से रास्ता बनाकर आगे बढ़ने का प्रयास कर रहे थे। अंग्रेज़ जब सरक-सरक कर लाहौरी दर्वाज़े तक पहुँचे तो वहाँ ठहरने के लिये तैयार न हुए, "इस विशाल इमारत के नाम से ही हमारे आदमी इतने आतंकित हो चुके थे।"[१६४]

ग्रेटहेड की सेना चांदनी चौक पहुँची तो वहाँ भारतीय सैनिक एक विशाल द्वार के पीछे मुकाबले के लिये खड़े थे। उन्होंने अकस्मात् दरवाजा खोल दिया और एक छोटी तोप से अंग्रेज़ों पर अग्निवर्षा आरम्भ करदी। अंग्रेज़ों ने इधर से तोप चलाईं और धुएं की ओट में ७५ वीं पल्टन को हमला करने की आज्ञा दी। लेकिन पल्टन जहाँ की तहाँ खड़ी रही। ग्रेटहेड ने आठवीं पल्टन को आगे बढ़ने का हुक्म दिया। उसने भी हमला करने से इन्कार कर दिया। "उसने (ग्रेटहेड) ने देखा कि तोपखाना बंदूकों (मस्केट) से मात खा रहा है।"[१६५] के ने स्वीकार किया है कि विद्रोही तोपों पर बंदूकों से गोलियाँ चलाते रहे और विद्रोहियों ने ब्रिटिश सेना से अधिक वीरता प्रदर्शित की। १८ सितम्बर को विलसन ने लिखा था, "सत्य यह है कि हमारी सेना सड़कों की लड़ाई बिलकुल नापसन्द करती है।" उसने यह भी लिखा था कि विद्रोहियों की प्रायः सभी तोपें और गोली-बारूद उसके कब्जे में है। तब यह हाल था। बेचारा सेनापति १३ सितम्बर से पांच घंटे भी अच्छी तरह न सोया था और "इंसान इससे ज्यादा सह नहीं सकता।" १६ तारीख को उसने लिखा कि सेना की भारी क्षति हुई है। २० सितंबर को उसने देखा कि दिल्ली की सड़कें सूनी हैं और सारे सैनिक चले गये हैं।

विलसन के विपरीत भारतीय प्रधान सेनापति बख्त खां ने दिल्ली के पतन से निराश न होकर बहादुरशाह को दिल्ली छोड़कर साथ चलने के लिये समझाया। डा. रिजवी ने लिखा है, "१६ सितंबर की रात्रि में बादशाह ने हुमायूं के मकबरे में शरण लेने का संकल्प कर लिया। जनरल बख्त खाँ ने बादशाह को समझाया कि 'सामान तथा रसद की कमी के कारण यदि अंग्रेज़ों ने देहली पर अधिकार जमा लिया तो क्या हुआ। अभी तो समस्त देश बादशाह के अधिकार में है। यदि हुजूर हमारे साथ चलें तो हुजूर के नाम तथा व्यक्तित्व के प्रभाव से हमको

अवश्य युद्ध में विजय मिलेगी।' बादशाह ने बख्तखां को विदा किया और कहा, 'तुम हमसे हुमायूं के मकबरे में भेंट करना।' " दूसरे दिन बादशाह ने चलने से इन्कार कर दिया। अवध की बेगम हज़रतमहल ने दिखा दिया कि जो काम दिल्ली का बादशाह नहीं कर सकता, उसे अवध की बेगम, जिसका पति कलकत्ते में था, कर सकती है। बख्त खां ने बहादुरशाह से दिल्ली छोड़ कर चलने को कहा, इससे सिद्ध होता है कि विद्रोही भारत के प्रधान सेनापति का मनोबल टूटा न था, वह विलसन की तरह झींकता न था, न रीड की तरह मन और शरीर से अस्वस्थ हो गया था। यह लड़ाई केवल दिल्ली के लिये न थी, इसीलिये आगे भी संघर्ष चलाने की योजना थी।

दिल्ली की लड़ाई में अंग्रेज़ों को जितनी क्षति उठानी पड़ी, सेना के अनुपात से उतनी क्षति उन्हें सेवास्तोपोल की लड़ाई में भी न उठानी पड़ी थी। फौरेस्ट के अनुसार ९९२ सैनिक मारे गये, २८४८ घायल हुए। इनसे भी ज्यादा बीमारी से मरे। उसने लिखा है, "इस हानि से हमें अपने इतिहास के सबसे अधिक रक्तरंजित अध्याय याद आते हैं। लेकिन स्पेन और क्राइमियाँ के इतिहास से दिल्ली के नरसंहार की तुलना करना कठिन है। सेवास्तोपोल के लंबे घेरे में लड़ने वाले सैनिकों की संख्या ९७,१३८ थी और हताहतों की संख्या १३,९५९ थी।"[१६६] उस विशाल सेना को देखते हुए सेवास्तोपोल के युद्ध में अंग्रेज़ों की क्षति बहुत कम हुई थी। दिल्ली के युद्ध में ब्रिटिश सेना की क्षति अनुपात में अधिक थी। दिल्ली के सफल प्रतिरोध का यह प्रमाण है।

बादशाह ने आत्मसमर्पण कर दिया। हौडसन ने तीन शाहजादों की हत्या की और उनकी लाशें कोतवाली के सामने डाल दीं। इस कृत्य के लिये अनेक अंग्रेज़ लेखकों ने ही उसकी निन्दा की है। शहर में हत्या और लूट का राज्य कायम हो गया।

अंग्रेज़ों ने पंजाब में भर्ती यह कह कर की थी कि दिल्ली की लूट में उन्हें हिस्सा मिलेगा। दिल्ली के फौजी गवर्नर एच. पी. बर्न ने पंजाब सरकार को लिखा था, "हमारी सेनाओं को आमतौर से और पंजाब की सेनाओं को खास तौर से इनाम के रूप में दिल्ली की लूट से उत्साहित किया गया था। मुझे यह कहने में कोई शंका नहीं है कि बेहद कठिनाइयों के होते हुए और गर्मी-बरसात का सामना करते हुए वे जो आगे

बढ़ते गये, और लाज़मी तौर से अपना स्वास्थ्य चौपट कर लिया, यह उसी वजह से था।"[१६७] पंजाब-सरकार ने इस बात से इन्कार किया कि सेना से लूट का वादा किया गया था। किन्तु पंजाब के एक दूसरे अधिकारी हर्बर्ट एडवर्ड्स ने डैली को लिखा था, "मुझे आशा है कि सैनिक दिल्ली की लूट से जेबें भर लायेंगे।"[१६८] सत्य यह है कि लूट-मार साम्राज्यवादी फौजों की साधारण नीति थी। के ने लिखा है, "दिल्ली लूट के योग्य सामग्री से भरी थी—उसमें पूर्व का सोना-चाँदी भरा था। सेना से वादा किया गया था कि यह सब उसे इनाम के तौर पर दिया जायगा।"[१६९] के ने सारा दोष सिख सैनिकों पर डाल कर अंग्रेज़ों को बहुत कुछ निर्दोष सिद्ध करने की चेष्टा की है। ये सैनिक मकानों के फर्श तक खोद कर सामान लूट रहे थे। गोरे सैनिकों के लिये उसने लिखा है कि उन्होंने लूट में कुछ कम मात्रा में भाग लिया! वास्तव में कीमती चीजें सबसे पहले अंग्रेज़ों के कब्जे में आती थीं, खोदकर लूटने का काम सिख सैनिकों के लिये छोड़ दिया गया था।

फौजी गवर्नर बर्न ने लिखा था कि गुरखों और गोरों से वादा किया गया था कि उन्हें इनाम मिलेगा (अर्थात संगठित लूट में हिस्सा मिलेगा); वर्ना सभी लूट में हिस्सा लेते। लूट को न्यायोचित ठहराते हुए उसने लिखा कि दिल्ली में हर नागरिक, जो किसी भी योग्य था, विद्रोह में शामिल था।[१७०] होल्कर के भूतपूर्व अध्यापक उम्मेदसिंह ने कलकत्ता-सरकार को अपने वफ़ादार होने पर भी लुट जाने का विवरण भेजा था। उसने लिखा था कि शहर के दरवाजे बंद कर दिये गये थे। अंदर आना और बाहर जाना टिकट से होता है। इसके बाद छिपाये और दफनाये हुये खजानों के लिये खुदाई शुरू हुई।[१७१] २१ दिसंबर को पंजाब के चीफ़ कमिश्नर, अंग्रेज़ इतिहासकारों के लिये ग़दर के उस प्रधान नायक को खयाल आया कि सेना में अनुशासन टूट रहा है। उसने जनरल पेनी को सूचित किया कि दिल्ली में व्यक्तिगत संपत्ति की लूट बंद कर दी जाय। उसके सेक्रेटरी ने लिखा, "बहुत से स्रोतों से उसने [लारेन्स ने] सुना है कि अनुशासन की दशा बहुत खराब होगई है। इसका कारण सार्वजनिक और व्यक्तिगत लूट के लिये शहर में प्राप्त सुविधाएँ हैं। सभी वर्गों को, चाहे वे मित्र हों, चाहे शत्रु हों, एक ही निष्पक्ष भाव से लूटा गया है। विद्रोहियों से हमारे देश-वासियों की जो
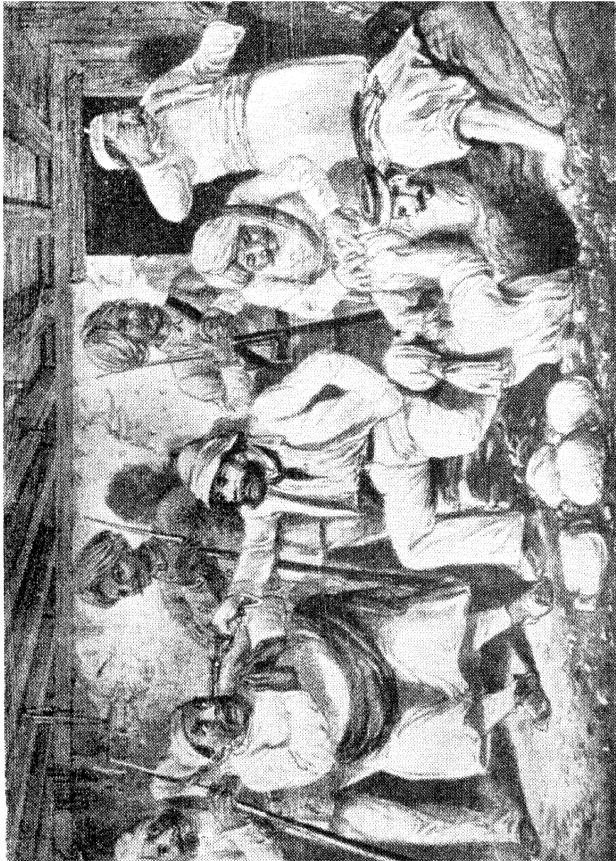
दिल्ली की लूट का एक दृश्य

संपत्ति वापस मिली थी, उसे भी इनाम (प्राइज़) घोषित कर दिया गया है और वह ज़ब्त कर ली गई है।"[१७२] अंग्रेज़ लूट में शामिल ही न थे, वे आपस में भी लूटमार कर रहे थे। जिसे वे विद्रोहियों से वापस पाया हुआ माल कहते थे, उसे भी सार्वजनिक संपत्ति के नाम पर वे ज़ब्त कर रहे थे। जैसा कि बर्न ने लिखा था, सभी सेनाओं को दिल्ली पर हमला करने के लिये लूट का लालच दिया गया था। एक ओर देश-भक्ति से अनुप्राणित होकर, चने चबाकर, उपवास करके भी लड़ने वाली भारतीय सेना थी, दूसरी ओर लूट के खुले आह्वान पर लड़ने वाली ब्रिटिश सेना थी। लारेन्स और सेना के अधिकारियों ने अपने सैनिकों की अत्यंत कुत्सित भावनाओं को उकसा कर उन्हें लूट और कत्ले-आम के लिये प्रेरित किया था।

दिल्ली की लूट के बारे में जेम्स लीसर ने लिखा है, 'लूट के विरुद्ध सख्त हिदायत (!) होने पर भी अफसरों और सैनिकों, यूरोपियन और हिन्दुस्तानी दोनों की जेबों में इतना माल पहुँच गया था कि बाद को इंगलैण्ड लौटने पर अफसरों और सैनिकों की एक असाधारण संख्या ने फौज से अपनी बर्खास्तगी खरीद (!) ली। दिल्ली की फौज के आदमी जिन शहरों में बाद को रक्खे गये, उनकी दूकानों में पूर्व के हीरे-जवाहरात यथेष्ट मात्रा में पाये गये।"[१७३] दिल्ली के सामन्तों और संपत्ति-शाली वर्गों ने असहाय होकर यह अथाह धनसंपत्ति अंग्रेज़ों की शान्ति-व्यवस्था को अर्पित करदी। यदि समय रहते उन्होंने अंग्रेज़ों के विरुद्ध इसका उपयोग किया होता तो बख्त खाँ को दो मन भुने चनों के लिये न कहना पड़ता।

घरों को लूटने के अलावा अंग्रेज़ों ने मंदिरों को भी लूटा। "जिन लोगों ने मंदिरों को लूटा उन्होंने देखा कि मूर्ति के नीचे, जिसे उलटने और तोड़ने का परिश्रम वे ज़रूर करते थे (the 'idol' which they were at pains to smash and overturn), अक्सर जवा-हरात के डिब्बे छिपे होते थे।"[१७४] सार्वजनिक लूट का सामान रखने के लिये जो कमरे निश्चित किये गये थे, मोहरों, जवाहरात, रेशमी और सोने-चाँदी के काम के बहुमूल्य वस्त्रों से पट गये। इस सार्वजनिक लूट का मूल्य उस समय साढ़े सात लाख पाउंड आँका गया था। और यह व्यक्तिगत लूट का एक क्षुद्र अंश ही था। अंग्रेज़ों ने करोड़ों रुपये का

माल लूटा । उस अथाह धनसंपत्ति का ठीक-ठीक अनुमान करना कठिन है।

दिल्ली की सड़कों पर लाशें सड़ रही थीं जिन्हें स्यार नोंच-नोंच कर खा रहे थे । उनके साथ अपना हिस्सा पाने के लिये कुत्ते और गिद्ध लड़ रहे थे। अनेक शव अब भी ऐसे लगते थे मानो जीवित हों। अंग्रेज़ सैनिकों के घोड़े मृत्यु की यह वीभत्सता देखकर उछलते और हिनहिनाते थे। रौबर्ट्स ने लिखा है, "लाहौरी दरवाजे से चाँदनी चौक होते हुए हमें सचमुच शवों के नगर से होकर गुज़रना पड़ा । हर तरफ मुर्दे पड़े हुये थे । मृत्यु-संघर्ष करते समय उनकी जो भी मुद्रा बन गई थी, वह अब भी बनी हुई थी। उनके शरीर विगलित होने की प्रत्येक अवस्था में थे। हम चुपचाप आगे बढ़ रहे थे, या बोलते थे तो किसी के कहे बिना ही फुसफुसा कर बोलते थे, मानों इंसानियत के इन अवशेषों की शान्ति भंग करने से हम डरते हों। हमें जो दृश्य देखने पड़े, वे अत्यंत ही वीभत्स और भयानक थे। कहीं किसी खुले अंग को कुत्ते चबा रहे थे। कहीं हमारे निकट आने से विघ्न आ पड़ने से गिद्ध उड़ना चाहता था लेकिन बहुत ज्यादा पेट भरा होने से उड़ न पाकर कुछ दूर सुरक्षित जगह तक खिसक जाता था। बहुत जगह शवों की मुद्रा भयानक रूप से जीवित व्यक्तियों की सी थी। कुछ के हाथ ऊपर उठे हुए थे मानों वे किसी को बुला रहे हों। दरअसल सारा दृश्य इतना भयानक और अद्भुत था कि वर्णन से परे है । उसकी वीभत्सता से घोड़े उतना ही प्रभावित मालूम होते थे जितना हम। स्पष्ट ही त्रास की भावना से वे कांप उठते और शब्द करते थे। सारा वातावरण कल्पनातीत रूप से जुगुप्सामय था। वह अत्यंत विषाक्त और उबकाई लाने वाली गंध से व्याप्त था।"[१७५]

अंग्रेजों की भूमि-व्यवस्था, बेकारी, असह्य टैक्सों के विरुद्ध और जनता को सुख-शान्तिमय जीवन सुलभ कराने के लिये भारतीय सैनिकों ने जिस नये जनतंत्र की स्थापना की थी, उसका नाश करके अंग्रेज़ों ने यह श्मशान की शान्ति स्थापित की जहाँ उनके सैनिकों को भी ज़ोर से बोलने में भय होता था, जहाँ पशु भी इस अभूतपूर्व वीभत्सता से त्रस्त हो उठते थे। इस मृत्यु-नगरी में अंग्रेज़ों द्वारा लूट का लालच देकर लाये हुए सैनिक गड़े हुए धन को तलाश करते हुए दीवालें और फर्श ख़ोद रहे थे।

दिल्ली के निवासियों को मृत्युदंड के अतिरिक्त निर्वासन-दंड भी दिया गया। १६ सितंबर १८५७ को ग्रेटहेड ने लिखा था, "सारी आबादी को निकाला जा रहा है। और लोग अपनी सम्पत्ति फिर देखेंगे, इसकी बहुत कम आशा है।"[१७६] महल को अच्छी तरह लूटा गया था। सड़कों पर पुस्तकें बिखरी पड़ी थीं।[१७७] मूल्यवान हस्तलिखित पुस्तकों को ब्रिटिश सैनिकों ने अपनी बर्बरता से नष्ट कर दिया था।[१७८] दिल्ली नगर वीरान हो गया था। चार्ल्स रैक्स जनरल पेनी के साथ हाथी पर बैंठ कर शहर में निकला। मीलों तक उसे एक जीव न दिखाई दिया। एक भूख से अधमरी बिल्ली ही सामने आई। सड़कों पर हड्डियाँ, कागज़-पत्र और चीथड़े बिखरे हुए थे और उनमें कहीं कुछ खोजती हुई एकाध बुढ़िया उसे दिखाई दी। उसने लिखा, "यह मुर्दों का शहर है।"[१७९]

अंग्रेज़ों ने विद्रोह के अपराध पर जो मिला, उसे गोली से मारा या फाँसी दी। जिसने लूटने का ज़रा भी विरोध किया, उसकी जान लेली। जेलों में कैदी भरे हुए थे। मिर्ज़ा ग़ालिब ने अपनी डायरी में लिखा था, "आजकल जेल शहर के बाहर और हवालात शहर के भीतर है। इनमें कैदियों की वह भीड़ है कि खुदा की पनाह! जो लोग फाँसी पर चढ़ गये, उनकी गिनती खुदा ही को मालूम होगी।...जो लोग शहर में बाकी हैं, उनमें या तो कैदियों के नाती हैं या सरकार से पेंन्शन पाने वाले हैं।"[१८०] दिल्ली-निवासियों के निर्वासन के बारे में ग़ालिब ने एक पत्र में लिखा था, "मुबालिगा न जानना, अमीर और गरीब सब निकाले गये। जो रह गए, वह निकाले गए। जागीरदार, पेन्शनदार, दौलतमंद, अहल-ए-हर्फा कोई भी नहीं।"[१८१] दिल्ली में अंग्रेज़ों के फौजी कानून के बारे में उन्होंने लिखा था, "घर के घर बेचिराग़ पड़े हैं। मुजरिम-ए-सियासत ढूंढ़े जा रहे हैं। जनरेली बन्दोबस्त दहम मई से आज तक यानी पंचम दिसम्बर तक बदस्तूर है।"[१८१] बाहर से कोई गोरों की नज़र बचा कर भीतर आजाता था, तो थानेदार उसे पकड़ लेता था। उसके बेंत लगते थे या जुर्माना होता था। कुछ लोगों ने शहर में मकान बनवाये थे; उन्हें ढहा देने का हुक्म दिया गया। अंग्रेज़ मनमाना नज़राना वसूल करके लोगों को शहर में रहने के लिये टिकट देते थे। ग़ालिब ने इस उदारता पर व्यंग्य करते हुए लिखा था, "घर

बरबाद हो जाय पर आप शहर में आबाद हो जायँ।" दिल्ली मिट चुकी थी। उसके सैर-सपाटे, मेले-ठेले, शेरो-शायरी सब ध्वस्त हो गये। ग़ालिब ने लिखा कि अब दिल्ली कहाँ हैं? "हाँ, कोई शहर कलम रद हिन्द में इस नाम का था।"[१८२]

दिल्ली अनेक बार लूटी गई थी लेकिन इस तरह उसे पहली बार उजाड़ा गया था। फर्श खोद खोद कर पहली बार खजाना ढूँढा गया था। मंदिरों की मूर्तियाँ तोड़ने के साथ ही मुसलमानों की धार्मिक भावनाओं को पहली बार इस संगठित ढँग से चोट पहुँचाई गई थी। "पयामे आज़ादी" नाम के प्रसिद्ध पत्र के प्रकाशक मिर्ज़ा बेदारबख्त को सुअर की चर्बी मलकर फाँसी पर चढ़ाया गया था।[१८३] कला और संस्कृति की बहुमूल्य निधियों को बेहिसाब नष्ट किया गया। हत्या और लूट—अंग्रेज़ी राज का नग्न रूप, अंग्रेज़ी जनतंत्र की जघन्य वास्तविकता दिल्ली में प्रकट हो गई किन्तु विद्रोह के दमन में अभी बहुत विलंब था।

दिल्ली के साथ

दिल्ली आते हुए नीमच की सेना ने आगरे में अंग्रेज़ों से युद्ध किया और शाहगंज की लड़ाई में उन्हें परास्त किया। अंग्रेज़ों के पास कुछ दस्ते कोटा के थे। उन्होंने विद्रोह कर दिया। अंग्रेज़ों के मित्र नवाब सईफुल्ला ने मदद के लिये कुछ सेना भेजी थी। वह भी "विश्वासघातक" सिद्ध हुई अर्थात् नवाव की इच्छा के विरुद्ध उसने देश का साथ दिया।

अंग्रेजों को अपनी तोपों का बड़ा भरोसा था। शाहगंज की लड़ाई में तोपें काम न आईं। देशी घुड़सवार सेना के मार की आगे तोपें

बेकार हो गईं। गाँव के अन्दर अंग्रेज उस तरह की लड़ाई में फँस गए जो उन्हें पसंद न थी। देशी सेना के पास गोले-बारूद की कमी थी लेकिन उन्होंने उसे सँभाल-सँभाल कर इस्तेमाल किया। उन्होंने पीछे लौटती हुई ब्रिटिश सेना पर गोले बरसाए। उनके पास जब गोले न रह गए तब उन्होंने पैसों की थैलियों को गोलों की जगह इस्तेमाल किया।[१८४] कुछ अंग्रेज लेखकों ने इस बात पर आश्चर्य प्रकट किया है कि नीमच सेना ने शाहगंज में अंग्रेजों को हरा कर किले पर क्यों न अधिकार कर लिया। उन्होंने यह नहीं बताया कि किला तोड़ने के लिए उनके पास आवश्यक तोपें और गोली-बारूद था या नहीं। भारतीय सैनिकों ने शाहगंज की छतों और दरवाजों से अंग्रेजों पर गोलियाँ बरसाईं। अंग्रेज इस तरह क्यों न लड़े? इसलिए कि छतों और दरवाजों से वही सिपाही ज्यादा अच्छी तरह लड़ सकते हैं जो अपने देश के लिए लड़ते हैं और जनता जिनके साथ होती है। एक तम्बाकू के खेत की खाई की आड़ लेकर सिपाहियों ने बहुत सी ब्रिटिश सेना को छिन्न भिन्न कर दिया। अंग्रेजों में भगदड़ मच गई। रास्ते में पानी न मिला तो साहब लोग उस तालाब का पानी पीने लगे जिसमें भैंसें लोट रही थीं। भागने की जल्दी में वे अपने मरे हुए सैनिकों को बाहर ही छोड़ आए। इसके बाद नीमच ब्रिगेड दिल्ली की ओर चल दिया।

यह घटना जुलाई १८५७ की है। दिल्ली के सेनापतियों के साथ एक व्यक्ति जो चिन्ता से घुला जा रहा था, वह आगरे का शासक कौलविन था। उसे मानसिक चिन्ताओं से उन्निद्र रोग हो गया और ९ सितम्बर को उसका देहान्त हो गया। आगरे के इस संघर्ष में पुलिस ने जनता का साथ दिया। रौबर्टस ने लिखा है कि फौजी और गैरफौजी, दोनों तरह के अफसरों का मनोबल टूट चुका था। किले के अन्दर सब कुछ अस्तव्यस्त था, "बाहर भीड़ जो चाहती सो करती थी।"[१८५] आगरे में भी अंग्रेज पदाधिकारी बिल्कुल अकेले पड़ गए थे। नगर की जनता उनके विरुद्ध थी।

अक्तूबर में सिपाहियों ने अंग्रेजों पर फिर आक्रमण किया। ब्रिटिश सैनिक अपने तंबुओं में सो रहे थे। सिपाहियों ने पास के खेत में तोपें छिपा कर गोले बरसाना शुरू कर दिया। छः सिपाही, जिनमें एक नगाड़ा बजा रहा था, अंग्रेजी की नवीं लान्सर पल्टन के क्वार्टर गार्ड के

पास आ गये और सन्तरी को मार डाला । जब अंग्रेजों ने सँभल कर प्रत्याक्रमण किया, तब सिपाही इधर-उधर बिखर गए । "इस अवसर पर शत्रु की हानि बहुत नहीं हुई । इसका कारण यह था कि देशी सैनिक बड़ी आसानी से पाँति तोड़कर गायब हो सकते हैं, खास कर जब खेतों में फसलें खड़ी हों ।"[१८६] इस तरह बिखर कर खेतों में गायब हो जाना इसीलिए सम्भव होता था कि किसान-जनता सिपाहियों के साथ थी ।

३० जून को लखनऊ की ब्रिटिश सेना चिनहट की ओर सिपाहियों का मुकाबला करने चली । अंग्रेजों के पास हाथी से खींची जाने वाली एक जंगी तोप थी, छः तोपें अवध तोपखाने की थीं, चार साधारण तोपें और एक बैटरी हल्की तोपों की थीं । बंगाल तोपखाने का अफसर बोनहैम भी कमान में था । सारी सेना अवध में अंग्रेजों के "हीरो" हेनरी लारेन्स के नेतृत्व में थी । सिपाहियों की तोपों ने ब्रिटिश सेना पर गोले बरसाना शुरू किया । किन्तु युद्ध का फैसला बंदूकों से हुआ । के ने इस युद्ध का बहुत सुन्दर वर्णन किया है । "तब पहली बार ब्रिटिश नेताओं को पता चला, उन्हें किस से पाला पड़ा है । इस्माइलगंज और चिनहट के बीच का मैदान आगे बढ़ते हुए मानवों का एक समूह था । दृढ़गति से और घनी पाँतियों में मानों डिवीजन के जेनरल के नीचे वे सैनिक-अभ्यास कर रहे हों, सिपाहियों की पल्टनें अपने निशान फहराती हुई आक्रमण के लिए बढ़ीं । हमारी तोपों ने उनकी पाँतियों पर बाढ़ दागी लेकिन कुछ असर न हुआ और बहुत जल्दी युद्ध भगदड़ में परिणत हो गया ।"[१८७] एक प्रत्यक्षदर्शी के अनुसार एक पल्टन के बाद दूसरी पल्टन अंग्रेजों पर टूटने लगी । वे अपने दोनों पक्षों की रक्षा के लिए निशानेबाज लिए हुए थी । खाँई-खंदकों और घास के ऊपर उनकी बंदूकों से निकलते हुए धुएँ के हल्के गुब्बारे सूर्य के प्रकाश में दिखाई देते थे ।[१८७] अंग्रेज जिस बात से चकित थे, वह सैनिकों का अनुशासन था ।

सिपाहियों ने इस्माइलगंज पर अधिकार कर लिया । अंग्रेज़ अपनी अनेक तोपें और घायलों को भी छोड़कर भगे । तोपों-बंदूकों की आवाज़ से घबड़ाकर एक हाथी तोप साथ लिये हुए भाग चला । बैल इधर-उधर भाग रहे थे । अंग्रेज़ों की ३२ वीं पल्टन के सैनिक खन्दकों में छिपकर

जान बचा रहे थे । के ने लिखा है कि सिपाहियों ने जमीन की हर ऊँचाई-नीचाई, झाड़ी-झंखाड़ से लाभ उठाकर अपनी रक्षा करते हुए अपनी मस्केटों से घातक अग्निवर्षा की । अंग्रेज़ अफ्सर सैनिकों से खड़े होकर मुकाबला करने के लिये कहते थे लेकिन वे भागते चले जाते थे। सिपाहियों ने अंग्रेज़ों को रेजीडेन्सी में खदेड़ कर उन्हें वहाँ घेर लिया। अंग्रेज़ों ने स्वीकार किया कि उनके लिये यह युद्ध भयंकर रूप से विनाशकारी सिद्ध हुआ। जैसें हेनरी लारेन्स का भाई जॉन राजस्थान में हारा था, वैसें ही चिनहट में वह हारा।

चिनहट के युद्ध ने शाहगंज की लड़ाई की तरह सिद्ध कर दिया कि गोलीबारूद होने पर हिन्दुस्तानी सिपाही अंग्रेज़ों के छक्के छुड़ा सकते हैं। उनकी वह डींग खत्म हो गई कि मुट्ठी-भर अंग्रेज़ हजारों देशी सैनिकों को अपनी वीरता से खदेड़ सकते हैं। किन्तु चिनहट के विजेता रेजीडेन्सी से अंग्रेज़ों को न खदेड़ सके, इसका एक कारण तोपखाने और गोली-बारूद की कमी थी। उनकी वीरता या अनुशासन में किसी तरह की कमी न थी।

अगले महीने अवध के सेना-नायकों ने तै किया कि हज़रत महल के प्रति उनका क्या रुख होना चाहिए। शहाबुद्दीन खाँ, बरकत अहमद, उमरावसिंह, बैजनाथसिंह आदि अफ्सरों ने मंत्रणा करके बिर्जिस कदर को शासक घोषित करने के बारे में जो शर्तें रखीं, उनमें पहली शर्त यह थी कि दिल्ली की आज्ञा माननी होगी। अवध और दिल्ली के संघर्ष एक सूत्र में बँधे हुए थे। एक अवध के नवाब और दूसरा दिल्ली के बादशाह की अलग-अलग सत्ताओं के लिये संघर्ष न थे। सार्वभौम सत्ता दिल्ली-सम्राट् की स्वीकार की गई थी। अंग्रेज़ों ने शिया-सुन्नी की भेद-नीति के बल पर अवध के नवाब-वजीर को दिल्ली से "स्वतंत्र" कर दिया था। जागरूक सिपाहियों ने देश की एकता के विचार से सार्वभौम प्रभुत्व का एक ही केन्द्र रखा। उनकी दूसरी शर्त यह थी कि वज़ीर का चुनाव सेना करेगी। तीसरी यह कि सेना की अनुमति के बिना फौजी अफ्सर नियुक्त न किये जायँगे। चौथी यह कि अंग्रेज़ों की नौकरी छोड़ने के बाद सिपाहियों को दुगनी तनखाह दी जायगी। आगे चल कर सिपाही जिस तरह हर परिस्थिति में हज़रत महल का पक्ष लेकर लड़े और अन्त में उनके साथ नेपाल भी गये, उससे मालूम होता है कि यह

एक शर्त अवश्य तोड़ी गई थी। पाँचवी शर्त यह थी जो अंग्रेजों के मित्र थे, उनके साथ कैसा व्यवहार हो, इस मामले में दरबार की ओर से कोई दखलंदाज़ी न होगी।[१८९] ये सब तथ्य श्री मोतीलाल भार्गव ने अपने एक महत्वपूर्ण लेख में दिये हैं। उनका आधार दरोगा वाजिद-अली का बयान है जो उसने लखनऊ के कलक्टर राजा जै लालसिंह के मुकदमे में दिया था। इस मुकमदमे के कागज़ात उन्हें लखनऊ कलक्टरी के रिकार्ड-रूम में मिले थे।

दिल्ली की तरह लखनऊ में भी सामंतों और सिपाहियों के संयुक्त मोर्चे में अधिनायकत्व सिपाहियों का था। वे सेना के मामलों में दरबार का हस्तक्षेप न चाहते थे। साथ ही राज्यसत्ता को वे पुराने सामन्तों के हाथ में न सौंप देना चाहते थे। इसलिये वजीर की नियुक्ति उन्होंने अपने हाथ में रखने की शर्त रखी थी।

कानपुर में जनता और सिपाहियों ने एक साथ अंग्रेज़ों से युद्ध किया। अंग्रेज़ों ने जब छावनी में मोर्चेबन्दी करना चाहा तो हिन्दुस्तानी ठेकेदारों तक ने साथ न दिया।[१९०] अंग्रेज़ जितना सिपाहियों के विद्रोह से डर रहे थे, उतना ही कानपुर की विद्रोही जनता("insurgent population") से भी।[१९१] यहाँ भी विद्रोह षड़यंत्र का रूप न लेकर एक शक्तिशाली जन-आन्दोलन के रूप में प्रकट हुआ। घुड़सवार खुल्लम-खुल्ला कहते थे कि कहीं उनकी बन्दूकों सें अकस्मात् गोलियाँ न निकलने लगें।[१९२] यहाँ भी "सिपाही अपने अफ्सरों की जान न लेना चाहते थे लेकिन वे विद्रोह करने पर तुले हुए थे।"[१९२] के की यह स्वीकारोक्ति ध्यान देने योग्य है क्योंकि प्रायः सभी अंग्रेज़ लेखकों ने—के समेत—कानपुर के सिपाहियों को खून के प्यासे हिंसक पशुओं के रूप में चित्रित किया है।

अंग्रेज़ लेखकों के अनुसार नानासाहब ने अंग्रेज़ों को सहायता का आश्वासन दिया था। उनका कहना है कि नानासाहब के दो सौ निजी सिपाही दो तोपों के साथ नवाबगंज में तैनात किये गये थे कि खजाने और मैगज़ीन दोनों की रक्षा करें।[१९३] ब्रिटिश सेना के हिन्दुस्तानी सिपाहियों ने नाना साहब के निजी सैनिकों से भाईचारा स्थापित कर लिया। उन्होंने खजाने पर अधिकार कर लिया और जेल से बन्दी मुक्त कर दिये। सरकारी दफ्तरों के कागज पत्र जला दिये। अंग्रेज़ों ने दिल्ली

नाना साहब

की तरह कानपुर में भी प्रयत्न किया था कि मैगजीन को बारूद से उड़ा दें। लेकिन सिपाहियों की सतर्कता से वे उसे उड़ाने में असफल हुए। अंग्रेज़ लेखकों के अनुसार सिपाहियों ने दिल्ली के लिये प्रस्थान किया लेकिन नाना साहब उन्हें कल्याणपुर से लौटा लाये अथवा वे नाना साहब को वहाँ से लौटा लाये। अंग्रेज़ों ने तात्या टोपे का जो बयान प्रस्तुत किया है, उसके अनुसार सिपाहियों ने नाना साहब और तात्या को कैद कर लिया; फिर खजाना लूटने के बाद अपने संतरियों की निगरानी में दो लाख ग्यारह हजार रुपये नाना साहब को सौंप दिये! आश्चर्य की बात है कि जिसे सिपाहियों ने बंदी बनाया था, उसी को खजाना भी सौंप दिया! के ने बहुत सी परस्पर विरोधी बातें कहीं हैं। उनमें एक महत्वपूर्ण बात यह है, "विद्रोही सिपाही नाना के निजी सैनिकों का साथ होने से और शक्तिशाली बन कर कानपुर लौट रहे थे। इससे अधिक यह कि विद्रोहियों के साथ प्रभाव और कार्यक्षमता वाले लोग मिल गये थे जो विद्रोह के बिखरे हुए कणों को मिलाकर एक साथ रख सकते थे और अंग्रेजों के विरुद्ध महान् आन्दोलन का संगठन कर सकते थे। इससे सिपाहियों में और भी उत्साह भर गया था।"[१९४] निःसन्देह यह एक महान् आन्दोलन ही था और जिन प्रभावशाली लोगों ने उसका साथ दिया, उनमें नाना साहब और अज़ीमुल्ला प्रमुख थे।

सिपाहियों के नेता सूबेदार टीकासिंह जनरल नियुक्त हुए। जमादार दलगंजन सिंह और सूबेदार गंगादीन कर्नल बनाये गये। फौज में भारतीय नायकों की यह तरक्की वैसी ही थी जैसी दिल्ली में हुई थी। हर जगह सिपाही अपनी सेना में अंग्रेज़ अफसरों की जगह अपने अफसरों को स्वीकार करते थे। कानपुर के इन नेताओं में बख्त खाँ की तरह कोई भी तोपखाने का अफ्सर न था, यह ध्यान देने योग्य तथ्य है। फिर भी उन्होंने अंग्रेज़ों की मोर्चेबंदी पर गोले बरसाना शुरू किया। कानपुर का कलक्टर हिलर्सडन मारा गया। दिल्ली की तरह यहाँ भी अंग्रेज़ गर्मी और बीमारी से भी मर रहें थे। उनमें से कुछ पागल होगये। तीन हफ्ते में ढाई सौ मरे जिनमें से बहुतों को विद्रोही सिपाहियों ने दफ़ना दिया।[१९५] अंग्रेज़ जिस तरह हिन्दुओं और मुसल्मानों के शव का अपमान करते थे, उससे यह व्यवहार कितना भिन्न था! बहुत से शवों

को चीलें और गिद्ध खा गये। यह सब इंगलैण्ड के भूस्वामियों और सौदागरों के हित में हो रहा था।

कानपुर के युद्ध में आज़मगढ़ के सिपाही भी शामिल हुए। जिस छावनी में सिपाहियों ने विद्रोह किया, वहीं बने रहें, ऐसा नहीं था। आज़मगढ़ के सिपाही दिल्ली जाने के बदले कानपुर भी आ सकते थे। और अभी दिल्ली का पतन न हुआ था।

दिल्ली की तरह कानपुर में भी पलासी का शताब्दि-महोत्सव भयंकर युद्ध करके मनाया गया। अंग्रेजों का अनुमान था कि हिन्दुओं-मुसलमानों ने मर मिटने के लिये गंगा और कुरान की कसम खाई थी। घुड़सवारों ने अंग्रेज़ी तोपों की पर्वाह न करके उन पर हमला किया। अनेक घोड़े और सवार आहत हुए। पैदल सैनिकों ने अपनी सूझबूझ का परिचय देते हुए रक्षा का वह उपाय किया जो किसी सैन्यशास्त्र में न लिखा था। वे रुई के बड़े-बड़े बंडल लुढ़काते हुए आगे बढ़े और उनके पीछे से अंग्रेज़ों पर निशाना लगाते रहे। बाद को अंग्रेज़ों की तोपों से इनमें आग लग गई तो वे पीछे हट आये। अंग्रेजों ने इस युद्ध का जो वर्णन किया है, उससे बिल्कुल स्पष्ट है कि आक्रमण का काम घुड़सवारों और पदातियों ने किया। शत्रुदल तोपों में बढ़कर था और उनकी अग्निवर्षा के कारण भारतीय सैनिकों को पीछे हटना पड़ा। २३ जून को आनबान से यह आक्रमण करके दिल्ली की तरह कानपुर के वीरों ने दिखला दिया कि वे अंग्रेज़ों के आततायीपन को भूले नहीं हैं, उसके इतिहास से वे खूब परिचित हैं और शत्रुओं से प्रतिशोध लेने के लिये वे प्राणों की बाजी लगा कर लड़ रहे हैं। सौ वर्ष पहले दिल्ली और कानपुर जैसे दो दूर के शहरों में विदेशी सत्ता के आरंभ को स्मरण करके एक साथ, एक दिन, एक ही भावना से अनुप्राणित होकर शत्रु पर आक्रमण करना—यह उस समय के विश्व-इतिहास की अनूठी घटना है।

अंग्रेज़ घिरे हुए थे। मुर्दा घोड़े, बैल, जो मिलता था, खाते थे। उनके भिश्ती मारे गये थे और उन्हें पानी की कठिनाई थी। इस परिस्थिति में तिलतिल कर मरने के अलावा उनके सामने कोई चारा न था। दिल्ली की तरह पंजाब से यहाँ तुरत कुमक न आ सकती थी। नाना साहब की ओर से अत्यन्त गौरवशालिनी महारानी विक्टोरिया की प्रजा के नाम संदेश भेजा गया। इस सम्बोधन का व्यंग्य—जिसे अंग्रेज़ अज़ी-

मुल्ला की प्रतिभा का चमत्कार समझते थे—स्पष्ट है। भारत की जनता ने विक्टोरिया का जुआ उतार फेंका है। अब वह विक्टोरिया की अंग्रेजी प्रजा से स्वाधीनता के स्तर पर बात कर रही है। संदेश में कहा गया था कि वे लोग जो लार्ड डलहौजी के कृत्यों से संबद्ध नहीं हैं और शस्त्र-समर्पण करने को तैयार हैं, इलाहाबाद के लिये सकुशल मार्ग पायेंगे। इस संदेश में डलहौज़ी का उल्लेख भारतीय पक्ष की राजनीतिक चेतना की ओर संकेत करता है। जिन्होंने हिन्दुस्तान के राज्य हड़पने की नीति का समर्थन किया था, वे दया के पात्र न थे। विक्टोरिया की शेष प्रजा इलाहाबाद जा सकती थी।

अंग्रेज़ों ने आत्मसमर्पण कर दिया किन्तु उनके सभी अस्त्रशस्त्र न लिये गये। हिन्दुस्तानी सिपाहियों ने अंग्रेज़ अफसरों के प्रति दया का भाव प्रकट किया या उनकी प्रशंसा की और ये शब्द "एकदम बनावटी न थे।"[१९६] नाना साहब की ओर से अंग्रेज़ों को ले जाने के लिये नावों का प्रबन्ध कर दिया गया। अंग्रेज़ लेखकों का कहना है कि जब सारे पुरुष, स्त्रियाँ और बच्चे नावों पर बैठ गये तब भारतीय सैनिक नदी में कूद पड़े और उन्होंने स्त्रियों, बच्चों और पुरुषों का वध करना शुरू कर दिया। नावों में आग लगा कर उन्हें नष्ट कर दिया।

सिपाहियों में कोई उत्तेजना नहीं थी, यह अंग्रेज़ों के वर्णन से स्पष्ट है। यदि सिपाही उनका वध करना चाहते तो नदी तट पर पहुँचते ही, या उसके पहले उन्हें घेर कर मार सकते थे। आत्मसमर्पण के बाद अंग्रेज़ों के पास तोपें नहीं थीं कि सिपाहियों को उनसे शंका होती। नावों में बैठ जाने के बाद, जब उनके बच निकलने की संभावना काफी थी, तब पानी में कूद कर उन पर आक्रमण करने में क्या तुक थी ?

बच निकलने वालों में कैप्टेन मौब्रे टौमसन था जिसने "कानपुर की कहानी" लिखी है। इस सम्बन्ध में उसने लिखा है, "जैसे ही मेजर विबार्ट नाव में आया, 'चलो' की आज्ञा हुई। लेकिन किनारे से एक संकेत होने पर देशी मल्लाह—हर नाव में आठ मल्लाह और एक उनका सर्दार था—सब कूद पड़े और किनारे पहुँच गये। हमने तुरत उन पर गोली चलाई लेकिन उनमें से अधिकांश बच निकले और कानपुर के पास अपना पुराना पेशा कर रहे हैं।"[१९७] इस वर्णन से वास्तविक घटना का अनुमान हो सकता है। मल्लाह जैसे ही नावें छोड़कर जाने लगे, वैसे ही

अंग्रेज़ों ने उन पर गोली चलाई। अंग्रेज वर्ण-द्वेष से पीड़ित थे। दिल्ली में वे निर्दोष खेमाबर्दारों पर अपना गुस्सा उतार चुके थे। वे हर काले आदमी को अपना शत्रु समझते थे और इस "कबीलाई अन्तःप्रेरणा" से सिपाहियों के विद्रोह का बदला युद्ध में हिस्सा न लेने वालों से लेते थे। दिल्ली, इलाहाबाद, कानपुर—हर जगह उनकी बर्बरता की एक ही कहानी थी। इसलिये यह बिलकुल सम्भव है कि एक बार अपने को सुरक्षित समझ कर उन्होंने मल्लाहों पर गोली चलाना शुरू किया हो। न भी किया हो तो मल्लाहों के भागने पर उन्हें—जो आत्मसमर्पण कर चुके थे—गोली चलाने का कोई अधिकार नहीं था। मल्लाह निहत्थे थे, सो अलग। ऐसी स्थिति में सिपाहियों का पानी में कूद कर उन्हें मारने दौड़ना बिलकुल स्वाभाविक होता। टौमसन के साथी डेलाफौस के बयान में एक तथ्य दिलचस्प है। उसके अनुसार जैसे ही अंग्रेज़ों ने आसानी से नाव खेने के लिये कोट उतारे थे कि हमला शुरू हुआ।[१९८] इस बयान से यह बात स्पष्ट होती है कि मल्लाहों का साथ चलना आत्म-समर्पण की शर्तों में न था। अंग्रेज़ नाव खेने के लिये तैयार हो रहे थे, तभी उनमें से एक या अनेक ने मल्लाहों पर गोली चलाई। यदि मल्लाह भाग रहे थे और अंग्रेज़ों ने तुरत उन पर गोली चलाई, जब सिपाही आक्रमण भी कर रहे थे, तब नाव खेने की तैयारी में कोट उतारने का काम उन्होंने कब किया ? निश्चित बात है कि अंग्रेज़ नाव खेने की तैयारी कर रहे थे, मल्लाह उन्हें छोड़कर नावों से वापस आरहे थे, तब अंग्रेज़ों ने यह समझ कर कि अब वे कुशल से भाग सकते हैं, मल्लाहों पर गोली चलाई। इस पर वही सिपाही, जो कुछ क्षण पहले उनके प्रति दया दिखा रहे थे, उन पर आक्रमण करने लगे। इस सत्य को अंग्रेज़ों ने देशी सेना का विश्वासघात कहकर अपने आततायीपन को न्यायपूर्ण ठहराने के लिये बहाना ढूँढ़ा है।

श्री सुरेन्द्रनाथ सेन ने लिखा है कि यह स्पष्ट नहीं है कि पहले गोली किसने चलाई, टौमसन की नाव के लोगों ने या किनारे के घुड़सवारों ने। यदि घुड़सबार पहले गोली चलाते तो टौमसन उसका उल्लेख जरूर करता। इसके सिवा मल्लाह जब तक नावों से दूर न पहुँच जाते तब तक उनके भी गोली लगने का ख़तरा था। श्री सेन ने यह प्रश्न नहीं किया कि टौमसन ने निहत्थे मल्लाहों पर गोली क्यों चलाई। यदि

नदी-तट से सिपाहियों ने गोली चलाई तो उसके जवाब में मल्लाहों को मार कर टौमसन और उसके साथी अपनी रक्षा कैसे कर सकते थे ? सिपाहियों के पहले गोली चलाने पर मल्लाहों को गोली मारना और भी अकारण सिद्ध होता है। वास्तव में जब सिपाहियों ने गोली चलाई, तब टौमसन ने उनका अलग प्रत्युत्तर दिया। उसने पहले मल्लाहों पर गोली चलाने का उल्लेख किया है, बाद में सिपाहियों को प्रत्युत्तर देने की चर्चा की है। यह क्रम उसके कार्यों का विश्लेषण करने पर तर्कसंगत सिद्ध होता है। श्री सेन ने यह मान लिया है कि अंग्रेज़ों की हत्या का षड़यंत्र किया गया था। उनके लिये समस्या यह रह जाती है कि इसमें नाना साहब का हाथ कितना था। "यह निश्चय करना आसान नहीं है कि इसमें नाना का हाथ कितना था।"[१९९]

सिपाहियों के आक्रमण करने पर अंग्रेज़ गोली चलाते रहे। यह स्वाभाविक था कि कुछ गोलियाँ उनके साथ की स्त्रियों-बच्चों के भी लगतीं। इसे उन्होंने स्त्रियों-बच्चों का कत्लेआम कहा है। उनके पास एक नाव में युद्ध-सामग्री थी, इसका उल्लेख के ने किया है। अंग्रेज़ रिवाल्वर चला रहे थे, इसका भी। इसलिये इस घटना को हत्याकाण्ड किसी प्रकार नहीं कहा जा सकता। न वह षड़यंत्र था। यदि होता तो नाना साहब घटना का समाचार पाते ही यह आदेश न भेजते कि स्त्रियों-बच्चों का वध न किया जाय, केवल अंग्रेज पुरुषों को मारा जाय। के नाना साहब के इस व्यवहार से हत्याकाण्ड और षड़यन्त्र वाली कहानी को खंडित होते देख कर लिखता है, "चाहे दया से हो, चाहे चालाकी से, उन्होंने दूत से वापस आज्ञा भेजी कि और स्त्रियों-बच्चों का वध न किया जाना चाहिये लेकिन किसी अंग्रेज़ को जीवित न छोड़ा जाय।"[२००] घटना-स्थल से दूर षड़यंत्र करने वाले नाना को दया आये, आश्चर्य की बात है। फिर बीबीघर में उन्हीं स्त्रियों-बच्चों की हत्या करा दे, यह "चालाकी" और भी आश्चर्यजनक है !

इस घटना के बाद नाना साहब बिठूर चले गये जहाँ उनका पेशवा के रूप में राजतिलक हुआ। इसके बाद जब हैवलौक की सेना कानपुर की ओर आ रही थी, तब बीबीघर में स्त्रियों और बच्चों की हत्या की गई और उनके शरीर कुएं में डाल दिये गये। के ने लिखा है कि सिपाहियों ने उन पर गोली चलाने से इन्कार कर दिया। बाज़ार से कुछ

कसाई बुलाये गये और उन्होंने उन्हें मारा। मेरठ में एक कसाई को इसी तरह एक अंग्रेज़ी महिला की हत्या के अपराध में फांसी दी गई थी। सिपाही इस तरह की हत्या करते, यह कल्पनातीत था। सर्वत्र उनका व्यवहार इससे ठीक उल्टा था। यदि नाना उनका वध कराना चाहते तो आरंभ में "षड़यन्त्र" करने के बाद उन पर दया दिखाना निरर्थक था। उस समय कानपुर की ओर अंग्रेज़ी सेना बढ़ी चली आ रही थी। इस उथल-पुथल से लाभ उठाकर कुछ कसाइयों ने अंग्रेज़ स्त्रियों बच्चों को मार डाला हो तो आश्चर्य नहीं, विशेषकर जब इलाहाबाद से लेकर कानपुर तक अंग्रेज़ जो नरसंहार करते आये थे, उसकी खबरें कानपुर पहुँची गई हों। एक बात निश्चित है, यह हत्याकाण्ड न तो स्वाधीनता की मुख्य प्रवृत्ति का सूचक है, न उसमें भाग लेने वाली प्रमुख शक्तियों से उसका सम्बन्ध था।

कानपुर के इस काण्ड के पहले अंग्रेज़ खूनी अदालतों में लोगों पर राजद्रोह का अपराध लगा कर उन्हें फांसी दे रहे थे "या किसी अदालत के बिना ही, स्त्री-पुरुष का भेदभाव किये बिना ही देशी लोगों को मार रहे थे। इसके बाद उनकी खून की प्यास और बढ़ गई।"[२०१] भारतीय पक्ष में जो अपवाद थे, अंग्रेज़ी पक्ष में वे साधारण नियम थे। सरकारी रिपोर्टों के अनुसार "जो विद्रोह के लिये अपराधी हैं, वे भी मारे जाते हैं और बूढ़े, स्त्रियाँ और बच्चे भी मारे जाते हैं।"[२०१] इनको सदा फांसी ही न दी जाती थी वरन् गाँवों में आग लगा कर उन्हें जला दिया जाता था। "अंग्रेज़ इसकी डींग हांकने में न झिझकते थे और न उसे लिखने में झिझकते थे कि उन्होंने किसी को नहीं छोड़ा, और यह कि हब्शियों (निगर्स) को ठिकाने लगाना बड़े मनोरंजन का काम था जिससे वह बहुत प्रसन्न होते थे।"[२०२]

अंग्रेज़ इस युद्ध को धर्म और नस्ल की लड़ाई बनाये हुए थे। उनके लिये सब हिन्दुस्तानी "निगर" थे, इसलिये वध्य थे। जिन्हें रक्त बहाने में ही आनंद आता है, उन नर-पिशाचों की तरह वे चारों ओर नर-संहार में लगे थे। वे अपराधी और निर्दोष का विचार न करके, स्त्री-पुरुष, बूढ़े, बच्चों का बिचार न करके अपने खूनी आतंक से जनता को त्रस्त कर रहे थे। जब अंग्रेज़ी फौज अम्बाला से दिल्ली आरही थी, तब उसने ग्रामीण जनता पर अकथनीय अत्याचार किये। दिल्ली की लड़ाई

में भाग लेने वाले एक अंग्रेज़ ने लिखा है, "सैनिकों की हिंसा दिन पर दिन बढ़ती गई। अक्सर उनके शिकार खेमाबर्दार होते थे जिनमें से बहुत से भाग गये। मुकदमे और मृत्यु के बीच कुछ घंटों में सैनिक कैदियों को लगातार सताते थे। वे उनके बाल नोंचते थे, अपनी संगीनें चुभाते थे और उन्हें गाय का मांस खाने पर मजबूर करते थे और अफ्सर खड़े हुए अनुमोदन करते थे।"[२०३] हिन्दू गोमांस नहीं खाते, मुसल्मान सुअर को अपवित्र समझते हैं। इसलिये हिन्दुओं के मुहँ में गोमांस ठूँसो, मुसल्मानों के शरीर पर सुअर की चर्बी मल कर फाँसी दो। नस्ल और धर्म की यह कट्टरता अंग्रेज़ों में काम कर रही थी। किन्तु श्री सुरेन्द्रनाथ सेन का मत है कि क्रूर कृत्य करने में जैसे अंग्रेज़ थे, वैसे ही हिन्दुस्तानी थे। "१८५७ में कोई भी पक्ष इंसानियत के विचार से प्रभावित न था।"[२०४]

के ने भोलानाथ चंदर का यह कथन उद्धृत किया है कि इलाहाबाद में "तीन महीने तक आठ मुर्दा ढोने वाली गाड़ियाँ सुबह से शाम तक बाजार और चौराहों पर लटकती हुई लाशें उतारती रहती थीं। इस तरह छः हजार व्यक्तियों को परलोक भेज दिया गया था।"[२०५] के ने इस तरह के वक्तव्यों को अतिरंजित कह कर सत्य का फैसला ईश्वर पर छोड़ दिया है। लेकिन कानपुर में स्त्रियों-बच्चों की हत्या के लिये षड़-यंत्र किया गया था, इस बारे में उसे कोई भी सन्देह नहीं है।

इलाहाबाद में अंग्रेज़ हैजे से मर रहे थे। एक बार में बीस बीस आदमी दफ़नाये जाते थे। जनता असहयोग कर रही थी। अंग्रेज़ों को ठेकेदार न मिलते थे। इसके विपरीत इलाहाबाद में अंग्रेज़ी राज खत्म होने पर जनता ने मौलवी लियाक़त अली पर अपने शासन-प्रबन्ध का भार डाला था। नागरिक उनका आदर करते थे। साधारण परिवार में जन्म लेकर इसीलिये वह शासक चुने गये थे।[२०६] यह उल्लेखनीय है कि वह दिल्ली के बादशाह के नाम पर शासन करते थे। इसके बाद ११ जून को जब अंग्रेज़ अपना जनतंत्र लाये, तब उन्हें न ठेकेदार मिलते थे, न खेमाबर्दार मिलते थे! जनता की दृष्टि में दोनों शासनों में कितना अन्तर था, यह स्पष्ट है। अंग्रेज़ गर्मी के मारे परेशान थे लेकिन न कोई पंखा खींचने वाला मिलता था, न खस की टट्टियों पर पानी छिड़कने वाला। "हर जगह दंड देने वाले अंग्रेज़ों से भयग्रस्त देशी लोग दूर

रहते थे। ऐसा लगता था कि हर जगह उन्होंने कुएँ सुखा डाले हैं और फसलें बर्बाद कर दी हैं जिनसे हमें भोजन मिलता।[२०७]

इस पर भी नील ने गाँव के गाँव जलाने का हुक्म दे रखा था। "कुछ अपराधी गाँव विनाश के लिये निश्चित कर लिये गये थे। उनमें जितने आदमी थे, उन्हें मार डालना था। विद्रोही पल्टनों के सभी सिपाही जो अपनी सफाई न दे सकें, फाँसी पर लटका दिये जायँ।"[२०८] इसके साथ ही नील ने फतहपुर पर हमला करने की आज्ञा दी और उसमें पठानों का मुहल्ला विशेष रूप से बर्बाद करने का आदेश दिया।

विलियम रसेल ने नील के बारे में अपनी डायरी में लिखा था, "जब नील इलाहाबाद से चला तो अपराधी-निरपराधी का भेद किये बिना उसने इतने आदमियों को मृत्युदंड दिया कि उसके एक अफ्सर ने इस बिना पर उसका विरोध किया कि यदि वह देश को जनशून्य कर देगा तो सामग्री कहाँ से मिलेगी।"[२०९] अंग्रेज़ हत्यारों में नील सबसे जघन्य राक्षसों में था। उसके लिये यह युद्ध अंग्रेज़ी राज की रक्षा का युद्ध न होकर हिन्दुस्तानी जनता के सामूहिक विनाश का युद्ध था। उसके रास्ते में जो भी गाँव पड़े, उसने उन्हें जला दिया। रास्ते में जो मिला, उसे पेड़ों से लटका कर फाँसी दे दी। बारह आदमियों को सिर्फ इसलिये फाँसी दे दी कि वे उल्टी तरफ मुहँ किये थे।[२१०] यह सब कानपुर-काण्ड के पहले हुआ था।

फतहपुर में हिन्दू-मुसलमान जनता और सिपाहियों ने अंग्रेज़ों का जुआ उतार फेंका। डिप्टी मजिस्ट्रेट हिकमतुल्ला ने जनता का साथ दिया। पाँच हफ्ते तक नाना साहबके नाम पर यहाँ देशी सत्ता कायम रही। अंग्रेज़ों ने आकर शहर को लूटा और उसमें आग लगादी।

अंग्रेज़ों ने पाण्डु नदी पार की और १६ जुलाई को नाना साहब ने अंग्रेज़ी फौज का मुकाबला किया। भारतीय सेना की व्यूह-रचना से अग्रेज़ चमत्कृत रह गये। "यह स्पष्ट था कि विद्रोही शिविर में कुछ युद्ध-कौशल था, वह चाहे जिसके दिमाग़ में रहा हो। नाना साहब की सेना इस तरह व्यूह बना कर खड़ी थी कि अंग्रेज़ सेनापति को, जो जीवन भर युद्ध कौशल का अध्ययन करता रहा था, अपने दिमाग की सारी ताक़त लगा देनी पड़ी।"[२११] यदि भारतीय सेना अनुशासनहीन लुटेरों

का गिरोह थी, तो यह व्यूह-रचना कैसे संभव हुई ? यह व्यूह-रचना उन सैनिकों ने की थी जिन्हें अंग्रेज़ों ने सूबेदार से ऊंचा पद कभी दिया न था। के ने लिखा है कि हैवलौक ने अब तक एनफील्ड राइफल और तोपखाने के बल पर अपनी जीतें हासिल की थीं। १२ जुलाई को नाना साहब की सेना से फतेहपुर की लड़ाई के बारे में हैवलौक ने कहा था, "लेकिन हमने न तो मस्केट से, न संगीनों से, न तलवारों से युद्ध किया था वरन् एनफील्ड राइफलों और तोपों से लड़े थे। इसलिये हमारी कोई क्षति न हुई।"[२१२] ये शब्द इस प्रश्न का उत्तर देते हैं कि वीरता और अनुशासन के होते हुए भी भारतीय सेनाओं को क्यों पीछे हटना पड़ता था। उन्हीं राइफलों और तोपों के बल पर हैवलौक १४ जुलाई को भी जीता।

कानपुर में प्रवेश करते-करते अंग्रेज़ी सेना ने अपने अनुशासन का अच्छा परिचय दिया। हैवलौक ने लिखा था, "जब मैं १६ तारीख को विजय प्राप्त करने में लगा था, तब मेरे कुछ सैनिक मार्च करने के दौर में सामग्री-विभाग को लूट रहे थे।"[२१३] कानपुर पहुँच कर सैनिकों ने शराब की यूरोपियन दूकानों को लूटा। हैवलौक ने लिखा था, "आधी सेना शराब के नशे में है और आधी सेना उसे पीने से रोकने के लिये चाहिये; इस तरह शिविर में एक भी सैनिक न रह जायगा।" हैवलौक ने सामग्री-विभाग को हुक्म दिया कि वह सारी शराब खरीद ले। दिल्ली की तरह कानपुर में भी अंग्रेज़ी फ़ौज ने जाहिर कर दिया कि वह लुटेरों और हत्यारों की फौज है और उसका वैसा ही अनुशासन है।

उस समय भारत के अंग्रेज़ी और यूरोप के अन्य पत्रों में यह अनुमान प्रकाशित हुआ था कि दस हजार कानपुर-निवासियों की हत्या की गई है। कहने की आवश्यकता नहीं कि ब्रिटिश सेना ने कानपुर को भी लूटा। नाना साहब का महल लूटने के बाद उन्होंने उसे गिरा दिया। नील ने हिन्दुओं और मुसलमानों से बीबीघर का खून चटवा कर साफ़ कराया और इस क्रिया के बाद उन्हें फाँसी देता गया। निकलसन का कहना था, मारने के पहले सताना कानूनी क़रार दिया जाना चाहिये; अंग्रेज़ स्त्रियों-बच्चों के मारने वालों को जिंदा जलाने और उनकी खाल खींचने का कानूनी अधिकार होना चाहिए। लेकिन कानून के बिना भी अंग्रेज़ क्रूर कृत्यों से बाज़ न आते थे। नील ने जिसको भी

निर्दोष समझा, उसे फाँसी पर चढ़ाया। यह दंड उसने कानपुर को लूटने वालों को न दिया यद्यपि अपनी डायरी में उसने लूट पर बहुत नाक भौं सिकोड़ी। उसने लिखा,"सभी लूट में लगे हैं और अफ्सरों ने जो मिसाल रखी है, वह दरअसल बहुत ख़राब है। शहर के व्यापारियों और दूकानदारों को सैनिकों और सिखों ने ऐसे लूटा है कि क्रोध आता है और इसकी कोई रोकथाम नहीं हुई है।"[२१४]

हैवलौक का उद्देश्य कानपुर पर अधिकार करने के बाद लखनऊ की रेज़ीडेन्सी में घिरे हुए अंग्रेज़ों की सहायता करना था। किन्तु लखनऊ अभी दूर था। सिपाहियों के पास मस्केटें थीं। उन्होंने रेज़ीडेन्सी और मच्छी भवन के पास के मकानों में गोली चलाने के लिये सूराख कियें और "मस्केटों से दिन-रात कभी न थमने वाली अग्निवर्षा करने लगे।"[२१५] हेनरी लारेन्स ने बनारस से सहायता माँगते हुए लिखा, "शत्रु बहुत उत्साहित है और हमारे यूरोपियन बहुत पस्त हैं।"[२१५] अंग्रेज़ों ने मच्छी भवन को उड़ा दिया और रेज़ीडेन्सी चले गये। ४ जुलाई को हेनरी लारेन्स की मृत्यु हो गई। दिल्ली के पतन तक अंग्रेजों के अनेक फौजी और गैर फौजी उच्च अधिकारी मारे गये। कौलविन, हेनरी लारेन्स, बर्नार्ड, ऐन्सन आदि की मृत्यु आकस्मिक न होकर युद्ध के कारण थी। हेनरी लारेन्स घायल होगया था। उसके बाद उसकी मृत्यु हुई। हिन्दुस्तान की जनता से लड़ने के लिये अंग्रेज़ों को भी अच्छी कीमत चुकानी पड़ रही थी। हेनरी लारेन्स के विषय में कंपनी के डायरेक्टरों ने यह निश्चय किया था कि यदि कैनिंग की मृत्यु हो गई या उसने इस्तीफा दे दिया या इंगलैण्ड वापस चला गया, तो उस की जगह हेनरी लारेन्स को दी जायगी। इसलिये युद्ध में उसकी मृत्यु गवर्नर-जनरल जैसे उच्च अधिकारी की मृत्यु के समान थी।

रेज़ीडेन्सी का घेरा डालने वालों ने मस्जिदों और आसपास की इमारतों में निशानेबाज़ रखे थे। ब्रिगेडियर इंगलिस ने कहा था कि अंग्रेजों को सबसे ज्यादा हानि इन निशानेबाज़ों से हुई थी।[२१६] मेजर बैङ्क्स तोपें देखने जा रहा था। वह अकड़ कर चलता था। किसी निशानेबाज़ ने ताक कर उसके सिर में गोली मारी और वह ख़त्म हो गया। रेज़ीडेन्सी के पास योहानेस (Johannes) की कोठी थी जहां से एक हब्शी अंग्रेजों पर गोली चलाया करता था। उसका निशाना इतना सच्चा था

कि अंग्रेजों ने उसका नाम "बौब दि नेलर" रखा था। वह अपने शिकार खेलने के राइफल से जिस पर निशाना साधता, उसके प्राण ही ले लेता।

दिल्ली की तरह लखनऊ में भी अंग्रेज़ हैजा, बुखार, पेचिश से मर रहे थे। गर्मी और बरसात में घोड़ों और बैलों की लोथें सड़ती थीं। मरने वालों की संख्या इतनी अधिक थी कि उनके लिये कफन तैयार करना मुश्किल हो जाता था।[२१७] कभी-कभी प्रतिदिन मरने वालों का औसत २०-२५ तक पहुँचता था। तीन महीनों में केवल एक दिन ऐसा बीता था जब अंग्रेजों ने किसी को दफनाया न था।[२१८] कुछ लोग पागल हो गये, कुछ ने आत्महत्या करली। स्त्रियों और बच्चों की यंत्रणा अलग थी। खुली हवा और उचित भोजन न मिलने से बच्चे मर रहे थे। यह सब ब्रिटेन के अभिजातवर्ग के गौरव-हेतु हो रहा था कि वे और भी ज्यादा लोगों को अमरीका और आस्ट्रेलिया भेजें, आयर्लैण्ड को वीरान करके उसे ऐंग्लो-सैक्सन बना डालें और हर जगह उपनिवेशों की जनता को लूट कर इंगलैण्ड के भूस्वामियों और सौदागरों का घर भरें। सती प्रथा का विरोध करने वाले अंग्रेज लखनऊ में योजना बना रहे थे कि जब आत्मरक्षा असंभव हो जाय, तब सभी स्त्रियों को मार कर बाहर निकलने का प्रयास करें।

इन सब कठिनाइयों के साथ उनकी व्यापार-वृत्ति भी काम कर रही थी। दिल्ली की तरह लखनऊ में भी अंग्रेज आपस में चोरबाजारी कर रहे थे। ब्रैण्डी की बोतल बीस रुपये में बिकती थी, फ़लानेल की कमीज चालीस रुपये में।[२१९] रीस ने लिखा था कि खाने पीने का सामान मिल जाता है, कहाँ से यह कोई नहीं पूछता; आटा एक रुपये सेर, घी दस रुपये सेर, शक्कर सोलह रुपये सेर, इत्यादि। एक सिगार की कीमत तीन रुपये थी और साबुन के टुकड़े सात-सात रुपये के बिकते थे।[२२०] अफीम की चोर-बाजारी में ख़ास तौर से आमदनी होती थी।[२२१]

रेज़ीडेन्सी के अन्दर बहुत से लामार्टिनियर कालेज के लड़के थे। इनका काम रकाबियाँ साफ़ करना, कपड़े धोना, गेहूँ पीसना, खाना पकाना, पंखा खींचना वगैरह था।[२२२] यह काम इन्हें इसलिये सौंपा गया था कि वे ऐंग्लो-इंडियन थे और अहले इंगलैण्ड से इनकी नस्ल घटिया समझी जाती थी। इन लड़कों की खिदमतगारी के लिए विद्रोह

के बाद लामार्टिनियर कालेज के प्रिंसिपल को अंग्रेजों ने ताल्लुकदार बना दिया।[२२३]

लखनऊ की जनता ने और सिपाहियों ने बिर्जिस कदर को वली घोषित किया। अवध अब स्वतंत्र नहीं था, दिल्ली की सार्वभौम सत्ता वह स्वीकार करता था। एक अंग्रेज़ लेखक ने, जो उस समय रेज़ीडेन्सी में था, हिन्दूस्तानी भेदियों के विवरण के आधार पर बिर्जिस कदर की ताजपोशी के बारे में लिखा था कि विद्रोही छोटे-बड़े और पद का विचार किये बिना महल में इकट्ठे हो गये; वे जोर-जोर से बिर्जिस कदर के बारे में बातें करने लगे; कुछ लोगों ने उसे नसीहत भी दी कि शराब, औरतों और साजिन्दों के चक्कर में न आजाना।[२२४] दिल्ली की तरह यहाँ भी सेना राजनीतिक कार्यवाही में अधिकाधिक भाग लेने लगी। वह सामन्तों को अपने नियंत्रण में रख रही थी। और इतिहास में यह एक युगान्तरकारी परिवर्तन था। इसीलिये छोटे-बड़े का भेद किये बिना वह महल में एकत्र हो सकती थी और नवाब को परम्परागत व्यसनों से बचने का उपदेश भी दे सकती थी। इसी लेखक के अनुसार मौलवी अहमदुल्लाशाह ने घोषणा करा दी थी कि नागरिकों को कोई लूटे तो वे उसका वध कर दें।[२२५] दिल्ली की तरह यहाँ भी जनता को आत्म-रक्षा के लिये स्वावलम्बन की शिक्षा दी गई थी। लूट के सम्बन्ध में जनता के और अंग्रेज़ों के पक्षों में वही अंतर यहाँ था जो दिल्ली में था।

सिपाहियों और अंग्रेज़ों दोनों ने अवध के ताल्लुकदारों को अपनी ओर मिलाने का प्रयत्न किया। राजा मानसिंह जनता के शिविर में था लेकिन उसकी सहानुभूति बहुत कुछ अंग्रेज़ों के साथ थी। रामनगर के गुरुबख्श सिंह और महमूदाबाद के राजा नवाब अली की देशी सेनाएं सिपाहियों से मिल गईं और रेजीडेंसी के युद्ध में उन्होंने भाग लिया।[२२६] इनमें अधिकतर धनुष बाण वाले पासी थे जो सुरंगें लगाने की कला में दक्ष थे। रेजीडेन्सी के घेरे में किसानों ने आकर भाग लिया। अनुमान किया जाता है कि रेजीडेन्सी का घेरा डालने वालों में आधे किसान थे जो खेतों में जोतने-बोने का काम छोड़कर युद्ध में सम्मिलित हुए थे।[२२७] इससे क्रान्ति के लोकप्रिय रूप और उसमें किसान जनता की दिलचस्पी और सक्रिय भूमिका का पता चलता है। अवध में विद्रोह का

वर्णन करने के बाद फौरेस्ट ने लिखा है कि विद्रोह से यह शिक्षा मिली कि "ऐसी क्रान्ति होना संभव है जिसमें ब्राह्मण और शूद्र, मुसलमान और हिन्दू हमारे विरुद्ध एक हो जायँ।"[२२८] अंग्रेज़ी राज ने जनता के हर स्तर को इतना झकझोर दिया था, अपनी अन्यायपूर्ण व्यवस्था से किसी वर्ग को चोट पहुँचाये बिना न छोड़ा था कि उसके विरुद्ध जनता का यह विशाल मोर्चा बनाना संभव हुआ। इस मोर्चे में जो दरारें थीं, वे दिल्ली की तरह सामंतशाही के कारण थीं।

लखनऊ में अंग्रेज़ों के विरुद्ध अवध की बेगम जैसे देशभक्त सामंत लड़े, मौलवी अहमदुल्ला शाह जैसे साम्राज्य-विरोधी धर्माचार्य लड़े, सूबेदार दिलीपसिंह चौहान, सूबेदार उमराव सिंह, सूबेदार घमंडी सिंह और सेनापति बरकत अहमद जैसे देशी सेना के नायक लड़े। इनके साथ गाँवों के किसान लड़े, उच्च वर्णों के साथ तीर कमान लिये हुए पासी लड़े। ऐसा व्यापक जन-आन्दोलन जो साधारण जनता के इतने विभिन्न स्तरों को राजनीतिक कार्यवाही में खींच कर उन्हें सशस्त्र संघर्ष में आगे बढ़ाये, यह भारत के इतिहास में पहला ही था। विश्व के इतिहास में, उस समय तक, उसकी समता के उदाहरण कम ही मिलेंगे।

अस्त्र-शस्त्रों में कमज़ोर होने पर जनता ने युद्ध-कौशल में अपनी बुद्धि और कल्पना से नये-नये तरीके ढूंढ़ निकाले थे। अंग्रेज़ों को कारतूस बीनते हुए लड़के से मालूम हुआ था कि घेरा डालने वाले अंग्रेज़ों के शस्त्र चुराते हैं।[२२९] हर जगह जनता की फौजें अस्त्र-शस्त्रों के लिये अपने शत्रुओं की युद्ध-सामग्री पर निर्भर रहती हैं। वह काम लखनऊ के सैनिक भी कर रहे थे। अंग्रेज़ों के साथ ७६५ हिन्दुस्तानी भी थे। इनको राजनीतिक रूप से शत्रुपक्ष से तोड़ कर अपनी ओर मिलाना, यह नीति भी जन-शिविर ने अपनाई। कुल मिला कर २३० हिन्दुतानी सैनिक अंग्रेज़ों का साथ छोड़ कर चले आये। कुछ भारतीय सैनिक-अंग्रेज़ों की आत्मरक्षा में महत्वपूर्ण भूमिका पूरी कर रहे थे। इंग्लिस ने लिखा था, "यदि हमारी देशी सेना, जिनका विश्वास कम होता जाता है, हमें छोड़ कर चली जाय, तो मैं कह नहीं सकता कि हमारी रक्षा का काम कैसे चलेगा।"[२३१] ७६५ देशी सैनिकों में १३० मारे गये थे, २३० अंग्रेज़ों का साथ छोड़ गये थे। यह जन-शिविर की साधारण सफलता नहीं थी। लखनऊ में जनता अंग्रेज़ों को ज्यादा दबा सकी और दिल्ली-लखनऊ के

उसका रास्ता रोक दिया गया। जुलाई के अन्त में हैवलौक उन्नाव पहुँचा और वहाँ काफी तगड़े प्रतिरोध के बाद वह बशीरतगंज आया जहाँ उसकी इतनी क्षति हुई कि उसे वापस लौट जाना पड़ा। उन्नाव में अंग्रेजों ने हिन्दुस्तानियों को चुप कर दिया लेकिन तोपें चलाने वाले वीर अन्त तक लड़ते रहे और उन्होंने तोपों के पास प्राण दे दिये। फौरेस्ट ने लिखा है कि अवध के तोप चलाने वाले बहुत ही शिक्षित सैनिक थे; उन्होंने बहुत ही जि़द के साथ संघर्ष किया और अपनी तोपों के पास लड़ते हुए मारे गये।[२३५] तोपों के शान्त हो जाने के बाद बागों से बंदूकें चलती रहीं जहाँ से ब्रिटिश सैनिकों ने उन्हें हटा कर गाँव में कर दिया। गाँव में उन्होंने डट कर अंग्रेजों का मुकाबला किया। लड़ने वाले अधिकतर गाँवों के किसान थे जो देसी बंदूकें लिये हुए थे। अंग्रेजों ने तीन बार हमला किया और तीनों बार अपने हताहत छोड़ कर उन्हें पीछे हटना पड़ा। अंग्रेजी तोपों के मुकाबले में देसी बंदूकों ने बहुत से शत्रु सैनिकों को मार गिराया। एक किसान मिट्टी के किले के दरवाजे में छिप गया। अंग्रेज जब भीतर घुसे तो उसने तोपों, हाथियों, सामान ढोने वालो पर दनादन गोलियाँ चलानी शुरू कीं। वह अंत तक लड़ता हुआ मारा गया।[२३६] अंग्रेजों ने अनुभव किया कि लखनऊ के मार्ग में इसी तरह कदम-कदम पर उनका प्रतिरोध होगा तो लखनऊ पहुँचना बहुत कठिन होगा।[२३७] इसके सिवा अंग्रेज सैनिक हैजे और पेचिश से पीड़ित हो कर नष्ट हो रहे थे। नील चाहता था कि चटपट सब काम हो जाय, इसलिये उसने अपने ऊपर के अफ्सर हैवलौक की आलोचना भी की कि वह बशीरतगंज से वापस क्यों लौट आया। इस पर हैवलौक ने उसे फटकार दिया।

दूसरी बार हैवलौक ने ३ अगस्त को लखनऊ-यात्रा आरंभ की। हिन्दुस्तानी लड़ाके एक सराय में थे जहाँ से अंग्रेजी तोपों ने उन्हें पीछे हटाया। हैवलौक ने हिन्दुस्तानियों के युद्ध-कौशल के बारे में लिखा, "जब मैं शत्रु की तोपों की मार को बंद कर देता हूँ, तब मेरी थकी हुई पैदल सेना तोपों पर कब्जा करने के लिये शक्ति नहीं बटोर पाती। मेरे पास घुड़सवार नहीं हैं, इसलिये विद्रोही जब तक उनके पास साधन होते हैं विरोध करते हैं। उसके बाद वे पीछे हट जाते हैं और उन्हें यह डर नहीं रहता कि हम उनका पीछा करेंगे।"[२३८] अवध में अंग्रेज़ों का प्रति-

रोध किस तरह होता था, उसकी बहुत अच्छी झलक इन वाक्यों में मिलती है। जनता लड़ने वालों के साथ थी, इसलिये पीछे हटने में, गाँवों में, बागों में, खेतों में छिप जाने में उसे कोई कठिनाई न होती थी। अंग्रेज़ी सेना घुड़सवारों के बिना उनका पीछा न कर सकती थी। पैदल सैनिक तोपों से दूर जाकर लड़ने की हिम्मत न करते थे। फौरेस्ट के शब्दों में हैवलौक के विरुद्ध हर गाँव की रक्षा की गई। आगे चल कर यही अनुभव रौबर्ट्स को भी हुआ। गाँवों के इस सामूहिक संघर्ष के कारण ही फौज की फौज उनमें छिप सकती थी जिसका अंग्रेज़ों को पता ही न चलता। नाना साहब के अन्तर्धान होने के बाद उनकी सेना भी ग़ायब हो गयी और अंग्रेज़ आश्चर्य ही करते रहे कि वह गई कहाँ। बशीरतगंज की दूसरी लड़ाई के बारे में एक अंग्रेज़ अफ्सर ने लिखा था, "ऐसी तीव्र अग्निवर्षा का सामना मुझे कभी नहीं करना पड़ा।" उन्नाव के किसानों पर विजय पाकर हैवलौक लखनऊ की ओर बढ़ने के बदले फिर वापस लौट आया।

अगस्त में अंग्रेज़ी सेना ने बिठूर ले लिया। इस लड़ाई के बारे में श्री सुरेन्द्रनाथ सेन ने लिखा है कि सिपाहियों की वीरता एक बार फिर अपने से श्रेष्ठ नेतृत्व से पराजित हुई। यह प्रश्न श्रेष्ठ नेतृत्व का नहीं था, यह हैवलौक के वक्तव्य और उस पर श्री सेन की टिप्पणी से ही स्पष्ट है। हैवलौक ने लिखा था, "विद्रोहियों के प्रति न्याय की बात यह कहूँगा कि वे डटकर लड़े। वर्ना ज़मीन से बहुत लाभ उठाते हुए भी वे मेरी शक्तिशाली तोपों की मार का घंटे भर सामना न कर सकते थे।" इस पर श्री सेन ने बहुत ठीक लिखा है, "प्रत्येक युद्ध में जहाँ हिन्दी-अंग्रेज़ी फौज विद्रोहियों से लड़ी, वहां विजेताओं को यह लाभ था कि उनके पास श्रेष्ठ हथियार थे।"[२३९] सैनिक कारणों में यह देशी सेना की पराजय का मुख्य कारण था। आरंभ से अंत तक अंग्रेज़ों को युद्ध-सामग्री की कभी कमी नहीं रही। इसलिये उनकी जीत का कारण श्रेष्ठ सैनिक नेतृत्व न था। उनके बड़े-बड़े सेनापतियों के पैंतरे न केवल देशी सेना के सूबेदारों ने वरन् सहज प्रतिभा वाले तात्या टोपे, मौलवी अहमदुल्ला शाह जैसे लोगों ने भी व्यर्थ कर दिये थे।

२५ सितंबर को, लगभग उसी समय जब अंग्रेज़ों ने दिल्ली पर अधिकार किया था, हैवलौक और आउट्रम ने लखनऊ में प्रवेश किया।

लेकिन अभी लखनऊ पर अधिकार करने में देर थी।

जुलाई में दानापुर, बिहार की पल्टनों ने विद्रोह किया। कमिश्नर टेलर का कहना था कि दानापुर के सैनिकों ने पुलिस के नाम पत्र भेजे थे कि वे सब एकदिल हैं और पुलिस को उनकी बग़ावत में साथ देना चाहिए।[२४०] सिपाहियों के विद्रोह करने के बाद अंग्रेज़ों ने पीछा करना चाहा लेकिन बरसात में तोपें गीली धरती में फँस कर रह गईं। अंग्रेज़ों ने सिपाहियों की झोंपड़ियों में आग लगा कर अपना गुस्सा ठंडा किया। अंग्रेज़ एक भी सिपाही को न पकड़ पाये। कारण यह था कि "देहात की हालत देशी लोगों के अनुकूल थी"; [२४१] अर्थात् अंग्रेज़ों की न्याय-व्यवस्था से त्रस्त किसान सिपाहियों के साथ थे।

पटना में कमिश्नर टेलर ने इतना आतंक फैलाया था कि कलकत्ता-सरकार ने उसे पदच्युत कर दिया था। एक सिरफिरा फौजी अफसर और था मेजर जेम्स होल्म्स। उसने अपनी ज़िम्मेदारी पर तिरहुत, छपरा, चंपारन, आज़मगढ़ और गोरखपुर में मार्शल ला जारी कर दिया। उसका विचार था कि एक होशियार आदमी दस मूर्खों से ज्यादा काम का होता है। इसलिये होशियार आदमी ने राज्यद्रोह की बात सुनकर उसकी रिपोर्ट न करने वालों के लिये भी मृत्यु-दंड की व्यवस्था कर दी। इस व्यवस्था को अमल में लाने के लिये उसने अपनी सेना के दस्ते देहात में आतंक फैलाने के लिये भेज दिये। घुड़सवारों की एक टुकड़ी ने उसे प्राण-दंड देकर कुछ समय के लिये यह आतंक बंद किया।

सिपाही आरा की ओर चले। कैप्टेन डनबार के नेतृत्व में एक छोटी सेना उनसे लड़ने आई। सिपाहियों ने बागों में ब्रिटिश सेना को घेर लिया। चारों ओर से उन पर सिपाहियों ने अपनी मस्केटों से गोलियाँ बरसाईं। अंग्रेज़ों को लगता था कि हर तरफ दुश्मन है। गावों से, बागों से, खाइयों से और मकानों की छतों से, हर तरफ़ से उन पर गोलियों की बौछार पड़ती थी। अंग्रेज़ उलट कर गोलियाँ चलाते थे लेकिन उन्हें दुश्मन न दिखाई देता था। जहाँ हिन्दुस्तानी सिपाहियों की बंदूकों का निशाना दिखाई दे, उधर वे अन्दाज़ से गोलियाँ चलाते थे।[२४२] इस युद्ध में भारतीय लड़ाकों ने तेज़ी से अपने स्थान

बदल कर, हर तरफ की आड़ से लाभ उठा कर, छिपकर वार करते हुए पीछे हट कर अपने युद्ध कौशल से अंग्रेज़ों के एनफील्ड राइफलों को व्यर्थ कर दिया। लेकिन गोली बारूद की कमी अभी से महसूस होने लगी थी। उनकी गोलियाँ खत्म हो रही थीं। अंग्रेज़ों ने खैर मनाई कि जो बचे, उनकी जान बची। वे नावों पर चढ़ कर भागने लगे। सिपाहियों ने उनकी नावों पर गोलियाँ चलाईं और कुछ को डुबो दिया और कुछ में आग लगा दी। अंग्रेज़ी सेना में कुछ को गोलियाँ लगीं, कुछ जले और कुछ डूब गये। कुछ ने हथियार फेंक दिये और कुछ कपड़े उतार कर पानी में कूद पड़े। एक की नाव में आग लग गई। वह पानी में कूद पड़ा, तभी किनारे से गर्दन में गोली लगी। डनबार चार सौ आदमी लेकर चला था। उनमें आधे मारे गये। आधे में केवल एक चौथाई ही ऐसे थे जो घायल न हुए थें। दानापुर में अंग्रेज अधिकारी उनका स्वागत करने को एकत्र हुए थे। लेकिन जब लौटने वालों की दशा देखी तो कोहराम मच गया।

आरा में ब्वायल की कोठी में अंग्रेज़ों ने आत्मरक्षा का प्रबन्ध किया। उन्होंने खाने-पीने का सामान रख लिया और काफी युद्ध-सामग्री जुटा ली। २७ जुलाई को सिपाहियों ने कोठी घेर ली। दानापुर के अनेक सिख सैनिक अपने भाई हिन्दुस्तानी सैनिकों का साथ दे रहे थे। उन्होंने अंग्रेज़ों का साथ देने वाले सैनिकों को बुलाया कि शत्रु का साथ छोड़ कर अपने भाइयों के पास आ जायँ। सिपाहियों के पास अस्त्रशस्त्रों और गोली-बारूद की कमी थी। उन्होंने भूसा और लकड़ी लाकर दीवालों के नीचे चुन दिया। उसमें आग लगाकर उस पर मिर्चें झोंक दीं। दूसरी तरकीब उन्होंने यह की कि अंग्रेज़ों के घोड़े मार कर दीवालों के पास डाल दिये जिससे कि बदबू के मारे वे बाहर निकल आयें। सिपाहियों के पास दो तोपें थीं लेकिन गोले न थे। अंग्रेज कोठी के आहाते के एक छोटे मकान में घिरे थे। सिपाहियों ने कोठी में जो भी धातु मिली उससे, यहाँ तक कि कुर्सियाँ, पिआनों तक से, गोली बारूद का काम लिया। बिहार के प्रारंभिक संघर्ष में ही गोली बारूद की यह कमी ध्यान देने योग्य है।[२४३]

विन्सेंट आयर ३ अगस्त को आरा पहुंचा और उसके पहुँचने पर घेरा खत्म हुआ। उसने जनता को निःशस्त्र करना और उसे दंड देना

ग्रारंभ किया । बीबीगंज की लड़ाई में कुँवरसिंह को ग्रायर की तोपों के सामने पीछे हटना पड़ा ग्रौर वह जगदीशपुर चले ग्राये । ग्रायर ने जगदीशपुर में सभी मुख्य इमारतों को ही बारूद से नहीं गिरा दिया, वरन् वहाँ के मन्दिर को भी ढहा दिया। यह कोई ग्रनहोनी घटना न थी । ग्रंग्रेज़ जगदीशपुर में मंदिर तोड़ सकते थे, दिल्ली में मूर्तियाँ तोड़ कर मंदिरों को लूट भी सकते थे । प्रधान सेनापति ने ग्रायर के इस कृत्य की ग्रालोचना की, लेकिन वह ग्रायर तक पहुँची ही नहीं; कैनिंग ने उसके कार्य का समर्थन किया।

गया में जमींदार ग्रौर किसान दोनों ग्रंग्रेज़ों के विरुद्ध थे । उनके साथ पुलिस भी मिल गई । ग्रंग्रेज़ किसी तरह खजाना कलकत्ता भेज सके । बिहार का यह संघर्ष दिल्ली के युद्ध से कम महत्वपूर्ण नहीं था। बिहार की क्रान्ति से बंगाल उत्तर-पश्चिमी प्रदेशों से ग्रलग पड़ गया था । कैनिंग को लगा कि इस समय बिहार में "शान्ति" स्थापित करना दिल्ली पर विजय पाने से भी ग्रधिक ग्रावश्यक है ।[२४४] ग्रंग्रेज़ों को बिहार में सब जगह ग्रशान्ति दिखाई देती थी । भागलपुर की पल्टन की वजह से मुंगेर में हलचल थी । छोटानागपुर, मानभूम, सिंघभूम ग्रौर पालामऊ में जनता ग्रंग्रेज़ी राज को चुनौती दे रही थी । जुलाई के ग्रन्त में हज़ारीबाग की पल्टन ने विद्रोह कर दिया। राँची से रामगढ़ बटालियन हजारीबाग के सिपाहियों का दमन करने भेजी गई। उसने जमादार माधवसिंह के नेतृत्व में विद्रोह कर दिया । रामगढ़ बटालियन के सिपाही गाँवों में स्वच्छंदता से घूमते थे लेकिन जनता के समर्थन के कारण ग्रंग्रेज़ उनका पता न लगा पाते थे ।[२४५] राजगिर परगने में कंपनी का राज खतम हो गया। गोरखपुर में मोहम्मद हसन के विद्रोह के कारण ग्रंग्रेज़ों के लिये छपरा के ग्रासपास भय उत्पन्न हो गया था। जगदीशपुर से लौटने के बाद कुँवरसिंह सासाराम के पास नोखा नाम के स्थान में गये । वहाँ ग्रासपास के जमींदारों ने उनके लिये खाद्य-सामग्री जुटा दी । बुरावँ के मलिकों ने सासाराम में ग्राकर घोषित किया कि कंपनी का राज खत्म हो गया है । कुँवरसिंह के सिपाहियों की यात्रा ने रास्ते के जमींदारों पर बड़ा ग्रसर डाला ग्रौर उन्होंने किसानों के साथ खुल्लमखुल्ला विद्रोह कर दिया। इस तरह जुलाई-ग्रगस्त सन् ५७ में बिहार की ग्रवस्था बहुत कुछ ग्रवध से मिलती थी जहाँ किसानों, जमीं-

दारों और सिपाहियों ने मिलकर अंग्रेज़ी राज से युद्ध छेड़ दिया था। कुँवरसिंह मिर्जापुर की ओर आये और वहाँ से रीवां गये। वहाँ का राजा उन्हें रियासत में आने से मना ही करता रहा लेकिन वहाँ की जनता की सहानुभूति कुँवरसिंह के साथ थी। वह राजधानी छोड़कर चला गया। रीवां के अंग्रेज़ों ने कुँवरसिंह का मुकाबला किया। जनता ने विशाल प्रदर्शन करके लेफ्टिनेंट विलोबी औसबर्न की कोठी घेर ली। रीवां से कुँवरसिंह बांदा चले गये। उनकी यह गतिविधि क्रान्ति के प्रसार, उसके विभिन्न नेताओं में परस्पर संपर्क और संघर्ष की एकसूत्रता का परिचय देती है।

दिल्ली के साथ अवध और बिहार का यह व्यापक जन-संघर्ष चल रहा था। दिल्ली के पतन के बाद अंग्रेज़ों की आशा के अनुकूल विद्रोह समाप्त न हुआ वरन् गाँवों में फैलकर उसने और भी व्यापक रूप लिया। हर जगह जनता ने अंग्रेज़ी राज का जुआ उतार फेंका और कुछ समय के लिये स्वाधीनता की मुक्त वायु में सांस ली।

दिल्ली के बाद

दिल्ली पर अधिकार करने के बाद अंग्रेज़ों की एक सेना बुलंदशहर की ओर चली। मालागढ़ में वलीदाद खाँ ने बहादुरशाह के नेतृत्व में देशी राज्यसत्ता कायम की थी। अंग्रेज़ी सेना से बुलंदशहर में भारतीय सैनिकों ने टक्कर ली। बुलंदशहर की तंग गलियों में रौबर्ट्स के अनुसार कठिन युद्ध हुआ। मालागढ़ में अंग्रेज़ों ने देखा कि तोपों की गाड़ियाँ बनाई जाती थीं और वहाँ कुछ अधबनी तोपें भी पड़ी थीं। मालागढ़ उन स्थानों में से था जहाँ हिन्दुस्तानी सैनिक युद्ध सामग्री की कमी की समस्या हल कर रहे थे। अंग्रेज़ों ने मालागढ़ का किला बारूद से उड़ा दिया। साथ में दिल्ली के कश्मीरी दरवाजे को उड़ाने वाला इंजिनियर लेफ्टिनेंट होम भी उड़ गया।

अलीगढ़ में इस सेना ने देखा कि दीवालों के सामने भीड़ लगी है। लोग तरह-तरह के बाजे बजा रहे हैं और साथ में अंग्रेज़ों को हिन्दुस्तानी में चुनी हुई गालियाँ भी देते जा रहे हैं। यह अलीगढ़ की जनता थी जो दिल्ली के अंग्रेज़ विजेताओं का स्वागत कर रही थी। रौबर्ट्स ने लिखा है कि उस भीड़ में उसे एक भी सिपाही नहीं दिखाई दिया। यह विशुद्ध जनता का राजनीतिक प्रदर्शन था। अंग्रेज दिल्ली की गलियों की लड़ाई से सबक सीख चुके थे। यहाँ शहर में प्रवेश न करके उन्होंने बाहर से नगर छोड़कर जाने वालों का पीछा किया। बहुत से लोग खेतों में जाकर छिप गये। सिपाहियों के न होते हुए भी अंग्रेज़ों ने अलीगढ़ की गलियों में युद्ध की संभावना को शंकित चित्त से देखा, यह जन-प्रतिरोध की सफलता का प्रमाण था।

अलीगढ़ और कानपुर के मार्ग में अकराबाद नाम के स्थान में दो राजपूत भाई रहते थे जिन्होंने विद्रोह में महत्वपूर्ण भाग लिया था। वे दोनों लड़ते हुए मारे गये। वहाँ से यह सेना आगरे वालों की मदद के लिये आई जहाँ रौबर्ट्स ने अनुभव किया कि विद्रोही सेना गाँवों में बिखर कर बड़ी आसानी से विलुप्त हो जाती है। वहाँ से यह टुकड़ी मैनपुरी, बेवर होती हुई कानपुर पहुँची।

ग्रेटहेड के नेतृत्व में चलने वाली इस सेना के साथ गफ़ भी था। बुलंदशहर की ओर चलते हुए उसने देखा कि अंग्रेज़ी राज्य से जिस चीज़ का भी सम्बन्ध था, वह नष्ट कर दी गई थी। बुलंदशहर में सरकारी इमारतें और बँगले जला दिये गये थे। लोग तार के खंभे उखाड़ ले गये थे और उन्होंने मील के पत्थरों तक को अंग्रेज़ी राज्य का प्रतीक मान कर तोड़ डाला था। ये तार के खंभे तीन फुट लंबे लोहे के खोल में लगे होते थे। सिपाहियों ने इनकी छोटी-छोटी तोपें बना ली थीं और तारों को काट कर गोले बनाये थे।[२४६] इससे एक तरफ तोपों की कमी का अंदाज होता है; दूसरी ओर जनता की रचनात्मक प्रतिभा की प्रशंसा करनी पड़ती है जो हर चीज को युद्ध के लिये इस्तेमाल कर सकती थी।

कानपुर में लखनऊ की ओर चलते हुए गफ़ को मेरठ की अनियमित घुड़सवार सेना के सिपाही मिले। उन्होंने अपनी बंदूकों से बाढ़ दागकर गफ़ का स्वागत किया। इस सेना का काम रास्ते के गाँवों को दंड देना भी था। एक गाँव में गफ़ और उसके साथी आग लगाने गये। अचानक

उसमें से शरीर में भभूत मले एक साधु निकलकर गफ़ की ओर दौड़े। उनके हाथ में लाठी थी। गफ़ ने उस पर पिस्तौल चलाई लेकिन साधु ने लाठी चलाई और बोले—गफ़ द्वारा रोमन में दिये हुए वे प्रभावशाली शब्द ये हैं—"हम भी मारेगा, सुअर।"[२४७] गाँव खाली, अकेला साधु, अंग्रेज़ी सैनिक अस्त्र-शस्त्र लिये हुए। किन्तु कैसी अदम्य घृणा थी उनके हृदय में अंग्रेज़ों के लिये। गफ़ ने तलवार से लाठी का बार बचाया लेकिन पैंतरा सँभाल न पाया। साधु उसे गाली देते हुए जलते हुए गाँव में लौट गये। गफ़ ने उनकी वीरता की प्रशंसा में उन्हें "गैलेंट स्काउंड्रेल" (साहसी बदमाश) लिखा है। इस एक घटना से जनता की अदम्य प्रतिरोध-भावना का पता चलता है।

३० अक्टूबर को कानपुर से अंग्रेजी सेना लखनऊ के लिये चली। लखनऊ के पास अंग्रेज़ों के एक दस्ते को कुछ यात्री मिले जिन्होंने कहा कि काशीजी जारहे हैं। इसी समय अंग्रेज़ों के सिर पर से एक गोली निकल गई। तीन चार सौ गज की दूरी पर एक हथियारबंद भीड़ दिखाई दी जो इस दस्ते और मुख्य सेना के बीच में आगई थी। रौबर्टस इस दस्ते के साथ था। उसे लगा कि सारा मैदान हथियारबंद लोगों से भरा पड़ा है। अंग्रेज़ तुरत घोड़े दौड़ा कर एक गाँव की ओर भागे। गोलियों की बौछार पीछा कर रही थी और वे भागते जाते थे। गाँव को बचाकर ये लोग आगे निकले कि एक नल्ला दिखाई दिया। रौबर्ट्स नल्ले में गिर पड़ा और उसकी की तलवार से उसका हाथ घायल हो गया। कठिनाई से खेतों में छिपकर जान बचाते हुए किसी तरह वह मुख्य सेना के पास पहुँचा। यह सेना आगे बढ़ी "और हमने अपने विरोध में एक विशाल समूह देखा। ये सैनिक नहीं थे, देहात के लोग थे जो उन दिनों सभी अस्त्र-शस्त्र से सुसज्जित योद्धा होते थे और जो अधिकतर समय आपस में लड़ने में बिताते थे।"[२४८] भले ही आपस में लड़ते रहे हों, इस समय तो वे सब एक होकर अंग्रेज़ों से लड़ रहे थे। जैसे ही अंग्रेज़ सैनिक उनके निकट पहुँचे, वे मैदान की ऊँची घास में छिप गये। "ऊँची घास से लाभ उठाकर वे उस आश्चर्यजनक वेग से अन्तर्धान हो गये जिससे देशी लोग प्रायः एक क्षण में अदृश्य हो जाते हैं।"[२४९] इसका अर्थ यह है कि अवध के किसान छापेमार युद्ध करना जानते थे। वे ऊँची घास से लाभ उठाते थे। दुश्मन पर अचानक वार करते थे। उसके अधिक शक्तिशाली

होने पर क्षण में ग़ायब हो जाते थे। अंग्रेज़ दूसरी जाति के देश में घास, नालों, गांवों से इस तरह लाभ न उठा सकते थे। उनकी सेना राइफलों और तोपों के बल पर कुछ सामन्तों की सहायता से यहाँ की जनता को आतंकित करके अंग्रेज़ी राज की जड़ें फिर से जमा रही थी। दूसरी ओर किसान और सिपाही गाँव, घास, नाला, झील, हर कहीं अपनी रक्षा के साधन खोज लेते थे और अंग्रेज़ उन्हें घेर कर मारने में कभी सफल नहीं हुए। एक लोकप्रिय राज्यक्रान्ति में ही इस तरह का छापेमार युद्ध संभव है।

इस घटना पर रौबर्ट्स की टिप्पणी दिलचस्प है। उसने लिखा है कि उस समय समझ में न आया कि ये आदमी कहाँ से निकल पड़े हैं। बाद को पता चला कि दिन में अंग्रेज़ जिन गाँवों को छान गये थे और जिन्हें उन्होंने खाली पाया था, उनमें रात में जमींदारों ने अपने सैनिक लेकर डेरा जमाया था। अधिक रात हो जाने के कारण अंग्रेज़ी सेना पर आक्रमण करने की उनकी योजना सफल न हो सकी।

९ नवम्बर को अंग्रेज़ सेनापति कौलिन कैम्पबेल इस सेना से आ मिला। इसी समय तात्याटोपे के नेतृत्व में ग्वालियर की सेना कानपुर की ओर बढ़ रही थी। इस समय कानपुर पर अधिकार करना लखनऊ की सबसे अच्छी सहायता थी। लखनऊ के निकट जलालाबाद के किले से अंग्रेज़ों पर गोले बरसाये गये। दूसरे दिन जब अंग्रेज किले में गये तो उन्होंने उसे खाली पाया। उन्होंने उसे बारूद से उड़ा दिया। १३ नबंबर को कैम्पबेल की सेना ला मार्टिनियर पहुँच गई और १६ को उसने सिकंदर बाग पर हमला किया। सिकन्दर बाग की दीवाल में चाँदमारी के लिये सूराख बने हुए थे। उसमें अन्दर जाने के लिये एक ही दरवाजा था। सिकंदर बाग से अंग्रेज़ों पर निरंतर अग्निवर्षा होने लगी। यहीं कौलिन कैम्पबेल के गोली लगी थी लेकिन वह तोपची के लगकर आयी थी और खाली थी; इसलियें कैम्पबेल बच गया। अंग्रेज़ों ने दक्षिण पूर्वी दीवाल पर गोलाबारी करके घुसने का प्रयास किया। तोपखाने का कैप्टेन हार्डी मारा गया। १४ गोरे और अन्य सैनिक भी मारे गये। आध घंटे में अंग्रेज़ों ने तीन फुट लम्बी-चौड़ी दरार कर ली। इससे ब्रिटिश पैदल सेना ने भीतर प्रवेश किया। एक स्काटलैण्ड का सैनिक सबसे पहले कूदा और मारा गया। उसके बाद पंजाब-सेना एक का

सिपाही कूदा और वह भी मारा गया।

दरार छोटी होने के कारण उसमें सैनिकों का जमघट बढ़ गया। इस बीच कुछ अन्य सैनिकों ने सिकंदर बाग का फाटक खोल दिया। सिकंदरबाग में दुर्धर्ष युद्ध हुआ। रत्ती-रत्ती जमीन के लिये भारतीय सैनिकों ने युद्ध किया। भाग कर जान बचाने के बदले उन्होंने अपनी जगह लड़ते-लड़ते प्राण देना उचित समझा। वे किस साहस से लड़े, उसकी एक मिसाल यह है। कुछ सिपाहियों के पास मस्केटें थीं; कुछ ढाल-तलवार लिये हुए थे। सिकंदरबाग के एक सिरे की ओर इवार्ट नाम का ब्रिटिश अफसर कुछ सैनिकों को लेकर बढ़ा। उन्होंने उसे नज़दीक आ जाने दिया। जब वह दस गज रह गया तब उन्होंने बंदूकों से बाढ़ दागी। मैलीसन ने लिखा है कि अंग्रेज़ों के भीतर घुस आने पर लड़ाई खत्म नहीं हो गई। हर कमरे, हर जीने, हर कोने के लिये अंग्रेज़ों को संघर्ष करना पड़ा।[२५०] न सैनिकों ने दया की भीख मांगी, न उन्होंने दूसरों को दया की भीख दी। गफ़ के अनुसार सत्रह सौ से ऊपर भारतीय सैनिक खेत रहे।

उन दिनों शाहनजफ की इमारत के पास जंगल थे। अंग्रेज़ बढ़ते चले आये कि अचानक उन पर जोरों से गोलियाँ बरसने लगीं। मेजर बार्न्स्टन के दस्ते तोपों के संरक्षण में आगे बढ़े। अपनी तोप का एक गोला लगने से बार्न्स्टन बुरी तरह घायल हो गया और कुछ समय बाद मर गया। अंग्रेज़ी दस्ते पीछे हटने लगे। और पैदल सेना भेजी गई किन्तु शाह-नजफ़ के रक्षकों की मार के सामने उन्हें भी पीछे हटना पड़ा। इसी समय अंग्रेज़ों पर गोमती के उस पार से एक तोप ने गोला-बारी शुरू की। पहला ही गोला अंग्रेज़ों की एक गाड़ी पर गिरा जिसमें गोली-बारूद रखी थी। किन्तु अंग्रेज़ सेना को मुख्य शिकायत तोपों से न थी। मस्केटों से लगातार गोलियाँ बरसती रहीं और पील के आदमियों की इतनी क्षति हुई कि उसकी एक तोप काम ही न कर सकी। आक्रमण को आरंभ किये हुए तीन घंटे हो चुके थे। शाम हो रही थी और भारतीय सैनिकों की अग्निवर्षा धीमी होने के बदले और तीव्र होती जा रही थी।

कौलिन कैम्पबेल ने आगे बढ़ने का हुक्म दिया। जिस तंग रास्ते से अंग्रेज़ी सेना बढ़ रही थी वह हताहत सैनिकों और घोड़ों से

पट गया ।[२५१] अंग्रेज़ों ने अपनी जंगी तोपें लगा दीं लेकिन शाह-नजफ की दीवालें न तोड़ पाये। मैलीसन द्वारा दिये हुए वर्णन के अनुसार शाहनजफ के सामने की इमारतें जल रही थीं। शाहनजफ के चारों ओर धुएँ के बादल छाये थे लेकिन बंदूकें चलने की चमक से उस पर प्रकाश पड़ जाता था। मैलीसन द्वारा उद्धृत अंग्रेज़ लेखक के वर्णन में यह स्वीकार किया गया है कि "हमारी जंगी तोपें शाहनजफ की अग्नि-वर्षा पर काबू न पा सकीं। उसके सामने हम अपने आगे वाले मोर्चे की रक्षा भी न कर सके।" एक बार फिर पुरानी बंदूकों ने अंग्रेज़ों की जंगी तोपों की मार व्यर्थ कर दी थी। उस अंग्रेज़ लेखक ने शाहनजफ की लड़ाई को इतना महत्व दिया है कि हिन्दुस्तान में अंग्रेज़ी राज के भविष्य को उसी पर निर्भर बताया है। जैसे ही अंग्रेज़ सैनिक दीवालों के पास पहुँचते, उसके रक्षक उन्हें भून डालते। कौलिन कैम्पबेल, होपग्राण्ट, बड़े छोटे सेना-नायक सभी जूझ रहे थे लेकिन बंदूकों की मार के आगे न बढ़ पाते थे। अंत में उन्होंने इमारत के भीतर रौकेट फैंके और कुछ अंग्रेज़ों को दूसरी ओर अदर प्रवेश करने का मार्ग मिल गया। दोनों ओर से घेर लेने पर भी अंग्रेज़ शाहनजफ के रक्षकों को पकड़ न पाये। वे वहाँ से निकल आये और दूसरी जगह अंग्रेज़ों की राह रोकने के लिये तैयार हो गये। कैम्पबेल पीछे हटने का विचार कर चुका था। उसकी यह विजय एक सीमा तक आकस्मिक थी।

लखनऊ में आगे बढ़ते हुए अंग्रेज़ों को अनेक स्थानों में सशक्त प्रति-रोध का सामना करना पड़ा। ऐसा ही एक स्थान मोती महल था जिसके लिये मेलीसन ने लिखा है कि उसके एक-एक कमरे के लिये लड़ाई हुई। कैसरबाग के निकट से निकलने में अंग्रेज़ों को मस्केटों की तीव्र अग्नि-वर्षा का सामना करना पड़ा। नेपियर, हैवलौक (जनरल का पुत्र), सिटवेल, रसेल आदि अनेक अफ्सर आहत हुए। ये अंग्रेज़ सेनापति कैम्पबेल से मिलने मोती महल आ रहे थे।

दूसरे दिन अंग्रेज़ों ने कैसरबाग के पास अपना झंडा गाड़ा। भारतीय सैनिकों ने गोलियों की बौछार से झंडा नीचे गिरा दिया। दूसरी बार उन्होंने झंडा गाड़ा और इस बार भी वह गिरा दिया गया। केवल तीसरी बार फहराने पर वह टिक पाया। कैसरबाग की गोलाबारी का मुकाबला करने के बाद अंग्रेज रेज़ीडेन्सी पहुँचे। रौबर्ट्स

ने बेली गारद के बारे में लिखा है कि ऐसी एक इंच जगह भी न थी जिसमें गोला-गोली का निशान न बना हो। इससे मालूम होता है कि हिन्दुस्तानी सिपाहियों ने रेज़ीडेन्सी पर अधिकार करने के लिये किस तरह प्रयत्न किया था।

रौबर्ट्स के अनुसार अंग्रेजों की सेना में हताहतों की संख्या ४५ अफसर और ४६६ सैनिक थी। इसलिये अंग्रेजों को कैसरबाग और नगर पर तुरंत हमला करने का विचार छोड़ना पड़ा। दिलकुशा से रेज़ीडेन्सी तक के मार्ग की रक्षा करना भी आवश्यक था। १६ नवंबर की शाम को रेज़ीडेन्सी के निवासी सिकंदरबाग पहुँच गये। २७ को उन्होंने कानपुर की ओर वापस यात्रा आरंभ की। कानपुर में हिन्दुस्तानी सेना ने तात्या टोपे के नेतृत्व में शहर और छावनी पर अधिकार कर लिया था। अंग्रेजी सेना का नेता वाइंढम हर तरफ से घिर गया था, वह क्राइमिया में काफी प्रसिद्धि प्राप्त कर चुका था किन्तु इस संग्राम में अनेक बार यह स्पष्ट हो गया कि समर-चतुराई में अंग्रेज सेना-नायक हिन्दुस्तानियों से बढ़ कर नहीं हैं; युद्ध-सामग्री और तोपों की बात दूसरी थी। कैम्पबेल के पहुँचने पर भारतीय सेना बिठूर की ओर हट गई। जगदीशपुर की तरह बिठूर में भी अंग्रेजों ने मंदिरों का ध्वंस किया और इस तरह अपनी धर्मान्धता का परिचय दिया। यहाँ की लूट का सारा माल ब्रिटिश सरकार ने जब्त कर लिया और सेना को कुछ न मिला।

कानपुर और आगरे के बीच में विद्रोह का एक केन्द्र फतेहगढ़ था। यहाँ किले में तोपें, गोले और बारूद बनाने का कारखाना था। अंग्रेजों ने किले पर अधिकार करने के बाद देहात में आतंक फैलाने के लिये दस्ते भेजे। कमिश्नर पावर को अंग्रेज "हैंगिग पावर" (फाँसी देने वाली शक्ति) कहते थे। उसने सैकड़ों व्यक्तियों को फाँसी देकर फिर से अंग्रेजी व्यवस्था कायम की।

अंग्रेजों की एक सेना इटावा और मैनपुरी की ओर चली। इटावा पर से अंग्रेजों का अधिकार खत्म हो चुका था। सेना के पहुँचने पर लोग नगर छोड़कर चले गये। लेकिन कुछ लोगों ने एक इमारत में अंग्रेजों का मुकाबला जम कर किया। उनके पास केवल मस्केटें थीं लेकिन उन्होंने अंग्रेजों के राइफलों और तोपों की पर्वाह न की। शत्रु ने दस्ती गोले फेंके; भूसे में आग लगा कर उन्हें निकालने की कोशिश की।

तीन घंटे तक वे मुट्ठी भर वीर अंग्रेजी सेना पर अपनी बंदूकों से गोलियाँ बरसाते रहे और यह अग्निवर्षा "कारगर"[२५२] (effective) भी साबित हुई। अंत में अंग्रेजों ने उस इमारत को बारूद से उड़ा देने का विचार किया। इमारत उड़ गई और उसके रक्षक वीरों ने उस धरती के लिये लड़ते हुए वीर-गति प्राप्त की।

फतहगढ़ की तरह अंग्रेजों को मैनपुरी में भी तोपें बनाने की भट्टी मिली।[२५३]

फतहगढ़ पर अधिकार करने के बाद कौलिन कैम्पबेल का विचार रुहेलखंड पर अधिकार करने का था। किन्तु गवर्नर जनरल की राय थी कि पहले अवध पर अधिकार करना आवश्यक है। अंग्रेज इस समय विद्रोह का दमन न कर रहे थे। वे नये सिरे से स्वाधीन उत्तर भारत पर अधिकार कर रहे थे। उन्हें हर गाँव, हर नगर के लिये फिर से संघर्ष करना पड़ रहा था। दिल्ली की तरह लखनऊ का विशेष राजनीतिक महत्व था। अंग्रेजों के इकबाल पर लोगों को विश्वास न होता, जब तक लखनऊ पर यूनियन जैक न फहराता। दिल्ली और अवध की तुलना करते हुए कैनिंग ने लिखा था, "दिल्ली की तरह सभी की आँखें अवध पर लगी हुई हैं। अवध सिपाहियों के एकत्र होने का केन्द्र ही नहीं है जिसकी ओर वे देखते हैं और जहाँ की कार्यवाही से उनकी आशाओं-आकांक्षाओं का उत्थान-पतन होता है। अवध में एक खानदान भी है। अवध का एक बादशाह है जो अपनी सी करना चाहता है।" [२५४] देशी राज्यों के अन्य सामंत दिल्ली की तरह लखनऊ के भविष्य को देखकर अपनी नीति निर्धारित करना चाहते थे। कैनिंग इस राजनीतिक महत्व को समझ कर लखनऊ पर अधिकार करके इन देशी राज्यों की तटस्थता या ढुलमुलपन खत्म कर देना चाहता था और उन्हें अंग्रेजी शासन का दृढ़ मित्र बना लेना चाहता था। लखनऊ का अन्तरराष्ट्रीय महत्व था। सुदूर बर्मा में भी लोग उत्सुकता से लखनऊ के समाचार पूछते थे। [२५४]कारण यह था कि भारतीय जनता के संघर्ष से पड़ोस के एशियाई देशों की जनता के हृदय में आशा का संचार हो रहा था। इसके सिवा कैनिंग को डर था कि नैपाल की सीमा पर गोरखपुर में देशी राज्यसत्ता के कायम रहने से वहाँ के निवासियों में अंग्रेजों का विरोध करने का विचार पनपने लगेगा।

लखनऊ पहुँचने से पहले अंग्रेजों और हिन्दुस्तानियों की एक महत्वपूर्ण लड़ाई मिश्रांगंज में हुई। अंग्रेज़ों ने यहाँ जिन्हें विद्रोही के रूप में गिरफ्तार किया, वे मुख्यतः जमींदार और शहर के लोग थे।[२५५] ब्रिटिश सैनिकों ने बहुतों को फाँसी देकर पेड़ों पर लटका दिया। होप-ग्राण्ट ने इसे उनका पाशविक और जघन्य कृत्य कहा है। (It was a berutal and disgusting outrage. ') [२५६] होप ग्राण्ट और रौबर्ट्स दोनों ने एक बूढ़े आदमी का उल्लेख किया है। जब अँग्रेज शहर के मकान गिरा कर उसे "रक्षा के अयोग्य" (!) बना रहे थे, उसने उनसे कहा, "कल तक मैं पाँच बेटों का बाप था। उनमें से तीन ये पड़े हैं। दूसरे दो कहाँ हैं, ईश्वर ही जानती है। मैं बूढ़ा और अपाहिज हूँ। मेरा घर जला दोगे तो मरने के सिवा मेरे सामने कोई चारा न रह जाएगा।" [२५७] रौबर्ट्स ने उसका मकान न गिराया लेकिन मिश्रांगंज के और न जाने कितने मकान गिराये गये जिनके दुखी निवासियों की करुण पुकारों का उल्लेख इतिहास की पुस्तकों में नहीं है। मरनेवालों के अलावा जो जीवित थे, उन्हें अपार कष्ट देकर अंग्रेज देश पर फिर से अपना अधिकार कायम कर रहे थे।

मिश्रागंज की जनता कितनी वीरता से लड़ी, उसकी एक कहानी यह है। एक मकान में एक नागरिक बंदूक लिये अपनी पत्नी के पास खड़ा था। जो भी उसके पास आता, वह उस पर गोली चलाता। अंत में गोली खाकर वह गिर पड़ा। इस पर उस वीराङ्गना ने उसकी बंदूक उठा ली और दुश्मन पर गोली चलाई ! उसका निशाना चूक गया और दूमरे क्षण वह धराशायी हो गई।[२५८] एक दूसरे मकान में होप ग्राण्ट ने देखा, एक स्त्री अपने घायल बच्चे को लिये हुए उसका उपचार कर रही है। बच्चों की बगल में गोली लगी थी। उसी के पास उसके भतीजे का मृत शरीर पड़ा था। दूसरी जगह होप ग्राण्ट ने देखा कि एक जुलाहा अपने कर्घे के पास बैठा हुआ है; उसके हाथ धागा ठीक करने की मुद्रा में हैं। अन्यत्र एक विधवा अपने मृत सिपाही के पास बैठी हुई रो रही है।[२५९] किसानों, जुलाहों का शान्तिपूर्ण जीवन भंग करके, सिपाहियों और नागरिकों का भेद न करके, लाखों विधवाओं को अनाथ करके, गाँव के गाँव और शहर के शहर वीरान करके अंग्रेज़ों ने अवध में अपना शासन कायम किया।

कौलिन कैम्पबेल ने लखनऊ पर आक्रमण करने के लिये साढ़े तीस हजार सेना एकत्र की थी जिसमें १,७४५ तोपखाने के सैनिक थे । इस सेना में नेपाल के ६,००० सैनिक भी थे ।[२५९] इस प्रकार अंग्रेज़ी आँकडों के अनुसार दिल्ली की अपेक्षा लखनऊ में अंग्रेज़ी सेना तिगुनी से भी ज्यादा थी । इससे लखनऊ के युद्ध का महत्व स्पष्ट हो जाता है । मोलवी अहमदुल्ला शाह ने आलमबाग पर आक्रमण किया और अंग्रेज़ों की प्रगति रोकने का प्रयत्न किया । दिल्ली में इस बात की डुग्गी पीटी गई थी कि सम्राट् बहादुर शाह स्वयं सेना के साथ अंग्रेजों पर हमला करने चलेंगे । किन्तु वह घोषणा अमल में न लाई गई थी । इसके बिपरीत २५ फर्बरी १८५८ को हाथी पर सवार होकर अवध की बेगम हज़रत महल ने अंग्रेज़ों पर आक्रमण किया । १८५८ में कुल मिलाकर परिस्थिति अंग्रेज़ों के अधिक अनुकूल थी । फिर भी लखनऊ का युद्ध उनके लिये अपने विशाल तोपखाने के बावजूद आसान नहीं हुआ । भारतीय सेना को पीछे हटना पड़ा किन्तु यहाँ भी सैनिकों ने अपनी सूझबूझ और साहस का अद्भुत परिचय दिया । उनमें बहुत से पेड़ों पर चढ़ गये और वहाँ से आउट्रम की निकट आती हुई सेना पर बराबर गोली चलाते रहे । इससे उन्होंने सेना के मुख्य भाग को पीछे हटने का मौका दिया । शाम को सेना के एक अंग ने अंग्रेज़ी मोर्चे के बायें बाज़ू पर आक्रमण किया । "इससे अधिक साहस से वे कभी नहीं लड़े । उन्होंने गाँव के सामने [जहाँ अंग्रेज़ी मोर्चे का बायाँ बाज़ू था] बाग पर अधिकार कर लिया । अंग्रेज़ों का निरीक्षक-दस्ता गोली-बारूद की कमी के कारण पीछे हट रहा था । इससे उत्साहित हो कर वे दबाते चले आये ।"[२६०] अंग्रेज़ों की सहायता के लिये और कुमक आने के कारण उन्हें पीछे हटना पड़ा; फिर भी सारी रात वे उस गाँव पर अधिकार करने के लिये बारबार आक्रमण करते रहे । दूसरे दिन सबेरे उन्होंने अपने आक्रमण बंद किये ।

मार्च में अंग्रेज़ों ने लखनऊ पर आक्रमण आरंभ किया । उनकी बायीं पाँति ने पीली कोठी पर हमला किया जिसमें नौ रक्षकों ने अपने से अधिक संख्या में अंग्रेज़ों को मारा और घायल किया । इनमें सिख सेना का नायक ऐण्डरसन और एक अंग्रेज़ पल्टन का नायक सेंट जौर्ज भी थे । इन नौ आदमियों पर विजय पाने के लिये अंग्रेज़ों ने अपनी बड़ी तोपें लगा

दीं, तब कहीं वे पीली कोठी पर अधिकार कर पाये । बेगम कोठी के संघर्ष के लिये कौलिन कैम्पबेल ने लिखा था कि लखनऊ के घेरे की यह सबसे भयानक लड़ाई थी।[२६१] रौबर्ट्स जब कोठी के पास पहुंचा तो उसने स्कौट सैनिकों और पंजाबियों की लाशें इधर-उधर पड़ी हुई देखीं । उसने लिखा है कि "सिपाहियों ने, यह देखकर कि बचकर निकलने का कोई रास्ता नहीं है, जमकर मुकाबला किया । बाल-बाल बचने और भयानक संघर्ष की मैंने बहुत सी कहानियाँ सुनीं । हर तरफ इस बात का शोक था कि हौडसन इस लड़ाई में यदि घातक रूप से नहीं तो खतरनाक रूप से आहत हुआ।"[२६२] यह दिल्ली का कुख्यात हौडसन था जिसे लखनऊ में अपनी क्रूरता का दंड मिला । इस इमारत की रक्षा करते हुए छः सौ सैनिक काम आये । दिल्ली की तरह लखनऊ में भी सारी जनता विरुद्ध होने के कारण अंग्रेज़ एक के बाद दूसरी इमारत का सहारा लेते हुए आगे बढ़ने थे । उनके साथ इंजिनियर, सुरंग लगाने वाले, इमारतों को बारूद से उड़ाने वाले चलते थे। उनके साथ तोपें और सैनिक आगे बढ़ते थे ।

इस समय अंग्रेज़ों का वफादार दोस्त नैपाल का राना जंगबहादुर अपनी सेना के साथ लखनऊ की विजय में हिस्सा बँटाने आया । उसकी शान में कैम्पबेल ने अपनी खास जेनरल की वर्दी पहनी लेकिन हीरे-जवाहरात से जगमगाते हुए राना के आगे उसकी तड़क-भड़क फीकी पड़ गई।[२६३] कैम्पबेल ने "नेटिव प्रिन्स" को ज्यादा "लिफ्ट" नहीं दिया और फौजी काम का बहाना करके चल दिया । इस पर भी जंगबहादुर की वफादारी में फर्क न आया; वह उस क्षणिक दर्शन से ही कृतकृत्य हो गया ।

अंग्रेजों पर इतने जोर से गोलाबारी हो रही थी कि १३ नवंबर को वे मुख्य सड़क छोड़ कर मकानों-मकानों आगे बढ़ने लगे । तोपों से रास्ता साफ कर दिया जाता था; बारूद लिये हुए इंजिनियर मकानों के अन्दर-अन्दर रास्ता बनाते जाते थे । अंग्रेजों के तोपखाने बढ़कर थे और युद्ध पर इस बात का निर्णायक प्रभाव पड़ा । मैलीसन ने लिखा है, "ब्रिटिश तोपखाना हिन्दुस्तानियों से बहुत बढ़ चढ़ कर था (overwhelming superiority)। इसके अलावा आउट्रम और गोमती के उस पार से अग्निवर्षा का समर्थन पाने के कारण उसने शत्रु की तोपों को समुचित

क्षति पहुँचान से रोक दिया।' देशी सेना के पास मस्कटें थी। अंग्रेज इन्हीं के मारे परेशान थे। आस-पास के मकानों से सिपाही अंग्रेजों के आगे बढ़ते हुए दस्तों पर जोरों से गोलियाँ चलाते थे। अंग्रेज इमामबाड़े तक मकानों के अन्दर से रास्ता बना ले गये। उसके बाद उन्होंने इमामबाड़े की दीवालों में दरारें डालने के लिए तोपें चलाना शुरू किया। शत्रु ने दीवालों से मस्केटों से अग्निवर्षा की।"[२६४] यहाँ भी तोपों के मुकाबले में मस्केटें थीं। कैसरबाग में सिपाही भरे हुए थे। इन्होंने "छतों से और पास की कोठियों के ऊपर से हमलावरों पर मस्केटों से तीव्र अग्निवर्षा की।"[२६५] अंग्रेज़ों को दिल्ली का अनुभव था। कैम्पबेल ने तै कर लिया था कि लखनऊ की सड़कों और गलियों में युद्ध न किया जायगा।[२६६] रसेल ने लिखा था, "सर कौलिन तोपों का भरोसा करते हैं और सड़कों की लड़ाई में आदमी ज़ाया न करेंगे।"[२६७] गोमती के किनारे मंदिरों को तोड़ा जाते देख कर रसेल बहुत प्रसन्न हुआ। मन्दिरों की इमारतें सुन्दर थीं, यह उसे मानना पड़ा। लेकिन उनका सम्मिलित प्रभाव तो अच्छा पड़ता था, सूक्ष्म प्रभाव खराब था! दीवालों पर कमल-पत्र उसे अच्छे न लगे। मन्दिरों के भीतर का भाग गंदा, मूर्तियाँ वीभत्स और गुंबद भारी और कम ऊंचे लगे। बारूद से उड़ाये जाने के बाद मंदिर अचानक हिलने लगे और मुँह जैसे द्वारों से आग उगलते हुए बिखर कर टुकड़े-टुकड़े हो गये। "अफसोस! गन्दे फकीरों और ब्राह्मणो, तुम्हारी बिजय बहुत अस्थायी थी।"[२६८] रसेल लन्दन के प्रसिद्ध पत्र टाइम्स का संवाददाता था। वह लखनऊ में अंग्रेज़ी सेना के साथ था। उसके भाव साधारण अंग्रेज़ सैनिकों और उनके अफ्सरों की धर्म-सम्बन्धी भावनाओं का बहुत अच्छी तरह प्रतिनिधित्व करते हैं। कितने उल्लास से उसने मंदिरों के तोड़े जाने का वर्णन किया है! और सालभर भी नहीं हुआ था जब इसी लखनऊ में हेनरी लारेन्स अंग्रेज़ों की धार्मिक उदारता की डींग हाँक रहा था और सिपाहियों से कह रहा था कि मुसलमानों के राज में वे लखनऊ में एक मन्दिर भी न बनवा सकते थे!

रसेल दिलकुशा गया और वहाँ से उसने तीस मील के घेरे में बसे हुए लखनऊ की शान देखी। महल, मीनारें, नीले और सुनहले गुंबद, सुन्दर चौड़ी छतें, खंभों की लम्बी पातें, चारों ओर हरियाली का सागर,

"कहीं भी गंदगी और वीभत्सता का चिन्ह नहीं। लगता है, यह शहर पैरिस से बड़ा है और उससे भी सुन्दर है।"[२६९] सदियों से जिस नगर में सांस्कृतिक निधियाँ एकत्र की गई थीं, स्थापत्य, शिल्प, कला और साहित्य की अनुपम निधियाँ उसमें अंग्रेजों की बर्बरता की भेंट चढ़ गईं। ब्रिटिश सैनिकों ने आग जला कर जरी के काम के बहुमूल्य वस्त्र और शाल-दुशाले जला दिये जिससे कि जल्दी से उनका सोना चाँदी मिल जाय। चीनी और काँच के सुन्दर बर्तन मखौल में उन्होंने तोड़ डाले। तस्वीरें उन्होंने फाड़ दीं या उन्हें आग के हवाले किया।[२७०] रसेल ने लिखा है, "सैनिक और खेमाबर्दार नगर के बाहर जो सामान, हर तरह की सजावट की चाजें और हर प्रकार की संपत्ति ले गये हैं, वह कल्पना की सीमा से परे हैं। उससे यह बात कुछ सच मालूम होती है कि लखनऊ में बारह लाख आदमी रहते थे।"[२७१] इस लूट के साथ कैसरबाग की दीवालें सुलग रही थीं और उनमें आहत नागरिकों और सैनिकों के शव धीरे-धीरे सुलग रहे थे। ब्रिटिश सैनिक धुएं में मुँह काला किये हुए जेबें भरे घूम रहे थे। लूट में अफसरों से लेकर सैनिकों तक सब ने भाग लिया। संवाददाता रसेल को भी हीरे-मोतियों से जड़ी हुई एक नथ मिली। जब नगर लुट चुका तब ब्रिटिश अफसरों ने अपने अन्तःकरण की पुकार सुनकर आज्ञा निकाली—सैनिक किसी नागरिक की संपत्ति न लूटें!

यह भारत में राज करने वाले प्रगतिशील अंग्रेज़ों की संस्कृति थी।

१५ मार्च की शाम को रसेल कैसरबाग के एक जनानखाने में गया। वहाँ की स्त्रियों ने कहा—हमें यकीन है कि आखिर में तुम हारोगे।

यह प्रतिक्रियावादी भारत की संस्कृति थी।

दिल्ली की तरह यहाँ भी सिपाही निकल गये थे। अंग्रेजों ने शहर पर पीछे की तरफ से हमला किया था। सिपाहियों को चारों ओर से घेर कर उन्हें मारने की योजना असफल रही। दिल्ली से भी अधिक लखनऊ में तोपों की कमी थी। लखनऊ पर प्रायः दस महीने बाद अंग्रेजों के फिर अधिकार होने का कारण न तो सिपाहियों में वीरता, अनुशासन, संगठिन और उचित नेतृत्व का अभाव था, न अंग्रेजों में अधिक वीरता, अनुशासन आदि गुणों का अस्तित्व था। उनकी जीत

लखनऊ की लूट का एक दृश्य

का राजनीतिक कारण भारत के अनेक सामंतों और नेपाल के जंगबहादुर द्वारा उनकी सहायता थी; सैनिक कारण उनके पास भारी तोपखाने और एनफील्ड राइफलों का होना था। इसमें भी तोपखाना मुख्य था। रसेल ने लिखा था, "खुदा की खैर! दुश्मन के पास ब्राउन बेस (मस्केट) ही हैं। कुछ साल और बीतते तो हममें से एक भी यहाँ खड़ा न होता क्योंकि तब हमारे अच्छे दोस्तों के पास एनफील्ड या और कोई राईफल होता।"[२७२] सवाल संगठन और नेतृत्व के अभाव का नहीं था; अंग्रेज़ जानते थे कि इन्हीं हिन्दुस्तानियों के पास राइफल होते तो अपने तमाम सैनिक कौशल के बावजूद उनके लिये जान बचाना मुश्किल हो जाता। भारतीय सेना की बन्दूकों के लिये जहाँ अंग्रेज़ों ने सदा तीव्र, भयंकर आदि विशेषणों का प्रयोग किया है, वहाँ उनकी तोपों की कमजोरी का स्पष्ट उल्लेख किया है। रसेल ने लिखा था, "उनकी गोलाबारी बहुत कमजोर है; अगर उनके पास अच्छी तोपें बड़ी संख्या में होतीं तो वे दिलकुशा को भुरकुस करके हमें निकाल देते और हमें वाकायदा खाइयाँ खोदने पर वाध्य करते।"[२७३] यह बात नहीं थी कि तोपें और गोलाबारूद हों और समरशास्त्र से परिचित न होने के कारण सिपाही उनका इस्तेमान न कर पाते हों, उनके पास अच्छी और उचित परिमाण में तोपें थी ही नहीं। तोपों के महत्व के बारे में रसेल ने कई जगह लिखा है। "दुश्मन के हाथ में थोड़े से मौर्टर होतें और अच्छी तरह चलाये जाते तो हमारी स्थिति पूर्ण शान्ति और सुरक्षा के बदले अत्यन्त अप्रिय हो जाती।"[२७४] हिन्दुस्तानियों के पास जहाँ तोपें थीं और गोला-बारूद था, वहाँ उन्होंने उनका अच्छा उपयोग किया। बैंक्स के बँगले से एक तोप की गोलाबारी देखकर रसेल ने लिखा था, "एक बार सिपाहियों ने फिर दिखा दिया कि हमने अपने देशी तोपचालकों को कितनी अच्छी तरह शिक्षित किया था।"[२७५]

अंग्रेज़ इतिहासकारों ने अपने राष्ट्रीय चरित्र की श्रेष्ठता सिद्ध करने के लिये यह कहानी गढ़ी थी कि हिन्दुस्तानी सिपाही ब्रिटिश नेतृत्व में ही वीरता से लड़ते थे। इस नेतृत्व के अभाव में उनकी वीरता कायरता में बदल जाती थी! उन्होंने अपने विरोधी देशी सैनिकों की संख्या खूब बढ़ा-चढ़ा कर दिखाई और यह सिद्ध करने का प्रयास कि कि थोड़ी

सी मार के बाद अनुशासनहीन सिपाही संगठन और नेतृत्व के अभाव में भाग चलते हैं। उनके इस प्रवाद को अधिकांश भारतीय इतिहासकारों ने भी दोहराया है। युद्ध अस्त्र-शस्त्रों के बिना नहीं हो सकता। संसार में जब तक पूँजी और मुनाफ़ा है, तब तक युद्धों की भी संभावना है। नैतिक बल से तोपों के गोले हवा में नहीं उड़ाये जाते। जो भारतीय लेखक नयी नैतिकता की डींग हांकते हैं और यह कह सकते हैं कि उन्होंने सन् १८५७ का अधूरा काम पूरा किया है, वे इतिहास के साथ बहुत बड़ा अन्याय करते हैं। अंग्रेजों ने थोड़े से सैनिकों को तोपखाने में काम दिया था; उनमें भी अधिकांश को घुड़सवार तोपचियों में न रखकर छोटी तोपों के साथ पदातियों की तरह रखा था। इससे भी १८५७ में उन्हें कटु अनुभव हुआ। रैक्स ने सेना के नये गठन के वारे में लिखा, "हर तरह की और सभी तोपें यूरोपियन और केवल यूरोपियन लोगों के हाथ में रहनी चाहिये।"[२७६] और इसका कारण उसने यह बताया, "देशी लोगों के लिये तोपों का वही महत्व है जो ग्रेट ब्रिटेन के लिये जहाज़ों का है। जिसके पास सबसे मज़बूत तोपखाना होगा वही हिन्दुस्तान का मालिक होगा।"[२७७] जब बंबई के नाविकों ने अंग्रेज़ों की ओर अपनी तापें घुमा दीं, तभी उनकी समझ में आया कि अब चलाचली का समय आगया है। नयी नैतिकता और अहिंसा ने यह कमाल अवश्य किया कि विभाजन के पहले और बाद के हत्याकाण्डों में जाने कितनों की जान गई, कितनों की इज्जत गई, कितनों का घरबार गया और कितनों को दस साल बाद भी घरबार और रोटी-रोज़ी का ठिकाना नहीं है।

लखनऊ पर अंग्रेजों का अधिकार हो गया लेकिन नगर की आत्मा अजेय थी। रसेल नगर में सैनिकों के साथ जा रहा था। दरवाजों, छज्जों, खिड़कियों, छतों से, हर तरफ़ से गोलियाँ बरसने लगीं।[२७८] एक अंग्रेज मूसाबाग में लूट के माल का प्रबंध करने गया। अचानक अनाज के खेतों से सिपाही निकल पड़े और उन्होंने बहुत ही ठंढे दिमाग से ताक कर गोलियाँ चलाईं। अपने सहायक सैनिकों के साथ उस अफसर से भागते ही बना।[२७९] "शान्ति" स्थापित होने के बाद लखनऊ में वायसराय का जलूस निकला। ताल्लुकदार झुकझुक कर सलाम कर रहे थे। "जिन सड़कों से हम गुजरे उनमें देशी लोगों की भीड़ थी। वे दबा दिये गये थे लेकिन ताबेदार न बने थे। (cowed but not tamed)।

हज़रतमहल

वे आखों में क्रुद्ध प्रतिरोध भरे देखते रहे, बहुत कम ने वायसराय के प्रति कोई सम्मान का भाव प्रकट किया।"[२८०] यह थी सौ वर्ष पहले की लखनऊ की अजेय नैतिकता।

लखनऊ पर अंग्रेजों का शासन फिर से स्थापित कराने में नेपाल के राना जंगबहादुर ने उल्लेखनीय सेवा की थी। जैसा कि प्रिचार्ड ने लिखा था, यदि अंग्रेजी राज का नाश हो जाता, तो उसके सहारे अपने तख्त-ताज सँभालने वाले बहुत से देशी सामन्तों की राज्य-सत्ता का भी नाश हो जाता। इस बात को हिन्दुस्तान के अधिकांश सामन्तों के अलावा बाहर के सामन्त भी समझते थे। इन्हीं में नेपाल का शासक भी था। उसने विद्रोह का आरंभ होते ही अंग्रेजों को अपनी सेवाएं अर्पित की थीं। उन सेवाओं से अंग्रेजों ने लाभ उठाया। लखनऊ के युद्ध के अलावा उसकी नेपाली सेना ने अगस्त १८५७ में अंग्रेजों की आज्ञा से आजमगढ़ और जौनपुर पर अधिकार कर लिया था। इस सेना के साथ अंग्रेज अफ्सर भी थे। नेपाली सेना की सहायता से अंग्रेज अवध के सीमान्त को अपने लिये सुरक्षित रख सके। १८५९ के अन्त की ओर अंग्रेजों ने जंगबहादुर के साथ यह योजना बनाई कि वह स्वयं नौ हज़ार चुने हुए सैनिक लेकर आये जिनके साथ एक ब्रिगेडियर-जेनरल कर दिया जायगा। इसके साथ अंग्रेजों की दूसरी सेना तिरहुत को "साफ़" करने के लिये बनाई गई। बिहार और अवध पर फिर से ब्रिटिश शासन स्थापित करने के लिये अंग्रेजों ने नेपाली सेना को महत्वपूर्ण काम सौंपा। गोरखपुर से देशी सत्ता खत्म करने में नेपाली सेना काम आई। यह दूसरी नेपाली सेना थी जो दिसंबर में आई थी। फर्वरी १८५८ में घाघरा पार करके जंगबहादुर अंबरपुर की ओर चला। रास्ते में एक घना जंगल था जिसमें एक छोटा सा किला था। इसमें ३४ वीरों ने अंग्रेजों का रास्ता रोकने का विचार किया। इस किले पर अधिकार करने के लिये नेपाली सेना भेजी गई। "उसकी रक्षा इतने साहस और दृढ़ता से की गई कि हमलावरों के सात आदमी मारे गये और तेंतालिस घायल हुए। उसके बाद ही वे किले पर अधिकार कर पाये। उसके रक्षक, सबके सब अपनी-अपनी जगह मारे गये।"[२८१] इस स्वाधीनता-संग्राम में जो वीरता के अनुपम कृत्य हुए हैं, उनमें से एक यह भी है।

अंग्रेज़ सेनानायक फ्रैंक्स के नेतृत्व में कुछ ब्रिटिश दस्तों के साथ नेपाली सेना ने सुल्तानपुर के नाज़िम मेंहदी हुसेन से युद्ध किया। दो एक टक्करों में पीछे हटने के बाद मेंहदी हुसेन ने सुल्तानपुर के आगे बादशाहगंज में पड़ाव डाला। यहाँ बन्दा हुसेन की सेना भी आगई। लखनऊ से मिर्ज़ा गफ़ूरबेग को भेजा गया था कि वह सेना का नेतृत्व करें और फ्रैंक्स की फौज को पीछे हटा दें। मिर्जा ग़फ़ूरबेग वाजिदअलीशाह के तोपखाने में जनरल रह चुके थे।[२८१] भारतीय पक्ष के आन्तरिक संगठन और विभिन्न स्थानों में युद्धों की परस्पर संबद्धता का यह एक और प्रमाण है। फ्रैंक्स युद्ध जीत गया लेकिन उसे अफ़सोस रहा कि उसके पैदल सिपाही भागने वालों का पीछा न कर सके। लखनऊ का रास्ता अब भी साफ़ नहीं था। मन्सब अली ने सिपाहियों का रास्ता रोका। इसके बाद अमेठी के पास धौरारा के किले में सिपाहियों ने अंग्रेज़ों और नेपाली सेना का सामना किया। अंग्रेज़ों ने दो सौ गज के फासले से किले पर तोपें चलाईं लेकिन न तो वे दीवालों में दरारें कर पाये और न बंदूकों की मार बंद करा सके। इसके बाद जंगी तोपें आईं और अंग्रेज़ों ने देशी सेना की तोपों पर कब्जा कर लिया। सिपाहियों ने एक मकान का फाटक बंद कर के अंग्रेज़ों का मुकाबला करना जारी रखा। अंग्रेज़ों ने जिन तोपों पर कब्जा किया था, उससे फाटक पर गोला चलाया लेकिन वह न टूटा। आग जलाई, उससे भी कुछ न हुआ। फाटक तोड़ने में इंजिनियर मैक्लिऑड इन्स घायल हो गया। अन्त में झख मार कर विद्रोहियों को दंड दिये बिना ही नेपाली सेना और तोपों के साथ अंग्रेज सूरमा लखनऊ चले आये!

जैसे कानपुर से लखनऊ तक पग-पग पर अंग्रेजी सेना का रास्ता रोका गया था, उसी तरह पूर्व में कैम्पबेल की सहायक नेपाली सेना और उसके साथ ब्रिटिश-दस्तों का भी वीरता से मुकाबला किया गया। दोनों ओर इस प्रतिरोध का कारण यह था कि लखनऊ में भारतीय पक्ष का नेतृत्व अंग्रेजों और उनके सहायकों की गतिविधि से परिचित था। उसने दोनों ओर जनता के समर्थन के बल पर इस प्रतिरोध का संगठन किया था। अंग्रेजों के अभियान को छुटपुट स्थानीय विद्रोहियों का सामना न करके केन्द्रबद्ध और कुशलता से संचालित प्रतिरोध का सामना करना पड़ा था। लखनऊ से मिर्ज़ा गफ़ूरबेग को सुल्तानपुर

भेजना इसका प्रमाण है।

अंग्रेजों ने लखनऊ पर अधिकार कर लिया लेकिन प्रतिरोध अभी बाकी था। सिपाहियों का पीछा करके उन्हें पकड़ने की उनकी योजना भी असफल रही।

कैम्पबेल ने होप ग्राण्ट को ११०० घुड़सवार और बारह घोड़ों से खींचो जाने वाली तोपें देकर हिन्दुस्तानी सैनिकों का पीछा करने सीतापुर की ओर भेजा। एक दूसरे सेनानायक को पैदल सेना, डेढ़ हजार घुड़सवारों और कुछ तोपों के साथ सँडीले की ओर भेजा। लेकिन उनकी पकड़ में एक भी सैनिक न आया। उनका गुप्तचर-विभाग या तो उन्हें धोखा दे रहा था या उसके लिये सैनिकों की गतिविधि का पता लगाना असंभव था। सैनिक फैज़ाबाद वाली सड़क से निकल गये थे।

१६ मार्च को आउट्रम रेज़ीडेन्सी पर अधिकार करने चला। लखनऊ पर अधिकार हो जाने के बाद भी यहाँ के सैनिकों ने अपनी बंदूकों की गोलियों से विजेताओं का स्वागत किया। इसके बाद अंग्रेजों ने गोलाबारी के बाद मच्छी भवन और इमामबाड़े पर अधिकार किया। रेज़ीडेन्सी और अन्य स्थानों के भारतीय सैनिक अंग्रेजी दस्तों पर हमला करते हुए फैजाबाद वाली सड़क से निकल गये। उधर आलमबाग में भारतीय सैनिकों ने अंग्रेजों पर आक्रमण किया और सबेरे नौ बजे से दोपहर के डेढ़ बजे तक युद्ध होता रहा। १९ मार्च को मूसाबाग में भारतीय सैनिकों और अंग्रेजों में युद्ध हुआ। अंग्रेज यहाँ भी उन्हें घेरने में असफल रहे। कैम्पबेल की सेना के पास एक गाँव के किले पर सिपाहियों का अधिकार था। उन्हें हटाने के लिये कैम्पबेल ने तोपें और घुड़सवार भेजे। अंग्रेजी तोपों के गोलाबारी करने पर किले से पचास सैनिक बाहर निकल आये और तोपों पर टूट पड़े। उन्होने तीन अंग्रेज अफसरों को घायल कर दिया जिनमें एक का घाव घातक था। अंग्रेजों की तोपों से युद्ध करते हुये ये पचासों वीर मारे गये।[२८२] लखनऊ पर अंग्रेजों का अधिकार होजाने से लोगों की हिम्मत टूट गई हो, ऐसा न था।

मौलवी अहमदुल्ला शाह लखनऊ लौट आये थे। दो तोपें लिये हुए उन्होंने सआदतगंज के एक मकान में रक्षा का प्रबन्ध किया था। तोपों के साथ अंग्रेज सेना पहुँची। "विद्रोहियों ने जैसी दृढ़ता और हठ का परिचय यहाँ दिया, वैसा और जगह बहुत कम देखने को मिला।

उन्होंने अत्यन्त वीरता से अपनी रक्षा की और तब तक न निकले जब तक उन्होंने हमारी ओर के अनेक आदमियों को मार न लिया और बहुतसों को बुरी तरह घायल न कर डाला।"[२८३] अंग्रेज़ों ने उनका पीछा किया लेकिन मौलवी साहब को फिर न पकड़ पाये।

लखनऊ के अलावा अभी सारा अवध वाकी था। रसेल ने दुख से लिखा, "दुर्भाग्य से हुआ यह है कि लखनऊ के पतन से अवध ने हर्गिज़ अधीनता स्वीकार नहीं की जैसा कि लौर्ड कैनिंग ने इलाहाबाद से अपना फर्मान जारी करते हुए [ताल्लुकदारियाँ ज़ब्त करने के बारे में] सोचा होगा।"[२८४]

कैनिंग ने जो गलती दिल्ली के बारे में की थी, वही उसने लखनऊ के बारे में की। दोनों जगह उसने भारतीय जनता के प्रतिरोध की सामर्थ्य को कम कर के आंका।

बिहार

रीवां से कुँवरसिंह बांदा गये। उनका उद्देश्य तात्या टोपे से मिलना था।[२८५] अजयगढ़ के राजा और बांदा के नबाव के बीच एक किले को लेकर झगड़ा था। श्री कालीकिंकर दत्त के अनुसार "विद्रोहियों ने नवाब और अजयगढ़ के उम्मीदवार के बीच समझौता कराना चाहा।"[२८५] समझौता न होने पर कुँवरसिंह के साथ के सिपाहियों और बांदा के नवाब ने अजयगढ़ के राजा के एक किले पर हमला किया और राजा को बंदी बना लिया। वहाँ से कुँवरसिंह काल्पी आये। ग्वालियर के सिपाहियों ने कुँवरसिंह को लिखा था कि वे जमुना पार न करें क्योंकि वे खुद उनसे मिलने आरहे थे।[२८६] सात नवंबर को ग्वालियर के सिपाही कुँवरसिंह से आ मिले। फोर्ब्स-मिचेल के आधार पर

कुँवरसिंह

श्री कालीकिंकर दत्त ने लिखा है कि दिसंबर १८५७ में ग्वालियर के सिपाही, नाना साहब और कुँवर सिंह कानपुर के युद्ध में अंग्रेज़ों से लड़े।[२८६] वहाँ उन्हें सफलता न मिली। वह लखनऊ गये जहाँ उन्हें खिलत देकर सम्मानित किया गया और आजमगढ़ ज़िले के लिये फर्मान दिया गया।

उपर्युक्त घटनाएं अवध, मध्य भारत और बिहार के संघर्षों का परस्पर संपर्क और इनमें भाग लेने वालों का परस्पर सहयोग प्रकट करती हैं। राजनीतिक दृष्टि से अवध, दिल्ली, बिहार एक ही राज्य-सत्ता के अन्तर्गत सिद्ध होते हैं।

फर्वरी १८५८ में कुँवरसिंह लखनऊ और दरियाबाद के बीच में थे।[२८७] मार्च में वह आजमगढ़ के निकट अतरौलिया पहुँचे जहाँ कर्नल मिलमैन की सेना ने उन पर आक्रमण किया। मिलमैन को वापस आज़-मगढ़ आना पड़ा और २६ मार्च को भारतीय सेना ने आज़मगढ़ पर अधिकार कर लिया। इस समय अंग्रेज़ी सेनाएं लखनऊ के लिये भेजी जा चुकी थीं। फ्रैंक्स के साथ नेपाली सेना अवध का सीमान्त छोड़ गई थी। इसलिये आजमगढ़ के कमज़ोर मोर्चे पर आक्रमण करने का यह अच्छा अवसर था। मैलीसन ने कुँवरसिंह को इस बात का श्रेय दिया है कि वह जान बूझ कर अंग्रेज़ों की इस परिस्थिति से लाभ उठा कर उन्हें दूसरी ओर से दबा रहे थे।

कैंनिंग ने इलाहाबाद से मार्क कर के नेतृत्व में सेना भेजी। मार्क की सेना पर चारों ओर से बंदूकों की बाढ़ छोड़ी गई। बागों और मकानों की छतों से उसकी तोपों के विरुद्ध गोलियाँ चलाई गईं। उसकी सेना के जानवर भाग चले। हाथी महावतों के सँभाले न सँभले और गाड़ीवान बैल और गाड़ियाँ छोड़कर भागे। मार्क कर ने मुख्य इमारत में दरार करनी चाही किन्तु पूरी तरह सफल न हुआ। अंत में उसमें आग लगा दी गई और सिपाहियों को उसमें से निकलना पड़ा। इस पर उन्होंने अंग्रेज़ी सेना पर पीछे से आक्रमण किया। कैप्टन विलसन जोन्स जो पिछली पंक्तियों की रक्षा कर रहा था, मारा गया।

अप्रैल में लुगार्ड के नेतृत्व में अंग्रेज़ी सेना कुँवरसिंह के विरुद्ध बढ़ी। उन्होंने कुछ सेना टोंस नदी के पुल पर अंग्रेज़ों को रोकने के लिये रखी और बाकी जगदीशपुर की ओर भेज दी। "लुगार्ड ने बडे ज़ोर-शोर

से विद्रोहियों पर हमला किया लेकिन कुछ समय तक उसका कुछ भी असर न हुआ। वे नावों के पुल के लिये ऐसी दृढ़ता से और इतना जम कर लड़े कि उनका युद्ध तपे हुए लड़ाकों के योग्य था। अपने लंबे प्रतिरोध से जब उन्होंने यह निश्चित कर लिया कि उनके साथी सकुशल निकल गये हैं, तभी वह पीछे हटे।"[२८८] कुँवरसिंह की रण-चातुरी का यह एक निदर्शन है। उन्होंने मुख्य सेना को वहाँ लड़ने भेजा जहाँ नगरों से दूर वह छापेमार लड़ाई अधिक सुगमता से चला सकते थे। इसके लिये वह टोंस के किनारे जमकर लड़े जिससे उनकी मुख्य सेना को बचकर निकल जाने का मौका मिले। जब अंग्रेज़ों ने पीछा किया तो उन्हें भारी निराशा हुई। "हारी और बिखरी हुई भीड़ के बदले, जो भाग-भाग कर अपनी जान बचाना चाहती हो, उन्हें ऐसा सैन्य-दल मिला जो बिना पांति तोड़े व्यवस्थित ढँग से पीछे हट रहा था।"[२८९] ये दानापुर के सैनिक थे। अंग्रेज़ों ने उन पर हमला किया लेकिन उन्हें अपनी जान बचाना ही मुश्किल हो गया। घुड़सवारों का हमला होने पर उन्होंने व्यूह बनाया और अंग्रेज़ों को हमला करने के लिये ललकारा। अंग्रेजों को काफी हानि सहनी पड़ी और उन्होंने पीछा करने का विचार छोड़ दिया। लुगार्ड ने डगलस की कमान में कुँवरसिंह का पीछा करने के लिये और सेना भेजी। कुँवरसिंह ने डगलस को तब तक अटकाये रखा जब तक उनकी सेना पीछे न हट गई। अंग्रेज़ों को चकमा देते हुए कुँवरसिंह ने गंगा पार की।

कुँवरसिंह और शाहाबाद की जनता का परस्पर संबन्ध इंजिनियर ब्वायल के एक पत्र से प्रकट होता है जो उसने सरकार को लिखा था, "कुँवरसिंह की इच्छा शाहाबाद वापस आने की है। उसने अपनी यह इच्छा बड़े पैमाने पर जाहिर करदी है। लोग उसके आने की राह देख रहे हैं और एक बड़ी संख्या में उसका और उसकी सेना का साथ देने को तैयार हैं।"[२९०]

पटना के कमिश्नर ने बंगाल-सरकार को सूचित किया था कि गाज़ीपुर के मजिस्ट्रेट ने लोगों को सख्त ताक़ीद कर दी थी कि नदी से नावें हटा दी जायँ लेकिन कुँवरसिंह को नावें मिलने में कोई कठिनाई न हुई।[२९१] इससे कुँवरसिंह की लोकप्रियता और जनता से अंग्रेज़ सरकार का अलगाव प्रमाणित होता है। गंगा के दक्षिण तट के गाँवों

के किसानों ने उनकी सहायता की और बहुत सी नावें, जहाँ डुबा दी गई थीं, वहाँ से फिर निकाल ली गईं।[२९२] इस तरह की सामूहिक कार्यवाही जन-क्रान्ति में किसानों के सम्मिलित होने की सूचक है। अंग्रेज़ लेखकों ने कुँवरसिंह के गंगा पार करने और अंग्रेज सेना-नायकों को चकमा देने की प्रशंसा की है। कुँवरसिंह ने कोई षड़यंत्र करके चुपके से गंगा न पार करली थी। दोनों ओर के गाँववाले उनकी गतिविधि से परिचित थे। किन्तु कुँवरसिंह और उनका उद्देश्य शाहाबाद से लेकर रीवां तक लोकप्रिय था और हर जगह जनता ने उनकी सहायता की। इस व्यापक जन-समर्थन के बल पर वह अंग्रेज़ों की आँखों में धूल झोंक-कर अधिकारियों की लाख हिदायतें देने और ताकीदें करने पर भी शाहाबाद पहुँच गये। इस समय उनका शरीर घायल भी हो गया था लेकिन इससे उनके अभियान के वेग में कोई अन्तर न आया।

२२ अप्रैल १८५८ को कुँवरसिंह एक हजार सैनिकों के साथ जग-दीशपुर लौटे। २३ को ली ग्रैण्ड के नेतृत्व में अंग्रेज़ी सेना ने आकर कुँवर की सेना पर जंगल में आक्रमण किया। मैलीसन ने कुँवरसिंह की सेना के लिये लिखा है कि उसमें दो हजार पस्त आदमी थे जिनके पास तोपें नहीं थीं और ठीक से हथियार नहीं थे। अंग्रेज़ों ने हस्ब मामूल तोपों से गोलावारी की और पैदल सैनिकों को हल्ला बोल कर आक्रमण करने का हुक्म दिया। किन्तु यह जंगल था जहाँ ब्रिटिश सैनिकों के लिये लड़ना वैसे ही कठिन था जैसे लखनऊ और दिल्ली की गलियों में। अंग्रेज उल्टे पाँव लौटे और तोपें छोड़कर उन्होंने आरा में ही आकर दम लिया। ली ग्रैण्ड, उसके दो अफ्सर और दो तिहाई सेना काम आई। अंग्रेजों को यह क्षति अप्रैल १८५८ में सहनी पड़ी जब वे लखनऊ और दिल्ली पर अधिकार कर चुके थे। उन्हें यह मात उन सैनिकों ने दी थी जो एक लंबी यात्रा करके थके हुए थे और जिनका वृद्ध नेता घायल था। तीन दिन बाद कुँवरसिंह की मृत्यु हो गई।

कुछ दिन बाद जब लुगार्ड ने जगदीशपुर पर हमला किया तो उसे वहाँ तोपें बनाने की भट्टी मिली। यह अनेक स्थानों में उन प्रयत्नों की सूचक थी जिनसे भारतीय पक्ष अपने औद्योगिक कौशल से अस्त्र-शस्त्रों की कमी पूरी करता था।

कुँवरसिंह के जगदीशपुर छोड़ने के बाद उनके भाई अमरसिंह ने

कैमूर पहाड़ियों से छापेमार युद्ध चलाया था। उन्होंने गया और सासाराम के बीच अंग्रेज़ों के यातायात - साधन विश्रृंखल कर दिये थे। इस युद्ध को आरा की जनता आशा और उत्साह से देखती थी। पटना के कमिश्नर ने लिखा था कि जब तक अमरसिंह सासाराम के आसपास बने रहेंगे, तब तक आरा जिले में सनसनी फैली रहेगी।[२९३] १३ सितंबर को जब अंग्रेज दिल्ली में प्रवेश कर रहे थे, इसी अधिकारी ने लिखा था कि आरा के आस-पास की जनता खुला विद्रोह कर चुकी है और अब भी पुलिस को धता बताती है।[२९४] अमरसिंह को पकड़ने के लिये अंग्रेजों ने एक हज़ार रुपये का इनाम घोषित किया। अमरसिंह ने ग्रैंड ट्रंक रोड पर तार काट दिये और डाक लेजाने वाले घोड़े पहाड़ों में भगा ले गये। कैमूर पहाड़ियों के पास के गाँव अमरसिंह की गतिविधि से परिचित थे लेकिन इनाम की चिन्ता न करके वे बराबर उनकी रक्षा करते रहे। जनवरी १८५८ में शाहाबाद के मजिस्ट्रेट ने ज़िले में छापेमार लड़ाई से चिन्तित होकर यह निश्चय प्रकट किया कि वह उन्हें पकड़ने की भरपूर चेष्टा करेगा। मई १८५८ में ली ग्रैंड ने आरा की ओर बढ़ कर कई बार अमरसिंह की सेना से टक्कर ली। भारतीय सेना ने जगदीशपुर के पास अंग्रेजों का जमकर मुकाबला किया। जगदीशपुर में अंग्रेजों को एक तोप मिली जो हाल की बनी थी। उसके साथ उन्हें दो अधबनी तोपें भी मिलीं। "वह लकड़ी की बनी थी और उसकी नली तांबे की थी जो बहुत ही कौशल से बनाई गई थी। यद्यपि ज़्यादा गोलाबारी के योग्य न थी, फिर भी थोड़े फासले के लिये वह बहुत कारगर होती।"[२९५] ली ग्रैंड का यह वक्तव्य सिद्ध करता है कि कुँवरसिंह की मृत्यु के बाद पस्त होने के बदले शाहाबाद की जनता अंग्रेजों से युद्ध करने की तैयारी में बराबर लगी हुई थी।

मई में बिहार के छापेमार दस्ते अंग्रेजों को बराबर छकाते रहे। यह वर्ष का वह समय था जब भारत की जलवायु अंग्रेजों के बिलकुल अनुकूल नहीं पड़ती। इसी ऋतु में एक वर्ष पहले उन के विरुद्ध उत्तर भारत में जन-संग्राम आरंभ किया गया था। अंग्रेज पीछा करते-करते थक जाते थे और भारतीय सैनिक घने जंगल में छिप जाते थे जहाँ उन्हें ढूँढ़ना अंग्रेजों के लिये असंभव होता। १४ मई को लुगार्ड ने लिखा, "मुझे भय है कि प्राप्त साधनों के बल पर उन्हें निकालना मेरे

लिये बिल्कुल असंभव होगा।"[२९६] किसानों को आतंकित करने के लिये अंग्रेजों ने कई गाँव जला दिये। भारतीय छापेमारों ने अंग्रेजों से एक तोप छीन ली थी। उसका उपयोग भी उन्होंने अपनी रक्षा के लिये और अंग्रेजों को क्षति पहुँचाने के लिये किया। शत्रुदल ने अमरसिंह और हरेकृष्णसिंह के घर मिस्मार कर दिये और इस तरह अपना क्रोध शान्त किया।

जब तक जंगल था, तब तक जगदीशपुर के पास से छापेमारों को निकालना प्रायः असंभव था। लुगार्ड और अंग्रेजों ने उस जंगल का ही सफाया करने का विचार किया। १८ मई १८५८ को पटना-कमिश्नर ने लिखा, "मैं इस बात को महत्वपूर्ण समझता हूँ कि जगदीशपुर के पड़ोस का सारा जंगल साफ़ कर दिया जाय।"[२९७] कमिश्नर को भय था कि जंगल में छापेमार युद्ध चलते रहने से पड़ोस के ज़िलों में विद्रोह फैल जायगा; यदि अंग्रेजी सेना अपनी तोपें और सामान छोड़कर पीछे हट आई तो जनता इसे अंग्रेजों की हार समझेगी और पटना और गया में उनसे लड़ने पर तुल जायगी। इस तरह सारे बिहार में राजनीतिक असन्तोष था। इस असन्तोष को जाग्रत करने और संगठित करने का काम जगदीशपुर के जंगल के छापेमार कर रहे थे। यह उनका सैनिक संघर्ष ही न था; राजनीतिक प्रचार के रूप में उसका बहुत महत्व था।

कमिश्नर ने प्रस्ताव किया कि जंगल की गर्मी में गोरी सेना थक जाती है, इसलिये छापेमारों के विरुद्ध मुख्यतः सिख और मद्रास पल्टनें इस्तेमाल की जायँ। सिखों को चाहिये कि जंगल में छापेमारों के खाद्य-सामग्री के अड्डों का नाश कर दें। "जंगल के पास के गाँव, जो अब तक विद्रोहियों को सामग्री देते रहे हैं, तीन कोस के इलाके में सब गावों के अनाज की राशि के साथ, पूरी तरह बर्बाद कर दिये जाने चाहिये।"[२९८] तीन कोस के इलाके में सब गाँव बर्बाद कर दिये जायँ, वहाँ जितनी भी अन्न-सामग्री हो वह नष्ट कर दी जाय, अंग्रेज़ों ने युद्ध को आम नर-संहार का रूप दे दिया था। वह सारे प्रदेश को वीरान करके जनता के लिये यह असंभव कर देना चाहते थे कि वह छापेमारों की सहायता करे। इससे यह भी स्पष्ट है कि इन वीर छापेमारों से किसानों को कितना प्रेम था।

२८ मई को पटना के कमिश्नर ने लुगार्ड को लिखा कि तोपें छिन

जाने पर भी छापेमार जंगल में बने हुए हैं और उनके वहाँ रहने से ऐसा केन्द्र बन जायगा जहाँ अवध और गोरखपुर के विद्रोही आकर एकत्र होंगे। उसने लुगार्ड को यह भी आश्वासन दिया कि मौसम अब ठंढा हो रहा है, इसलिये विद्रोहियों का पीछा करने में उसे अधिक कठिनाई न होगी।

डुमराँव का राजा अंग्रेजों के साथ था। ३ जून को अमरसिंह और उनके साथियों ने राजा के दीवान के घर पर आक्रमण किया। इस राज्यक्रान्ति में अनेक देशी सामन्तों ने अंग्रेज़ों का साथ दिया। समझाने-बुझाने से न मानने पर जन-शिविर उन्हें दंड भी देता था। अवध में मानसिंह की गढ़ी का घेरा जाना और बिहार में डुमरांव के दीवान के मकान पर आक्रमण इस तरह की घटनाएं हैं जिनसे राज्यक्रान्ति गृह-युद्ध का रूप लेती दिखाई देती है। इस महीने अमरसिंह के प्रमुख सहायक निशान सिंह अंग्रेज़ों के चंगुल में पड़ गये और ७ जून को शत्रु ने इस छापेमार नेता को तोप से उड़ा दिया। इसके बाद अमरसिंह गाजीपुर ज़िले की ओर चले गये जहाँ की जनता ने उनका साथ दिया। वहाँ छापेमारों के अनेक दस्ते अंग्रेज़ों को परेशान किये हुए थे। इन्हीं में विद्रोही नेता अली करीम भी थे जो अमरसिंह से बराबर पत्र-व्यवहार करते रहे थे।[२९९] यदि श्री दत्त का यह कथन सत्य है कि दोनों में परस्पर पत्रव्यवहार बना हुआ था, तो इससे विशाल भोजपुरी प्रदेश के पूर्वी और पच्छिमी भागों में छापेमार दस्तों की व्यापक कार्यवाही और उनकी केन्द्रबद्धता तथा परस्पर संपर्क प्रमाणित होंगे। श्री दत्त ने लिखा है, "अमरसिंह के सामान्य नेतृत्व में लड़ने वालों के विभिन्न दस्ते जैसा कि लुगार्ड ने अपने (१४ जून १८५८) के एक पत्र में लिखा था, वेग से और गुप्त रीति से, चलते थे।"[२९९] लुगार्ड ने कोशिश की कि गाजीपुर से लौटकर अमरसिंह फिर जगदीशपुर के जंगल में न आ जायँ। किन्तु अमरसिंह डेढ़ हज़ार सैनिक लेकर जगदीशपुर के जंगलों में लौट आये। लुगार्ड को शिकायत थी कि जिले के आदमियों से उनकी गतिविधि की जानकारी प्राप्त करने के सब प्रयत्न विफल हुए। १७ जून को ब्रिगेडियर-जेनरल लुगार्ड ने अपने पद से इस्तीफा दे दिया और इस कार्य में उसने दिल्ली के सेनापति रीड की परंपरा का अनुसरण किया।

लुगार्ड के बारे में मैलीसन ने लिखा है, "संघर्ष की अभूतपूर्व कठि-

नाइयों से परेशान और चूर होकर लुगार्ड को इस्तीफा देने के लिये मजबूर किया गया। विद्रोहियों ने अपने स्थानों पर फिर अधिकार कर लिया। नये लोगों के भर्ती होने से उनकी संख्या और बढ़ गई। मैलीसन के अनुसार अमरसिंह के षड़यन्त्र के कारण गया में जो विद्रोही कैद थे, वे छोड़ दिये गये। पुलिस और अन्य कैदियों के साथ मिलकर उन्होंने अंग्रेज़ों को उनके रक्षास्थान में खदेड़ दिया। इसके बाद आरा के स्टेशन पर आक्रमण किया गया। मैलीसन के शब्दों में "दरअसल हर जगह सरकार (civil authority) खत्म हो गई थी।"

छापेमार दस्तों का सामना करने में ब्रिटिश सेना को पग-पग पर कठिनाइयों का सामना करना पड़ता था। मैलीसन ने एक रोचक घटना का उल्लेख किया है। एक बार भारतीय सैनिक जगदीशपुर के जंगल में न जाकर धान के खेतों से आगे बढ़े। वे तो मेड़ों पर पैर रखते हुए निकल गये। राइफल लिये हुए घुडसवार सैनिक मीलों तक फैले हुए पानी से भरे धान के खेतों में फँस कर रह गये। गाँव की जनता छापेमारों की मदद तो करती ही थी, ब्रिटिश सेना को झूठे समाचार देकर गलत दिशा में भी भेज देती थी।

२८ जनवरी को शाहाबाद के मजिस्ट्रेट वेकन ने पटना-कमिश्नर को लिखा था कि वह पचास सिख सैनिकों को लेकर उन गाँवों में गया था जिनके बारे में कहा जाता था कि वे पुलिस को धता बताते हैं। जिन-जिन को उसने अपराधी समझा, उन-उनके घर उसने बर्बाद कर दिये और उनके दरवाजे तक उखाड़ लाया।[३००] उसने गाँवों पर सामूहिक जुर्माने किये, बहुत से जमींदारों की जमीन छीन ली और बहुतों को बेतों से पिटवाया। अक्तूबर १८५७ में छोटा नागपुर, मानभूम सिंघभूम और पालामऊ के नेता जैमंगल पाण्डे और नादिर अली खाँ, जो रामगढ़ पल्टनों के सूबेदार थे, पकड़ लिये गये और उन्हें मृत्युदण्ड मिला। मार्च १८५८ में विश्वनाथ साही और पाण्डे गनपतराय पकड़ लिये गये और अप्रैल में उन्हें पेड़ पर लटका कर फाँसी दी गई। दो सौ सिपाहियों को भी मृत्युदंड दिया गया। बहुतों को काले पानी और कारावास के दंड मिले।

श्री कालीकिंकर दत्त ने कुँवरसिंह पर अपनी पुस्तक में पटना-कमिश्नर के कुछ पत्र दिये हैं जो अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं। इनसे भोजपुरी

सरनामसिंह थे। इनके लिये पटना-कमिश्नर ने २० जुलाई १८५८ को लिखा था कि वह शाहाबाद के दक्षिणी भाग के लिये महामारी के समान थे। अंग्रेजों ने इन्हें धोखे से पकड़ा। कुछ हिन्दुस्तानी सैनिकों को इनके पास विद्रोहियों के वेश में भेजा गया और इन विश्वासघाती सैनिकों ने सरनामसिंह को पकड़वा दिया। उन्हें १६ जुलाई को तोप से उड़ा दिया गया। दूसरे नेता जिश्रोधर सिंह अंग्रेज़ों से लड़ते हुए बचकर निकल गये। एक सूबेदार ने गोली बारूद खत्म हो जाने के बाद अंग्रेज़ी सैनिकों को चुनौती दी कि वे हमला करें, वह अन्त तक लड़ेंगे। वह अपनी संगीन और तलवार से आखिर तक लड़ते रहे और अन्त में गोली लगने से मारे गये।

१७ जुलाई ५८ को पटना-कमिश्नर ने लिखा कि शाहाबाद जिले की बुरी हालत है। आरा में तोपखाना, घुड़सवारों की पल्टन और एक हजार पैदल सेना होने पर भी विद्रोही निडर होकर छावनी के पास पाँच छः मील तक चले आते हैं। ऐसा इसलिये होता था कि अंग्रेज शासन और जनता का संबंध विद्रोही किसान और संगीनधारी शासक का रह गया था। जनता अंग्रेज़ों से घृणा करती थी। वे अपना शासन छावनी के अन्दर और पांच छः मील आसपास के इलाके में ही कायम रख सकते थे। शाहाबाद के अलावा छपरा और गोरखपुर में भी छापेमारों का काम जारी था और वे स्वच्छंदता से एक स्थान से दूसरे स्थान को चले जाते थे।

शाहाबाद के संघर्ष में जनता, सिपाहियों और उनके नेताओं ने भारत के अन्य स्थानों से सैनिक कार्यवाही को उच्चतम स्तर तक उठाया। उन्होंने अंग्रेज़ों को छावनियों और शहरों में बन्द रहने पर मजबूर किया और किसान-जनता के आधार पर गाँवों में स्वाधीन राज्यसत्ता संगठित की। यह उनकी रचनात्मक प्रतिभा, देशभक्ति, सूझबूझ और साहस का सबसे बड़ा प्रमाण है। ३० जुलाई १८५८ को पटना-कमिश्नर ने लिखा था कि जगदीशपुर के पास विद्रोहियों का मुख्य दल अंग्रेज़ों की तरह कमिश्नर, जज और मजिस्ट्रेट नियुक्त करता है। वह नियमित रूप से अंग्रेजों के मित्रों की रियासतें बेच देता है। अंग्रेज़ों ने यहाँ के किसानों और सामन्तों के विरुद्ध जो नीति अपनाई थी, उसी का अनुकरण करके भारतीय सैन्य दल ने अंग्रेज़ों के मित्रों को दंड दिया। कमिश्नर ने इसी पत्र में एक घटना का उल्लेख किया है जिससे जन-

शिविर के कठोर अनुशासन का पता चलता है। एक सिपाही ने एक बनिये की हत्या कर दी थी; अमरसिंह ने उस सिपाही को फाँसी दे दी। कितना अन्तर था लखनऊ और दिल्ली के लुटेरों की नैतिकता में और जनता की नयी राज्यसत्ता की इस साहसपूर्ण नैतिकता में! अंग्रेज़ों में जहाँ अफसर और सैनिक जी भर के लूटते थे, हत्या और गाँव जलाना जिनका पेशा था, वहाँ शाहाबाद के वीरों ने जनता की सुव्यवस्थित राज्यसत्ता का यह आदर्श देश के सामने रखा था।

शाहाबाद और भोजपुरी प्रदेश के अन्य भागों में राज्यक्रान्ति के संगठन और संचालन का बहुत बडा श्रेय हरेकृष्ण सिंह को है। पकड़े जाने पर उन पर जो अपराध लगाये गये थे, उनसे उनके महत्व का पता चलता है। वे दानापुर के सिपाहियों को आरा लाये। कुँवरसिंह की मृत्यु के बाद वह विद्रोही सेना के सालारेजंग थे। इसके सिवा अमरसिंह के नेतृत्व में जो सरकार बनी थी, उसके भी वह प्रधान थे। मुकदमे में यह तथ्य भी कई गवाहों ने पेश किया कि हरेकृष्ण सिंह ने जमीदारों से कहा था कि अंग्रेजों को रमद न पहुँचायें; पहुंचायेंगे तो उन्हें प्राणदण्ड मिलेगा। हरेकृष्ण सिंह ने अपना वकील या मुख्त्यार करने से इन्कार कर दिया और गवाहों से खुद जिरह की। अंग्रेज अधिकारियों के अनुसार उन्होंने जिरह करने में अपनी पैनी बुद्धि का परिचय दिया। उन्हें मृत्यु-दंड मिला और जगदीशपुर में फाँसी दी गई।

शाहाबाद की इस सैनिक-राजनीतिक कार्यवाही में सभी वर्गों और स्तरों के लोगों ने भाग लिया। इनमें चालीसवीं पैदल सेना के हवलदार रनजीतराम थे। वह जाति के ग्वाले थे। हरेकृष्णसिंह की सेना में वह सूबेदार थे। उन्होंने लखनऊ की लड़ाई में भाग लिया था। उन्हें काले-पानी की सजा दी गई। हरेकृष्ण सिंह की सेना में अचरज सिंह नाम के राजपूत थे। इनकी पल्टन फिल्लौर में थी। भिंद, मथुरा होते हुए अयोध्या में इन्होंने कुँवरसिंह का साथ किया। इनके बयान से मालूम होता है कि ब्रिटिश सेना के विद्रोही सिपाहियों से संतोष न करके हरेकृष्ण सिंह ने नये लोगों को भर्ती करके अपनी सेना का प्रसार किया था। अचरज-सिंह ने यह भी कहा कि वह और उनके साथी बिना किसी कठिनाई के खाने-पीने का सामान खरीद कर प्राप्त कर लेते थे। लूटने के बदले सामान खरीदना, यह भारतीय सेना की विशेषता थी।

श्री दुर्गाशंकर प्रसाद सिंह ने "कुँवरसिंह: एक अध्ययन" में लिखा है कि आरा के कलक्टर ने कुँवरसिंह और अमरसिंह द्वारा स्थापित क्रान्तिकारी सरकार के ४२ प्रमुख अधिकारियों की सूची तैयार की थी। पटना-कमिश्नर ने इसमें १४ व्यक्तियों के लिये लिखा था कि उन्हें क्षमा न किया जाना चाहिए। इन कागजों के आधार पर श्री दुर्गाशंकरप्रसाद सिंह ने उन ४२ व्यक्तियों का संक्षिप्त परिचय दिया है। इस परिचय से नयी राज्यसत्ता में विभिन्न जातियों और वर्गों के सम्मिलित होने, सक्रिय भाग लेने और सत्ता के जनतांत्रिक रूप का पता चलता है। शंकर मिश्र, मुलुकसिंह, द्वारिका माली और जयमंगलसिंह पहले अंग्रेजी सेना में सिपाही थे। फिर उन्हें क्रान्तिकारी सरकार की अदालत का कौन्सिलर बनाना जनतांत्रिक सत्ता द्वारा ही संभव था। जिस देश में माली आदि के पेशों को हीन समझा जाता हो, उसमें ब्राह्मण-क्षत्रियों के साथ एक माली को अदालत में काउंसिलर के आसन पर बिठाना सचमुच एक क्रान्तिकारी घटना थी। इस नई सत्ता और उसकी सेवा में हिन्दू, मुसलमान दोनों को उच्चाधिकार प्राप्त थे। नयी राज्य-सत्ता ने किफायत हुसैन को मजिस्ट्रेट नियुक्त किया था। इब्राहीम खाँ भी एक प्रमुख कार्य-कर्ता थे। ग्वाला जाति से रनजीतराम का सूबेदार या जनरल बनना इस सत्य की ओर संकेत करता है कि यह संघर्ष राजपूतों का ही विद्रोह न था जैसा कि अनेक अंग्रेजी वक्तव्यों में प्रदर्शित किया गया है। सेना और शासन में कार्य करने वाले आरा, गाजीपुर, शाहाबाद आदि अनेक जिलों के लोग थे। इसलिए यह राज्य सत्ता समूचे भोजपुरी क्षेत्र का प्रतिनिधित्व अच्छी तरह करती थी। इनमें अनेक पहले कुंवरसिंह के यहाँ सर्दार या नौकर रह चुके थे। अनेक ब्रिटिश सेना से आकर नये सेना-संगठन में शामिल हुए थे। चार सौ गाँवों के चकलेदार देवी ओझा, गोला-बारूद बनाने के प्रबन्धक कप्तान भोलासिंह, सेना को वेतनवित-रण करने वाले रूपनारायण सिंह, कलक्टर के पद पर काम करने वाले शिवपरसन सिंह, मजिस्ट्रेट किफायत हुसेन, मुन्सिफ उदितसिंह, मुन्सिफ श्यामबिहारीलाल और हरेकृष्णसिंह—इन लोगों ने दिल्ली की तरह और उससे भी अधिक जनतांत्रिक राज्यसत्ता कायम की थी जिसमें देश की जनता प्रत्यक्ष रूप से भाग लेती थी। इन्होंने अंग्रेजों की आतंकवादी

श्रौर उनकी लूट श्रौर शोषण की रक्षक न्याय-व्यवस्था के बदले जनता के हित में, श्राततताइयों के विरुद्ध, श्रंग्रेजों के सहायकों का दमन करने वाली नयी न्याय-व्यवस्था कायम की थी। इस नयी शासन-व्यवस्था के लिये देश की जनता का पक्ष लेकर जनरल रामधुन सिंह, सूबेदार भंजनसिंह, सूबेदार रामेश्वर सिंह, जनरल भोरन सिंह, सूबेदार, तिलक-सिंह, ब्रिगेडियर मेजर देवकी दुबे, जनरल रनजीत राम, सूबेदार राम-नारायण सिंह, जनरल द्वारिकासिंह, सीधासिंह, हरीसिंह, हरेकृष्ण सिंह के चार भाई, जनरल सुन्दर सिंह, कप्तान साहबजादा सिंह, मेघनराय, नीधासिंह, हजारी सिंह, जनरल शिवबक्स मिश्र, सूबेदार शिवबालकसिंह रिपुभंजन सिंह श्रादि वीर श्रौर उनके साथ सहस्रों किसान श्रौर सिपाही श्रंग्रेजों से लड़े श्रौर उन्होंने यह श्रादर्श स्थापित किया कि तोपों श्रौर राइफलों की शक्ति को शहरों में बंद करके गाँवों में क्रान्तिकारी जन-सत्ता—भले ही वह श्रस्थायी—हो कायम की जा सकती है। शाहाबाद में १८५६ तक श्रंग्रेज़ विद्रोह का दमन न कर पाये श्रौर मारपीट करके हथियार छीनने का प्रयत्न करने पर भी बहुत कम सफल हुए, इसका कारण यह नई राज्यसत्ता थी। श्रंग्रेज़ी राज को मुख्यतः श्रांतक का भरोसा था; साथ में कुछ विश्वासघाती सामंतों का भरोसा था। हरे-कृष्णसिंह के नेतृत्व में चलने वाली इस सरकार को गावों के किसानों का श्रटूट श्रौर हार्दिक समर्थन प्राप्त था।

श्रक्तूबर १८५८ में ब्रिग्रेडियर डगलस ने सात तरफ से सात सैन्यदलों द्वारा जगदीशपुर को घेर कर इस नयी सत्ता को निर्मूल करने का प्रयत्न किया। लेकिन जब वह जगदीशपुर पहुँचा तो भारतीय सेना वहाँ से निकल चुकी थी। वहाँ से वह कैमूर की पहाड़ियों में चली गई। सीधासिंह श्रौर रामबहादुरसिंह पालामऊ में विद्रोह का संचालन कर रहे थे। शाहाबाद के सिपाहियों को श्राशा थी, श्रवध श्रौर गोरखपुर से श्रौर सिपाही श्राकर उनसे मिलेंगे। श्री कालीकिंकर दत्त के श्रनुसार विद्रोही दल के नेता पालामऊ, शाहाबाद, गाजीपुर श्रौर नेपाल के पहाड़ों में घूमते रहे। श्रौर बहुत से नेता श्रौर संगठन-कर्ता मई १८५६ तक शाहाबाद तथा बिहार के श्रन्य भागों में—हाजीपुर, छपरा, सिवान, चम्पा-रन श्रौर भागलपुर में—श्रंग्रेज़ों की शान्ति भंग करते रहे। १३ श्रप्रैल १८५६ को पटना के कमिश्नर ने बंगाल-सरकार को लिखा था,

"नेपाल के सीमान्त पर बड़ी संख्या में विद्रोहियों को बने रहने देने से इन जिलों पर जो नैतिक प्रभाव पड़ा है, उसका वर्णन करना कठिन है। देशी लोग उनके बारे में बराबर बातें किया करते हैं और स्पष्ट ही समझते हैं कि आक्रमण होने वाला है। इसके सिवा सारे प्रदेश में यह आम अफवाह है कि नेपाली लोग विद्रोहियों को भोजन और वेतन देते हैं और हमारे विरुद्ध उनकी सहायता करना चाहते हैं।" ये अफवाहें बेबुनियाद नहीं थीं। हम आगे देखेंगे कि नेपाल की जनता की सहानुभूति अंग्रेजों से लड़नेवाली भारतीय जनता के साथ थी। जंगबहादुर की नीति नेपाल की जनता की नीति न थी।

नाना साहब के नेपाल चले जाने के बाद अक्तूबर १८५९ में अमरसिंह उनकी सेना का नेतृत्व ग्रहण करने के लिये तराई गये। जंगबहादुर की सेना ने उन्हें दिसम्बर में पकड़ लिया। ५ फर्वरी १८६० को जेल में उनकी मृत्यु हो गई। उन्हें फाँसी देने की इच्छा अंग्रेजों के मन में ही रह गई। जिन चौदह नेताओं के लिये पटना-कमिश्नर ने शाहाबाद के मजिस्ट्रेट को लिखा था कि क्षमा न मिले, वे अमरसिंह और हरेकृष्ण सिंह के अलावा शिवपरसनसिंह, जिओधर सिंह, सीधासिंह, रामबहादुर सिंह, इब्राहीम खां, देवी ओझा, और हरेकृष्ण सिंह के चार भाई लक्ष्मीसिंह, काशीसिंह, आनन्दसिंह और राधेसिंह थे। हरेकृष्ण सिंह २९ अगस्त १८५९ को बनारस के पास पकड़े गये। उन्हें फांसी का दण्ड मिला। दिसम्बर १८५८ में विद्रोही नेता नीलाम्बर साही, पीताम्बर साही, टिकैत उमरावसिंह और उनके दीवान शेख भिखारी को मृत्युदंड दिया गया। अनेक जमींदारों की रियासतें जब्त कर ली गईं। फर्वरी १८५९ में अंग्रेजी सरकार ने शाहाबाद से तेरह हजार से ऊपर हथियार एकत्र किये। अंग्रेजों ने गाँव के गाँव जलाकर, हथियार एकत्र करने के लिये लोगों को बेंतों से पीटकर, सामूहिक जुर्माने करके और सैकड़ों आदमियों को मृत्युदंड देकर बिहार में फिर अपनी शान्ति और न्यायव्यवस्था कायम की।

अन्तिम अध्याय

१८५७-५९ की राज्यक्रान्ति उत्तर भारत तक सीमित नहीं थी। दक्षिण भारत में संघर्षों के सूत्र उत्तर भारत से जुड़े हुए थे। इन्हें जोड़ने वाले रुहेलखण्ड और अवध के सैनिक तथा अन्य साधारण लोग थे। इसके सिवा नाना साहब और तात्या टोपे के कार्यकर्ता भी दक्षिण में लोगों को संगठित करने का प्रयत्न करते रहे थे। १८५८-५९ की शासन-सम्बन्धी रिपोर्ट में कर्नल डैविडसन ने लिखा था कि नाना साहब के दूतों ने तात्या टोपे के पक्ष में विद्रोह कराने की योजना बनाई थी जिसमें निजाम दर्बार के कुछ गरीब और दुःसाहसी लोगों ने भाग लिया था। [३०२] साधारणतः हैदराबाद के मुसलमानों की आँखें दिल्ली और लखनऊ की ओर लगी हुई थीं। निजाम की नीति अंग्रेज़ी राज का समर्थन करने की थी, जनता की नीति अंग्रेज़ी राज से लड़ने वालों का साथ देने की थी। एक ओर अंग्रेज़ी राज की कृपा पर जीने वाला सामन्तवाद था, दूसरी ओर स्वाधीनता और देशी राज्यसत्ता के लिये प्रयत्न करने वाली जनता थी। विद्रोह के दो साल बाद १८६१ में जब निजाम ने अंग्रेज़ सरकार से स्टार ऑफ इंडिया की उपाधि प्राप्त की, तब हैदराबाद की जनता ने उसके विरुद्ध शहर में इश्तहार चिपका कर अपनी अप्रसन्नता घोषित की। [३०४] लोग पिछले संघर्षों को भूले नहीं थे। इसके पहले भी हैदराबाद में इश्तहार चिपकाये गये थे। दिल्ली का उल्लेख करने के बाद दक्षिण से विद्रोह करने की अपील की गई थी। उन मौलवियों का विरोध किया गया जो अंग्रेज़ों से लड़ने का विरुद्ध करते थे। [३०५] सामन्तों और पुरोहित वर्ग की इज्जत अब इतनी न थी कि लोग उनका अन्धानुकरण करते। वे उन पर दबाव डाल रहे थे और अंग्रेज़ों का साथ देने वालों की खुली भर्त्सना करते थे।

हैदराबाद की घुड़सवार पल्टन ने विरोध किया तो निजाम ने तुरत अंग्रेज़ों को भरसक सहायता देने का वचन दिया। निजाम के मन्त्रियों के सामने भारतीय सैनिक खुल्लमखुल्ला राज्यद्रोह की बातें करते थे अर्थात् अंग्रेज़ों से लड़ने की बातें करते थे। [३०६] डैविडसन ने लिखा था कि मद्रास घुड़सवार सेना के सिपाही ब्रिटिश सरकार के विरुद्ध राज्यद्रोह की बातें करते थे। [३०७] बंगाल सेना के साथ अंग्रेज़ों को मद्रास और

बम्बई की देशी सेनाओं से भी विद्रोह की आशंका थी। इनमें भी अंग्रेज़ी राज के प्रति असन्तोष था, इसके अनेक चिन्ह दिखाई देते हैं। औरंगाबाद के सैनिकों का कहना था कि वे अपने बादशाह के विरुद्ध लड़ने दिल्ली की ओर नहीं जायँगे। वे कहते थे, "निजाम की सरहद के बाहर नहीं जायँगे। और दीन के ऊपर कमर नहीं बाँधेंगे।"[३०७] औरंगाबाद की पैदल सेना में अवध के ढाई सौ सिपाही थे। जहाँ भी अवध और रुहेलखण्ड के सिपाही थे, अंग्रेज़ों को उनसे चिन्ता उत्पन्न हो जाती थी। अंग्रेज़ों ने विद्रोह के नेताओं को पकड़ लिया और उन्हें तोप से उड़ा दिया। उत्तर की तरह दक्षिण में भी उन्होंने क्रूर दमन से जनता और सेना को आतंकित किया। एक सैनिक को तोप से उड़ाया जाता देखकर एक अंग्रेज ने लिखा था, "सचमुच भयानक दृश्य था, उसका सिर हवा में लगभग बीस गज ऊपर उठा और हाथ दूसरी ओर आठ गज के फासले पर गिरे। मुझे यह देखकर आश्चर्य हुआ कि उन्होंने अपने मृत्युदंड का समाचार कितने शान्त चित्त से सुना।"[३०८] हर जगह स्वाधीनता संग्राम के सैनिकों ने धैर्य और साहस से ब्रिटिश आतंक का सामना किया। उन्होंने दिखा दिया कि निहत्थी जनता के गाँव जलानेवाले अंग्रेजों से उनका मनोबल कितना ऊंचा है। तोप से उड़ाये जाने से पहले उपर्युक्त सैनिक ने कहा था, "मुझे तोप से बाँधने की जरूरत नहीं है, मैं जरा भी झिझकूंगा नहीं।"[३०९] अंगेज़ अफ्सरों में अगर जरा भी शर्म होती तो उनकी गर्दन नीची हो जाती।

मौलवी अलाउद्दीन और मौलवी तुर्रेबाज़ खाँ, विद्रोह के इन दो नेताओं को कालेपानी की सज़ा दी गई। तुर्रेबाज़ खाँ जेल से भाग गये। उन्होंने दो संतरियों को अपनी ओर कर लिया था; वे भी मौलवी साहब के साथ भाग गये। १६ जनवरी १८५६ को उन्हें पकड़ने के लिये पाँच हज़ार रुपये का इनाम घोषित किया गया किन्तु वह पकड़ में न आये। वे ब्रिटिश सैनिकों से लड़ते हुए मारे गये। अंग्रेज़ों ने उनके शव को हैदराबाद में जंजीरों से टाँगकर अपनी हिंसा-वृत्ति शान्त की।[३१०]

अंग्रेज़ों को संदेह था कि गुलबर्गा ज़िले में शोरापुर के राजा और नाना-साहब में परस्पर संपर्क कायम करने का प्रयत्न हो रहा है। शोरापुर के राजा ने नये सैनिक भर्ती किये थे; अंग्रेजों को संदेह था कि इसका उद्देश्य उनके विरुद्ध लड़ाई की तैयारी है। फर्वरी १८५८ में कैप्टेन वाइ-

न्ढम सेना लेकर शोरापुर गया। राजा वेङ्कटप्पा नायक की सेना ने उस पर आक्रमण किया। राजा की ओर से बहुत से रुहेलों ने युद्ध किया। अंग्रेजों ने और कुमक मँगाई। कैप्टेन न्यूबेरी मारा गया। हैदराबाद में राजा पर मुकदमा चलाया गया। कर्नल मीडोज़ के अनुसार राजा वेङ्कटप्पा नायक ने अपने बयान में कहा था कि लोग उनसे कहते थे कि उत्तर में अंग्रेजी राज खत्म हो गया है और अंग्रेज हर जगह पिट रहे हैं, "और तब मेरी जनता ने मेरे विरुद्ध विद्रोह कर दिया और मुझे कायर और मूर्ख कहा, क्योंकि मैं उन्हें लड़ने न देता था।"[३११] राजा को कैद की सजा दी गई जहाँ उन्होंने आत्महत्या कर ली। हैदराबाद राज्य के स्वाधीनता-संग्राम के इतिहास में लिखा है, "राजा वेङ्कटप्पा नायक के मुकदमे से पता चला कि दक्षिण महाराष्ट्र और कर्णाटक में विद्रोह की एक व्यापक योजना बनाई गई थी।"[३११] हिन्दी-भाषी जनता के साथ कर्णाटक और महाराष्ट्र की जनता ने भी विद्रोह में भाग लिया। यह उसके अखिल भारतीय रूप का सूचक है। उपर्युक्त इतिहास के लेखकों का कहना है कि उत्तर कर्णाटक के सामन्तों और प्रमुख व्यक्तियों तथा शोरापुर के राज्य में परस्पर संपर्क था। धारवाड़ में भीमराव और उनके साथियों ने विद्रोह किया। जून १८५८ में कोपबल दुर्ग में लड़ते हुए भीमराव मारे गये। वह कर्णाटक के लोकप्रिय नेता थे और उनकी कीर्ति कन्नड़ लोकगीतों में सुरक्षित है। बंबई गज़ट में बेलारी जिले के बारे में एक दिलचस्प सूचना यह छपी थी कि वहाँ के कलक्टर को मालगुजारी एकत्र करने में कठिनाई होती थी।[३१२] अंग्रेजों के हाथ से जो इलाके निकल गये थे, वहाँ तो उन्हें मालगुज़ारी मिलती ही न थी; जो इलाके उनके हाथ में थे, उनमें भी मालगुज़ारी वसूल करने में कठिनाई होती थी। बेलारी ज़िले में भीमराव तहसीलदार के पद पर काम कर चुके थे; इसलिये वहाँ उनका काफी प्रभाव था।[३१३] नारगुंड और कोपबल में विद्रोह का दमन करने के सिलसिले में अंग्रेज़ों ने ७५ आदमियों को तोप से उड़ा दिया।[३१४] उत्तर का साथ देने के लिये दक्षिण को कम बलिदान नहीं करना पड़ा।

स्वाधीनता-संग्राम में उत्तर-दक्षिण के सूत्र कैसे जुड़े हुए थे, इसकी झलक २३ दिसंबर १८५८ के "इंग्लिशमैन" पत्र से मिलती है। तात्या टोपे ने नर्मदा पार की, इस की सूचना हैदराबाद शहर में पहुँची। एक

मस्जिद में इश्तहार चिपकाया गया कि जनता को तात्या का साथ देना चाहिये। यदि साधारण मुसलमानों और मराठों में वैमनस्य होता, जिसकी कल्पना से अंग्रेज अपना मन समझा रहे थे, तो इस तरह का इश्तहार मस्जिद में न चिपकाया जाता। एक दूसरे इश्तहार में जनता से अपील की गई कि वह हथियार लेकर नर्मदा की ओर चले और तात्या का साथ दे। अंग्रेजों से लड़ने वाले उत्तर से दक्षिण तक कितनी जल्दी आपस में समाचारों का आदान-प्रदान करते हैं, इस पर "इंग्लिशमैन" ने खेद प्रकट किया था और ब्रिटिश अधिकारियों की गफलत की आलोचना की थी।[315] हैदराबाद के स्वाधीनता-संग्राम के लेखकों के अनुसार १८५७ में तात्या टोपे के मध्य भारत में आने से रुहेलों और भीलों की कार्यवाही बढ़ गई।[316] औरंगाबाद ज़िले में अजन्ता के पास रुहेलों और अंग्रेजों में युद्ध हुआ। इस तरह १८५८ में अंग्रेजों को नर्मदा के दक्षिण में अनेक स्थानों में और अनेक समय जनता के प्रतिरोध का सामना करना पड़ा। हिन्दुओं और मुसलमानों ने, महाराष्ट्र, कर्णाटक और हैदराबाद ने इस प्रतिरोध में एक सामान्य उद्देश्य से प्रेरित होकर महत्वपूर्ण भाग लिया।

मराठों और मुसलमानों के बीच परस्पर भेदबुद्धि उत्पन्न करके उन्हें एक दूसरे से लड़ाने में अंग्रेज असफल रहे। उन्होंने उत्तर भारत में रुहेलखंड और अवध की जनता में भी द्वेषभाव पैदा करने के प्रयत्न में सफलता न पाई। अवध के नवाब को शह देकर अंग्रेजों ने रुहेलखंड को लूटा था और वहाँ की जनता पर खूब अत्याचार किये थे। १८५७-५८ में अवध और रुहेलखंड एक साथ अंग्रेजों से लड़े। मई १८५८ में अंग्रेज रुहेलखंड का दमन करने चले। उसी समय मौलवी अहमदुल्ला शाह ने उन पर आक्रमण कर के रुहेलों की सहायता की।

फतेहगढ़ में अंग्रेज सेना-नायक सीटन मोर्चेबंदी कर रहा था। मैलीसन के अनुसार मैनपुरी के राजा तेजसिंह ने विद्रोहियों से कहा कि अंग्रेज फतहगढ़ में पस्त पड़े हैं; इसलिये उन्हें दोआब में संघर्ष संगठित करना चाहिए। इससे भी भारतीय पक्ष के सम्मिलित प्रयत्नों की सूचना मिलती है। जनरल पेनी बुलंदशहर से बदायूं की ओर चला और मारा गया। लखनऊ से वालपोल रुहेलखंड के लिये चला। लखनऊ से ५१ मील पर रुइया के किले में उसका मुकाबला किया गया। अंग्रेजों की पैदल

सेना इस किले की ओर बढ़ी । भारतीय सैनिक गढ़ी के अन्दर पेड़ों पर चढ़ गये । उन्होंने और दीवाल के सूराखों से गोलियाँ चलाने वाले सैनिकों ने अंग्रेजी सेना को विकल कर दिया । विलोबी अपनी टुकड़ी के ४६ सैनिकों सहित मारा गया । डगलस और ब्रैमले अपने ५६ अनुयाइयों सहित मारे गये । वालपोल ने किले पर तोपों से हमला किया लेकिन उसकी पैदल सेना को भारी क्षति सहनी पड़ी और उसने पीछे हटने में ही बुद्धिमानी समझी । यहीं पेड़ों पर बैठे हुए एक भारतीय निशाने-बाज ने अँग्रेज सेना नायक ऐड्रियन होप के गोली मारी और होप का अन्त हो गया । रात में नरपतिसिंह और उनके साथियों ने किला खाली कर दिया । चालीस मील आगे इन्होंने सिरसा गाँव में अंग्रेजों का मुकाबला फिर किया । तोपों से गोलाबारी करने के बाद जब अंग्रेज गाँव में घुसे तो उन्होंने उसे खाली पाया । इस समय शाहजादा फीरोज़शाह ने मुरादाबाद में आकर अंग्रेजों का अभियान रोकने का प्रयत्न किया । शत्रु ने नगर घेर लिया और उन मकानों पर हमला किया, जिनमें फीरोजशाह और उनके साथियों के होने का संदेह था । फीरोजशाह को वे फिर भी पकड़ न पाये ।

अंग्रेज सेनापति ने कोशिश की थी कि चार दिशाओं से. चार सेनाएं बरेली और शाहजहाँपुर की ओर चलें और एक विशाल वृत्त में भारतीय सेनाओं को घेर लें । शाहजहाँपुर पर आक्रमण करके मौलवी अहमदुल्ला शाह नें उस पर अधिकार कर लिया था । उन्हें शाहज़ादा फीरोज़ और बेगम हज़रतमहल से सहायता मिली । इस तरह अवध का सैन्यदल रुहेलखंड की सहायता कर रहा था । जब अंग्रेजी सेना शाहजहाँपुर पहुंची तो मौलवी अहमदुल्ला शाह को न पाकर बहुत निराश हुई । सेनापति कैम्पबेल का घेरा डालना व्यर्थ गया । मैलीसन ने लिखा है, "यह इस बात का प्रमाण था कि बहुत प्रयत्न करने पर भी एक महत्वपूर्ण दिशा में मुहीम असफल रही थी । यद्यपि उन्होंने [कौलिन कैम्पबेल ने] योजना बनाई थी कि चार विभिन्न स्थानों से चलकर चार सेनाएं बरेली और शाहजहाँपुर पहुँचें और चारों तरफ से विद्रोहियों को घेर लें, फिर भी उनका सबसे प्रबल शत्रु यह जाल तोड़ कर निकल गया था और उस ओर से निकल गया था जिसके लिये वह और वालपोल मुख्यतः उत्तरदायी थे !"[३१७]

मई १८५८ तक बरेली शहर आज़ाद था। खान बहादुरखाँ ने वहाँ कौलिन कैम्पबेल का मुकाबला किया। कैम्पबेल की अस्त्र-शस्त्रों से सुसज्जित सेना के एक अंग पर बरेली के गाज़ियों ने ढाल-तलवार लेकर जोरदार हमला किया। सिख पल्टन को उन्होंने हटा दिया और स्कॉट सेना पर टूट पड़े। उनमें से अधिकांश खेत रहे। उनका एक दल अंग्रेजी सेना के पीछे जा पहुँचा। तीन गाजियों ने सेनानायक कैमरौन को घोड़े पर से खींच लिया और उसे खत्म कर देते यदि कैमरौन की सहायता के लिये और सैनिक न आजाते। रुइया की लड़ाई में पीछे हटने वाला वालपोल भी मरते-मरते बचा। मई की लू और गर्मी से ब्रिटिश सेना क्षुब्ध हो रही थी। सेना के पीछे गाजियों के हमला करने से खेमाबर्दारों में भगदड़ मच गई थी। कौलिन कैम्मबेल ने सेना को रुकनें का हुक्म दिया। यहाँ भी अंग्रेजों की योजना विफल हुई। बहादुरखाँ अपना सैन्य दल लेकर रात में पीलीभीत चले गयें। अंग्रेज सेनापति कौलिन कैम्पबेल न तो मौलवी अहमदुल्ला शाह को पकड़ पाया, न खान बहादुरखां को। मैलीसन ने लिखा है, "शहर पर तो अधिकार हो गया लेकिन विद्रोही सैन्यदल का अधिकांश भाग निकल गया। थोड़े से समय में इस रुहेलखंड की मुहीम में यह दूसरी बार विद्रोही नेताओं ने ब्रिटिश सेनापति को अपनी रणचातुरी से परास्त किया था।"[३१८]

रसेल की डायरी में भारतीय घुड़सवारों के आक्रमण का रोचक वर्णन है। उसने 'सवार-सवार' की आवाज़ सुनी और उसकी डोली ले जाने वाले कहार डोली पटक कर भाग खड़े हुए। हाथी, घोड़े, ऊँट, आदमी- सबमें भगदड़ मच गई। "और हे भगवान! हम से कुछ दूरी पर आँधी की तरह सफेद पोशाकों में सवारों की एक भारी लहर उमड़ती चली आ रही थी। उनकी तलवारें सूर्य के प्रकाश में चमक रही थीं। उनके गरजने की आवाज, घोड़ों की टापों की घनघोर ध्वनि हवा में गूंज रही थी और उसे कँपा रही थी।"[३१९] ये ब्रिटिश सेना के विद्रोही सवार थे जिन्होंने अंग्रेज़ों पर पीछे से यह जोरदार हमला किया था। रसेल को जान बचाकर भागने का अवसर कठिनाई से मिला। गाजियों के हमले के बारे में रसेल ने लिखा है कि वे इतने वेग से और साहस से बढ़ते चले आये कि कौलिन कैम्पबेल एक क्षण के लिये स्तंभित रह गया। कौलिन कैम्पबेल की जान भी उस दिन बच ही गई।

जिस समय कौलिन कैम्पबेल उत्तर-पश्चिमी प्रदेश में विद्रोह का दमन कर रहा था, ह्यू रोज़ बंबई से चल कर मध्य भारत में संघर्ष के विभिन्न केन्द्रों का नाश करने में लगा हुआ था। सागर में अंग्रेज़ घिरे हुए थे। सागर की ओर अभियान में बानपुर के राजा ने ह्यू रोज पर दो बार आक्रमण किया। इसी समय तात्या टोपे ने अंग्रेज़ों के मित्र चरखारी के राजा पर हमला किया। ह्यू रोज ने चरखारी की ओर न जाकर झाँसी की ओर प्रयाण किया। बानपुर के राजा ने अपनी राजधानी खाली कर दी थी। अंग्रेज़ों ने उसका नाश किया। तालबेहट होते हुए ब्रिटिश सेना झांसी पहुँची। २२ मार्च से रोज ने झांसी का घेरा आरंभ किया।

जिस तरह अवध और रुहेलखण्ड के सूत्र आपस में और दिल्ली से जुड़े हुए थे, उसी तरह मध्य भारत के विद्रोह-सूत्र भी दिल्ली से मिले थे। पंजाब-सरकार द्वारा प्रकाशित गदर-सम्बन्धी कागज-पत्रों में बहादुरशाह के नाम राजा मर्दानसिंह का एक रोचक पत्र है। इसमें राजा मर्दानसिंह ने सूचित किया है कि उन्होंने अंग्रेजों को चँदेरी से बाहर निकाल दिया है और सागर पर आक्रमण किया है। उन्होंने बुन्देलखंड के राजाओं की शिकायत की है कि वे अपना राज्य-विस्तार करने के लिये लड़ते हैं। यदि वे सब उनसे मिल जाते तो वे अंग्रेज़ों को निकाल बाहर करते। उन्होंने अपने विश्वास-पात्र मियाँ खाँ को बहादुरशाह के पास भेजा था और प्रार्थना की थी वे इस प्रदेश के राजाओं के नाम एक फर्मान भेज कर राजा मर्दानसिह से मिलकर अंग्रेजों से लड़ने को कह दें। उन्होंने बादशाह से यह शिकायत भी की थी कि इन राजाओं में कुछ तो खुल्लमखुल्ला अंग्रेज़ों के साथ हैं, और कुछ उनसे गुप्त रीति से मिले हुए हैं। राजा ने यह भी लिखा था, बंबई और मद्रास की सेनाओं का मार्ग इसी प्रदेश से है; दूसरा मुख्य स्थान ग्वालियर है। यह बहुत जरूरी है कि इन दोनों स्थानों के बारे में प्रबन्ध कर दिया जाय। शाही दफ्तर से जरूरी हुक्म जारी कर दिये जाने चाहिये।" इसके बाद मोहर है और नाम लिखा है, राजा मर्दानसिंह, चँदेरी के राजा।[३२८]

इस पत्र में एक उल्लेखनीय बात यह भी है कि राजा ने जिन स्थानों पर अधिकार किया था, उनके बारे में लिखा था कि वहाँ शाही झंडा फहरा दिया गया था। राजाओं को मिला कर अंग्रेज़ों से लड़ने की

योजना दिल्ली के सार्वभौम प्रभुत्व की स्वीकृति, अधिकृत प्रदेश में शाही झंडे का फहराना—ये सब तथ्य संघर्ष की केन्द्रबद्धता और एक-सूत्रता की ओर संकेत करते हैं। विष्णुभट गोडशे के शब्दों में झांसी का "राज्य फिर अपना होगया, और नगर में खलक खुदा का, मुलक बादशाह का अमल लक्ष्मीबाई का की डौंड़ी पिट गई" और "झांसी का राज्य लक्ष्मीबाई के पास फिर आजाने के लगभग ग्यारह महीनों तक ऐसा लगता था मानों उत्तर हिन्दुस्तान में अंग्रेज़ बिल्कुल थे ही नहीं।"[३२१] सागर की ओर ह्यू रोज की सेना पर राजा मर्दानसिंह ने आक्रमण किये। रहटगढ़ और बड़ोदिया में युद्ध हुए। इसी बीच तात्या टोपे ने अंग्रेज़ों के मित्र चरखारी के राजा को दबोच लिया "संघर्ष-कालीन नेताओं की जीवनियाँ" में तात्या टोपे की जीवनी के लेखक श्री दिनेशविहारी त्रिवेदी ने तात्या के सैन्य संगठन के बारे में एक अंग्रेज़ अधिकारी का यह विवरण उद्धृत किया है: "शत्रुओं ने समस्त कार्य बड़े सुव्यवस्थित ढंग से किये—उनके पास थके लोगों के स्थान-ग्रहण करने के लिये दल भी थे, जब कुछ युद्ध करते तो दूसरे विश्राम करते, जब एक दल जाते हुए दिखलाई पड़ता तो दूसरा उनका स्थान लेने आता दिखलाई पड़ता, (यह सब) युद्ध के चलते रहते समय भी। उन सबने अपने-अपने बिगुल पिछले बड़े आक्रमण में बजाये थे, और प्रत्येक बन्दूकची के दल आगे बढ़े और सौंपा हुआ कार्य किन्हीं ऐसे चतुर सिपा-हियों के आदेशानुसार किया जो हमारे द्वारा युद्ध-कौशल की शिक्षा पाये हुए हैं। उनके पास अस्पताल की डोलियाँ थीं और बड़े सुव्यवस्थित बाजार थे। संक्षेप में उन्होंने युद्धभूमि की समस्त कार्यशील शक्ति प्रदर्शित की।"[३२२] ओरछा और दतिया ने रानी लक्ष्मीबाई को परेशान किया था; उसी का बदला तात्या ने चरखारी से लिया।

राजा मर्दानसिंह ने नरूत का दर्रा घेरकर रोज को रोकने का प्रयत्न किया। रोज शाहगढ़ की ओर से बढ़ा। तालबेहट होता हुआ, वह २१ मार्च को झांसी आ गया। ३१ मार्च को तात्या टोपे बेतवा के तट पर झाँसी की सहायता को आगये। यह देखना कठिन नहीं है कि राजा मर्दानसिंह, महारानी लक्ष्मीबाई और तात्या टोपे की कार्यवाही परस्पर सम्बद्ध थी। इनका लक्ष्य ह्यू रोज को मध्य भारत से बाहर निकालना था। रोज को ओरछा और ग्वालियर के राज्यों से खाद्य-सामग्री मिलती

रही। विश्वासघाती सामन्ती शक्तियों के बल पर अंग्रेज़ फिर अपना राज्य स्थापित कर रहे थे। तात्या को रोज़ की सेना के प्रत्याक्रमण के सामने पीछे हटना पड़ा। झाँसी की रानी का मनोबल टूटा नहीं। गोडशे के शब्दों में "बाई साहब ने सब सरदारों को इकट्ठा करके कहा कि आज तक झाँसी लड़ी तो कुछ पेशवा के बल पर नहीं।"[323] रानी ने युद्ध की तैयारी करते हुए गरीबों के खाने-पीने के प्रबन्ध का भी ध्यान रखा था। "लड़ाई छिड़ने पर गरीब लोगों को खाने पीने की तकलीफ हो जायगी इसलिये पहले से चने, मुरमुरे और मटर के भंडार के भंडार भर लिये गये।"[324]

इसके बाद श्री वृन्दावनलाल वर्मा के शब्दों में: "झांसी की गोलाबारी से आकाश में जलते हुए गोलों की आग की चादर तन गई।.... अपने तोपखानों की रक्षा में अंग्रेज़ बंदूकची जीवनशाह की टौरिया से ओर्छा फाटक टेकड़ी के बीच में सतर बाँधकर ओर्छा फाटक और सैंयर फाटक की ओर बढ़े।" उत्तरी फाटकों पर भी ज़ोर का हमला था, परन्तु ठाकुरों, काछियों, कोरियों और तेलियों की चतुरता के कारण वहाँ अंग्रेज़ कुछ नहीं कर पा रहे थे।...रानी फुर्ती के साथ तैयार होकर किले के बाहर हो गईं।...रानी झंझावात की तरह पहले दक्षिण की ओर झपटीं, जहाँ से अंग्रेज़ी सेना घुसी चली आरही थी। रानी का छापा इतना प्रचंड था कि अंग्रेज़ी सेना भागी।...इसके बाद महल की एक एक इंच भूमि के लिए युद्ध हुआ।...महल के सामने वाले विशाल पुस्तकालय में आग लगा दी गई। रानी ने एक चादर से दामोदर राव को पीठ पर कसा और अपने तेजस्वी सफेद घोड़े को किले के उत्तरी भाग से निकलकर आगे किया।....रोज़ ने दिन के दो बजे जलते हुए महल और भस्मीभूत पुस्तकालय के बीचोबीच मोरोपंत को फाँसी दे दी।....किले पर अधिकार करने के बाद असंख्य मकान जलाये गये। बालक, युवा, वृद्ध गोलियों से उड़ाये गये। बेहद लूटमार की गई।... सात दिन तक लाशें सड़ती रहीं। लगभग तीन सहस्र निरपराध व्यक्तियों का वध किया गया। महालक्ष्मी का मन्दिर लूटा गया।....पहले दिन अंग्रेज़ों ने लूटमार की। दूसरे दिन मद्रासी दस्ते को अवसर दिया गया। तीसरे दिन निजाम हैदराबाद की पल्टन की बारी आई। अनाज, बर्तन, कपड़े तक न छोड़े गये।...आठवें दिन झांसी में रोज़ का ऐलान

रानी लक्ष्मीबाई

हुआ, 'खलक खुदा का, मुलक बादशाह का, अमल कंपनी सरकार का।' परन्तु इन सात दिनों हवा में जो स्तब्ध घोषणा घूमी थी, वह यह थी-- खलक शैतान का, मुलक शैतान का, अमल शैतान का।'[३२५]

भारतीय सेना ने कूंच और कालपी में अंग्रेजों से मोर्चा लिया। उसके बाद तात्या ने ग्वालियर पर अधिकार कर लिया। सिन्धिया की सेना तात्या के सैन्य दल से मिल गई। रोज़ ने ग्वालियर पर आक्रमण किया और १७ जून १८५८ को महारानी लक्ष्मीबाई ने युद्ध में वीर गति प्राप्त की। शत्रु के अपवित्र हाथ उन्हें स्पर्श नहीं कर सके।

ग्वालियर से जौरा अलीपुर, वहाँ से जयपुर की ओर, राजस्थान के बाद नर्मदा के उस पार, फिर उत्तर की ओर, फीरोजशाह से मिलना, अंत में मानसिंह द्वारा तात्या के साथ विश्वासघात : १८ अप्रैल १८५९ को तात्या टोपे को प्राणदंड दिया गया।

जैसे मानसिंह ने तात्या के साथ विश्वासघात किया था, वैसे ही पोवायाँ के राजा जगन्नाथसिंह ने मौलवी अहमुदल्ला शाह के साथ किया। राजा ने अंग्रेजों का साथ दिया और मौलवी अहमदुल्ला के लिये गढ़ी का फाटक खोलने से इन्कार कर दिया। राजा के भाई ने उनके गोली मारी और उनका सिर काट कर दोनों भाइयों ने शाहजहांपुर में अंग्रेजों को भेंट कर दिया। मैलीसन ने अपने कुछ प्रसिद्ध वाक्यों में मौलवी अहमदुल्ला शाह को देशभक्त स्वीकार किया है : "यदि देशभक्त उसे कहते हैं जो अन्यायपूर्ण रीति से नष्ट की हुई अपनी देश की स्वतंत्रता के लिये षड़यंत्र करता और लड़ता है तो निश्चय ही मौलवी देशभक्त थे।"[३२६]

ब्रिटिश सत्ता का विरोध करने के लिये अवध में बहुत शक्ति थी। मई १८५९ तक अवध में संघर्ष का दमन न हो सका। रौबर्टसन ने अंग्रेजी सेना की निरन्तर क्षति पर शोक प्रकट करते हुए लिखा था, "लखनऊ पर हमारा अधिकार प्रायः १४ मार्च को ही होगया था किन्तु अपेक्षाकृत बहुत ही कम दंड पाये बिना विद्रोही बचकर निकल गये थे। उस समय मुहीम खत्म हो जानी चाहिये थी। लेकिन वह लगभग साल भर तक और खिंच गई। कारण यह कि भागे हुए विद्रोही अवध में फैल गये थे। किलों तथा अन्य दृढ़ स्थानों पर अधिकार करके वे मई १८५९ के अन्त तक हमारी सेनाओं का विरोध कर सके और इस तरह

उन्होंने हजारों ब्रिटिश सैनिकों की अनावश्यक क्षति की।"[३२७] होप ग्राएट अपना सैन्यदल लेकर सीतापुर की ओर चला था। १२ अप्रैल १८५८ को भारतीय सैनिकों ने अपनी सूझबूझ से शत्रु को खासा चकमा दिया। घुड़सवारों का एक दल ब्रिटिश सेना में घुसता चला आया। पूछने पर सवारों ने कहा कि वे बारहवीं पल्टन के हैं। अंग्रेज समझे कि वे उनके वफादार सैनिकों में हैं। अंग्रेजों की सेना का निरीक्षण करके वे चुपके से खिसक गये।[३२८] होप ग्राएट की सेना का सामान तीन मील तक फैला हुआ चलता था। सिपाहियों ने इस पर हमला किया और अंग्रेजी सेना के लौट कर मुकाबला करने के पहले ही भाग गये। यह छापेमार लड़ाई आकस्मिक नहीं थी। संघर्ष के अनेक नेता इस परिणाम पर पहुँचे थे कि युद्ध-सामग्री में अंग्रेज बढ़-चढ़कर हैं, इसलिये उनसे छापेमार युद्ध करना ही उचित है। कौलिन कैम्पबेल ने खान बहादुर खां का एक आदेशपत्र रसेल को दिखाया था, "काफिरों के नियमित दस्तों का मुकाबला करने की कोशिश मत करो; क्योंकि वे कवायद और बदोबस्त में तुमसे बढ़कर हैं और उनके पास जंगी तोपें हैं। उनकी गतिविधि देखते रहो, नदियों के सब घाटों की चौकसी रखो, उनकी यातायात की कार्यवाही को छिन्न-भिन्न करदो, उन्हें सामान मिलना बंद करदो, उनकी चिट्ठी-पत्री और डाक बंद करदो और उनके खेमों के आसपास मँडराया करो। उन्हें चैन न लेने दो।"[३२९] इस आदेश पर बहुत जगह के सैनिकों ने अमल किया।

नवाबगंज की ओर बढ़ते हुए होप ग्राएट को बड़ी कठिनाई हुई। छापेमार सैनिक उसे चैन न लेने देते थे। होप ग्राएट ने लिखा है कि जिस प्रदेश में इतने विद्रोही भरे हों, वहां यूरोपियन अफसरों के लिये आगे बढ़ना अत्यन्त कठिन था।[३३०] उसने विद्रोहियों द्वारा तार काटे जाने की बातें सुनी थीं लेकिन अपने मन को यह कहकर समझा लिया था कि वे अकस्मात् टूट गये थे। लखनऊ से १८ मील पर नवाबगंज में भारतीय सैन्यदल ने होप ग्राएट से जमकर युद्ध किया। सिपाही अंग्रेजों पर पीछे से आक्रमण करने के लिये दो तोपें ले आये। उन्होंने हौडसन की घुड़सवार-पल्टन पर आक्रमण किया और इस पल्टन के सवारों ने उनका सामना करने से इन्कार कर दिया। अंग्रेजों की गोलाबारी के सामने जब सिपाही हटने लगे, तब उनके नेता ने तोपों के पास दो हरे

तात्या टोपे

झंडे गाड़ दिये [संभवतः शाही झंडे जैसे मर्दानसिंह ने गाड़े थे] जिससे कि अपनी पताका देखकर सैनिकों में नया जोश आ जाय। तीन घंटों की लड़ाई में उन तोपों की रक्षा करते हुए होप ग्राण्ट के अनुसार सवा सौ सैनिक मारे गये। उसने भारतीय योद्धाओं की वीरता पर मुग्ध होकर लिखा है, "हिन्दुस्तान में मैंने बहुत से युद्ध देखे हैं और बहुत से वीरों को जीतने या मरने का निश्चय करके लड़ते हुए देखा है लेकिन इन जमींदारों की कार्यवाही से भव्य मैंने और कुछ नहीं देखा।"[331]

नवाबगंज के युद्ध में ही चहलारी के राजा खेत रहे थे। अवध गजेटियर के अनुसार भिटौली विद्रोह का गढ़ था। रुइया के नरपतसिंह, भिटौली के गुरबख्शसिंह और बौंड़ी के हरदत्तसिंह ने पच्चीस हजार सेना एकत्र करके अंग्रेजों से युद्ध किया था। अवध गजेटियर के लेखक को आश्चर्य इस बात पर था कि ये छोटे-छोटे सामन्त लखनऊ के पतन के बाद भी इस तरह युद्ध कर रहे थे! बौंड़ी में बेगम हजरत महल को आश्रम मिला था। मौलवी अहमदुल्ला शाह रुइया में रह चुके थे।

प्रतापगढ़ ज़िले में रामगुलामसिंह ने अंग्रेजों का डटकर मुकावला किया। सई नदी के मोड़ पर रामपुर कसिया के किले पर महत्वपूर्ण युद्ध हुआ। किले के आसपास जंगल था। यहाँ अवध गजेटियर के अनुसार चार हजार सैनिक थे जिनमें अधिकतर ब्रिटिश सेना के विद्रोही सिपाही थे। इनमें बहुत से अब भी अपनी पुरानी वर्दियाँ पहने हुए थे। यहां की एक-एक इंच धरती के लिये सिपाही लड़े। कर्नल फर्कुहार घायल होगया। अपनी तोपों को शत्रु के उपयोग के अयोग्य करके सिपाही जंगल में निकल गये जहाँ अंग्रेज़ों के लिये तोपें ले जाना संभव न हुआ। यहीं लोहा ढालने की भट्टी और बारूद बनाने का कारखाना अंग्रेज़ों ने देखा था।

३ अप्रैल १८५८ को रसेल ने अपनी डायरी में अवध की स्थिति के बारे में लिखा था, "इस समय सारे अवध को शत्रु का देश समझना चाहिये।...हमारी हुकूमत के सब कल-पुर्जे टूट कर चूर हो गये हैं। हमारी पुलिस बिल्कुल गायब हो गई है।"[332] पाठक देखेंगे कि अवध की यह स्थिति शाहाबाद में अंग्रेजी राज्य के खात्मे से मिलती जुलती है। कैनिंग ने अवध के ताल्लुकदारों के स्वामित्व-अधिकार खत्म करने

के बारे में एक घोषणा पत्र निकाला था। अधिकांश लेखकों का विचार है कि इससे अवध में ताल्लुकदार विद्रोही हो गये। बलरामपुर के राजा जैसे लोग अंग्रेजों के पहले भी थे, बाद को भी रहे। मानसिह जैसे लोग पहले जन-शिविर के साथ थे, बाद में अंग्रेजों से मिल गये। इसीलिये सिपाहियों ने मानसिंह की गढ़ी घेर ली थी।

अवध गजेटियर का कहना है कि बहराइच जिले में अंग्रेजों ने केवल ७८ गाँवों से तालुकदारों को निकाला था। "ऐसी स्थिति में यह आश्चर्य की बात है कि उथलपुथल आरंभ होने पर इस ज़िले के इतने ताल्लुकदार हमारे विरुद्ध हो गये जिससे कि प्रान्त पर अधिकार पाने के बाद उनके १,८५८ गाँवों को हमें जब्त करना पड़ा।" इससे अनुमान किया जा सकता है कि अनेक जिलों में छोटे सामन्तों के हृदय में अंग्रेजों के प्रति कितनी घृणा थी। इसी तरह बाराबंकी के बारे में अवध गजेटियर ने लिखा है कि इस जिले के सारे के सारे ताल्लुकदार अंग्रेजों के विरुद्ध हो गये थे। अंग्रेज़ों ने ताल्लुकदारों की रियासतें जब्त करने का फैसला बाद को बदल दिया था। फिर भी उन्होंने न जाने कितनों के गाँव जब्त करके अपने वफादार सेवकों को दे दिये। इससे संघर्ष की व्यापकता का पता चलता है। इस समय अवध के छोटे सामन्तों के बारे में रसेल ने लिखा था, "अवध के सर्दार न तो हमारी धमकियों से, न हमारे लालच देने से अपने फर्जी बादशाह को छोड़ने या हमारा अधिकार मानने को तैयार हैं।"[३३३] अंग्रेजों ने फ़ैसला किया था कि इन सभी के किलों को गिरा कर मिट्टी में मिला दिया जाय।

अंग्रेज सेनापति कैम्पबेल ने अमेठी के राजा से वादा किया था कि जब तक कुछ निश्चित किया हुआ समय न बीत जायगा तब तक अंग्रेज़ी सेना किले के पास न पहुँचेगी। उद्देश्य यह था कि इस बीच वह सिपाहियों को आत्मसमर्पण के लिये राजी कर ले। उतना समय बिताये बिना ही होप ग्राण्ट अपने सैनिकों समेत किले का निरीक्षण करने पहुँच गये। इस पर सिपाहियों ने अंग्रेजों पर गोलाबारी शुरू की। होप ग्राण्ट अपने घुड़सवारों को लेकर वापस भागा। रसेल के अनुसार शाम को राजा ने अपना वकील भेजा और गोलाबारी के लिये सिपाहियों को जिम्मेदार बताकर उसके लिये खेद प्रकट किया। राजा ने यह भी कहा कि उसकी अपनी पैदल सेना के सिवा सिपाहियों पर

उसका नियंत्रण नहीं है। ऐसा होना असंभव नहीं था। अंग्रेजों से लड़ने के लिये ताल्लुकदारों की अपेक्षा सिपाही अधिक उत्सुक थे। रात में राजा चुपचाप अंगेजों से मिलने आया। उसने कहा कि सिपाहियों के आत्मसमर्पण की ज़िम्मेदारी वह बिल्कुल नहीं ले सकता किंतु उसे आशा थी कि वह अपने लोगों पर दबाव डालकर आत्मसमर्पण करा देगा। [३३४] अंगेजों ने जब किले पर अधिकार किया तब सिपाही गायब हो चुके थे। उन्हें एक भी मस्केट न मिली, न जो तोपें मिलीं वे ठीक-ठाक थीं। सिपाही अपने साथ युद्ध-सामग्री उठा ले गये थे। कैम्पबेल को संदेह था कि राजा ने उसे मूर्ख बनाया है और सिपाहियों को निकल जाने का अवसर दिया है।

१ नवंबर १८५८ को महारानी विक्टोरिया का घोषणापत्र प्रकाशित हो चुका था। ३० नवम्बर को रसेल ने लिखा कि सेनापति कैम्पबेल विद्रोह का दमन करने के लिये नयी सेना संग्रह कर रहा है। कारण यह कि जितनी फौज लेकर वह चला था, वह जीती हुई जमीन पर अंग्रेज़ों का अधिकार बनाये रखने के लिये आवश्यक थी ! तोप के जोर से विदेशी आक्रमक यहाँ की भूमि पर अधिकार कर रहे थे और तोप के बल पर ही वे उस पर अपना अधिकार कायम रख सकते थे। उन्हें अपने भेदियों पर विश्वास नहीं था कि वे सच्ची खबरें देते हैं। उन्हें सन्देह था कि वे अंग्रेज़ों की खबरें भारतीय सेना को भी देते हैं। रसेल को शिकायत थी कि अपने आप तो कोई अंग्रेजों की मदद करता ही नहीं है। नदियों और घने जंगलों के प्रदेश में अंग्रेज़ों को एक-एक कदम सँभाल कर रखना होता था। किसानों से उनको किसी तरह की सहायता न मिलती थी। उल्टा वह अंग्रेज़ों को चकमा देकर अपने सिपाहियों की मदद जरूर करते थे। किसी से पूछो, नदी यहाँ कितनी गहरी है? जवाब मिलता, कभी कमर तक पानी रहता है, कभी गले तक। पूछो, तलहटी मुलायम है या सख्त है ? जवाब— मज़े की है, न मुलायम न सख्त। पार करने को उथली जगह नहीं है ? हाँ, उधर को पाँच कोस पर घुटनों-घुटनों पानी है। तोपें निकल जायँगी ? पता नहीं, शायद धँस जायँ। अगले गाँव के लिये रास्ता कैसा है ? ऊसर हैं, झीलें हैं, नदियाँ हैं, फिर बाग है, फिर जंगल है। जंगल से तोपें निकल कर जा सकती हैं ? रास्ता

जरा सँकरा है; घूम कर जायँ तो ज्यादा अच्छा हो ।[335] लंदन और कलकत्ते के अंग्रेज़ अधिकारी इस लंबी चलने वाली लड़ाई से क्षुब्ध हो रहे थे। ब्रिटिश सभ्यता और शौर्य पर कलंक लग रहा था। किन्तु अवध के लोग हथियार डालने का नाम न लें रहे थे। यद्यपि यह स्वाधीनता-संग्राम का अन्तिम अध्याय था, किन्तु अंग्रेज़ों को उसे विजय की मंजिल तक पहुँचाने में कम समय और श्रम न लग रहा था। अन्तिम अध्याय खिचते-खिचते मई १८५८ से मई १८५६ तक खिच गया । लंदन और कलकत्ते के अधिकारियों की तरह कुछ इतिहासकार भी भारतीय विद्रोहियों पर खफा हो जाते हैं । आखिर तात्या टोपे या बेनीमाधो के यहां से वहाँ भागे-भागे फिरने में क्या तुक थी ? यह तुक उन अंग्रेज़ सैनिकों और सेनानायकों से पूछनी चाहिये थी जिन्हें पीछा करने और विद्रोही नेताओं को पकड़ने का काम सौंपा गया था। अंग्रेज युद्ध-सामग्री में प्रबल थे। उन्हें लंबी खिचने वाली लड़ाई में ही परास्त किया जा सकता था जिसमें किसान लड़ने वालों का साथ देते हों, इस तरह उन्हें रसद आदि की कमी न रहती हो, वे स्वच्छंदता से जनता के विरोध के बिना उसकी सहायता से एक जगह से दूसरी जगह जा सकते हों, शत्रु की खाद्य-सामग्री और युद्धसामग्री पर आक्रमण करके उसकी शक्ति क्रमशः क्षीण करते जाते हों, साथ ही अपनी तोपें-बंदूकें बनाने के कारखानों को सुरक्षित रखकर उनसे भविष्य में प्रत्याक्रमण के लिये युद्ध-सामग्री भी संचित करते जाते हों। इसके सिवा छापेमारों अथवा नियमित सेना की सतत गतिशीलता से जनता में आत्मविश्वास बढ़ता था और संघर्ष के प्रति वह सचेत रहती थी। दक्षिण में तात्या टोपे और नाना साहब के दूतों का जाना, राजस्थान में तात्या के प्रयत्न और नेपाल तक में अवध के नेताओं का प्रवेश इसी उद्देश्य से था कि इस अंग्रेज़-विरोधी संघर्ष को और व्यापक बनाया जाय और अन्य प्रदेशों में उसका प्रसार करके अंग्रेज़ों को एक सीमित प्रदेश में अपनी शक्ति केन्द्रित करने से रोका जाय।

अवध में संघर्ष के सब केन्द्र कैसे परस्पर सम्बद्ध थे, इसका एक संकेत इस घटना से मिलता है कि अमेठी से जो सिपाही निकल आये थे, वे राना बेनीमाधो सिंह के पास आ गये ।[336] कौलिन कैम्पबेल ने शंकरपुर के पास आकर घोषणा कराई थी कि राना आत्मसमर्पण कर

दें; यदि उन्होंने गोरों की हत्या न की होगी तो उनके साथ उदारता का व्यवहार किया जायगा और उनकी जायदाद पर उनके हकों के बारे में विचार किया जायगा। राना ने अंग्रेज़ सेनापति के पास उत्तर भिजवाया—मेरा कर्तव्य है कि मैं अपने बादशाह का साथ दूँ; इसलिये मैं आत्मसमर्पण न करूंगा; आप मेरी जा मेरे लड़के को दे दीजिये।[३३७]

रात्रि में राना अपनी सारी सेना के साथ किले से निकल गये। अंग्रेजों को जंगल में कहीं उनका पता न चला। राना ने हज़रत महल को जो बचन दिया था, उसे पूरा किया। शंकरपुर के मंदिरों से रसेल ने एक संगमर्मर का हाथी (गणेश की मूर्ति ?) प्राप्त किया। बैसवाड़े के बारे में रसेल ने लिखा है कि यह अवध के सबसे उपजाऊ भागों में भी हरा-भरा था। यहाँ की जनता अंग्रेजों को लगान न देती थी। अब नवंबर १८५८ में वे पुलिस थाने कायम करते हुए मालगुजारी वसूल करने का प्रबंध कर रहे थे। उन्हें कोई लाठी लेकर जाता हुआ किसान दिखाई देता तो समझते, अंग्रेजी राज का दुश्मन यह भी कोई "बदमाश" है। साथ ही दूर पर ढाल-तलवार लिये हुए सैनिक बैसवाड़े की घनी और ऊंची घास के जंगलों में छिपते दिखाई देते। राना का कहीं पता न था अथवा उनके इतने पते थे कि अंग्रेजों की समझ में न आता था कि कहाँ ढूँढ़ने जायँ। रसेल ने लिखा है, "हमें 'निश्चित' रूप से मालूम हुआ है कि एक ही दिन, एक ही घड़ी में वह सभी दिशाओं में मौजूद है और हमारे पास इतनी पल्टनें फालतू नहीं हैं कि इन समाचारों की जाँच के लिये उन्हें भेजें।"[३०८]

कौलिन कैम्पबेल ने अपने सेनानायक एवलेग को आज्ञा दी थी, राना का पीछा करो और एक क्षण के लिये भी आँखों से ओझल न होने दो। रसेल ने इस पर व्यंग्य किया है, आज्ञा देना सरल था किन्तु उसका पालन करना कठिन था; शायद सेनापति ने निश्चय कर लिया था कि वह राना को देख पायेगा तो खुद को भी यही आज्ञा देगा।[३३९] खबर मिली कि राना डौंडियाखेरे में हैं। डौंडियाखेरे के पास पहुँच कर अंग्रेजों को पीछे हटना पड़ा क्योंकि उनके संतरियों और निरीक्षक-दस्तों पर सिपाही जंगल से गोलियाँ चलाते थे। अंग्रेजों ने डौंडिया-खेरे में आग लगादी; जो लड़ते नहीं थे, उन्हें संगीनों और तलवारों से

काट डाला, लेकिन राना का पता न था। रसेल के अनुसार इस युद्ध के समय राना के पास ब्रिटिश सेना के आठ हजार विद्रोही सिपाही थे जो बंगाल की भूतपूर्व सेना का सारतत्त्व थे। इससे यह प्रमाणित होता है कि नवंबर १८५८ तक अंग्रेज बंगाल सेना का सारतत्त्व नष्ट करने में सफल न हुए थे। रसेल ने भारतीय सेना की तुलना बालू से की है। जब वह तलहटी में रहती है, तब वह मिली-जुली और सख्त होती है। लेकिन हाथ में लेकर उसे पकड़ना चाहो तो उँगलियों के वीच से निकल जाती है। युद्ध-सामग्री में अपने से प्रबल शत्रु से बचाकर उसे बराबर क्षति पहुँचाते हुए वही सेना यों निकल सकती है जिसे पूरी तरह अपनी जनता का समर्थन प्राप्त हो। बैसवाड़े में भारतीय सेना का पीछा करने में अंग्रेज़ों को अभूतपूर्व कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। पेड़ों में छिपे हुए निशाने-बाज़ों ने न जाने कितने ब्रिटिश सैनिकों की जानें लीं। बहुत से इतना तेज़ी से पीछा कर रहे थे कि हरियाली में उन्हें कुंए न दिखाई दिये और अपने सारे लवाज़मात के साथ उनमें समाधिस्थ हो गये। डौंडियाखेरे के बाद अंग्रेज़ी सेना बढ़ रही थी कि एक जगह उनकी तोपें अटक गईं। घुडवसार आगे बढ़े। इस पर भारतीय सैनिक "शान्त चित्त से रुक गये और यह देख कर कि हमारे घुड़सवारों के पास साथ की तोपें नहीं हैं, उन पर मस्केटों और देशी बंदूकों से ऐसी तीव्र अग्नि-वर्षा की कि हमें अपने आदमियों को पीछे हटा लेना पड़ा।"[३४०] ब्रिटिश और भारतीय सेनाओं के अनुशासन का तुलनात्मक अध्ययन करने के लिये यह घटना बहुत ही शिक्षाप्रद है। अंग्रेज़ घुड़सवार तभी तक शेर थे जब तक उन्हें तोपों से सहायता मिलती थी। तभी तक वे डींग हांक सकते थे कि उनकी वीरता के आगे काली पल्टनें अनुशासनहीन कायरों की तरह भागती हैं। किन्तु जहाँ ये तोपें साथ न रहीं, वहीं दोनों की वीरता का पता चल गया। भारतीय सैनिक शान्त चित्त से घूम पड़े। एनफील्ड राइफ़ल काम न आये। मस्केटों और देशी बंदूकों की मार के आगे अवध की भूमि पर इन लुटेरों को पीछे हटना पड़ा।

अंग्रेजों को कुछ विश्वासघातक सहायक मिल गये थे; लेकिन जनता इनसे घृणा करती थी। प्रतापी ब्रिटिश राज्य का संरक्षण मिलने पर भी वे भय से कांपा करते थे। भगवंत नगर में अंग्रेज सेनापति से

मिलने ऐसे ही एक सज्जन दुर्बिजैसिंह [दिग्विजयसिंह का अपभ्रंश-रूप] मिलने आये। अंग्रेज बहादुर उससे खुश था, उसे इनाम देना चाहता था। इस पर दुर्बिजैसिंह आँखों में आंसू भर कर बोले, अभी इनाम न दीजिये, जब तक इन बदमाशों का नाश न हो जाय। आप इनाम देंगे और यहाँ से चले जायँगे। वे आकर इनाम ले जायँगे और जो मेरी पूंजी है, साथ में उसे भी ले जायँगे। आपका राज हो जाय, फिर भरपेट इनाम दीजियेगा।[३४१] इतना भय था प्रगतिशील अंग्रेजों के साहसी मित्रों को! अंग्रेज अधिकारियों को हर जगह अपने विरोधी सिपाही दिखाई देते थे। एक जगह कुछ स्त्रियाँ कपड़े धो रही थीं। इनको भी वे समझे कि सिपाही लड़ने आ रहे हैं![३४२]

मानसिंह ने अंग्रेजों से कहा कि बेनीमाधो अन्त में आत्मसमर्पण कर देंगे और दरबार पार्टी कर सकती होगी तो वह भी आत्मसमर्पण कर देगी। गोंडा और बौंडी के राजाओं के बारे में उसे विश्वास था कि वे हथियार न डालेंगे। किन्तु राना ने अन्त तक हथियार न डाले और न अंग्रेज नाना साहब और बेगम को पकड़ने में ही सफल हुए। ब्रिटिश सेना बहराइच पहुंची जहां एक घर आबाद था तो दस घर खाली थे।[३४३] रसेल ने सुना था कि पन्द्रह साल पहले यह अवध के सबसे अच्छे शहरों में था। पन्द्रह साल में अंग्रेजी राज की कृपा से मंदिर, मस्जिदें, सरायें, बागों की चहारदीवारियां, सार्वजनिक कार्यों के भवन, उच्च वर्गों के भवन, ये सब खँडहर होगये थे। बहराइच ही नहीं, रायबरेली को देखकर रसेल ने लिखा था कि अवध के मुस्लिम शासन के गौरव-काल में यह नगर अपनी भव्यता के लिये प्रसिद्ध था। "अब यह बिल्कुल बर्बादी और तबाही की हालत में है।"[३४४] इस तबाही में जो रही-सही कसर थी, उसे युद्ध ने पूरा कर दिया।

लखनऊ की सड़कें नापसंद होने पर अंग्रेज़ घरों के अंदर से बारूद लगा कर अपना रास्ता बना चुके थे। नगर पर लिये वे अधिकार होजाने के बाद नये मार्गों और इमारतों के मकान ढहा रहे थे। २८ नवंबर १८५८ को रसेल ने सबेरे लखनऊ में धमाकों की आवाजें सुनीं। "कितना परिवर्तन था! अत्यधिक विस्फोटों की आवाज़ सारे शहर में गूंज रही थी। नयी इमारतों (works) के लिये और गढ़ (citadel) तक खुली आमदरफ्त कायम करने

के लिये इंजिनियर मकान उड़ा रहे थे।''[३४५] शहरों को उजाड़ कर, बारूद से इमारतें उड़ा कर, गाँवों में आग लगाकर, हजारों व्यक्तियों की हत्या करके अंग्रेज़ों ने अवध पर फिर अपना शासन कायम किया।

१८५८ के अंत में अंग्रेज़ों को पता चला कि बेगम हज़रत महल और राना बेनीमाधो की सेनाएँ मिल गई हैं। उनके भेदियों ने बताया कि उनका मुकाबला करने के लिये २२ तोपों सहित दो लाख भारतीय सेना प्रस्तुत है।[३४६] जब कैम्पबेल को भारतीय सेना दिखाई दी तो रसेल ने अनुमान लगाया कि तीन हज़ार से अधिक सैनिक न होंगे जिनमें आठ सौ, नौ सौ घुड़सवार होंगे। भारतीय सेना ने अंग्रेज़ों पर हमला किया। घने पेड़ों से उन्हें अपने ऊपर गोलियाँ बरसती दिखाई दीं। सेनापति सर कौलिन कैम्पबेल उर्फ लार्ड क्लाइड घोड़ा दौड़ाते हुए ज़मीन पर तशरीफ ले आये। मुहँ से खून बह रहा था और दाहने हाथ ने हिलने से इन्कार कर दिया। "दुश्मन" बहुत बिखरा हुआ था, इसलिये अंग्रेज़ी सेना को पीछे हटने का हुक्म हुआ! जिसे हिन्दी भाषा में धूल चाटना कहते हैं, उसका प्रत्यक्ष अनुभव राना बेनीमाधो की कृपा से लॉर्ड क्लाइड को होगया।

अंग्रेज़ों ने अपनी खीझ गरीबों की झोपड़ियां जला कर मिटाई। न उन्हें हिन्दुस्तान की गर्मी पसन्द थी, न "बड़े दिन" के बाद हिमालय की तराई का जाड़ा अच्छा लगता था। डोली में बैठे हुए लॉर्ड क्लाइड आगे बढ़े। मानसिंह से एक किले के बारे में पूछा—संभवतः यह सज्जन अब अंग्रेज़ों का मार्ग दर्शन करते चल रहे थे—किले में कौन है, कितने आदमी हैं। मानसिंह को मालूम न था। गांववालों और भेदियों से पूछने पर जितने मुहँ उतनी बातें सुनने को मिलतीं। रसेल ने दुर्बीन से देखा कि एक आदमी सुन्दर वस्त्र पहने हुए कई सहयोगियों के साथ किले पर घूम घूम कर सिपाहियों को उत्साहित कर रहा है। क्या यह राना बेनीमाधो थे? "मैं देख सकता था कि तोप चलाने वाले अपनी तोपों का निरीक्षण कर रहे हैं और बुर्जियों पर सिपाही बड़े विश्वास से अकड़ कर चल रहे हैं।''[३४७] और क्यों न अकड़ कर चलते? न्याय के लिये लड़ने वाला अन्यायी के सामने हर परिस्थिति में सिर उठा कर चलता है। ये उसी वीर जाति के पुत्र थे जिसके अनगिनत शहीदों को अंग्रेजों ने तोप और फांसी से सामने अडिग आत्म-विश्वास के साथ सिर

ऊँचा किये अचंभे से मृत्यु दंड पाते देखा था। अंग्रेजों ने किला ले लिया। उनकी जंगी तोपों ने गढ़ ध्वस्त कर दिया। मुख्य सैन्य-दल निकल गया। उसे निकलने का समय देने के लिये कुछ चुने हुए वीर अंग्रेजों को रोके रहे और अन्त तक लड़ते रहे। रसेल ने देखा कि एक तोप में अकेला एक सैनिक बारूद भरता है, खुद ही पलीता लगाता है और अंग्रेज सेना पर बराबर गोले बरसाता जाता है।[३४८] अंत में वह अचानक गायब होगया और तोप एक ही बार और चली। शाम को मेजर डिलन ने चीफ़ ऑफ स्टाफ़ को रिपोर्ट दी, सिपाहियों ने किला खाली कर दिया है ! किले के अन्दर अंग्रेजों को तोपों के नये गोले, उन्हें बनाने के खोल और नये ढँग के बान मिले। भारतीय सेना अब भी युद्ध-सामग्री बनाती जाती थी और अपराजित आत्म-विश्वास से अंग्रेजों का सामना करती जाती थी। सिपाही अपने साथ सभी आहत व्यक्तियों को ले गये। किले में एक भी शव न था और सिपाहियों के घायल होने का चिन्ह भी एक ही जगह दिखाई दिया।

१८५९ के आरभ में रसेल ने लिखा कि विद्रोही सदा चौकन्ने रहते हैं। वे अपने घुड़सवारों के शक्तिशाली निरीक्षक दस्ते सारे मोर्चे पर तैनात रखते हैं और वे दिन रात अंग्रेजों की गतिविधि का ध्यान रखते हैं। एक गांव में उसने सुना कि अंग्रेजी फौज की खबर लेकर आध घंटे पहले ही एक दस्ता वहाँ से गया था।[३४९] अपनी सेना की कठिनाइयों के बारे में उसने लिखा था, "शत्रु तेईस मील पर है। रातें एकदम अँधेरी होती हैं। सड़कें बिल्कुल नहीं हैं। मार्गदर्शकों का विश्वास नहीं किया जा सकता। हमारे कदम उठते ही विद्रोहियों को इसकी सूचना मिल जायगी।"[३५०] सेनापति से ये बातें उन व्यक्तियों ने कही थीं जिन्हें मालूम था कि वह कूच करना चाहता है।

राप्ती के तट पर युद्ध हुआ। बेगम हज़रत महल की तोपों और मेंहदी हुसेन की मदद से भारतीय सेना नदी पार कर गई। अंग्रेज घुड़सवार उनका पीछा करते हुए राप्ती में कूद पड़े। नदी के तीव्र शीतल प्रवाह में ब्रिटिश और भारतीय सैनिक गुँथ गये। "नदी हमारा सबसे बड़ा शत्रु थी।"[३५१] मेजर हौर्न नदी में बह गया। भारतीय सेना नेपाल की सीमा लांघ कर उस पार पहुँच गई।

नेपाल की ओर जाने वाली सेना में कानपुर की पल्टनें भी थीं।

इन पहली, पचपनवीं और छप्पनवीं पल्टनों के सेनापति गजाधरसिंह [होप ग्राण्ट की रोमन लिपि में Goojadur Singh] थे। लखनऊ के युद्ध में इनकी एक बांह काम आयी थी। होप ग्राण्ट की राय में इन पर "विद्रोह का बहुत गहरा रँग चढ़ा था और हमारे लिये उनकी घृणा अटूट थी।" तीव्र वेग से अपनी सेना बढ़ाते हुए उन्होंने अंग्रेजों पर सिकरौरा में अचनक आक्रमण किया। बनगांव के किले में अंग्रेजों से युद्ध करते हुए इस साहसी योद्धा का अन्त हुआ।

भारतीय सेना नेपाल क्यों गई, इसका उत्तर होप ग्राण्ट के वाक्यों से मिलता है। सेना को विश्वास था कि राना जंगबहादुर उसकी सहायता करेगा। होप ग्राण्ट ने लिखा था, "जंग ने पहले उनसे [विद्रोहियों से] कहा था कि वे जब गंडक पार कर लेंगे, तब वह उनसे बात करेगा। उन्हें यह विश्वास दिलाया गया था (They were led to believe) कि वह उनकी मदद करेगा और वे गोरखपुर जिले में घुस आयेंगे और आगे बढ़ते हुए कलकत्ते पर अधिकार कर लेंगे।"[३५२] होप ग्राण्ट अंग्रेजी सेना के साथ था और एक प्रमुख सेनानायक था। उसकी यह स्वीकृति ध्यान देने योग्य है। भारतीय सेना को यह आशा दिलाई गई थी कि नेपाल उसकी सहायता करेगा। इसी कारण लखनऊ में जंगबहादुर को अंग्रेजों के साथ देखकर भी भारतीय सेना और उसके नेता नेपाल में घुसते चले गये थे, उनका उद्देश्य तराई से होते हुए कलकत्ते पर आक्रमण करना था। यह सेना बिखरे हुए भगोड़ों का गिरोह न थी जैसा कि इतिहासकार उसे अक्सर चित्रित करते हैं। यह एक संगठित सेना थी जो एक निश्चित रणनीति के अनुसार पीछे हट रही थी। उसके अदम्य आत्मविश्वास का इसी से पता चलता है कि वह कलकत्ते पर आक्रमण करने का विचार कर रही थी।

इस परिस्थिति में जंगबहादुर ने विश्वासघात किया। उसने "उनकी सहायता करने से इन्कार कर दिया जब तक कि वे हथियार न डाल दें।"[३५२] लेकिन जंगबहादुर से अंग्रेज़ भी प्रसन्न न थे। उन्हें लगता था कि वह दुरंगी नीति पर चल रहा है। आखिर वह अपनी सीमा के अंदर आने वालों से हथियार क्यों नहीं रखवाता और वे हथियार नहीं रखते तो उनसे लड़ता क्यों नहीं है? लड़ना तो दूर, उसने ब्रिटिश सेना से प्रार्थना की कि वह बेगम हजरत महल और उनकी फौज का पीछा

करती हुई नेपाल में प्रवेश न करे। उसने कहा कि एक निश्चित अवधि में बेगम और उनके अनुयाइयों से नेपाल खाली करा लिया जायगा। उसने अंग्रेज़ों को गंडक नदी का वह घाट भी बता दिया जहाँ वे बेगम का स्वागत करने के लिये तैयार रहें ! इसलिये अंग्रेज़ों को लगा कि वह वादाखिलाफ़ी कर रहा है। उन्हें सन्देह हुआ कि वह भारतीय सेना को जानबूझ कर अपने यहाँ आश्रय दे रहा हैं। कौलिन कैम्पबेल ने लिखा, "मिस्टर जंगबदादुर के प्रति हमने जरूरत से ज्यादा शिष्टता का व्यवहार किया है।....मुझे यह देखकर बेहद क्रोध आता है कि इस शख्स जंगबहादुर की धूर्तता और बेईमानी के कारण हमारी फौज को जितना सोचा था, उससे ज्यादा समय तक बाहर रहना पड़ सकता है।"[३५३] कैम्पबेल ने यह पत्र १२ मार्च १८५६ को लिखा था।

जंगबहादुर क्यों भारतीय सेना से युद्ध नहीं करता था, न उनसे हथियार डलवाता था, न चाहता था अंग्रेज़ी सेना भीतर आये, इन प्रश्नों का उत्तर हमें बहुत कुछ नेपाल के अंग्रेज़ रेजीडेंट के पत्र से मिल जाता है जो उसने कलकत्ता-सरकार को ४ मार्च १८५६ को लिखा था। उसका सारांश यह है। विद्रोही जंगबहादुर की बातें सुनने को तैयार नहीं हैं। इसलिये जंगबहादुर परेशान है। रेजीडेन्ट ने दरबार और नेपाली सेना की भावना जानने का प्रयत्न किया था और वह इस नतीजे पर पहुँचा था कि सर्दार और नेपाली सेना, कोई भी जंगबहादुर का समर्थन नहीं करते। "अभिमान के कारण वह हृदय की बात ठीक-ठीक कहेगा नहीं। लेकिन कुछ दिन पहले उसने डाक्टर ओल्डफील्ड से कहा था और अर्दली अफ्सर ने मुझ से कई बार वह बात दोहराई है कि उसे विश्वास नहीं है कि उसने सेना को नीचे जाने को कहा तो वह उसकी आज्ञा मानेगी; और यदि तीन चार पल्टनों ने मार्च करने से इन्कार कर दिया तो संभवत: क्रान्ति हो जायगी।"[३५४]

नेपाल में क्रान्ति का भय—जंगबहादुर द्वारा भारतीय सेना के अतिथि-सत्कार का कारण यह था ! अपनी जनता के भय से यह सामंत अंग्रेज़ों का स्वागत करने में अपने को असमर्थ पा रहा था। १८५७-५८ ई की क्रान्ति में नेपाली जनता की, वहाँ के सर्दारों और सेना की सहानुभूति अंग्रेज़ों से लड़ने वाली भारतीय जनता और सिपाहियों के साथ थी, न कि अंग्रेज़ी प्रचार के अनुसार विदेशी आतताइयों के साथ !

रेजीडेन्ट ने आगे लिखा था कि उसे एक गुरखा सिपाही से मालूम हुआ था कि जंगबहादुर तो अंग्रेज़ों की आज्ञा मानना चाहता था लेकिन जनरलों का कहना था कि विद्रोहियों को क्षमादान मिलना चाहिये। अर्दली अफ्सर ने उसे बताया था कि "सर्दार हमारे काम से संतुष्ट नहीं हैं, वरन् वे समझते हैं कि **सभी विद्रोहियों को, उनके नेताओं को और उनके अनुयाइयों को बिना किसी शर्त के** क्षमादान मिलना चाहिये। (शब्दों पर ज़ोर मूल पत्र में है।)

भारतीय सेना कितनी थी? रेजीडेन्ट के अनुसार उसकी संख्या बहुत बढ़ा-चढ़ा कर बताई जाती थी। जंगबहादुर का मत था कि उसमें साठ हजार सैनिक हैं। रेजीडेंट ने नेपाली सेना पर अपनी सम्मति दी थी कि वह मलेरिया के मौसम में तराई में जाते डरती है। उसने अपनी सहमति प्रकट करते हुए लिखा, "और मै जंगबहादुर के इस विचार से बिल्कुल सहमत हूं कि जब तक उन्हें [नेपाली सैनिकों को] लंबी तनखाह, लूट या लूट में से इनाम का लालच फिर न दिया जायगा [इससे बिल्कुल स्पष्ट है कि उन्हें लखनऊ लूटने का लालच देकर जंगबहादुर ले गया था और उसने यह काम अंग्रेज़ों की जानकारी में किया था], तब तक बहुत संभव है कि यदि सेना को चितौन के जंगलों में मार्च करने या हिटौंडा के पच्छिम में जाकर लड़ने को कहा जायगा तो इस समय वह मार्च करने से इन्कार कर देगी।

एक दूसरी समस्या यह थी कि भारतीय सैनिक नेपाल में शान्त न बैंठे थे। वहाँ से वे महारानी विक्टोरिया के भारतीय साम्राज्य पर हमला करते थे। इसके बारे में जंगबहादुर ने रेजीडेंट द्वारा कलकत्ता सरकार को सूचित किया कि "वह उन शरणार्थियों के विशाल समूह को काबू में रखने में बिल्कुल असमर्थ है"! आखिर अंग्रेज ही उन्हें तराई की ओर ले आये थे और वे उसकी आज्ञा माने बिना ही भीतर घुस आये थे। उसे भय था कि शरणार्थियों के अलावा वह कहीं अपनी प्रजा की रक्षा करने में भी असमर्थ न हो जाय क्योंकि वे शायद उसके गाँवों को लूटने वाले थे! लेकिन "अभी तक विद्रोहियों ने तराई में किसी भी तरह का कोई आततायीपन नहीं किया वरन् जो कुछ भी लिया है, उसके लिये गाँववालों को दाम दिये हैं और गाँवों के अधिकारियों के प्रति इज्जत और सम्मान का व्यवहार किया है।"[३५५]

जंगबहादुर की यह बात ब्रिटिश रेजीडेन्ट द्वारा विक्टोरिया के वायसराय तक पहुँचाई गई थी। क्या स्त्रियों-बच्चों की हत्या करने वाली, धार्मिक अन्धविश्वासों के लिये लड़ने वाली दूसरों के राज्य में गरीब जनता को लूटने की इच्छा रखने वाली सेना भी ऐसा व्यवहार कर सकती है ! इस तरह का व्यवहार उसी सेना का होता है जो स्वार्थ-भावना छोड़कर एक महान् उद्देश्य के लिये लड़ती है। कितना अन्तर है अंग्रेज़ी सेना और भारतीय सेना की नैतिकता में; और यह तब जब अवध छूट गया था और जंगबहादुर की इच्छा के विपरीत यह सेना नेपाल में पड़ी हुई थी। भारतीय सैनिकों को लुटेरा कहने वाले अंग्रेज़ इतिहासकारों ने नेपाल के ब्रिटिश रेजीडेन्ट का यह पत्र उद्धृत करना और उन सिपाहियों के चरित्र के बारे में आवश्यक परिणाम निकालना आवश्यक नहीं समझा। उन्होंने अपने चरित्र के अनुरूप उन वीर योद्धाओं का चित्र भी बना दिया।

होप ग्राण्ट के अनुसार १ जनवरी १८५७ को २६,००० शाही सेना [वह अंग्रेज़ी सेना जिस पर ईस्ट इंडिया कंपनी का अधिकार न था] और ११,००० कंपनी की गोरी सेना थी। अगले १५ महीनों में अप्रैल १८५८ तक इंगलैण्ड से ४२,००० शाही सेना भेजी गई थी और पाँच हजार कंपनी की सेना जमा की गई। इस तरह लगभग ८५,००० हजार सैनिक बटोरे गये। युद्ध और बीमारी से युद्ध के योग्य ५०,००० हजार अंग्रेज़ सेना रह गई थी।[३५६] यदि हम यह स्मरण करें कि दिल्ली में अंग्रेज़ी आँकड़ों के अनुसार ब्रिटिश सेना [जिसमें हिन्दुस्तानी सैनिक भी थे] दस हज़ार थी तो हमें इसका अन्दाज हो जायगा कि अवध का दमन करने के लिये, अंग्रेज़ों को कितना भगीरथ प्रयत्न करना पड़ा था और उनकी कितनी भारी सैन्य-क्षति हुई थी। यह सब तैयारी लखनऊ पर अधिकार करने के बाद की है !

होप ग्राण्ट के अनुसार निम्नलिखित भारतीय सेना नोलपुर पहुँची थी :

६,६१६—पैदल सेना, कंपनी की मस्केटों से सुसज्जित;
२,७२४—घुड़सवार, कार्बाइनों से सुसज्जित;
७७—हाथी;
१२४—ऊँट;

१३२१—टट्टू जिन पर सवार होने वाले सैनिकों के पास तलवारें, पिस्तौलें, मस्केट आदि थीं;

५,३८३ —प्यादे;

१०४—बैल;

८३—गधे;

१७९२—स्त्रियाँ;

८५२—बच्चे।

तोपों के बारे में उसने लिखा, "उनके पास तोपें नहीं हैं लेकिन उन्होंने तोपें मँगवायी हैं।" इस वाक्य से स्पष्ट है कि यह केवल एक स्थान की सेना है, नेपाल में जाने वाली पूरी सेना नहीं है। एक दिलचस्प वाक्य यह और है, "उनके पास आठ-दस एनफील्ड राइफल हैं और एक-दो हाथियों पर गोली-बारूद लदी है।" एनफील्ड राइफलों से भारतीय सैनिकों को कोई परहेज़ न था। हाथियों पर गोली-बारूद लदी थी। स्त्रियों-बच्चों के साथ यह विशाल दल नेपाल पहुँच गया था। तोपें नहीं थीं किन्तु मँगवाई जा रहीं थीं। इससे विद्रोह का वह चित्र आंखों के सामने नहीं आता जो अंग्रेज़ इतिहासकार वनाते हैं कि जंगलों में भूख और बीमारी से हिन्दुस्तानी सेना नष्ट हो गई।

इस विवरण पर कैम्पबेल उर्फ क्लाइड ने लिखा था, "मैं समझता हूँ कि इस विवरण में जो संख्या दी गई है, वह नेपाल में बेगम की सेना की पूरी संख्या है।"[३५७]

अंग्रेज़ नाना साहब, राना बेनीमाधो, बेगम हजरतमहल, सेनापति बख्त खाँ आदि अनेक नेताओं को पकड़ने में असफल रहे। बेगम ने पेंशन लेकर पराधीन भारत में लौटना अस्वीकार कर दिया।

८ जुलाई १८५९ को अंग्रेज़ों ने ऐलान किया कि भारत में शान्ति स्थापित हो गई है। तीन वर्षों के निरन्तर संघर्ष के बाद उन्होंने २८ जुलाई का दिन नियत किया कि उस दिन अंग्रेज़ी राज के भक्त इस शान्ति स्थापना के लिये ईश्वर को धन्यवाद दें।[३७४]

यह बहुत अस्थायी शान्ति थी। भारतीय जनता उसे बराबर भंग करती रही और १९४६-४७ में एक शताब्दी बीतने के पहले ही वह पूरी तरह भंग हो गई। एशिया, अफ्रीका और दक्षिणी अमरीका में वह क्रम अभी चल रहा है।

समस्याएँ और निष्कर्ष

राष्ट्रीय स्वाधीनता और जातीय समस्या

सन् सत्तावन की राज्यक्रान्ति में पंजाब, सीमान्त प्रदेश, राजस्थान, महाराष्ट्र, कर्णाटक, हैदराबाद, और विशाल हिन्दी-भाषी प्रदेश की जनता ने भाग लिया। इन प्रदेशों में क्रान्ति का विकास एकसा नहीं था, न हो सकता था। कौन सा बहुजातीय देश है जहां क्रान्ति हुई हो और जिसके सभी प्रदेशों में उसकी गहराई, उसका वेग एक सा रहा हो? सौ वर्ष पहले हिन्दुस्तान एकमात्र ऐसा देश था जहां इतनी जातियों के लोगों ने मिलकर अपनी स्वाधीनता के लिये विदेशी सत्ता से युद्ध किया था। यदि हिंदी-भाषी प्रदेश के अलावा अन्य किसी भी प्रदेश के लोगों ने उसमें भाग न लिया होता, तब भी यह युद्ध राष्ट्रीय स्वाधीनता-संग्राम कहलाने का अधिकारी होता। कारण यह कि हिन्दी जनता केवल अपने प्रदेश के लिये न लड़ रही थी। उसका उद्देश्य सारे देश को स्वाधीन करना था। इसीलिये बहादुरशाह की ओर से अनेक देशी नरेशों को पत्र भेजे गये थे। इसीलिये नाना साहब और तात्या टोपे ने दक्षिण में जनता को युद्ध में सक्रिय रूप से योग देने के लिये आह्वान करते हुए अपने दूत भेजे थे। इसीलिये सैनिक अपने प्रदेश के बाहर भी जनता को युद्ध में भाग लेने के लिये आमंत्रित करते थे और एक प्रदेश से हटाये जाने पर दूसरे प्रदेश में भी प्राणपन से युद्ध करते थे।

राज्यक्रान्ति को जनता की व्यापक सहानुभूति प्राप्त थी, इसमें सन्देह नहीं है। अनेक स्थानों में सामन्तों के विरुद्ध उनकी अपनी सेना ने विद्रोह कर दिया और वह ब्रिटिश सेना के सिपाहियों से मिल गई। किन्तु हर जगह सामन्तों की सेना अथवा उनकी प्रजा में इतनी जागरूकता नहीं थी। वह अन्य प्रदेशों के समान उसमें सक्रिय भाग न ले सकी। कश्मीर, गुजरात, केरल और तमिलनाड, और बंगाल – ये ऐसे

कुछ सामन्तों का संयुक्त मोर्चा। साधारणतः जनता की एकता का यही रूप था। बंगाल में सामंत अंग्रेज़ों के साथ थे। इसके सिवा पक्के बंदोबस्त के कारण अंग्रेजों ने ज़मींदारों का एक राजभक्त वर्ग तैयार कर लिया था जो प्रदेश की शिक्षा और संस्कृति को प्रभावित करता था और जिसके स्वार्थ अंग्रेज़ी राज्यसत्ता के साथ संबद्ध थे। बंगालियों को फौज में भर्ती न किया जाता था। इस कारण बंगाल में सिपाहियों, किसानों और सामंतों का संयुक्त मोर्चा न बन सका। रह गये बुद्धिजीवी, तो अकेले राज्यक्रान्ति में भाग लेना इनके बस की बात न थी। फिर इन बुद्धिजीवियों में राजभक्त वर्ग काफी मुखर था। किन्तु इससे यह अनुमान लगाना गलत होगा कि बंगाल की सारी जनता की वही भावना थी जो इन बुद्धिजीवियों की थी। ढाका और चटगांव में विद्रोह करने वाले सैनिक सुविधापूर्वक आगे बढ़ सके। जमींदारों से भिन्न उन्हें जनता की सहानुभूति प्राप्त हुई।

कुछ बंगाली बुद्धिजीवी यह सोच सकते थे या हैं कि अंग्रेज इस देश में प्रगतिशील भूमिका पूरी कर रहे हैं किन्तु अंग्रेजों के हृदय में बंगाल या बंगालियों के प्रति कोई प्रेम न था। अंग्रेज़ इतिहासकारों में बहुतों से अधिक उदार के ने बंगालियों के बारे में जो विचार प्रकट किये हैं, वे बंगालियों के अलावा हर भारतवासी के लिये अपमानजनक हैं। उसकी राय में बंगालियों की जाति कमजोर और आलसी है। वे शान्ति-प्रिय होते हैं और उन्हें जल्दी डराया जा सकता है। उन्हें बंगाल की सेना में भर्ती नहीं किया गया लेकिन वे व्यापार में चतुर हैं। मुकदमेबाजी बहुत करते हैं और कायर हैं। "लोकप्रिय विद्रोह के बारे में उनकी धारणा यह थी कि नितंबों के बल बैठे हुए लोगों की एक बहुत बड़ी भीड़ लगा दी जाय। वह भूखी और शान्त बैठी रहे और अपनी निष्क्रियता और अखंड धैर्य के बल पर ही सरकार को चुनौती देती रहे।"[२] कुछ बंगाली बुद्धिजीवी जिन अंग्रेजों के बराबर बैठने के इच्छुक थे, उनकी धारणा यह थी। काले आदमियों के प्रति अपनी साधारण घृणा में अंग्रेजों ने यह इजाफ़ा किया था कि बंगाली विशेष रूप से घृणित हैं। विद्रोह में भाग न लेने के लिये के ने कहीं भी बंगालियों को साधुवाद नहीं दिया; उल्टा उन्हें कायर कहकर उनकी राजभक्ति को सम्मानित किया। जिनके हृदय में इतनी घृणा हो, वे बंगा-

लियों को अपने बराबर आसन कैसे देते ? देते तो कुछ चुने हुए लोगों को, बंगाली जाति में फूट डालने के लिये।

श्री सुरेन्द्रनाथ सेन ने बंगाल के बारे में लिखा है कि कलकत्ते के शिक्षित लोग और बंगाल का भूस्वामी अभिजातवर्ग विद्रोह की निन्दा करने में मद्रास के अपने साथियों से पीछे नहीं रहा। २२ मई १८५७ को ब्रिटिश इंडियन एसोसियेशन ने मेरठ और दिल्ली में सिपाहियों के आचरण की निन्दा का प्रस्ताव पास किया। महाराज बर्दवान और उनके साथी अन्य लोगों ने सरकार को ब्रिटिश राज्य की प्रशस्ति भेंट की। इससे बहुत अच्छी तरह समझ में आजाता है कि बंगाल में अंग्रेजी राज के समर्थक किन वर्गों के लोग थे। अवश्य ही ब्रिटिश इंडियन एसोसियेशन और बर्दवान महाराज बंगाली जाति का प्रतिनिधित्व न करते थे। अंग्रेजों के पत्रों, रिपोर्टों आदि से एक बात स्पष्ट है कि उस समय उन्हें कलकत्ता, मुर्शिदाबाद आदि की जनता का भरोसा न था। कलकत्ते में साहबों की जो भगदड़ मची थी, उसका कारण केवल सिपाहियों का आतंक न था। श्री सेन ने आसाम के मनिराम दत्त का उल्लेख किया है जिन्हें फांसी दी गई थी। मधु मल्लिक को अहोम राजा के नाती से राज्यद्रोहात्मक पत्र-व्यवहार के कारण और सिपाहियों की सहायता से अपना राज्य प्राप्त करने के लिये उकसाने के कारण दस साल की कैद की सजा मिली थी। श्री सेन का विचार है कि मेजर हालरोयड मनिराम से अप्रसन्न था, इसलिये उसने उन्हें कैद की सजा दे दी। उन्होंने इस व्यक्तिगत अप्रसन्नता का कोई कारण नहीं बताया, न उसका कोई प्रमाण दिया है। किन्तु मधु मल्लिक के लिये उन्होंने ऐसा कुछ नहीं लिखा। कम से कम एक बंगाली ऐसा था जो अंग्रेजी राज के बदले पुराने अहोम राजाओं का शासन स्थापित करना चाहता था।

अलेग्जेंडर डफ की जीवनी के लेखक जौर्ज स्मिथ ने १६ मई १८५७ को लिखा हुआ डफ का एक पत्र अपनी पुस्तक में उद्धृत किया है। उससे उस समय कलकत्ते की स्थिति पर प्रकाश पड़ता है। उसने लिखा था कि १६ मई को यूरोपियन कत्लेआम से बच गये। सिपाहियों ने फोर्ट विलियम पर अधिकार करने का षड़यंत्र रचा था। "लगभग आधी देशी फौज गुप्त या खुले विद्रोह की हालत में है और उसके दूसरे आधे हिस्से के बारे में मालूम है कि वह क्षुब्ध (disaffected) है। लेकिन

बात इतनी ही नहीं है। इसका पता है कि जनता आम तौर से बहुत कुछ क्षुब्ध है।"

अंग्रेज लेखकों ने जॉन लारेन्स की बड़ी प्रशंसा की है कि उसने पंजाब की रक्षा करके सारे हिन्दुस्तान में ब्रिटिश साम्राज्य की रक्षा करली। उन्होंने यह दिखाने का प्रयास किया है कि सिखों ने मुसल्मानों से अपनी पुरानी घृणा के कारण दिल्ली के युद्ध में भाग लिया और उसे लूटा। इसके अलावा पुरबियों ने अंग्रेजों के लिये या अंग्रेजों के साथ पंजाब जीता था, इसलिये उन्हें पुरबिये सिपाहियों से भी घृणा थी। अब रह गये अंग्रेज। उनसे किसी अज्ञात कारणवश सिख अपना पुराना वैर भूल गये।

पंजाब के वे सर्दार जो अंग्रेजों का समर्थन कर रहे थे, पंजाबी जनता के उतने ही प्रतिनिधि थे जितना बंगाली जनता का ब्रिटिश इंडियन एसोसियेशन। अंग्रेजों ने और उनमें सबसे पहले चीफ कमिश्नर लारेन्स ने बहुत से सिखों को लूट का लालच देकर फौज में भर्ती किया था, यह हम देख चुके हैं। यद्यपि लूट में अंग्रेज़ कीमती माल सबसे पहले उड़ाते थे, फिर भी उन्होंने लूट के लिये मुख्यतः जिम्मेदार ठहराया सिखों को। संघर्ष आरंभ होने के पहले अंग्रेज सिखों का विश्वास न करते थे। उनकी नीति सिखों के विरुद्ध हिन्दुस्तानियों को उकसाने की थी। विद्रोह आरंभ होने पर पहले उन्हें सिखों से शंका थी। १७ मई १८५७ को पंजाब के चीफ कमिश्नर के सेक्रेटरी ने कलकत्ता-सरकार को लिखा था, "चीफ कमिश्नर से ज़ोर देकर कहा गया है वह खालसा सिपाहियों की एक सेना बनाये लेकिन उन्होंने इस विचार से अनुमति नहीं दी कि यह काम खतरनाक होगा, विशेष रूप से सतलज के इस ओर के प्रदेश में जहाँ सिख सेना के सबसे सरकश अंग थे और हमारे प्रति जिनमें कभी सद्भावना नहीं रही।"[3] इससे कम से कम इतना तो सिद्ध होता है कि सिखों में ऐसे बहुत से थे जो अंग्रेज़ों से अपना वैर भूले नहीं थे और उन्हें फौज में भर्ती करने से अंग्रेजों को भय था।

अन्य सिखों में अंग्रेजों ने लूट के लालच के अलावा पुरबियों के प्रति जातीय घृणा का भाव भी जाग्रत किया। पुरविये शब्द का प्रयोग

ही उनके इस जातीय भेदभाव की नीति के कारण किया जाता था। पादरी केव-ब्राउन ने लिखा है कि पुरबिये का अर्थ होता था, अवध और बिहार के निवासी। रणजीतसिंह की सेना में यह शब्द हिन्दुस्तानी सिपाहियों के लिये प्रयुक्त होता था। अंग्रेजों ने इस शब्द का प्रचार किया। केव-ब्राउन के शब्दों में "इस अवसर पर इस शब्द का चलन फिर से करने में कम से कम पौलिसी थी क्योंकि इस वर्ग के प्रति जो घृणा और नफरत थी, उसे यह शब्द पुनर्जीविन करता था। उससे पंजाबी और हिन्दुस्तानी के बीच की खाँई और चौड़ी हुई और उनका आपस में मिलना और कठिन हो गया।"[४] अंग्रेज हिन्दुस्तान को राष्ट्रीय एकता का पाठ पढ़ाने आये थे। पंजाबी और हिन्दुस्तानी जातियों के बीच परस्पर घृणा उकसा कर उन्होंने राष्ट्रीयता का कितना सुन्दर बीज बोया था।

अंग्रेजों ने पंजाब में जो नयी फौज़ भर्ती की, इसका व्यवहार एक तरह का था; ब्रिटिश सेना में मई १८५७ से पहले ही जो सिख थे, उनका व्यवहार दूसरी तरह का था। पुराने सिख सैनिकों ने बहुत स्थानों में हिन्दुस्तानी सिपाहियों का साथ दिया। बनारस में उन्होंने अन्य सिपाहियों की तरह विद्रोह किया। अंग्रेजों ने बनारस में रहने वाले पदच्युत सामंत सर्दार सूरतसिंह की सहायता ली। के ने लिखा है कि सर्दार सूरतसिंह ने सिख सैनिकों के क्रोध को कुछ कम किया जो अपने साथियों के खून का बदला लेने के लिये उत्तेजित थे।[५] जब अंग्रेजों का साथ देने वाले सिख सिपाहियों ने पटना में प्रवेश किया तो उन्हें गुरुद्वारे में घुसने न दिया गया।[६] इससे अंग्रेजों के प्रति साधारण सिखों की भावना का पता चलता है। लखनऊ में अंग्रेज़ों के साथ जो सिख सैनिक थे, उनमें से अक्सर थोड़े-बहुत अंग्रेजों का पक्ष छोड़कर चल देते थे। ५ जुलाई १८५७ को मेजर बैङ्क्स ने अपनी डायरी में लिखा था कि रात में १३ सिख सैनिक खिसक गये।

पंजाब में ब्रिटिश सेना के पुराने सिख सैनिकों के बारे में चीफ कमिश्नर के सेक्रेटरी ने १० जुलाई १८५७ को लिखा था, "अनुभव ने दिखा दिया है कि देशी पैदल-पल्टनों के सिख और अन्य पंजाबी सिपाही सरकार की ओर सद्भावना रखते हुए और हिन्दुस्तानियों से अपने को भिन्न दिखाने की इच्छा रखते हुए भी, जब विद्रोह होता है, तब अक्सर उनके

साथ फिसल जाते हैं।"[७] पत्र-लेखक के अनुसार इसका कारण सिखों की थोड़ी संख्या और सिख अफसरों का अभाव था। यह परिस्थति अंग्रेज़ों की ही पैदा की हुई थी। उन्होंने सिखों को जानबूझ कर कम संख्या में रखा था क्योंकि अभी उन्हें उनसे भय बना हुआ था। इसके विपरीत दिल्ली की विद्रोही सेनाओं में कम से कम एक पल्टन एक सिख कर्नल के नेतृत्व में थी। दिल्ली की जिन पल्टनों ने नीमच ब्रिगेड का अभिनन्दन किया था, उनमें "नत्था सिंह, कर्नल, सिख, लुधियाना की दूसरी पल्टन" का उल्लेख है।[८] यदि सिखों में आम भावना होती कि दिल्ली को लूट लेना चाहिये, तो न सर्दार नत्था सिंह दिल्ली में अपनी पल्टन के साथ अंग्रेज़ों से लड़ते, न हिन्दुस्तानी सिपाही उनका विश्वास करते। राष्ट्रीय एकता की शिक्षा कौन दे रहा था, अंग्रेज़ जो सिखों और हिन्दुस्तानियों को लड़ा रहे थे या भारतीय सैनिक जिनमें हिन्दू मुसल्मान सिख, हिन्दुस्तानी और पंजाबी मिलकर अंग्रेज़ों से लड़ रहे थे?

दिल्ली के पतन के बाद बहुत से सिख सैनिक पंजाब लौट गये। अंग्रेज़ों ने इन्हें पकड़-पकड़ कर फाँसी या काले पानी की सजा देना शुरू किया। १० दिसंबर १८५७ को पंजाब के चीफ कमिश्नर के सेक्रेटरी ने लिखा था, "विद्रोही पल्टनों के कुछ भागे हुए सिख अब पंजाब को लौट रहे हैं। कई को पकड़ लिया गया है और सजा दे दी गई है। कुछ दिन पहले लुधियाना पल्टन के पांच सिपाहियों को जालंधर में फाँसी दी गई थी। अन्य दो को वैसा ही दंड मिला है।"[९] जिन पल्टनों के हिन्दुस्तानी सैनिकों ने अपने अफसरों को मारा था, उनके सिख सिपाहियों को इस विचार से कि उन्होंने हिन्दुस्तानी सिपाहियों के भय से विद्रोह किया होगा, अंग्रेज़ों ने कृपा करके काले पानी की सजा दी।

२२ फर्वरी १८५८ को इसी सेक्रेटरी ने लिखा कि चीफ कमिश्नर चार तारीख को लुधियाना पहुँचा और दूसरे दिन सबेरे २१ सिखों को जो बंगाल सेना की १२ वीं पैदल पल्टन के विद्रोही सिपाही थे, फाँसी दी गई। इन्हें मलेरकोटला के नवाब ने पकड़वाया था। यह बारहवीं पल्टन झांसी में थी और उस पर अंग्रेज़ अफसरों और उनके बीबी बच्चों को मारने का अपराध लगाया गया था। "दरयाफ्त करने से मालूम हुआ कि सिख सिपाहियों ने विद्रोह में आगे बढ़कर हिस्सा लिया था। इसलिये जो २५ पकड़े गये थे, उनमें केवल चार को कैद की सजा दी

गई, बाकी को फाँसी दे दी गई ।'[१०]

बनारस, झाँसी, दिल्ली, लुधियाना – अनेक स्थानों में सिख वीरों ने अपने अन्य देशवासियों के साथ अंग्रेज़ी राज खत्म करने के लिये अपना खून बहाया। पंजाब के हिन्दुओं और मुसलमानों के साथ उन्होंने अपने जातीय गौरव की रक्षा की। देश उन्हें सदा श्रद्धा से याद करेगा। जिन्होंने अंग्रेज़ों का साथ दिया, उन्होंने अंग्रेज़ों से ही गालियाँ पाई। इलाहाबाद में ब्रिटिश सेना की लूटमार के सिलसिले में के ने "सिखों के स्वाभाविक लालच"[११] का जिक्र किया अर्थात् उसके अनुसार लूट का लालच सिखों के स्वभाव में शामिल है! कानपुर में ब्रिटिश सेना की लूट के सिलसिले में के ने लिखा है, "इस बीच हमारे आदमी हर तरफ लूट रहे थे और सिख सदा की भाँति अपने इस प्रिय कार्य में उत्साह के साथ लगे हुए थे।"[१२] अंग्रेज़ यहाँ की जातियों में घृणा और द्वेष उत्पन्न करके अपना स्वार्थ सिद्ध करते थे; जो उनका जितना ही साथ देता था, उससे उतनी ही हृदय से घृणा करते थे।

पंजाबियों के साथ पठानों ने इस स्वाधीनता-संग्राम में महत्वपूर्ण भाग लिया। एक पठान वह थे जो हिन्दुस्तानियों के साथ अंग्रेजों से लड़ रहे थे, उन्हें लगान देना बंद कर रहे थे, अपने गाँव बर्बाद हो जाने पर भी हथियार डालने का नाम न लेते थे। दूसरी ओर कुछ ऐसे पठान थे जो अंग्रेजों की सेना में भर्ती होकर विदेशी सत्ता की जड़ें जमा रहे थे। अंग्रेज स्वाधीनता-संग्राम के विरुद्ध किस तरह के लोगों को बटोरते थे, इसकी बहुत सुन्दर मिसाल पठानों की भर्ती में मिलती है। केव-ब्राउन की ईमानदारी प्रशंसनीय है जिसने लिखा था, "क्या हुआ यदि इस नयी भर्ती में डाकू, गुंडे, भागे हुए कैदी, बेकार लफंगे थे; उन्हें अपने विरुद्ध रहने देने से उन्हें अपने पक्ष में कर लेना ज्यादा अच्छा था।" (What though these new levies contained outlaws, desperadoes, escaped convicts, idle vagabonds—it was better to have them for us than against us.')[१३] सत्य यह है कि अंग्रेजों को अपनी ओर से लड़ने के लिये भले आदमी मिलते न थे। इसलिये वे स्वभावतः समाज के निम्नतम स्तरों से छांट कर आदमी लाते थे और उन्हें शस्त्र-सज्जित करके दिल्ली, लखनऊ इलाहाबाद जैसे सांस्कृतिक केन्द्रों में लूटमार और हत्या के लिये छोड़ देते थे। फिर

स्वयं दामन झाड़कर कहते, हिन्दुस्तान के लोग बड़े लुटेरे होते हैं ! यही केव-ब्राउन डाकुओं और गुण्डों की भर्ती का उल्लेख करने के बाद कहता है कि पठानों में लूट से प्रेम होता है ! इसी ने पंजाबियों के बारे में लिखा था कि गुरू तेगबहादुर की याद दिला कर दिल्ली से बदला लेने के लिये पुराने खालसा सैनिकों को भर्ती करना काफी न था। इसलिये मज़हबी सिख जो उसके अनुसार पहले हिन्दू भंगी थे, बड़ी संख्या में भर्ती किये गये थे।[१४]

सर चार्ल्स ऐचीसेन ने जॉन लारेन्स की जीवनी में लिखा है कि उसने "सीमान्त के डाकुओं (marauders) को चतुराई से अपनी सेवा में ले लिया था"; उसने विभिन्न कबीलों के मारने-खानेवाले लोगों (adventurers) को भर्ती किया था, "बोनेर के डाकुओं (robbers) और स्वात के धर्मान्ध लोगों को भी भर्ती कर लिया था।"[१५] गाइड्स दल में अधिकतर पठान थे। अंग्रेज लेखकों ने इस दल की वीरता की बड़ी प्रशंसा की है। दिल्ली के युद्ध में उसने बहुत भाग लिया यद्यपि वहां पूरी पल्टन का प्राय: सफाया होगया। इन्हीं पठानों के बारे में कर्नल एडवर्ड्स ने लिखा था, "अफगान [तात्पर्य सीमान्त प्रदेश के पठानों से है] धर्मान्ध होते हैं लेकिन उनका मुख्य गुण लालच है।"[१६] लुधियाना में पठानों, कश्मीरियों और पंजाबियों ने मिल कर अंग्रेजों का मुकाबला किया। कश्मीर का राजा गुलाबसिंह अंग्रेजों की सहायता कर रहा था; इससे अंग्रेजों को कश्मीरियों से कोई विशेष प्रेम न होगया था। १८५८-५९ में भारत की ऐसी बहुत कम जातियाँ रही होंगी जिनके कुछ आदमियों को फाँसी न दी गई हो, गोली न मारी गई हो या जेल में न डाला गया हो। लुधियाना में अंग्रेजों ने २० कश्मीरियों और अन्य लोगों को फाँसी दी।[१७] गुलाबसिंह ने डलहौज़ी का दामन थाम कर वफादारी की सौगन्ध खाई थी। अपने राज्य में आये हुए विद्रोही सिपाहियों को पकड़वाने में उसने बड़ी सहायता की थी। अंग्रेज अपने से लड़ने वाले कश्मीरियों के अलावा अपनी सहज बर्बरता से उन कश्मीरियों को भी मार डालते थे जो युद्ध से बिलकुल अलग थे। लखनऊ में एक कश्मीरी लड़का एक बूढ़े और अंधे आदमी को साथ लिये जा रहा था। वह एक गोरे अफ्सर के पैरों पर गिर पड़ा और उससे जान बचाने को कहा। उस अफ्सर ने पिस्तौल निकाल ली और घोड़ा दबाया। तीन बार

चलाने पर भी पिस्तौल न चली; चौथी बार में उसने उस ग़रीब लड़के की जान ले ली।[१८] इस तरह लखनऊ के विजेता अंग्रेज ने महाराज गुलाबसिंह से अपना भाईचारा निबाहा।

कानपुर में नदी तट की घटना को लेकर के ने लिखा है कि नाना साहब ने यह पूर्व-कल्पित विश्वासघात किया था। नाना साहब ने यह विश्वासघात करना कहाँ सीखा था ? के लिखता है कि उन्होंने यह सब शिवाजी से सीखा था ! नाना साहब के नेतृत्व में अवध और मध्यभारत के मराठों ने हिन्दुस्तानियों से मिलकर युद्ध किया। महारानी लक्ष्मीबाई नाना साहब, तात्या टोपे आदि युद्ध के अत्यन्त लोकप्रिय नेता सिद्ध हुए। के ने एक दूसरे अंग्रेज ड्यूरैण्ड का हवाला देकर लिखा है कि उसकी समझ में सभी मराठे स्वभाव से ही दगाबाज होते हैं।[१९]

७ सितंबर १८५७ के बॉम्बे टाइम्स ने यह समाचार प्रकाशित किया था कि दो पारसियों को काले पानी की सजा दी गई थी। इससे मालूम होता है कि पारसी-समाज भी इस संघर्ष से अलग नहीं था।

किसी भी क्रान्ति की लोकप्रियता इस बात से सिद्ध होती है कि उसे आम जनता का समर्थन प्राप्त है या नहीं। यह समर्थन कभी सक्रिय सहयोग का रूप लेता है, कभी उपयुक्त अवसर, नेतृत्व और संगठन के अभाव में निष्क्रिय रहता है। यह असंभव है कि नेपाल के सर्दारों को विद्रोह से सहानुभूति होती और बंगाल और मद्रास की जनता उसकी ओर से उदासीन रहती या उसका विरोध करती। अंग्रेज़ी राज की प्रशस्ति गाना कुछ गुमराह बुद्धिजीवियोंका काम था; साधारण जनता ने अंग्रेज़ी राज से घृणा ही की। इसलिये उससे लड़ने वालों से उसकी सहानुभूति होना स्वाभाविक थी। श्री सुरेन्द्रनाथ सेन ने भी अपनी पुस्तक के अन्तिम अध्याय में स्वीकार किया है, "बंगाल और मद्रास जैसे प्रान्तों में भी, जहाँ शान्ति भंग न हुई थी, एक असमर्थ असन्तोष की भावना विद्यमान थी जो अंग्रेज़ों की हार के प्रत्येक समाचार से प्रसन्न होती थी।" इस प्रकार सन् सत्तावन के स्वाधीनता-संग्राम को भारत के पूर्व और दक्षिण की जातियों की सहानुभूति प्राप्त थी और वह पूर्ण अर्थ में भारतीय जनता की राष्ट्रीय स्वाधीनता का युद्ध था।

इन अधिक विकसित जातियों के साथ वे लोग भी थे जो वनों और पर्वतों में कबीलाई जीवन बिता रहे थे। संथाल-विद्रोह में संथालों ने गैर-

संथालों के साथ एका कायम किया था। १८५५-५६ में भी इन आदिम अथवा अर्ध-आदिम समाज-व्यवस्था के लोगों का संघर्ष वृहत्तर स्वाधीनता संग्राम का महत्वपूर्ण अंग था। सिंघभूम के कोल अंग्रेज़ों से लड़े और उनका नेतृत्व पोरहाट के राजा अर्जुनसिंह ने किया।[२०] जनवरी १८५८ में उन्होंने अंग्रेज़ों को बुरी तरह हराया और एक भी अफ्सर ऐसा न लौटा जो घायल न हुआ हो। १८५८ में पूरे साल भर कोलों ने अंग्रेज़ों को युद्ध में उलझाये रखा। जनवरी १८५८ में अंग्रेज़ों को आदिवासियों के नेता लीलाम्बर और पीताम्बर तथा अमरसिंह में पत्र व्यवहार का पता चला। अमरसिंह ने उन्हें सहायता देने की बात लिखी थी।[३०] इससे आदिवासियों और बिहार की जनता के संघर्षों के सामान्य उद्देश्य और उनके परस्पर सहयोग का पता चलता है। उत्तर में खरल लोगों के सर्दार ने घोषित किया था कि उसे अंग्रेज़ों से लड़ने के लिये दिल्ली के बादशाह से आज्ञा मिली है।[२१] अंग्रेजों का राज खत्म होरहा है— यह चेतना दूर-दूर तक आर्थिक दृष्टि से पिछड़े हुए इलाकों में भी फैल गई थी। मध्यभारत में अंग्रेज़ों ने भीलों को सेना में भर्ती किया था लेकिन इन्होंने लड़ने में उत्साह नहीं दिखाया।

जातियों के विचार से स्वाधीनता-संग्राम में हिन्दुस्तानियों की भूमिका प्रमुख थी। बिहार, अवध, दिल्ली, रुहेलखंड आदि प्रदेशों में संघर्ष ने सबसे तीव्र और व्यापक रूप लिया। हिन्दुस्तानी जाति संख्या में इस देश की सबसे बड़ी जाति है। इसलिये और जातियों की अपेक्षा किसी भी स्वाधीनता-आन्दोलन में हिन्दुस्तानी अधिक संख्या में भाग लें तो यह स्वाभाविक होगा। संख्या के अलावा उसकी प्रमुख भूमिका के अन्य कारण भी थे। और जातियों की अपेक्षा इस जाति के लोग पंजाब, बंगाल, हैदराबाद, महाराष्ट्र आदि प्रदेशों में अधिक बिखरे हुए थे। भौगोलिक दृष्टि से हिन्दुस्तानियों का प्रदेश भारतवर्ष के उत्तर, पूर्व और मध्य में था। इसलिये देश के विभिन्न प्रदेशों की गति-विधि से परिचित होना, अंग्रेज़ों की कूटनीति समझ कर उसके विरुद्ध उपाय करना और किसी भी आन्दोलन के लिये विस्तृत संगठन बनाना उनके लिये अधिक सरल था। हिन्दुस्तानी जाति में से ही वहाबी मुसलमान अंग्रेज़ों के विरुद्ध आन्दोलन चला चुके थे। पटना से लेकर सीमान्त-प्रदेश तक अंग्रेज़ों से गुप्त रखकर संगठन करने की कला से वे परिचित थे। बंगाल

की सेना अंग्रेज़ों की भारतीय सेना का मुख्य भाग थी। उसमें अधिकतर अवध, रुहेलखंड और भोजपुरी प्रदेश के किसान भर्ती हुए थे। अवध के लोग बंबई-सेना में थे, हैदराबाद और ग्वालियर की पल्टनों में थे, सुदूर ढाका और चटगाँव से लेकर पेशावर तक की पल्टनों में अवध के सिपाही थे। ये गाँव से बाहर की दुनिया देखते थे और पेंशन लेकर या छुट्टियों में अपने गांव जाकर अपना अनुभव गाँव वालों को सुनाते थे। इस तरह विद्रोह आरंभ होने के पहले ही वे सहज राजनीतिक प्रचारक बन गये थे। गाँवों में अंग्रेज़ अमले जो अत्याचार किसानों पर करते थे, वह उन्हीं के भाई बिरादरी वालों पर होता था। यही बात रुहेलखंड के सिपाहियों पर भी लागू होती है। इसलिये हिन्दुस्तानी जाति का संघर्ष में आगे आना स्वाभाविक था। यहाँ के लोग हिन्दू और मुसलमान लखनऊ और दिल्ली को अपनी रियासतें समझते थे। जब तक अंग्रेज़ पूर्व और दक्षिण में बढ़ रहे थे, तब तक यहाँ वालों को उतनी चिन्ता न थी। जब डलहौज़ी ने उत्तर भारत पर भी अपने हाथ बढ़ाये, तब यहाँ की जनता सजग हुई। इसलिये १८५७-५८ के इश्तहारों आदि में अक्सर डलहौज़ी का जिक्र आता है।

अंग्रेज़ों ने किसानों और सामन्तों के जो हक छीने, वह इस प्रदेश में ही घटने वाली कोई अनूठी घटना न थी। किन्तु उस समय यहाँ के किसानों और अनेक सामन्तों का कुछ दूसरा ही रूप था। अधिकांश लोगों के पास अस्त्र-शस्त्र थे। जंगलों की इफरात थी। नदियों, झीलों, जंगलों, दलदलों और इनके बीच हजारों दुर्गों और गढ़ों का होना यहाँ संघर्ष चलाने के लिये विशेष सुविधाएं देता था। क्रूक ने "भारत के उत्तर-पश्चिमी प्रान्त" नाम की पुस्तक में उस समय यहाँ के लोगों की स्थिति का अच्छा वर्णन किया है। उसने लिखा है कि उस समय यह देश बाद की स्थिति [पुस्तक १८९७ में प्रकाशित हुई थी] की अपेक्षा अंग्रेज़ों का मुकाबला करने में अधिक समर्थ था। हर आदमी हथियारबंद था। उसकी देशी बंदूक और राजाओं तथा सामन्तों की तोपें काफी कारगर होती थीं। "अंत में जनता, जिसके मन में युद्ध की परंपरा अभी ताज़ी थी, आज की अपेक्षा अधिक शक्तिशाली थी।"[२३]

अंग्रेज़ों ने यहाँ की जनता को निःशस्त्र करके और जमींदारों-ताल्लुकदारों की सहायता से निरंतर अत्याचार करके उसका

चरित्र काफ़ी बदल दिया। इसलिये १६५७ में आज़ाद होजाने पर भी आज के आदमी के लिये यह कल्पना करना कठिन हो जाता है कि अंग्रेज़ों के विरुद्ध यह संघर्ष कितने बड़े पैमाने पर चला और उसमें कितनी बड़ी संख्या में किसानों ने भाग लिया। क्रूक ने यह भी लिखा है कि यह परिस्थिति अंग्रेजों की नयी तोपें आने से, जो उसके अनुसार सब की सब ब्रिटिश सैनिकों के पास थीं, बदल गई। अस्त्र-शस्त्र होने पर भी अंग्रेजों की तुलना में यहाँ की तोपें-बंदूकें एक पुराने जमाने की यादगार भर थीं।

कुछ लोग कह सकते हैं, यह हिन्दुस्तानी जाति क्या बला है। यहाँ हिन्दू रहते हैं, मुसलमान रहते हैं। एक की भाषा हिन्दी है, दूसरे की उर्दू। यहाँ बहुत से जनपद हैं जिनमें अवधी, भोजपुरी, मैथिली, मगही, बुंदेलखंडी आदि बोलियाँ अथवा भाषाएँ बोली जाती हैं। फिर एक जाति कैसी? बंगाली, मराठे, तेलगू, तमिल आदि जातियां तो समझ में आती हैं लेकिन यह हिन्दुस्तानी जाति तो कल्पना से गढ़ी हुई जान पड़ती है। फिर इसमें पुरबिये थे जिनकी बोली शायद दिल्ली वाले समझते न थे। यहां हिन्दी-भाषी जाति के निर्माण का इतिहास लिखना आवश्यक नहीं है। इतना ही कहना काफी है कि ये सब बोलियां एक दूसरे के इतना निकट हैं जितना बंगाली, मराठी, हिन्दी एक दूसरे के निकट नहीं हैं। उनका परस्पर संबन्ध बोलियों का है, भाषाओं का नहीं। हिन्दी-उर्दू अपने लिखित रूप में भिन्न हैं लेकिन बोलचाल में आम लोग यह भेद प्रायः नहीं करते। आगरा, दिल्ली, लखनऊ, इलाहाबाद, झांसी, ग्वालियर, बनारस, पटना आदि नगर इस जाति के आर्थिक ओर सांस्कृतिक जीवन के केन्द्र रहे हैं और वहां के निवासियों की भाषा मूलतः खड़ी बोली रही है। यही खड़ी बोली कुछ विशेषताओं के साथ हैदराबाद के निवासियों की भाषा भी थी। हैदराबाद राज्य के मराठी, तेलगु और कन्नड़ बोलने वालों की बात दूसरी थी।

अंग्रेज़ यहाँ के हर भेद और अलगाव से फायदा उठाते थे। उन्होंने यहाँ की जातियों के भेदभाव से भी फायदा उठाया। हिन्दुस्तानियों और पंजाबियों में द्वेषभाव जाग्रत करने का उनका प्रयत्न इसका प्रमाण है। के ने पठानों, मराठों, बंगालियों आदि पर जो विशेषणों की वर्षा की है, उससे यह देखा जा सकता है कि अंग्रेज यहाँ की जातियों के

अलगाव के प्रति कितने सचेत थे। उत्तर-पश्चिमी प्रान्तों के बारे में के ने लिखा है कि सारे प्रदेश में एक गठन और एकता है। उसकी समझ में यहाँ के लोग एक सी नस्लों के हैं, उनके चेहरे-मोहरे एकसे हैं, भाषा एक ही बोलते हैं और उनके रीति-रिवाज एक से हैं। उसने यहां के लोगों को सुन्दर, कसरती और युद्ध-प्रिय लिखा है जिसका कारण ब्रिटिश सेना में यहाँ के लोगों का बड़ी संख्या में भर्ती होना था।[२४] नस्लों आदि के बारे में उसकी बात छोड़ दें तो यह कहना होगा कि उसे मोटे तौर से एक विशाल प्रदेश में इस जाति के अस्तित्व की खबर थी। यहां भी "दब्बू और होशियार" बंगालियों का उल्लेख करके दोनों जातियों में द्वेषभावना जगाने से वह नहीं चूका।

अंग्रेजों को इस हिन्दुस्तानी जाति के सैनिक लोगों में विद्रोहाग्नि भड़काते दिखाई देते थे। १८५७ में अंग्रेज इनसे सर्वाधिक सतर्क रहते थे। ११ सितंबर १८५७ को पंजाब सरकार की ओर से ब्रैण्डरेथ ने कलकत्ता-सरकार को लिखा था, "अब १८,६२० हिन्दुस्तानी सिपाहियों में से एक का भी विश्वास नहीं किया जा सकता। ये सब कमजोरी और खतरे की जड़ हैं। हर छावनी में गोरी और पंजाबी पल्टनें दिन-रात ड्यूटी पर रहती हैं और ज़रा भी गड़बड़ होते ही हिन्दुस्तानियों पर टूट पड़ने को तैयार हैं। कुछ जगहों में जैसे पेशावर, लाहौर और अमृतसर में वे अपने तंबुओं में हैं जो हमारी तोपों की मार के अन्दर गाड़े गये हैं।"[२५] इतना आतंकित था अंग्रेज हिन्दुस्तानी सिपाहियों से। और सिपाहियों से ही नहीं। पंजाब में जो "हिन्दुस्तान की गैरफौजी मानवता" थी, उससे भी वे परेशान थे। इसलिये जॉन लारेन्स से जहाँ तक हो सका, उसने हिन्दुस्तानियों को पंजाब से बाहर निकाला।[२६]

जाति, धर्म और नस्ल का भेदभाव करने वाली अंग्रेज सरकार ने पंजाब में घोषणा करा दी कि हिन्दुस्तानियों को नौकरी न मिलेगी। २० अगस्त १८५७ के "फ्रेण्ड ऑफ इण्डिया" ने यह समाचार प्रकाशित किया था कि पजाब के जुडीशिल मजिस्ट्रेट ने यह घोषणा करा दी है कि आम तौर से हिन्दुस्तानियों को किसी सरकारी नौकरी में न लिया जायगा।[२७] इस तरह एक पूरी जाति को शासकों ने एकबारगी अधिकारच्युत कर दिया था। यह भी देखते ही बनता है कि यह पत्र जो पूरे बंगाल को १९५७ में ईसाई बना हुआ देखना चाहता था, सिखों पर

मुसलमानों के अत्याचारों की याद से विचलित हो उठा है। अंग्रेजी राज में सिखों ने खूब उन्नति की है और वे शहीदगंज के हत्याकाण्ड और सरहिन्द में खालसा दल के नाश का बदला लेंगे !

स्यालकोट के हिन्दुस्तानी अमलों के बारे में अंग्रेज अधिकारियों का विचार था कि वैसे तो बड़े अच्छे आदमी लगते हैं, काम भी जी लगाकर करते हैं। फिर भी उनकी जगह धीरे-धीरे पंजाबियों को नियुक्त करना चाहिये।[२८] गुरदासपुर के हिन्दुस्तानी तहसीलदार, पेशकार और कोतवाल के बारे में उन्हें शिकायत थी कि वे उदासीन है और जोर-शोर से काम नहीं करते। दिल्ली की लड़ाई में पंजाब-सेना के हिन्दुस्तानी सिपाही अंग्रेज़ों का साथ न दे रहे थे; इसलिये प्रधान सेनापति ने हुक्म दिया था कि जितने रह गये हों, उन्हें निकाल दिया जाय।[२९]

हिन्दुस्तानियों पर अंग्रेजों की शंका और अन्य जातियों से अलग करके उनके प्रति विशेष अन्याय करने से हम राज्यक्रान्ति में उनकी भूमिका समझ सकते हैं। वे संघर्ष में स्वयं ही नहीं आये वरन् जहाँ तक बना औरों को भी साथ लाये। विभिन्न जातियों के लोगों को इतने बड़े पैमाने पर अंग्रेज़ों के विरुद्ध संगठित करने का यह पहला प्रयत्न था। उनके इस प्रयत्न से अनेक जातियों के लोग इस संघर्ष में सम्मिलित हुए। साथ ही उनका यह प्रयत्न अनूठा न था। अन्य जातियों के लोगों ने भी परस्पर एकता और सहयोग कायम करने का प्रयत्न किया था। यह प्रयत्न कितना सफल हुआ था, इसका प्रमाण हिन्दुस्तानी सेना के प्रति नेपाल की जनता और वहाँ के सर्दारों की सहानुभूति थी।

अंग्रेज़ों के सामने समस्या यह थी कि फौज का संगठन किस प्रकार किया जाय। एक पल्टन में अगर विभिन्न भाषाएँ बोलने वाली भिन्न जातियों के लोगो को रखा जाय तो उनके लिये आपस में एका करना कठिन होगा। इस पर कुछ अन्य लोगों की राय होती कि सामान्य हित होने से इस तरह भिन्न जातियों के लोग आपस में एका करना सीख जायँगे। "यदि जातियों (nationalities) के परस्पर विरोध में कुशल हो तो उन्हें अलग रखना ज्यादा अच्छा होगा बजाय इसके कि उनको एक निश्चित समूह में मिला दिया जाय।" और भी, "सिपाहियों की पल्टनों को एक दूसरे से मिलने-जुलने देने में बड़ा खतरा था। सिपाही दोस्ती-

कर लेते और दूसरी पल्टनों के लोगों से पत्रव्यवहार करते। इस तरह उत्तेजना के समय बड़े पैमाने पर संगठित होने के साधन उन्हें प्राप्त हो जाते और इस तरह मानों सारे देश में षड़यन्त्रजाल फैलाने में उन्हें सुविधा होती।"[३०] १८५७ से पहले सेना के संगठन के संबन्ध में अंग्रेज़ों में जो बातें होती थीं, उनका विवरण प्रस्तुत करते हुए के ने ऊपर के वाक्य लिखे थे। अंग्रेज़ बहुत पहले से सतर्क थे कि यहाँ की जातियों में भेदभाव करके, उन्हें संगठित होने से रोककर, उनमें परस्पर घृणा और द्वेष की भावनाएं उभार कर यहाँ अपना राज्य कायम किये रहें। इस बहुजातीय देश में राष्ट्रीयता की भावना जगाने के बारे में अंग्रेज़ों के विचार ये थे।

हेनरी लारेन्स का मत था कि एक पल्टन की विभिन्न कंपनियों में विभिन्न जातियों के लोग होने चाहिये। चार्ल्स रैक्स ने दिल्ली में गाइड्स तथा पंजाब की कुछ अन्य पल्टनों की सफलता का रहस्य यह बताया था कि उनका संगठन हेनरी लारेन्स की प्रेरणा से हुआ था। इनमें हर कंपनी में एक जाति या प्रदेश के लोग थे, उनके अफ्सर भिन्न जाति या प्रदेश के होते थे।[३१] रैक्स उन लोगों से सहमत था जो कहते थे कि पूरी पल्टन में एक ही जाति के लोग न होने चाहिये। हर पल्टन में कंपनियाँ अलग-अलग जातियों के लोगों की होनी चाहिये। उसने ब्रिटिश कूट-नीति का उद्देश्य बहुत स्पष्ट शब्दों में लिख दिया था, "इस तरह जो पल्टनें बनेंगी, उनमे कंपनी-कंपनी में, दस्ते-दस्ते में होड़ रहेगी और पल्टनों में ईर्ष्या और द्वेष भी रहेगा। इससे वे आपस में संगठित न हो सकेंगी। इस तरह हम उस पुराने सबक तक पहुँच जाते हैं, 'फूट डालो और जीतो।' यदि हमारी बंगाल सेना इस योजना के अनुसार बनती तो हमारे विरुद्ध कोई भी हथियार कारगर न होता।"[३२] अंग्रेज़ों की नीति जातीय विद्वेष बढ़ाने की थी। यदि सेना के संगठन से कहीं उल्टा फल मिला, तो वे इसे अपनी भूल मानते थे, भारतीय सैनिकों के संगठन पर प्रसन्न न होते थे। रैक्स लाहौर का कमिश्नर रह चुका था। वह एक प्रमुख अंग्रेज़ अधिकारी था और इस विषय में हेनरी लारेन्स के मत का प्रतिपादन कर रहा था। सन् सत्तावन की राज्यक्रान्ति के बाद अंग्रेज़ और भी सतर्क हो गये थे और वे किसी भी कीमत पर सैनिकों को राष्ट्रीय भावना से संगठित होते न देखना चाहते थे। रैक्स ने आगे

लिखा था, "विभिन्न जातियों (nationalities) के लोगों को विशिष्ट समूहों में भरने की अधिक सरल और सीधी नीति से काम न चलेगा। हम नहीं चाहते कि हिन्दुस्तानी पल्टनें एक सामान्य देश या धर्म के बंधन में बँधी हों। हम चाहते हैं कि पल्टनों में विभिन्न तत्त्व हों जो संगठित न हो सकें या घुलमिल कर एक न हो सकें, फिर भी यूरोपियनों के जबर्दस्त हाथ के नीचे समर्थ और संयुक्त कार्यवाही के योग्य रहें।" अर्थात् उनमें इतना ही एका हो कि वे अंग्रेज़ों की आज्ञा से उनके स्वार्थ के लिये लड़ें, अपने हितों के लिये कभी एक न हो सकें। विद्रोह आगे भी हो सकता था। रैक्स का विचार था कि एक ज़ाति की पूरी पल्टन विद्रोह कर सकती है, पल्टन में भिन्न-भिन्न जातियों की कंपनियाँ विद्रोह नहीं कर सकतीं। यदि इस तरह की मिश्रित पल्टनें बनाने में कठिनाई हो तो उसकी राय में "पंजाबी सेना हिन्दुस्तान में रहनी चाहिये और हिन्दुस्तानी सेना पंजाब में।"[३२] इस तरह एक जाति के सैनिक अंग्रेज़ों के हित में दूसरी जाति के जन साधारण को नियंत्रण में रखेंगे। उसने रोमन नीति का उल्लेख किया जिसके अनुसार एक प्रान्त में दूसरे प्रान्त के सैनिक रखे जाते थे। उसे आशा थी कि बनारस में सिख सैनिक विद्रोह न करेंगे, न हिन्दुस्तानी लाहौर में विद्रोह करेंगे। रैक्स बहुत जल्दी सन् सत्तावन का इतिहास भूल गया था। सिखों ने बनारस ही में विद्रोह किया था और हिन्दुस्तानियों ने स्यालकोट और जालंधर में।

शेरर की राय थी कि देशी सेना का संगठन करने में भारी गलती यह हुई थी कि जातियों के हिसाब से भर्ती न की गई थी[३३] यदि कुछ स्थानों से ही सिपाही भर्ती किये जाते तो विद्रोह न होता "वरन् इन जातियों (races) को सफलतापूर्वक एक दूसरे के विरुद्ध लड़ा दिया जाता।"[३४] इस तरह शेरर ने स्वीकार किया कि बंगाल सेना में एक ही जाति के सिपाहियों की प्रधानता होने के कारण पल्टनों को आपस में लड़ाया न जा सका। फिर भी उसे विश्वास था कि अवध और भोजपुर प्रदेश के लोगों, दिल्ली प्रदेश और रुहेलखण्ड के लोगों में परस्पर शत्रुता है।[३५] कम से कम इस शत्रुता से अंग्रेज़ तो उस समय फ़ायदा नहीं उठा पाये। मैक्लिऑड इन्सका मत था कि विद्रोह से यह सबक मिल है कि ऐसी फौजें बनानी चाहिये जिनमें भिन्न नस्लों, पैतृक भावनाओं और ऐतिहासिक परंपराओं के लोग हों। ग्रेटहेड अवध और बिहार के

सैनिकों से इतना चिढ़ गया था कि उसने लिखा कि यहाँ से तो आदमी भर्ती करने ही न चाहिये; उसके बदले सतलज पार के आदमी भर्ती करने चाहिये।[३६] ग्रेटहैड ने यह कल्पना न की थी कि देश में एक ऐसी राष्ट्रीय भावना भी फैल सकती है जिसमें सतलज और गंगा की सीमाएं गौण हो जायं और सभी जातियों के लोग अपने को एक राष्ट्र का नागरिक समझने लगें। वह काम अभी पूरा नहीं हुआ लेकिन उसकी शुरूआत १८५७ में हुई थी।

शेरर का विचार था कि विद्रोहियों की कोई योजना नहीं है "क्योंकि संयुक्त जातीयता की कल्पना उनकी समझ से परे थी।"[३७] शेरर के इस तर्क को अनेक भारतीय इतिहासकारों ने दोहराया हैं। हिन्दू-मुस्लिम एकता का प्रयत्न किया गया, वहाँ तक ठीक। लेकिन हिन्दुस्तान एक देश है और उस देश की स्वाधीनता के लिये लड़ना चाहिये, यह धारणा उनके मन में न थी और न हो सकती थी। श्री रमेशचन्द्र मजूमदार का विचार है कि "दरअसल १८५७ या उससे पहले हम स्वाधीनता के राष्ट्रीय युद्ध की कल्पना नहीं कर सकते, क्योंकि सच्चे अर्थों में राष्ट्रीयता या देशभक्ति हिन्दुस्तान में वहुत दिनों तक अपने अभाव से ही जानी जाती थी।"[३८] श्री मजूमदार की पुस्तक पढ़कर तो ऐसा लगता है कि कुछ इतिहासकारों के लिये राष्ट्रीयता का जन्म १९५७ तक भी नहीं हुआ है। अंग्रेज़ों ने हिन्दुस्तान को क्या-क्या नहीं सिखाया, इसका विवेचन करते हुए एक अंग्रेज़ लेखक जे० आर० कनिघंम ने लिखा है, "इन्डिया का नाम ही अंग्रेज़ी है—देश का और कोई नाम नहीं है।"[३९]

प्राचीन काल में भारतवर्ष में एक राजा रहता था जिसका नाम था समुद्रगुप्त। उसने उत्तर भारत के नौ स्वतन्त्र राज्यों को समाप्त करके उन पर अपना सीधा शासन कायम किया। उसने दक्षिण में दूर-दूर तक समर यात्रा करके "उच्चतम नेतृत्व और संगठन" की क्षमता का परिचय दिया। उसके पास जलसेना भी थी क्योंकि द्वीपों पर भी उसका अधिकार था। इसलिये यह कल्पना की जा सकती है कि स्थल पर सैनिक अभियान के साथ उसने नौ-सेना से भी सहायता ली होगी। समुद्रगुप्त के राज्य में लगभग संपूर्ण उत्तर भारत, छत्तीसगढ़, उड़ीसा, चिंगलपेट तक दक्षिण में लंबा प्रदेश, इसके चारों ओर दक्षिण के अलावा खिराज देने वाले राज्यों की पाँति थी। पश्चिम में शक और कुषाण राज्य सम्भवतः

समुद्रगुप्त का सार्वभौम प्रभुत्व स्वीकार करते थे "लेकिन इसमें कोई संदेह नहीं है कि वे सब उसी के प्रभाव क्षेत्र में थे।" दक्षिण भी इस प्रभाव से अछूता नहीं था। दक्कन के पूर्वी किनारे के राज्य और कृष्णा के उस पार तमिल देश का पल्लव राज्य खिराज देने वाले अधीन राज्य (feudatories) थे। उधर लंका और संभवतः हिन्द महासागर के कुछ अन्य द्वीप अथवा ईस्ट इंडीज़ सम्राट की ओर अधीनता और सम्मान का भाव रखते थे। इस प्रकार इलाहाबाद की प्रशस्ति के शब्दों में समुद्रगुप्त की भुजा के प्रताप ने विश्व को बाँध लिया था।'

ये सब सुन्दर आल्हादकारी तथ्य एक अंग्रेज़ी पुस्तक में छपे हैं, जिसका नाम है "दि क्लैसीकल एज" जो भारतीय, विद्याभवन, बम्बई से प्रकाशित हुई है और जिसके संपादक श्री रमेशचन्द्र मजूमदार एम० ए० पी ऐच० डी०, ऐफ० ए० एस०, ऐफ० बी० आर० ए० ऐस० हैं। इसमें एक अध्याय है "गुप्त साम्राज्य की स्थापना"। यह अध्याय श्री रमेशचन्द्र मजूमदार महोदय का ही लिखा हुआ है। उसी को पढ़कर उपर्युक्त तथ्यों की जानकारी हमें होती है। लेकिन आज कल के पाठक सारी बातें बड़े विवेक से पढ़ते और गुनते है। ग़ालिब के नुक्तचीं ग़मेदिल की तरह वे कहेंगे, क्या बने बात जहाँ बात बनाये न बने। बात बनी नहीं क्योंकि ईसामसीह की चौथी शताब्दी में उत्तर-दक्षिण को एक सूत्र में बाँधने वाले समुद्रगुप्त ने दिग्विजय की, अश्वमेघ यज्ञ किया, अपना प्रतापी भुजा से विश्व को भी बाँध लिया लेकिन उसने भारतवर्ष को कहाँ बाँधा ? कनिंघम का तो कहना है कि इंडिया छोड़कर इस देश का कोई और नाम ही नहीं है। हिन्द, इन्ड और इंडिया बनाने वाले अंग्रेज–और उनसे पहले अन्य यूरोपियन—यहाँ तब आये नहीं थे, आते क्या बेचारे उस समय घर से निकलने की हालत में न थे यानी बशर्ते कि उस समय गुफा छोड़कर वे घर में रहने के काबिल हो गये हों तो! इसलिये समुद्रगुप्त के दिमाग में "इंडिया दैट इज़ भारत" की कल्पना कैसे उत्पन्न हो सकती थी ? यदि कोई कहे कि समुद्रगुप्त को "बेनीफिट आफ डाउट" ही दे दीजिये, मान लीजिये कि उसने यह सब देश को एक सूत्र में बाँधने और उसकी राजनीतिक एकता कायम करने के लिये किया था तो पाठक कहेंगे कि यह पूर्वाग्रहों से दूषित दृष्टिकोण है, यह आज की मान्यताओं को प्राचीनकाल पर लादना है, संक्षेप में कुत्सित समाज-

शास्त्र है। ऐसी परिस्थिति में प्राचीन इतिहास के जाने-माने विशेषज्ञ श्री रमेशचन्द्र मजूमदार ही नुक्तचीं पाठकों को समझा सकते हैं।

"दि क्लैसिकल एज" के पृष्ठ १३ पर मजूमदार महाशय ने लिखा है: "यह कल्पना करना उचित है कि समुद्रगुप्त का साम्राज्य एक निश्चित नीति का परिणाम था जिसका अनुसरण जानबूझ कर किया गया था। संभव है कि वह एक अखिल-भारतीय साम्राज्य के स्वप्न से अनुप्राणित रहे हों लेकिन उन्होंने अनुभव किया कि तुरत सारे देश या उसके काफी हिस्से में अपना सीधा शासन स्थापित करना अव्यावहारिक होगा, इसलिये उन्होंने अनेक स्वतन्त्र राज्यों के निर्मम दमन से एक केन्द्रीय प्रदेश बनाया जिस पर उनका सीधा शासन था। इस तरह उन्होंने ऐसी साम्राज्य-सत्ता स्थापित की जो इतनी शक्तिशाली थी कि विशृंखलता की ओर ले जाने वाले छोटे राज्यों के रुझान नियंत्रित किये रहे।...उसने उन्हें [भारत के अन्य राज्यों को] आन्तरिक स्वायत्त शासन का अधिकार दिया किन्तु उन्हें इस बात की स्वतन्त्रता न दी कि वे भारत (इंडिया) के राजनीतिक विधान (body-politic) में फूट और विघटन उत्पन्न करें।...[समुद्रगुप्त के बाद] साम्राज्य के और दृढ़ होने के बाद सीधे शासन वाले प्रदेश क्रमशः पूर्व और पश्चिम की ओर विस्तृत किये गये, यहां तक कि चटगाँव से काठियावाढ़ तक समूचे उत्तर भारत पर गुप्त सम्राट् के गवर्नर शासन करने लगे।"

इस उद्धरण से श्री मजूमदार का मत बिल्कुल स्पष्ट हो जाता है। समुद्रगुप्त एक अखिल भारतीय साम्राज्य की कल्पना से अनुप्राणित थे। उन्होंने देश के एक भाग को अपने सीधे शासन में लिया, शेष में अपने अधीन राज्य कायम किये। इस तरह उन्होंने भारतवर्ष में आन्तरिक एकता कायम की। उनकी इस नीति पर उनके उत्तराधिकारी भी चले। इस पर भी किसी को भारत राष्ट्र की प्राचीन कल्पना के बारे में सन्देह हो तो वह स्कंदगुप्त के बारे में श्री मजूमदार के ये शब्द पढ़ सकता है, "पर्णदत्त का अभिलेख एक सुन्दर रचना है और उससे हमारे सामने एक लोकप्रिय और कृपालु शासक के समर्थ शासन के नीचे एक शक्तिशाली संयुक्त साम्राज्य का चित्र उपस्थित होता है। गुप्त साम्राज्य अब अक्षरशः बंगाल की खाड़ी से अरब समुद्र तक फैला हुआ था और उस पर एक स्वामी का असन्दिग्ध अधिकार था जिसकी आज्ञा इस

विशाल प्रदेश के एक छोर से दूसरे छोर तक उसके द्वारा नियुक्त राज्यपालों को शिरोधार्य होती थीं। इस साम्राज्य की नींव इतनी दृढ़ थी कि भारी आन्तरिक धक्के सह सके और प्रचण्ड हूण भी उसकी रक्षापाँति तोड़ने में असफल रहे। लगभग एक शताब्दी तक यह साम्राज्य आर्यावर्त की स्वाधीनता, एकता और आन्तरिक सम्बद्धता का प्रतीक बना रहा।"

समुद्रगुप्त और स्कंदगुप्त ने संयुक्त और संबद्ध भारत राष्ट्र का निर्माण किया। उनका साम्राज्य अरब समुद्र से लेकर बंगाल की खाड़ी तक फैल गया और यह साम्राज्य आर्यावर्त की एकता का प्रतीक था। लेकिन १८५७ में इस राष्ट्र की कल्पना करना भी लोगों के लिये असंभव हो गया!

१८५७ से पहले टीपू ने, महादजी सिंधिया और नाना फड़निस ने, सिख सर्दारों ने इस देश से अंग्रेजों को निकालने के प्रयत्न किये। १८५७ में सैनिकों ने दिल्ली में नयी राज्य सत्ता स्थापित की। उन्होंने उत्तर और दक्षिण के राजाओं को मिलाने का प्रयत्न किया। जहाँ-जहाँ अंग्रेज़ों का अधिकार खत्म किया गया, वहाँ-वहाँ नये शासकों ने अपने को दिल्ली सम्राट् का नायब घोषित किया। बहादुर शाह के नाम से देशी नरेशों के नाम पत्र भेजा गया कि वे एक होकर अंग्रेजों को निकालने का प्रयत्न करें और बादशाह उनकी सभा के हक में अपने अधिकार छोड़ देगा। सैनिक जो गीत गाते थे, उसमें अंग्रेजों द्वारा देश के लूटे जाने का उल्लेख, हिमालय और समुद्र का उल्लेख था जो इस देश की एकता के प्रतीक रहे हैं। यदि इन सबसे स्वाधीनता और राष्ट्रीयता की भावना सिद्ध नहीं होती तो वह किन्हीं भी तर्कों से सिद्ध नहीं हो सकती। श्री मजूमदार को १८५७ में देशभक्ति (patriotisn) की कल्पना भी इतिहास-विरोधी मालूम होती है लेकिन उन्हीं मजूमदार महोदय ने विद्रोह पर अपनी पुस्तक के पृ. २८ पर दक्षिण भारत के संघर्षों को ब्रिटिश सत्ता खत्म करने के लिये एक ही संघर्ष का अंग माना है। यही नहीं, उन्होंने प्रसन्नता से इस बात का उल्लेख भी किया है कि ब्रिटिश लेखकों तक ने अपने देश और स्वाधीनता की रक्षा के लिये लड़ने वालों के देशभक्ति पूर्ण संघर्ष ("patriotic struggle") की भूरि-भूरि प्रशंसा

की है। डेढ़ हजार साल पहले राष्ट्रीय एकता का स्वप्न देखा जा सकता था, १८५७ से पहले दक्षिण के संघर्ष देशभक्ति पूर्ण हो सकते थे; केवल १८५७ का महान् स्वाधीनता-संग्राम किसी कारणवश न तो देशभक्ति-पूर्ण था, न राष्ट्रीय एकता और स्वाधीनता से उसका कोई सम्बन्ध था!

पतनशील सामन्तवाद और अंग्रेजी राज की विघटन-नीति—यहाँ की जातियों, सम्प्रदायों और सामन्तों को आपस में लड़ाने की नीति—के मुकाबले में १८५७ में राष्ट्रीय एकता के लिये सेना, जनता और अनेक देशभक्त सामन्तों की ओर से जो भगीरथ प्रयत्न किये गये थे, वे इतिहास में स्वर्णाक्षरों में लिखे जाने योग्य हैं। जैसा कि हम पहले देख चुके हैं, इस राष्ट्रीय एकता का प्रतीक दिल्ली का सार्वभौम प्रभुत्व था। श्री मजूमदार की पुस्तक में ही पढ़ा जा सकता है कि झांसी में घोषणा की गई, "खलक खुदा का, मुलक पादिशाह का, राज रानी लक्ष्मीबाई का।"[४१] सुदूर मध्य भारत में राजा मर्दानसिंह ने अंग्रेजों से छीने हुए प्रदेश पर शाही झंडा फहराया। निजाम के सैनिक कहते थे कि हम अपने बादशाह के विरुद्ध लड़ने नहीं जायेंगे। भारतीय सेना ने बेगम हज़रत महल और लखनऊ दरबार के साथ संयुक्त मोर्चा बनाने में पहली शर्त यह रखी कि दिल्ली की आज्ञा शिरोधार्य करनी होगी। ऐसे गांवों में जहाँ किसी सामन्त का शासन न था, सिपाहियों ने अपना अमल घोषित किया लेकिन राष्ट्रीय एकता के प्रतीक बादशाह को सर्वोपरि रखा। शेरर ने बाँदा के पास एक गाँव की बहुत ही रोचक और शिक्षाप्रद घटना का उल्लेख किया है। कुछ घुड़सवारों ने जमुना पार करके एक गाँव में हरा झंडा फहरा दिया और ढोल पीटकर यह ऐलान करा दिया, "खल्के खुदा, मुल्के पादिशाह, हुक्मे सिपाह।"[४२] अंग्रेजों ने जिसे हरा झंडा लिखा है, वह स्पष्ट ही शाही झंडा था। चहलारी के बलभद्रसिंह और चँदेरी के मर्दानसिंह इस एक ही झंडे के नीचे अंग्रेजों से लड़े थे। इस एकता के मुख्य निर्माता भारतीय सैनिक थे जो सामन्तों के अभाव में अपना अमल भी घोषित कर सकते थे। यह अमल अन्य स्थानों की तरह दिल्ली के प्रभुत्व के अन्तर्गत था।

भारत एक बहुजातीय देश है। विभिन्न भाषाओं, धर्मों और रीति-रिवाजों के इस देश में सौ वर्ष पहले जिस तरह की राष्ट्रीय एकता की

भावना विद्यमान थी, वह अन्य देशों को देखते हुए आश्चर्यजनक थी। फ्रान्स, जर्मनी, इंगलैण्ड आदि देश यहाँ की तरह बहुजातीय न थे। उनमें मुख्यत: एक जाति के लोग रहते थे। भारत की स्थिति इससे भिन्न थी। चीन में अनेक जातियाँ थीं लेकिन चीनी जाति की तुलना में वे संख्या में नगण्य थीं। देश के संयुक्त राष्ट्रीय जीवन में उनका खिच-कर आना अभी कुछ साल पहले की घटना है। जारशाही रूस गैर-रूसी जातियों के लिये कारागार के समान था; वहाँ की विभिन्न जातियाँ संबद्ध राष्ट्रीय जीवन में समाजवादी क्रान्ति के बाद ही भाग ले सकीं। कोई ऐसा विशाल बहुजातीय देश नहीं है जो सौ वर्ष पहले यहाँ की सी राष्ट्रीय एकता की भावना और उस एकता को स्थापित करने के प्रयत्नों की तुलना कर सके।

१८५७ में जब भारत में आदिवासी और अन्य आगे बढ़ी हुई जातियाँ अंग्रेजों के विरुद्ध मिल कर लड़ रही थीं, अमरीका के सुप्रीम कोर्ट ने फैसला किया था कि विधान के अनुसार न तो नीग्रो दास, न उनकी सन्तान, चाहे वे स्वतंत्र हों, चाहे गुलाम हों, संयुक्त राज्य अमरीका के नागरिक हो सकते हैं। इस तरह वर्ण-भेद के आधार पर स्वाधीनता-प्रेमी अमरीकी देश के एक विशाल समूह को नागरिकता के अधिकारों से वंचित कर रहे थे। यही नहीं १८६० ६१ में साउथ कैरोलीना, मिसी-सिपी, फ्लोरिडा, अलाबामा, जौर्जिया, लुईसिआना, नौर्थ कैरोलीना, टेक्सास, वर्जीनिया, टेनेसी और अराकान्सास राज्य संयुक्त राज्य अम-रीका से वियुक्त होगये। इन्होंने अपना सम्मेलन बुलाया और "कौन्फी डरेट स्टेट्स आफ अमेरिका" के नाम से अपनी अलग सरकार कायम की। ब्रिटिश सरकार ने गृह-युद्ध में अपनी सहजा विघटन-नीति का अनुसरण करते हुए वियुक्त राज्यों की सेना को युद्ध के एक स्वीकृत पक्ष के रूप में मान्यता दी जिसका अर्थ था, राज्यों की स्वतंत्र सत्ता स्वीकार करना। पाँच साल के युद्ध, करोड़ों डालर के धन-व्यय, लिंकन की हत्या और सहस्रों अमरीकियों के संहार के बाद संयुक्त राज्य-अमरीका फिर संयुक्त हुआ। अंग्रेज़ शासकवर्ग अपनी जातीय समस्या अपने ढंग से हल कर रहा था। १७०७ में इंगलैण्ड और स्कौटलैण्ड संयुक्त हुए; ग्रेट ब्रिटेन का जन्म हुआ। बीसवीं सदी में द्वितीय महायुद्ध से कुछ वर्ष पहले तक स्कौटलैण्ड में अलगाव की माँग, अर्थात् ग्रेट ब्रिटेन के

बदले पहले की तरह स्कौटलैण्ड और इंगलैण्ड के स्वतंत्र राज्य कायम करने की माँग वनी हुई थी। १८०१ में आयर्लैण्ड को संयुक्त करके ग्रेट ब्रिटेन के बदले "युनाइटेड किंगडम" का जन्म हुआ। इस नये सम्मिलन में किंगडम अंग्रेजों के हाथ में रही और आयर्लैण्ड के हाथ "युनाइटेड" ही लगा। आयर्लैण्ड की जनता इस "युनाइटेड किंगडम" से अलग होने के लिये बराबर संघर्ष करती रही। बीसवीं सदी में अंग्रेजों ने आयर्लैण्ड का विभाजन करके, आयर्लैण्ड को स्वायत्त शासन देकर और उत्तारी भाग अपने अधिकार में रखकर, आयरिश जाति के दो टुकड़े करके "युनाइटेड किंगडम" की रक्षा की। इंगलैण्ड, ग्रेट ब्रिटेन, युनाइटेड किंगडम—इन राज्यों की सीमाएं बराबर बदलती रही हैं। ब्रिटिश जाति किसे कहते हैं? अंग्रेजों को? या इंगलैंड और वेल्स के निवासियों को? या अंग्रेज और स्कौट लोगों को? या इन सब के साथ पूरे आयर्लैण्ड के निवासियों को भी या उत्तारी आयर्लैण्ड के स्कौट, अंग्रेज़, आयरिश निवासियों को ही? शेरर को हिन्दुस्तान में संयुक्त जातीयता के अभाव का उल्लेख करने के पहले अपने घर की हालत देख लेनी चाहिये थी।

अंग्रेज़ों ने सत्ता मुख्यतः अपने हाथ में रखी। स्कौटलैण्ड को पिछड़ा हुआ रखकर वहाँ अपनी फौज की भर्ती का अड्डा बनाया। आयर्लैण्ड की भाषा अलग, द्वीप अलग, जाति अलग, फिर भी वहाँ की जनता युनाइटेड किंगडम में ब्रिटिश बना दी गई। और बीसवीं सदी में आधी ब्रिटिश, आधी आयरिश बनी हुई हैं। कहना न होगा कि आयर्लैण्ड की पूर्ण स्वाधीनता के लिये अभी प्रयत्न जारी है।

हिन्दुस्तान में जो ब्रिटिश सेना आई थी, उसमें जातीय भेदभाव की नीति जारी थी। अंग्रेजों ने आयर्लैण्ड और स्कौटलैण्ड के लोगों को बलि का बकरा बनाया था। दिल्ली में भाग लेने वाले गाइड्स दल का नायक डैली आयरिश था। जेम्स लीसर ने लिखा है, "विद्रोह में नाम कमाने वाले और बहुत से अफ़सरों की तरह डैली एक आयरिश फ़ौजी परिवार से था।"[४३] ये तमाम आयरिश अफ़सर अपने देश की स्वाधीनता के लिये न लड़कर अंग्रेजों के लिये अपना खून बहाकर अपनी राष्ट्रीय चेतना का परिचय दे रहे थे। गफ़ ने लिखा है कि ५३ वीं पल्टन में लगभग सबके सब सैनिक आयरिश थे।[४४] आर्चीबाल्ड फोर्ब्स

ने हैवलौक की जीवनी में लिखा है कि उसमें मैकेंज़ी, मैकडोनैल्ड, मैकनैव, टल्लख, रौस, गन, मैके आदि स्काट नामधारी सैनिक भरे हुए थे। "कुछ कंपनियों में व्यवहार की आम जबान गेलिक थी।"[४५] स्कौटलैन्ड के ये निवासी अपनी स्वतंत्र भाषा की रक्षा किये हुए थे। फिर भी अंग्रेज इतिहासकार और उनके भारतीय अनुवर्ती यह कभी न कहेंगे कि ग्रेट ब्रिटेन एक बहुजातीय राष्ट्र था। वे ब्रिटिश जाति की संयुक्त इकाई की ही घोषणा करेंगे।

कानपुर में स्कौटलैण्ड के ही सैनिकों ने अंग्रेज हैवलौक के नेतृत्व में युद्ध किया। इन पर व्यंग्य करने के लिये भारतीय सेना की ओर से बैण्ड पर स्कौटलैण्ड के गीत बजाये गये थे जैसे "आउल्ड लैंग जाइन" ("Auld Land Syne")।[४६] प्रधान सेनापति कौलिन कैम्पबेल था। अवध के संघर्ष में मुख्यतः उसकी स्कौट पल्टनों ने भाग लिया। अपनी डायरी में २८ अप्रेल १८५८ के अन्तर्गत रसेल ने लिखा था, "मैं सर कौलिन कैम्पबेल के साथ रहा जबकि उसके प्रिय (pet) हाईलैण्डर— ४२ वीं, ७६ वीं और ६३ वीं पल्टनें—मार्च करते हुए आगे बढ़े।"[७७]

स्कौट सैनिकों के प्रति कैम्पबेल के पक्षपातपूर्ण दृष्टिकोण पर अंग्रेज व्यंग्य करते थे। रसेल ने लिखा था, "हाईलैण्डर्स को सर कौलिन पर बहुत गर्व है और उसे उन पर गर्व है। वे उसे ऐसा समझते हैं मानों वह उनकी निजी सम्पत्ति हो जैसे कि उनके बैगपाइप। ऐसी सम्पति युद्ध में उपयोगी होती है।"[४७] इस पक्षपात के बारे में रौबर्ट्स ने लिखा था, "सारी फौज के मन में यह भावना थी कि सर कौलिन का रवैया हाईलैण्डरों के साथ अनुचित पक्षपात करने का है।"[६८] कैम्पबेल ने निश्चय किया था कि हाईलैण्डरों की ६३ वीं पल्टन खुदागंज पर हमला करेगी। इस पर ५३ वीं पल्टन बहुत अप्रसन्न हुई। उसमें अधिकतर आयरिश सैनिक थे। इसलिये बिटिश सेना के अनुशासन की चिन्ता न करके ६३ वीं पल्टन के बदले ५३ वीं ने पहले ही हमला कर दिया।[२९] अंग्रेजों की राष्ट्रीय एकता का यह हाल था। इस स्थिति के लिये इंगलैण्ड का शासक वर्ग उत्तरदायी था। बहुत से ईमानदार अंग्रेजों को भारतीय जनता से सहानुभूति थी। उन अंग्रेज़ों को हम कृतज्ञता से याद करेंगे जिन्होंने १८५७ की राज्यक्रान्ति में यहाँ की जनता का साथ दिया।

दिल्ली के पतन के वाद हिन्दुस्तानी पोशाक में एक अंग्रेज़ भी पकड़ा गया था। गफ़ ने उसका वर्णन करते हुए लिखा है : वह लंबे तगड़े, सहज-सुन्दर आकृति वाले जँचते हुए सैनिक थे। अंग्रेजी सेना में अफवाह थी कि विद्रोहियों की ओर एक से अधिक युरोपियन लड़ रहे हैं। कई अफसरों और सैनिकों ने कहा था कि उन्होंने मोरी दरवाजे के तोपचालकों में एक श्वेतवर्ण का चेहरा देखा था। उपर्युक्त सैनिक ने प्रश्नोत्तर के सिलसिले में बताया कि वह बरेली या मोरादाबाद में सार्जेण्ट मेजर थे। उन्होंने अपना यूरोपियन होना भी स्वीकार किया। गफ़ के वर्णन के अनुसार सिपाहियों ने उन्हें साथ दिल्ली चलने के लिये वाध्य किया और अंग्रेजों के विरुद्ध उनसे तोप चलवायी! स्पष्ट ही वाध्य होकर तोपें चलाने की कहानी गढ़ी हुई है, संभवत गफ की ही गढ़ी हुई है। उसे इस बात पर बड़ी लज्जा का अनुभव हो रहा था कि एक गौराङ्ग अफसर काले आदमियों की ओर से लड़ा। उसने उसका नाम तक याद न रक्खा! लिखा है, "मुझे उसका नाम नहीं याद आता लेकिन सोचता हूँ कि गौर्डन था।" इस वीर के चरित्र की झलक गफ के इस वाक्य से मिलती है, "उन्होंने बहुत ही स्वतंत्र ढँग से और निर्भय होकर अपना बयान दिया जो सारा का सारा उन्हीं के विरुद्ध था।" और भी, "उनके व्यक्नित्व में कायरता का चिन्ह न था।"[२२] ऐसा व्यक्ति किसी के द्वारा बाध्य होकर अपने देशवासियों पर तोपें चलायेगा, यह कल्पनातीत है। गौर्डन ने या उनका जो भी नाम हो, अवश्य ही भारतीय सेना के पक्ष को न्यायपूर्ण समझ कर उसकी ओर से युद्ध किया था। गफ ने लिखा है कि बाद को उनका क्या हुआ, उसे मालूम नहीं।

मुईनुद्दीन ने अपने रोजनामचे में एक अन्य यूरोपियन का जिक्र किया है। "एक अत्यन्त क्रान्तिकारी विद्रोही यूरोपियन भी था जो १७ वीं पैदल सेना से पृथक कर दिया गया था। यह व्यक्ति मेरठ में रहता था और तत्पश्चात् मुसलमान होगया था। उसने अब्दुल्लाबेग नाम धारण कर लिया था। विद्रोहियों के आने पर इसने दिल्ली में निवास करना आरंभ किया और शीघ्र उनका परामर्शदाता बन गया। इसी के परामर्श से बादशाह सेनाओं के नाम परवाने भेजा करते थे।"[२३] कम से कम इस यूरोपियन के लिये नहीं कहा जा सकता कि उसने सिपाहियों के दबाव से बादशाह को सलाह देना शुरू कर दिया था।

जीवनलाल ने अपनी डायरी में ३ जुलाई १८५७ के अन्तर्गत लिखा था, " जनरल [बख्तखाँ] अपने स्टाफ़ समेत महल में चले गये। उनके साथ दो यूरोपियन सारजेएट भी थे। जनरल ने कहा कि ये दोनों यूरोपियन बरेली से साथ होगये हैं और अत्यन्त उपयोगी सिद्ध हुए हैं। यह भी कहा गया है कि उन्हीं के प्रयत्नों का फल था कि हिन्दुस्तानियों को बरेली में तोप के मुहँ से नहीं उड़ा दिया गया। उन्हें आज्ञा दी गई कि सलीमगढ़, कश्मीरी दरवाज़ा और लाहौरी दरवज़ा जाएँ और बैट्रियों का निरीक्षण करने के उपरान्त रिपोर्ट उपस्थित करें।"[५२]

श्री प्रमोद सेनगुप्त ने अपने एक लेख में भारतीय सेना की ओर से लड़ने-वाले यूरोपियनों की चर्चा की है। उन्होंने दिल्ली के घेरे में भाग लेने वाले एक अफसर की पुस्तक से यह तथ्य उद्धृत किया है। बदली की सराय में सिपाहियों की ओर से लड़ता हुआ एक अंग्रेज़ मारा गया। उसके पहले के साथियों ने पहचान लिया था कि वह मेरठ में था और उसने अंग्रेज़ों का साथ छोड़ दिया था। जिस मेरठ के लिये अंग्रेजों ने स्त्रियों-बच्चों के कत्लेआम के किस्से गढ़ कर धुआँधार प्रचार किया था, वहीं का एक अंग्रेज़ सिपाहियों की ओर से बदली की सराय में लड़ा था। इससे उसकी वीरता और उदारता के अलावा अंग्रेज़ों के झूठे प्रचार का भी पता चलता है। सिपाहियों की ओर ऐसी सधी हुई गोलाबारी होती थी कि अंग्रेज़ कहते थे कि उनके पक्ष की तुलना में सिपाहियों की गोलाबारी ज्यादा अच्छी होती थी। उनमें बहुतों को विश्वास था कि गोलाबारी का संचालन यूरोपियन कर रहे हैं। दो आदमी धूप के हैट लगाये हुए सिपाहियों की ओर देखे गये थे।[५३] श्री सेनगुप्त ने अंग्रेज़ी पुस्तक से यह तथ्य देने के बाद लिखा है, "हो सकता है कि ये दो यूरोपियन तोपचालक वही हों जो जनरल बख्त खाँ के साथ आये थे।" बदली की सराय की लड़ाई ४ जून को हुई थी और बख्त खाँ के साथ बरेली की सेना १-२ जुलाई को दिल्ली पहुँची थी और जीवनलाल के अनुसार वे दोनों यूरोपियन सार्जेएट बादशाह के सामने ३ जुलाई को लाये गये थे। बदली की सराय के यूरोपियन और बख्त खाँ के साथ आने वाले यूरोपियन भिन्न थे। गफ़ द्वारा उल्लिखित गौर्डन और मुईनुद्दीन द्वारा वर्णित अब्दुल्ला बेग भी भिन्न थे। गफ़ के अनुसार गौर्डन बरेली या मुरादाबाद के थे; मुईनुद्दीन के अनुसार अब्दुल्ला बेग मेरठ के थे। इस प्रकार

यह सिद्ध हो जाता है कि दिल्ली की ओर से एक से अधिक यूरोपियनों ने स्वेच्छा से अंग्रेज़ों से युद्ध किया।

श्री प्रमोद सेनगुप्त ने फोर्ब्स-मिचेल का हवाला देते हुए लिखा है कि एक युरोपियन को दिल्ली की विद्रोही सेना में उच्च पद दिया गया था और दिल्ली पर अंग्रेज़ों का अधिकार होने के बाद वह बख्त खाँ के साथ अवध चला गया।"[3] लखनऊ की रेज़ीडेन्सी में घिर जाने वालों में रीस ने चिनहट की लड़ाई में भाग लेने वाले एक अंग्रेज़ का उल्लेख किया है: "शत्रु के घुड़सवार छोटे से पुल और पीछे हटते हुए हमारे आदमियों के बीच की सड़क पर पहुँच गये थे। लगता था कि उनका नायक कोई यूरोपियन है। उसे तलवार हिलाते और अपने आदमियों को पीछा करने और हमारे लोगों पर टूट पड़ने के लिये ललकारते हुए देखा गया। वह सुंदर आकृति, सुगठित शरीर और गौरवर्ण वाला व्यक्ति २५ वर्ष का था। उसकी मूछों का रंग हल्का था और वह यूरोपियन घुड़सवार अफसर की घरेलू वर्दी पहने था। उसके सिर पर सुनहले कामवाली नीली टोपी थी। वह रूसी था—ऐसे संदेह पर एक व्यक्ति को अधिकारियों ने पकड़ लिया था और फिर छोड़ दिया था—या जो अधिक संभव है, वह ग़द्दार ईसाई था जिसने अपना धर्म बदल लिया हो और देशी चलन और रीति-रिवाज अपना लिये हों, मैं कह नहीं सकता।"[५३] रेज़ीडेन्सी पर २० जुलाई के आक्रमण के समय रीस के अनुसार हिन्दुस्तानियों की ओर अनेक यूरोपियन देखे गये और उसने अनुमान किया कि भारतीय तोपखाने का संचालन कोई अभ्यस्त यूरोपियन कर रहा था।

रुइया के युद्ध में फोर्ब्स-मिचेल स्कौट पल्टन का दस्ता लेकर एक इंजिनियर की रक्षा करने किले की ओर गया था। उसने किले के अन्दर एक यूरोपियन को देखा था और अंग्रेज़ी में उसकी स्पष्ट वार्ता भी सुनी थी। उसने लिखा है, "इस समय हम किले के इतने निकट थे कि हम शत्रु को भीतर बातें करते सुन सकते थे और वह आदमी (यूरोपियन) जो पेड़ पर था हमें साफ़ दिखाई देता था और उसकी बात सुनाई देती थी। वह किले पर हमला करनेवालों से असंदिग्ध फौजी अंग्रेज़ी (barrack-room English) में पुकार कर कह रहा था, "आ जाओ हाईलैण्डर! आ जाओ स्कौटी! लप्सी चाटने के बदले यहाँ लोहे के चने चबाने पड़ेंगे (You have a harder nut to crack than eating

oatmeal porridge.) बांसों के बीच से आओगे तो हम तुम्हारी... गरम कर देंगे।" फोर्ब्स-मिचेल ने यह स्पष्ट वार्ता उद्धृत करने के बाद लिखा है, "हमारे दल में हर एक को विश्वास होगया कि बोलने वाला यूरोपियन है।"[५३]

दुर्गासिंह नाम के एक सिपाही ने दिसंबर १८५८ में बांकी के युद्ध के बाद आत्मसमर्पण कर दिया था। बाद को वह डायमंड हार्बर में फोर्ब्स-मिचेल की जूट-फैक्टरी में नौकर होगया था। उसका कहना था कि उसने दिल्ली में दो विद्रोही यूरोपियन देखे थे। उनमें से एक मारा गया था। दूसरा उच्च पदाधिकारी था जो बरेली ब्रिगेड से दिल्ली आया था। वह तोपखाने का प्रधान था। वह दिल्ली के घेरे के समय हर बैटरी के पास जाता था और तोपों की गोलाबारी ठीक करता था। १४ सितंबर १८५७ को उसने घोड़े पर चढ़कर एक जगह से दूसरी जगह दौड़ते हुए युद्ध-संचालन किया था, "और शैतान की तरह लड़ा था"। दिल्ली के बाद जब बख्त खाँ मथुरा पहुँचे, तब दुर्गासिंह ने उसे जमुना पार करने का आयोजन करते देखा था। उसके बाद रुइया में उसने राजा नरपतिसिंह को वालपोल की शर्तें मानने से रोका। फोर्ब्स-मिचेल को विश्वास था कि यह वही व्यक्ति था जिसे उसने पेड़ पर देखा था। रुइया के बाद वह निकट के जंगल में बख्त खां से मिल गया। जब कैम्पबेल बरेली की ओर बढ़ा तब मौलवी अहमदुल्ला शाह ने शाहजहांपुर पर आक्रमण किया। इस आक्रमण में बख्त खां और वह यूरोपियन भी थे। दुर्गासिंह ने अन्तिम बार उस यूरोपियन को नैपाल के पास नवाबगंज की लड़ाई में देखा था जहां जनरल बख्त खां खेत रहे थे। विक्टोरिया के घोषणा-पत्र के बाद इस यूरोपियन ने अनेक सिपाहियों को आत्म-समर्पण करने से रोका था और उन्हें समझाया था कि हथियार डालने के बाद उन्हें कुत्तों की अरह फाँसी पर लटका दिया जायगा।[५३]

फोर्ब्स-मिचेल और दुर्गासिंह के इस साक्ष्य से यह यूरोपियन भारतीय स्वाधीनता-संग्राम का सच्चा सैनिक सिद्ध होता है। वह बिना किसी दबाव के स्वेच्छा से भारतीय जनता का पक्ष लेकर अंग्रेज़ों के विरुद्ध लड़ा। उसने सच्चे अन्तरराष्ट्रीय भाईचारे का परिचय दिया। स्वयं लड़ने और सैन्य-संचालन करने के अलावा उसने दूसरों का मनोबल दृढ़ करके इस राज्यक्रान्ति में महत्वपूर्ण योग दिया और अपने दृढ़ और

उज्वल चरित्र का परिचय दिया।

इस तरह न जाने कितने यूरोपियनों ने इस युद्ध में भाग लिया होगा। उनका पूरा विवरण, उनकी जाति, भाषा आदि के बारे में जानकारी हमें नहीं मिलती। श्री सुरेन्द्रनाथ सेन ने अंग्रेज़ लेखक लो (Lowe) का ज़िक्र किया है जिसके अनुसार बुंदेलखंड में विद्रोहियों के साथ एक आर्मीनियन मिला था।[५४] श्री प्रमोद सेनगुप्त ने जीवनलाल की डायरी का हवाला देकर लिखा है कि एक फ्रांसीसी ने बहादुरशाह को अपनी सेवाएं अर्पित कीं। भिन्न देश, भिन्न जाति, भिन्न वर्ण वाले लोग इस प्रकार उसी युद्ध का समर्थन करते हैं जो, अन्याय और अत्याचार के विरुद्ध किया जाय, जो जाति, वर्ण और धर्म का द्वेष न फैला कर एक व्यापक मानव-उद्देश्य के लिये जनता को संगठित करता हो। १८५७-५८ में भारतीय जनता ने ऐसा ही युद्ध ठाना था।

महान् जन-क्रान्ति

सन् सत्तावन का संघर्ष एक महान् जनक्रान्ति था। वह जनक्रान्ति इसलिये था कि उसमें जनता ने सक्रिय रूप से भाग लिया था। जैसा कि हम पहले देख चुके है, अनेक प्रदेशों में किसानों ने अंग्रेजी सरकार को लगान देना बंद कर दिया था। दिल्ली में एकत्र सैनिकों ने किसानों से लगान न देने की अपील की थी। रुहेलखंड, अवध, भोजपुरी प्रदेश आदि विस्तृत इलाकों में किसानों ने लगान देना बंद कर दिया था। वे लगान देते थे तो देशी शासकों द्वारा स्थापित नयी राज्यसत्ता को देते थे। मेरठ के एक हिन्दुस्तानी अधिकारी ने बहादुरशाह को पत्र लिखा था, "बुलंदशहर जिले में टर्नबुल नाम का एक बागी है जो यहां गड़बड़ मचाने की कोशिश कर रहा है।"[२२] उसने बादशाह से एक सैनिक दस्ता भेजने की प्रार्थना की थी। जनता अपनी नयी सत्ता को स्थायी

समझती थी और "बागी" अंग्रेज़ों का गड़बड़ मचाना बंद करना चाहती थी। अंग्रेजी राज के खात्मे से उसके उल्लास का ठिकाना नहीं था। एक चपरासी भी अंग्रेज को सुना कर कह सकता था कि अंग्रेजी सरकार की कीमत उसकी चपरास के बराबर भी नहीं है। यह संघर्ष जन-क्रान्ति इसलिये था कि सारा युद्ध जनता को आधार बनाकर चला था। यह जनता से अलग फौज की लड़ाई न थी। जनता के सक्रिय सहयोग के बिना न शहरों में, न गांवों में एक दिन को भी युद्ध चल सकता था। दिल्ली, मेरठ, लखनऊ, झांसी, कानपुर, पटना, बरेली आदि की जनता ने सेना से सक्रिय सहयोग किया। अंग्रेजों ने शहर के शहर अपराधी करार देकर विदेशी राज्य से असंतुष्ट जनता को हजारों की संख्या में मृत्यु-दंड और उससे भी भयंकर यातनाएं दीं। इस जनता के आधार पर अवध में भारतीय सेना देखते-देखते गायब हो सकती थी और अंग्रेज़ों के गुप्तचर उसका सुराग भी न पाते थे। जनता के इस सक्रिय समर्थन के बल पर ही राना बेनीमाधो अंग्रेजों को एक ही समय पर अनेक स्थानों में दिखाई देते थे। इस जनता ने ही बिहार में अंग्रेजों को छावनियों में बंद करके गाँवों में अपनी सत्ता कायम की थी और अंग्रेज अफ्सरों के सिर लाने के लिये इनाम घोषित किये थे।

इस क्रान्ति की मूल धारा अंग्रेजी राज्य के विरुद्ध थी। उसका मूल उद्देश्य राजनीनिक था—अंग्रेज़ों को निकाल कर देश में अपनी सत्ता कायम करना। इस राजनीतिक उद्देश्य के अन्तर्गत और भी सामाजिक उद्देश्य थे। जनता अंग्रेजी न्याय व्यवस्था से क्षुब्ध थी। इसीलिये उसने हर जगह कचहरियाँ जलाईं, जेलों के दरवाजे खोल दिये, अंग्रेजों ने जिनकी जमीनें छीन ली थीं, उन्होंने किसानों के सहयोग से नये मालिकों को हटाकर उन पर अधिकार किया। जिन महाजनों के अत्याचार से किसान परेशान थे और अंग्रेजी न्यायव्यवस्था की सहायता से जिन्होंने किसानों के घर तबाह कर दिये थे, इन्हें जनता ने दंड दिया। मेरठ में रामदयाल नाम के किसान को अंग्रेजों ने जेल में बंद कर दिया था। मेरठ की जेल टूटते ही वह अपने गाँव भोजपुर गये और किसानों को एकत्र करके एक महाजन पर हमला किया और उसे प्राणदंड दिया।[२६] बनारस से टकर ने लिखा, "सभी बड़े-बड़े जमींदार और नीलाम में जमीन खरीदने वाले पंगु हो गये हैं, उनकी संपत्ति छिन गई है, उनके

कारिन्दे अक्सर मार डाले जाते हैं और उनकी संपत्ति नष्ट करदी जाती है।"[५७] अलीगढ़ में जिन्होंने दीवानी अदालतों के कारण मुसीबतें उठाई थीं, वे उठ खड़े हुए। एक गाँव में अंग्रेजों के रखे हुए जमींदारों से पुराने मालिकों की टक्कर हुई और वे हार गये।[५८] सहारनपुर में सिपाही तो कुछ शान्त भी थे, जनता बहुत उत्तेजित थी। "एक वर्ग दूसरे वर्ग के विरुद्ध, शक्तिशाली कमजोर के बिरुद्ध [अर्थात् उनके विरुद्ध जिनकी रक्षा करने में अंग्रेज असमर्थ थे], कर्जदार महाजन के विरुद्ध, हारा हुआ प्रतिवादी वादी के विरुद्ध उठ खड़ा हुआ। लोगों को सबसे ज्यादा खुशी इस बात की थी कि वे शस्त्रबल से, अंग्रेजी अदालतों का फैसला रद कर रहे थे।"[५९] रैक्स ने लिखा था, लोगों को अंग्रेजों की दीवानी न्यायव्यवस्था पसंद नहीं थी। दीवानी कचहरियों से वे बहुत अप्रसन्न थे।[६०] इसलिये अवध में यह न्याय-व्यवस्था खत्म कर दी गई। एक किसान ने लो (Lowe) से कहा था, "साहब, जंगल, पेड़, नदियाँ, कुएँ, सारे गाँव, सभी तीर्थ सरकार के हैं। उसने सब कुछ ले लिया है। ठीक है, अब हम क्या करें ?"[६१] यह संपत्तिहीन जनता अब कुछ करने को तैयार हो गई थी। वह अपना स्वत्व फिर प्राप्त कर रही थी। इसलिये अंग्रेज़ों को हर जगह शान्ति भंग होती हुई, न्यायव्यवस्था टूटती हुई और अराजकता फैलती हुई दिखाई देती थी। रौवर्टसन ने स्वीकार किया है कि किसान अंग्रेजी राज से इसलिये नफरत करते थे कि उसने महाजनों को सुविधाएँ दे रखी थीं। जिन छोटे जमींदारों से महाजनों ने अंग्रेजी अदालतों के जरिये जमीन छीन ली थी, उनमें अंग्रेजों के प्रति सबसे ज्यादा घृणा थी।[६२] सुदूर दक्षिण में बेलारी जिले में अंग्रेजों को मालगुजारी इकट्ठी करने में कठिनाई हो रही थी। हैदराबाद राज्य के स्वाधीनता-संग्राम का इतिहास लिखने वालों ने २१ जून १८५८ के "बम्बई गज़ट" से एक उद्धरण दिया है जिसमें कहा गया है कि मालगुजारी में कठिनाई होने से बेलारी का कलक्टर परेशान था।

अनेक सामन्त अंग्रेजों से मिले हुए थे। किसानों और सिपाहियों ने अनेक स्थानों में उन पर दवाब डाला और उन्हें दंड भी दिया। अवध के मानसिंह के लिये होप ग्राण्ट ने लिखा था, "इस शक्तिशाली सामन्त को अपने पक्ष में किये रहना बड़े महत्व की बात है। उसे

विद्रोहियों ने उसके गढ़ में घेर लिया था। होप ग्राण्ट ने जाकर उसकी रक्षा की। [६३] नवाब मुसामुद्दौला बहादुर अंग्रेज़ों के प्रति बहुत वफादार थे। लखनऊ की आजाद सरकार ने यह बिल्कुल खयाल न किया कि वह नवाब वाजिदअली शाह के बहनोई हैं। होप ग्राण्ट के शब्दों में उनके साथ बहुत अभद्रता का व्यवहार किया गया। उनकी सारी संपत्ति छीन ली गई। होप ग्राण्ट ने जाकर अपने वफादार की मदद की। [६४] विहार में डुमरांव का राजा अंग्रेजों के प्रति ऐसे ही वफादार था। अमरसिंह ने उसके दीवान के घर पर हमला किया था। [६५] पटियाला का राजा अंग्रेजों के साथ था। जीवनलाल के अनुसार उपद्रवकारियों ने इसका बदला इस भाँति लिया कि महाराज पटियाला के भाई कुँवर अजीतसिंह के मकान पर धावा बोल दिया और उन्हें गिरफ्तार कर लिया। [६६]

क्रान्ति ने गरीब आदमियों को सबसे अधिक आन्दोलित किया। हैदराबाद के अंग्रेज अधिकारियों को शिकायत थी कि वहाँ के गरीब आदमी अंग्रेज़ों से लड़ने को सबसे ज्यादा उत्सुक थे। हर शहर में वे गरीब सिपाहियों का बराबर साथ देते थे। इसीलिये अंग्रेज़ों ने इन्हें "रिफ-रैफ" कहकर उनकी निन्दा की है। महाजनों के कर्ज से तबाह किसान, अंग्रेजी न्यायालयों की कृपा से संपत्ति खो बैठने वाले लोग, न्याय के नाम पर जेलों में ठूंस दिये गये निरपराध मनुष्य – सभी इस क्रान्ति के साथ थे। इस क्रान्ति में उच्च वर्णों के अलावा निम्न वर्णों ने भी भाग लिया। झाँसी में कोरी और काछी लड़े। लखनऊ में पासियों ने सुरंगों की लड़ाई में नाम कमाया। बिहार में ग्वालों और मालियों को उच्चाधिकार मिले। इसमें पुरुषों के साथ स्त्रियों ने वीरता से भाग लिया। दिल्ली की अज्ञातनाम देवी अंग्रेजों को सिपाहियों से अधिक खतरनाक मालूम होती थी। मियाँगंज की लड़ाई में सिपाही की पत्नी ने पति को आहत होते देखकर उसकी बंदूक उठाकर आततायियों पर आक्रमण किया था! लखनऊ में जब अंग्रेजी सेना बेली गारद की ओर बढ़ रही थी, तब खिड़कियों, छज्जों और छतों से सैनिकों पर भयंकर अग्नि-वर्षा की गई थी। "देशी सिपाही और नगर के लोग, चपटी छतों में छिपे हुए सड़कों पर गोली चलाते थे और फिर हट जाते थे कि बंदूकें भर लें जिससे फिर गोली चलायें। स्त्रियाँ तक शत्रुता के आवेश

में बंदूकें चला रही थीं, कुछ अन्य स्त्रियाँ रास्ते में जाते हुए सिपाहियों को पत्थर और घर का सामान फेंककर मारती थीं। एक स्त्री अपना बच्चा लिये हुए छत (parapet) पर खड़ी थी और अपनी नफरत के पागलपन में छिपने से घृणा कर रही थी। वह चिल्ला कर, दाँत पीस कर हिन्दू गालियाँ दे रही थी।"[६७] सैनिकों ने उसे गोलियों से छेद कर नीचे गिरा दिया। गौर्डन अलेग्जेंडर ने लिखा था कि सिकंदरबाग के युद्ध में कुछ हब्शी स्त्रियाँ थीं जो भयानक रूप से लड़ीं।[६८] फोर्ब्स-मिचेल ने एक स्त्री के लिये लिखा था कि वह सिकंदर बाग के एक बड़े पीपल पर बैठी थी; उसने कई ब्रिटिश सैनिकों को मारा।[६८] एक दूसरे लेखक के अनुसार लखनऊ में लोहे के पुल के पास एक बुढ़िया स्त्री पायी गई। वह मर चुकी थी लेकिन उसके पास सुरंग में आग लगाने का पूरा सामान था और कुछ दूर पर सुरंग थी।[६८] रानी लक्ष्मीबाई के साथ झाँसी की स्त्रियाँ वीरता से लड़ीं और कुछ देवियाँ उनके साथ अन्त तक रहीं। हिन्दुस्तान में विधवाओं के विवाह की अनुमति मिली, इसलिये लोगों ने यहां विद्रोह किया, ऐसा कहने वाले अंग्रेज भारतीय विधवाओं से इतना डरते थे कि फीरोज शाह की विधवा को उन्होंने जब पाँच रुपये महीने की पेंशन दी, तब यह शर्त लगा दी कि वह दिल्ली लौटकर न आये![६९]

इस तरह की क्रान्ति तभी प्रगति कर सकती है जब उसमें भाग लेने वाली जनता अपना एका दृढ़ कर सके। हिन्दुस्तान की विशेष परिस्थितियों के कारण यहाँ दो धर्मों के अनुयाइयों की एकता, हिन्दू-मुस्लिम एकता किसी भी राष्ट्रीय आन्दोलन के लिये अत्यन्त आवश्यक थी। अंग्रेज इस तरह की एकता का महत्व समझते थे; इसलिये उन्होंने उसे छिन्न-भिन्न करने में कुछ उठा नहीं रखा। वे इस बात से अत्यन्त उद्विग्न थे कि उनके राज्य-संचालन का एक मुख्य सामाजिक आधार—हिंदू-मुस्लिम वैमनस्य—खत्म हो रहा था। अंग्रेज़ हिन्दुस्तान के बारे में क्या सोचा करते थे, यहाँ के सम्प्रदायों में आपसी द्वेषभाव बढ़ा कर वे किस तरह अपना स्वार्थ सिद्ध करना चाहते थे, इसका बहुत अच्छा उदाहरण प्रिचार्ड ने दिया है। उसने लिखा है, "हम सोचा करते थे कि हिन्दू और मुसलमान किसी भी तरह आपस में एका नहीं कर सकते और मिलकर किसी तीसरे संप्रदाय के विरुद्ध कभी कार्य नहीं कर

सकते। लोगों के लिये यह कहना और हिन्दुस्तान में प्रायः हर एक के लिये ऐसा सोचना सबसे आम बात थी कि चाहे जो हो जाय, हमारे पक्ष में दोनों में से पूरी एक जाति अवश्य रहेगी।"७० विद्रोह आरंभ होने से पहले उच्चाधिकारी अंग्रेज सोचने लगे थे कि इस बार दोनों संप्रदायों के लोगों को आपस में लड़ा कर वे अपनी सत्ता सुरक्षित न रख सकेंगे। अंग्रेज़ों ने बंगाल-सेना में घुड़सवार पल्टनों में ज्यादातर मुसलमानों को भर्ती किया था, पैदल-सेना में ज्यादातर हिन्दुओं को रखा था। पैदल-सैनिकों की अपेक्षा घुड़सवारों की तनखाह ज़्यादा होती थी। वहाँ भी उनकी भेद-नीति काम कर रही थी। किन्तु यह भेद-नीति व्यर्थ हो गई। के ने लिखा है, "लेकिन अप्रैल का महीना खत्म होने के पहले ही लौर्ड कैनिंग को मालूम पड़ गया होगा कि एशियाई जातियों के परस्पर विरोध से अब कोई आशा नही है, जिस विरोध को हमने अपनी शक्ति और सुरक्षा का मुख्य आधार समझा था। स्पष्ट ही हिन्दू और मुसलमान हमारे विरुद्ध एक हो गये थे।"७१

फिर भी अंग्रेज अपनी हरकत से बाज़ नहीं आये। उन्होंने दिल्ली में दंगे कराने की कोशिश की। जामा मस्जिद में उन्होंने गोकुशी कराने की बहुत कोशिश की लेकिन उनके समर्थक और गुप्तचर असफल रहे। बरेली में उन्होंने पचास हजार रुपये दंगे कराने के लिये खर्च करने का विचार किया था लेकिन वहाँ के अंग्रेज अधिकारियों को वह रकम बिना खर्च किये ही अपनी सरकार को वापस करनी पड़ी। इस एकता का आधार सहनशीलता और एक दूसरे की धार्मिक भावनाओं के प्रति सम्मान का भाव था। इसीलिये दिल्ली की राज्यसत्ता ने गोकुशी के विरुद्ध बहुत दृढ़ता से कदम उठाये थे और इस कार्य में उसे आम जनता और पत्रकारों का पूर्ण सहयोग प्राप्त था। इसके साथ ही जन-पक्ष में हिन्दू-मुस्लिम एकता के साथ सिखों को भी मिलाने का प्रयत्न किया गया था। यह प्रयत्न कितना सफल हुआ था, यह हम पहले देख चुके हैं। सन् सत्तावन के संघर्ष में अंग्रेज़ी प्रचार की मिथ्या स्थापनाओं के बावजूद सिखों ने महत्वपूर्ण भाग लिया था। यह संघर्ष अंग्रेजों को निकालने और नयी भारतीय सत्ता कायम करने का संघर्ष था, इस तथ्य पर पर्दा डालकर अंग्रेजों ने यह दिखाने का प्रयत्न किया कि हिंदुओं और मुसलमानों के धार्मिक अन्ध-विश्वासों के कारण दोनों एक हो गये थे।

हिन्दुओं को गाय की चर्बी पर आपत्ति थी, मुसलमानों को सुअर की चर्बी लगी होने का सन्देह था ! लेकिन दिल्ली के घेरे के समय अंग्रेजों की ओर से ही मुसलमानों को यह समझाने का प्रयत्न किया गया था कि चर्बी केवल गाय की लगी है, इसलिये आपत्ति केवल हिन्दुओं को है और मुसलमान उनके हाथों में खेल रहे हैं। इस पर मुसलमान देशभक्तों ने जबाब दिया था कि यदि अंग्रेज एक का धर्म बिगाड़ सकते हैं तो कल दूसरे का भी बिगाड़ सकते हैं।

राज्यक्रान्ति में अनेक तरह की धाराओं का संयोग हुआ था। सभी की राजनीतिक चेतना एक सी नहीं थी। अनेक इश्तहारों और घोषणाओं में धर्म की रक्षा करने और ईसाइयों का नाश करने की बात है। अंग्रेज़ों की नीति यहाँ ईसाई धर्म का प्रचार करने की थी और शासन तथा फौज के उच्चाधिकारी नाजायज तरीके से धर्म-प्रचार का काम करते थे, यह हम देख चुके हैं। इसलिये अंग्रेज़ धर्म बिगाड़ रहा है, इस तरह की भावना का उत्पन्न होना और फैलना अस्वाभाविक नहीं था। किन्तु सन् सत्तावन की राज्यक्रान्ति को ईसाई विरोधी जेहाद कह कर उसकी व्याख्या नहीं की जा सकती। अंग्रेज़ों ने अपना धर्मान्ध दृष्टिकोण यहाँ की जनता पर आरोपित किया है। न इस क्रान्ति के लिये यह कहना उचित है कि देश पिछड़ा हुआ था, इसलिये राजनीतिक संघर्ष धार्मिक रूप लिये बिना न उत्पन्न हो सकता था, न आगे बढ़ सकता था। सत्य यह है कि हर विशाल सामाजिक आन्दोलन की तरह इस राज्यक्रान्ति के अन्दर भी अपनी असंगतियाँ थीं। उसमें ऐसे तत्त्व भी थे जो ईसाइयों से घृणा करते थे और दो एक जगह जो अंग्रेज़ स्त्रियों और बच्चों की हत्या की गई, वह ऐसे ही तत्वों की प्रेरणा का फल था। किन्तु राज्यक्रान्ति की मुख्य धुरी ये लोग न थे। अंग्रेज़ों ने अपनी आततायी जनसंहारक और धर्मान्ध नीति का औचित्य विज्ञापित करने के लिये अपवादस्वरूप इन हिंसक कृत्यों का ढोल खूब पीटा है। किन्तु मुख्य धारा इसके बिल्कुल प्रतिकूल थी।

जैसा कि हम देख चुके हैं, सिपाहियों ने अधिकांश स्थानों में न केवल अंग्रेज़ महिलाओं को बचाने का प्रयत्न किया वरन् पचासों जगह अंग्रेज़ अफ़सरों को भाग जाने पर वाध्य किया। यही नहीं, उन्होंने बहुत जगह अंग्रेज़ों को अपनी ओर मिलाने का प्रयत्न किया और अन्त तक कुछ

यूरोपियन उनके साथ रहे। यदि यह ईसाई मात्र के विरुद्ध जेहाद की घोषणा होती तो इन यूरोपियनों का दिल्ली, लखनऊ, रुइया आदि स्थानों में हिन्दुस्तानियों की ओर से लड़ना असंभव होता। सिपाहियों के अतिरिक्त यहाँ की किसान जनता में ईसाइयों के प्रति कोई धर्मान्ध घृणा का भाव न था। किसान कचहरियाँ नष्ट करते थे, महाजनों के बही-खाते फूंक देते थे किन्तु कोई ईसाई है, इसलिये उसे मार देना चाहिये, यह उनकी नीति न थी। श्रीमती मिल और श्रीमती कैम्पबेल नाम की दो अंग्रेज़ महिलाएं सैकड़ों मील गाँव में यात्रा कर सकी थीं और उनका बाल भी बांका न हुआ था। यदि ईसाई स्त्रियों-बच्चों को मारना यहाँ की आम जनता का लक्ष्य होता, यदि यहाँ के साधारण जन वैसे ही रक्त-पिपासु दैत्य होते जैसा कि अनेक अंग्रेज़ लेखकों ने उन्हें चित्रित किया है तो इस तरह इन स्त्रियों के लिये गाँव-गांब घूमते हुए सकुशल नगरों तक पहुँच जाना असंभव होता।

क्रान्तिकारी पक्ष उन सभी लोगों को दबाता था जो अंग्रेज़ों से मिले हुए थे। मानसिंह की गढ़ी घेर ली गई थी। वह ईसाई नहीं था लेकिन अंग्रेजों का सहायक था। वाजिदअली शाह के बहनोई की संपत्ति लूट ली गई थी, इसलिये नहीं कि वह ईसाई थे। डुमराँव के राजा के दीवान पर आक्रमण किया गया था क्योंकि वह अंग्रेजों से मिला हुआ था। मथुरा के बड़े ज़मींदार कुंवर दिलदार अली खाँ को उसके आसामियों ने मार डाला था [७१] क्योंकि वह उन पर अत्याचार करता था, न कि इसलिये वह ईसाई था। क्रान्ति का मूल कारण अंग्रेजों की भूमिव्यवस्था, उनका शोषण और लूट, उनकी न्यायव्यवस्था थी। इस व्यवस्था से उत्पन्न क्षोभ ही जनता को एक कर रहा था। यह गहरा असन्तोष हिन्दुओं और मुसलमानों को अंग्रेज़ों के विरुद्ध संयुक्त मोर्चा बनाने के लिये प्रेरित कर रहा था, यह तथ्य भुलाया नहीं जा सकता।

बहुत जगह सिपाहियों ने कातूंसों के चलन पर आपत्ति की। कातूंस इतने गंदे थे कि उन पर हिन्दुओं-मुसलमानों को ही नहीं ईसाई अंग्रेज़ों को भी आपत्ति थी। कानपुर में मल्लाहों पर गोली चलाने वाले कैप्टेन मौब्रे टौमसन ने लिखा था कि जो कातूंस इंगलैण्ड से आये थे, वे "निःसन्देह फिरंगियों और धर्मानुयाइयों दोनों के लिये अत्यन्त घृणित

थे" ("without doubt abundantly offensive to the Feringhees as well as to the faithful") । उसने यह भी लिखा था कि "उनकी दुर्गन्ध से यदि विद्रोह न फैल सकता था जैसा कि कहा जाता है तो कम से कम महामारी अवश्य फैल सकती थी ।[७२]

फिर भी बहुत जगह सिपाहियों ने एनफील्ड राइफलों और "अपवित्र" कार्तूसों का उपयोग किया । मेरठ में विद्रोह करनेवाले सैनिकों ने सबसे पहले उन कार्तूसों पर ही हाथ साफ किया । अनेक स्थानों में अंग्रेज़ों के पूछने पर उन्होंने कहा भी कि यह तुम्हें निकालने का बहाना भर है । फैजाबाद जैसी जगहों में सैनिकों ने यह बहाना भी नहीं किया; उन्होंने साफ कहा कि अंग्रेज़ को निकालना है, इस लिये लड़ रहे हैं ।

यदि सन् सत्तावन का संघर्ष ईसाई-विरोधी जेहाद होता तो गिरजाघरों पर सबसे पहले आक्रमण होता । लेकिन साधारणतः गिरजाघरों पर आक्रमण न किया जाता था । अंग्रेज़ पहले यह मान लेते थे कि यह संघर्ष ईसाइयों के विरुद्ध जेहाद है; फिर गिरजाघर को सही सलामत देखकर आश्चर्य करते थे कि इसे क्यों छोड़ गये ! स्यालकोट के विद्रोह के बारे में के ने लिखा है कि हर चीज नष्ट कर दी गई या विद्रोही उसे उठा ले गये, "सिवा एक विचित्र अपवाद के जिसका कारण समझ में नहीं आता—गिरजाघर जिसे ईसाइयों ने अपने ईश्वर की उपासना के लिये बनाया था ।"[७३] यह कोई स्यालकोट की अनूठी घटना न थी । ६ अक्तूबर १८५७ को जब विद्रोह अपने उभार पर था, ईसाई धर्म प्रचारक डाक्टर डफ़ ने लिखा था, "मेरे मन में शुरू से यह बात रही है और अब मुझे उस पर और भी विश्वास हो गया है कि यह राक्षसी विप्लव मुख्यतः राजनीतिक है और बहुत गौण रूप से धार्मिक है ।"[७४] डफ की जीवनी के लेखक जौर्ज स्मिथ ने ईसाइयत और विद्रोह के बारे में लिखा है, "विद्रोह में न तो ईसाइयों को विशेष रूप से ढूँढ़ा गया, न ईसाई प्रगति से ही उसका विस्फोट हुआ था । मद्रास में देशी चर्च सबसे पुराना और मजबूत था और बंबई में ईसाइयत के प्रचार का विरोध करने वाले राजनीतिज्ञ जिन बातों को विद्रोह का कारण बतलाते थे, वे सब मौजूद थीं, वहाँ विद्रोह न हुआ ।"[७५]

राज्यक्रान्ति के दौर में कई जगह जेहाद का नारा लगाया गया था। इस शब्द का अर्थ भी सभी लोगों के लिये एकसा न था । उदाहरण के

लिये जो लोग अंग्रेज़ों की ओर से लड़ रहे थे, क्या उनकी लड़ाई को जेहाद कहा जा सकता था ? खैरुद्दीन के नाम मुहम्मद हसन खाँ के पत्र में जेहाद शब्द का प्रयोग न्यायपूर्ण युद्ध के अर्थ में हुआ है। "जैसे आप और दूसरे सरकारी मुलाजिम अपना लोक-परलोक बनाने के लिये अंग्रेज सरकार की ओर से दृढ़ता से ऐसे लड़ रहे हैं जैसे जेहाद में, वैसे ही मैं इसे गौरव की बात समझता हूँ और मुझे विश्वास है कि इससे मुझे लोक-परलोक दोनों में लाभ होगा कि मै अपने धर्म और महिमामय सम्राट् के लिये लड़ना और मरना उचित समझता हूँ।"[७६]

दिल्ली से हिन्दुओं और मुसलमानों की ओर से जो इश्तहार प्रकाशित किया गया था, जिसका उल्लेख पहले हो चुका है, उसमें उन्होंने मालगुजारी बढ़ाने, चौकीदार टैक्स दसगुना करने, लोगों की साधारण जरूरतें पूरी न होने, एक जिले से दूसरे जिले पहुँचने की कठिनाइयों आदि का जिक्र किया है। इश्तहार से मालूम होता है कि धर्म-सम्बन्धी आपत्तियों के अलावा किस तरह के आर्थिक कारण जनसाधारण को क्रान्ति की राह पर ठेल रहे थे। दिल्ली से बहादुरशाह की ओर से एक दूसरा इश्तहार प्रकाशित हुआ था। इसमें ज्योतिषियों आदि की भविष्य-वाणी की चर्चा है कि अंग्रेज़ी राज खत्म हो जायगा। यह सब पहले वाले इश्तहार में नहीं है। किन्तु इसमें विभिन्न वर्गों से अलग-अलग अपील की गई है और उन्हें समझाया गया है कि उन्हें क्रान्ति में क्यों भाग लेना चाहिये। जमींदारों से कहा गया है कि उनकी रियासतें नीलाम की गई हैं, जमा बढ़ाई गई है, उन्हें मामूली दास-दासी के जरिये कचहरी में बुला लिया जाता है, अदालतों में पैसा खर्च होता है, सजा मिलती है, स्कूलों अस्पतालों और सड़कों के लिये चन्दा लिया जाता है, इत्यादि। बादशाही शासन में शरियत और शास्त्रों के अनुसार सारी कार्यवाही होगी, जमींदार अपने इलाके के पूरे मालिक होंगे और उनकी माल-गुजारी माफ़ कर दी जायगी।

जमींदारों के लिये इस अपील में जहाँ अंग्रेज़ों से अपना स्वत्व प्राप्त करने के लिये साम्राज्य-विरोधी दृष्टिकोण से उनका आह्वान किया गया है, वहाँ सामन्त-प्रजा के संबन्ध में सामन्तवादी दृष्टिकोण अपनाया गया है। इसमें किसानों की कठिनाइयों का उल्लेख नहीं है, वरन् जमींदारों की इस कठिनाई का उल्लेख है कि उन्हें साधारण प्रजा भी अदालत ले

जा सकती है। इससे यह परिणाम निकालना गलत होगा कि अंग्रेज़ी न्यायव्यवस्था के सामने गरीब-अमीर दोनों बराबर थे। यह न्यायव्यवस्था सबसे अधिक गरीबों को तबाह करने वाली थी; साथ ही वह सामन्तों के अधिकार छीन कर उनमें से भी बहुतों को तबाह कर रही थी। जमींदारों की विशेष प्रतिष्ठा, जनसाधारण का उनसे निम्न स्तर का होना, उनके लिये न्याय की विशेष व्यवस्था की आकांक्षा—यह सब इस इश्तहार में है। इससे यही प्रकट होता है कि प्रत्येक क्रान्ति की तरह इसमें भी प्रत्येक वर्ग के हित एक से नहीं थे। पहले इश्तहार में जहाँ किसान के हितों को प्रधानता दी गई है, वहाँ इस इश्तहार में सामन्ती हितों का विशेष ध्यान रखा गया है।

लेकिन यह इश्तहार जमीदारों से ही अपील करके नहीं रह जाता। व्यापारियों से कहा गया है कि अंग्रेज़ों ने नील, कपड़ा और जहाजों से भेजी जाने वाली अन्य वस्तुओं के व्यापार पर इजारा कायम किया है और बहुत मामूली चीज़ों का व्यापार देश के लोगों के लिये छोड़ा है। चुङ्गी वगैरह के ज़रिये अंग्रेज मुनाफा खाते हैं। बादशाही राज होने पर शासन की ओर से व्यापारियों को भाप से चलने वाले जहाज़ों और गाड़ियों द्वारा अपना सामान ले जाने की सुविधा होगी। जिनके पास अपनी पूँजी न होगी, उन्हें सरकारी खजाने से पूँजी देकर उनकी सहायता की जायगी।

व्यापारी वर्ग ने अंग्रेज़ी राज में भारी क्षति उठाई थी। उससे क्रांति में साथ देने और अपना राज होने पर व्यापार के लिये हर तरह की सुविधा देने की बात कुशल राजनीतिक सूझबूझ की परिचायक थी। संयुक्त मोर्चे में इस वर्ग को लाना आवश्यक था लेकिन कठिन भी था। इसलिये व्यापारियों से कहा गया था कि वे चाहे खुलकर सहायता करें, चाहे गुप्त रीति से करें। इससे यह भी सिद्ध होता है कि सामन्त वर्ग के अलावा अन्य वर्गों को सचेत रूप से संघर्ष में शामिल करने का प्रयत्न किया गया था।

शासन-विभागों के कर्मचारियों को अंग्रेज़ी राज में उनकी दयनीय स्थिति के प्रति सचेत किया गया है। उन्हें कम तनखाह मिलती है, ऊँची हैसियत की सभी जगहें अंग्रेज़ों को मिलती हैं। फौज में भी देशी आदमी अधिक से अधिक ६०-७० रुपये माहवार पर सूबेदार ही बन

सकता है। इश्तहार में सरकारी नौकरों को ऊँचे ओहदे और अच्छी तनखाहें देने का वादा किया गया था। कारीगरों से कहा गया है कि वे अंग्रेजी राज से तबाह हो गये हैं। बादशाही शासन में उन्हें काम मिलेगा और उनकी बेकारी दूर कर दी जायेगी।

पंडितों और फकीरों से कहा गया है कि वे दोनों धर्मों के रक्षक हैं और यह धर्म की लड़ाई है, इसलिये उन्हें उसमें भाग लेना चाहिये। इसके लिये उन्हें माफी की जमीन वगैरह दी जायगी।[७७]

इश्तहार में किसानों का जिक्र नहीं है। इसका लेखक निश्चय ही शहर का रहने वाला है और वह सामन्तों, व्यापारियों, कारीगरों और पंडितों-फकीरों की स्थिति से सुपरिचित है। किन्तु यह इश्तहार भी यह सिद्ध करने के लिये काफी है कि राज्यक्रान्ति में धर्म के अलावा, अथवा धर्म के साथ-साथ विभिन्न स्तरों के लोगों को उनके वर्ग-हितों के आधार पर भाग लेने के लिये आमंत्रित किया जा रहा था। धर्म के रूप में सामाजिक क्रान्ति नहीं, धर्म के अलावा या उसके साथ-साथ सामाजिक क्रान्ति की यह खुली तैयारी की जा रही थी। अंग्रेज़ी राज के बदले देशी सत्ता कायम होनी चाहिये, इसलिये कि उसके द्वारा विभिन्न वर्ग अपना खोया हुआ स्वत्व प्राप्त कर सकेंगे। मुख्य बात है, जमींदारों के जमीन पाने की, व्यापारियों के नयी सुविधाएँ पाने की, कारीगरों की बेकारी दूर करने की, न कि ईसाइयों को मार कर हिन्दू धर्म अथवा इस्लाम का प्रचार करने की।

जनता के इस संयुक्त मोर्चे की मुख्य शक्ति सिपाही थे। सेना से छुट्टी पाने पर अथवा निकाले जाने पर इन्होंने राजनीतिक प्रचारकों का काम किया था। चटगाँव से पेशावर तक इन सिपाहियों ने अंग्रेज़ों के विरुद्ध हर जगह जनता और सामंतों को अपनी ओर मिलाने का प्रयत्न किया। जिस जिले से वे निकल जाते, वहाँ जनता में अंग्रेज विरोधी चेतना फैल जाती। जोधपुर की सड़कों पर उन्होंने ही जनता का आह्वान किया था कि तुम्हारा राजा अंग्रेजों से मिला हुआ है, उसके विरुद्ध विद्रोह कर दो। सन् ५७ से पहले ही सिपाही संगठन और आन्दोलन की बहुत सी बातें सीख चुके थे। अपनी मांगों के सिलसिले में लड़ते हुए सभाएँ करना, इश्तहार चिपकाना, पल्टनों से प्रतिनिधि चुनना, अंग्रेज़ों को खबर दिये बिना गुप्त रीति से काम करना--यह सब वे अपने सैनिक

जीवन में सीख चुके थे। नेपियर को पता चला था कि उत्तर भारत में कई पल्टनें संघबद्ध हो गई हैं। बंगाल से पंजाब तक अंग्रेज़ों और उनका साथ देने वालों के बँगले जलाये गये थे और यह क्रम महीनों तक चला था, फिर भी अधिकतर अंग्रेजों को पता न चलता था कि आग लगाने वाले कौन हैं। संगठन के इस अनुभव से उन्होंने क्रान्ति में लाभ उठाया।

अंग्रेज़ जानते थे कि क्रान्ति की मुख्य शक्ति कौन है। उन्होंने सिपाहियों को बदनाम करने में कुछ भी उठा न रखा। सारे क्रूर कर्मों की—जो किये गये थे और जो न किये गये थे -ज़िम्मेदारी उन्होंने सिपाहियों पर डाली। इंगलैण्ड में उन्होंने इसका धुँआधार प्रचार किया। अर्नेस्ट जोन्स और कार्ल मार्क्स की सहानुभूति इस संघर्ष में भारतीय जनता के साथ थी। जोन्स ने इकतर्फे प्रचार के बारे में चेतावनी भी दी थी कि कोई फैसला करने के पहले भारतीय पक्ष की बात सुन लेना भी उचित होगा। फिर भी अंग्रेज़ों के धुँआंधार प्रचार का जवाब देते हुए जोन्स और मार्क्स ने कहा था – सिपाही वही तो कर रहे हैं जो अंग्रेज़ों ने उन्हें सिखाया था।

अंग्रेज़ों ने उन्हें जो भी सिखाया हो, इस क्रान्ति में सिपाहियों का व्यवहार अंग्रेज़ों से बिल्कुल भिन्न था। उन्होंने अधिकतर अंग्रेज़ स्त्रियों-बच्चों की रक्षा की, उन्होंने अंग्रेज अफसरों की जान बचायी जब कि इन अफसरों की साधारण नीति हिन्दुस्तानियों से घृणा करने, गाली देने, ठोकर मारने और फौज में उच्च पदों से उन्हें वँचित करने की थी। जहाँ कत्लेआम हुए, वहां अधिकतर सामन्तों के चाकरों का हाथ था या कुछ धर्मान्ध लोगों ने ये काम किये। ये सिपाही अंग्रेज अफसरों को अपनी ओर मिलाने का प्रयत्न करते थे। गुरखों, सिखों आदि को उन्होंने युद्ध-काल में भी अपनी ओर करने का प्रयत्न किया। उनका मुख्य विरोध अंग्रेजों से था; अंग्रेजों का साथ देने वालों को वह बराबर समझा-बुझा कर उनसे शत्रु का साथ छुड़ाने की कोशिश करते थे। अंग्रेजों में भी जो उनकी ओर आ सकता था, उसे वे खींच लाये। जिसके आने की संभावना थी, उसे लाने का प्रयत्न किया, भले ही इसमें वे असफल रहे हों।

अंग्रेजों ने उन्हें हत्यारे के साथ लुटेरा भी कहा। यदि सिपाही लुटेरे होते तो जगह-जगह से जो खजाना दिल्ली पहुँचा, वह वहां न पहुँचता।

सूबेदार दिलीपसिंह के नेतृत्व में जब फैजाबाद के सिपाहियों ने विद्रोह किया तो उन्होंने अंग्रेजों से कहा कि वे अपने व्यक्तिगत अस्त्र-शस्त्र और सम्पत्ति ले जा सकते हैं "लेकिन सार्वजनिक संपत्ति वे नहीं ले जा सकते क्योंकि वह अवध के बादशाह की है।"[७८] हर पल्टन की ओर से निरीक्षक-दस्ते तैनात कर दिये गये जिससे कि शहर के बदमाश लूट-पाट न कर सकें। इस नैतिकता में और लखनऊ तथा दिल्ली के लुटेरों की नैतिकता में कौन सी समानता थी ?

नसीराबाद से जब अंग्रेज चले तो उन्होंने इस बात का खूब प्रचार किया कि बाजार बुरी तरह लूटा गया है। विद्रोही सेना के दिल्ली चले जाने के बाद प्रिचार्ड वहां लौट कर गया तो उसने देखा कि बाजार में उथल-पुथल के चिन्ह तो मौजूद हैं, "फिर भी उस तबाही और बर्बादी का कहीं नाम न था जिसके बारे में हमने इतना सुना था।"[७९] एक पारसी ने कहा कि सिपाही उसकी दूकान लूट ले गये हैं "लेकिन हम विद्रोहियों के वहाँ से जाने के छत्तीस या चालीस घंटे बाद पहुंचे थे और अवश्य ही इतने समय में उसे यह अवसर न मिला होगा कि अपनी दूकान सामान से भर ले। और मुझे उस हिंसक लूटमार के चिन्ह कहीं दिखाई न दिये।" उसने बेपर की उड़ाई ("wildest stories") कि एक सिपाही उसके बक्स से उन्नीस हज़ार रुपये निकाल लें गया है। इस पर प्रिचार्ड ने लिखा है कि अपने पास इतनी रकम रखना आश्चर्य की बात थी "जब कि देशी लोग बहुत समय से विद्रोह होने वाला है, यह जानते थे।" एक दूसरी बड़ी दूकान में उसने देखा कि उसका पहले का सामान ही सही सलामत नहीं है वरन् वहाँ एक अंग्रेज का सामान भी बिक्री के लिये रखा हुआ है। पूछने पर दूकानदार ने कहा, सामान लुट जाता, इसलिये उसे दूकान में रखवा लिया था; अब वह प्रसन्नता से उसे ले जायँ! यही लोग अंग्रेजों से शिकायत करते थे कि बाजार लूट गया। प्रिचार्ड ने इन दूकानदारों को सिपाहियों से मिला हुआ बताया है। दलील यह है कि मिले हुए न होते तो सिपाही उन्हें लूट न लेते! अंग्रेज लूट का इतना आदी होगया था कि सिपाही किसी को न लूटें तो उससे यह नतीजा निकालता था कि दोनों में सांठगांठ होगी!

सिपाही गांव से बाहर निकल कर परदेस घूम आया था। देश और विदेश के समाचार सुनता था। संगठन का महत्व समझता था और

अपने अधिकारों के लिये लड़ चुका था। वह राजनीतिक सत्ता पर अपना अधिकार नहीं तो अपने को उसमें साझीदार अवश्य समझता था। दिल्ली में उसके प्रतिनिधियों ने राज्यसत्ता का संगठन किया था। लखनऊ में उन्होंने दरबार से महत्वपूर्ण शर्तें मनवाई थीं, दिल्ली का प्रभुत्व सर्वोपरि है, अंग्रेजों के मित्रों के साथ वे जो व्यवहार करेंगे, उसमें कोई दखल न देगा, फौज में अफसरों की नियुक्ति उनकी मर्ज़ी के खिलाफ न होगी, इत्यादि। सिपाही अंग्रेजी सत्ता के विरुद्ध विद्रोह करके बहादुरशाह या हज़रत महल के यहाँ नौकरी तलाश करने न गये थे। वे राज्यसत्ता में हिस्सा बँटाने, उस पर नियंत्रण रखकर उसका रूप बदलने निकले थे। उनके संकेत पर नज़रें पेश करने, घूस लेने, गरीबों को सताने आदि पर प्रतिबंध लगाये गये थे, उनके संकेत पर वे सामन्त घराने जो दिल्ली से स्वतंत्र होकर बादशाहत कर रहे थे, फिर दिल्ली के सार्वभौम प्रभुत्व के नीचे लाये गये थे। इसलिये मानना होगा कि राज्यसत्ता में सिपाहियों और उनके नेताओं का सक्रिय भाग लेना राष्ट्रीय एकता और राज्यसत्ता को जनतांत्रिक रूप देने के हित में था। क्रान्ति का यह उद्देश्य, उद्देश्य को चरितार्थ करने में सैनिकों की यह भूमिका इतिहास के पृष्ठों में दबी हुई है। अंग्रेज इतिहासकारों ने लूटपाट और अत्याचार की कहानियों का इतना भारी अम्बार उस पर लगाया है कि सहसा देशभक्त लेखकों का ध्यान भी उस ओर नहीं जाता।

ट्रेवेलियन नामक एक लेखक ने "कानपुर" पुस्तक में सिपाहियों को बड़ी गालियाँ दी हैं। उसने सत्य को तोड़-मरोड़ कर लिखा है लेकिन उसकी गालियों में सत्य का अंश अलग करते देखा जा सकता है। उसने लिखा है, विद्रोह का वास्तविक कारण सिपाहियों की महत्वाकाङ्क्षा थी। उसकी राय में बंगाल के सिपाहियों को सिर चढ़ा कर उनका दिमाग खराब कर दिया गया था। उसने यह नहीं लिखा कि सन् सत्तावन के पहले बंगाल सेना के इन सिर-चढ़े सिपाहियों में से कितनों को तोपों से उड़ा दिया गया था। फिर कहता है कि शैतान की तरह घमंडी ब्राह्मण समझने लगे थे कि हिन्दुस्तान के खजाने और साम्राज्य पर उनका अधिकार होना चाहिये। वे उस समय की बाट जोह रहे थे जब सूबेदार जमीदार, महाराज और नवाब होंगे! हर सैनिक चाहता था कि उसके ज़नाने में लाहौर और रुहेलखंड की सुन्दर से सुन्दर स्त्रियां

हों ! वह चिलियान वाला और फीरोज़शाह के बीरों को [जिन्हें अंग्रेजों ने गुलाम बना रखा था] विजित जाति का समझता था ! [यह उसने "पुरबियों" के प्रति सिखों की प्रतिहिंसा जागृत करने के विचार से लिखा था ।] सिपाही समझते हैं कि "पंजाब के वीर और अभिमानी योद्धाओं पर' उन्हीं का प्रभुत्व है ! सिपाही समझते थे कि इंगलैण्ड में सिर्फ एक लाख की आबादी है ! मर्द खत्म होगये हैं, इसलिये अब औरतें (हाईलैण्डर्स) भेजी जा रही हैं !

अंग्रेज़ों के धुआँधार झूठे प्रचार और हिन्दुस्तानियों के प्रति उनकी घृणा की व्यंजना के विचार से ट्रेवेलियन की यह पुस्तक महत्वपूर्ण है। सिपाहियों के लिये "लुच्चे" (rascals), अज़ीमुल्ला के लिये "यह बदमाश" (this scoundrel) जैसे शब्दों का प्रयोग उसकी शैली की विशेषता है । उसके इस मिथ्या प्रचार में सत्य का इतना ही अंश है कि सेना विद्रोह करके राज्यसत्ता पर अधिकार करना चाहती थी अथवा उसमें साझीदार होना चाहती थी । सेना के भारतीय नायकों के बारे में ट्रेवेलियन ने भूतपूर्व सेनापति नेपियर का जो वक्तव्य उद्धृत किया है, उसीसे उनके चरित्र का पता चल जाता है और उसका प्रचार खंडित हो जाता है । नेपियर ने गोरे अफ्सरों को लक्ष्य करके कहा था, "तुम्हारे नौजवान, स्वच्छंद, स्वेच्छाचारी अफ्सर एक दिन देखेंगे कि सूबेदारों ने हिन्दुस्तानी सेना उनके हाथों से छीन ली है। वे [सूबेदार] दृढ़, दूसरों का आदर करने वाले, विचारशील, कठोर दिखने वाले सैनिक हैं ।"[८०]

विद्रोह के समय यही अनुभवी, दृढ़ और विचारशील सूबेदार कर्नल, जनरल, ब्रिगेडियर आदि बने थे । अंग्रेज़ों ने उन्हें कभी बड़ी-बड़ी सेनाओं के संचालन का भार न सौंपा था । उन्होंने साहस से यह उत्तरदायित्व सँभाला और सैन्य-संचालन के अलावा शासन-व्यवस्था की ओर भी ध्यान दिया, जिससे अंग्रेज़ उन्हें कोसों दूर रखना चाहते थे । ये सेना-नायक नवाब और महाराज नहीं थे; होते तो अंग्रेज़ों से पेंशन लेकर कहीं आराम से अफ़ीम खाकर सोते होते । न वे नवाब और महाराज बनना चाहते थे । राजसिंहासन पर उन्होंने दूसरों को बिठाया लेकिन जिस राष्ट्रीय एकता की रक्षा वे सामन्त न कर पाये थे, उन्होंने उसे फिर स्थापित किया, जिस जनता को सामन्त अपदस्थ समझते थे, उसके

हित में उन्होंने कुछ प्रारंभिक कार्यवाही की। अधिकांश पैदल सेना और थोड़े से घुड़सवारों के बल पर उन्होंने जनता के साथ अंग्रेज़ी राज को चुनौती दी। अंग्रेज़ों का विशाल तोपखाना कुछ न कर पाया। दो प्रेसीडेन्सियों की फौज बेकार हो गई। एक विशाल प्रदेश में शहरों पर शत्रु का अधिकार होजाने पर भी उन्होंने परस्पर संपर्क कायम रखा। गोला-बारूद और तोपें बनाने के लिये जगह-जगह उन्होंने भट्टियाँ और कारखाने कायम किये और यहां से युद्ध-सामग्री पाकर तीन साल तक उन्होंने प्रतापी ब्रिटिश साम्राज्य को—जहां कभी सूर्यास्त न होता था और जहाँ की धरती पर कभी खून न सूखता था– नाकों चने चबवा दिये। पेशावर से स्वात और कश्मीर की दुर्गम घाटियों में, मणिपुर और आसाम के घने जंगलों में, नेपाल की बीहड़ तराई में असंख्य और अकथनीय कष्ट सहकर अनुपम धैर्य से उन्होंने इस स्वाधीनता-संग्राम का संगठन और संचालन किया। इस देश की जनता के अक्षय शौर्य और उसकी रचनात्मक प्रतिभा का परिचय इन साहसी सैनिकों और उनके सेनानायकों ने दिया।

अंग्रेज़ों ने अपने विरुद्ध लड़ने वालों को कलंकित करने के लिये यह कहानी गढ़ी है कि अफसरों के मधुर व्यवहार के कारण वे अनुशासन भंग करने लगे थे। यदि वे अनुशासनहीन होते तो अंग्रेज़ उनके बल पर मराठों और सिखों की राज्यसत्ता का ध्वंस न कर पाते। न अनुशासनहीन भगोड़ों का दमन करने में उन्हें तीन वर्ष लग जाते। वास्तव में अंग्रेज़ों के वर्ण भेद की नीति, गोरों के मुकाबले में कम तनखाह और नीचे के पदों पर उन्हें रखने की नीति, साधारण मांगों पर उन्हें मृत्युदंड देने की नीति से ही उनकी राजनीतिक चेतना जाग्रत हुई थी और उन्होंने देश के इन शत्रुओं से युद्ध करने का प्रण किया था।

अंग्रेज़ों ने ब्राह्मण-क्षत्रिय वर्णों से बहुत से सैनिक भर्ती किये थे। भर्ती करने वाले अंग्रेज़ थे, न कि हिन्दुस्तानी सिपाही। इससे यदि कोई बात साबित होती है तो यही कि अंग्रेज़ों ने फौज की भर्ती में भी उच्च वर्ण के लोगों को अपनी ओर मिला कर निम्न वर्णों को दबाने की नीति अपनायी थी। २६ जून १८५७ के बौम्बे टाइम्स के अनुसार १७७८ में कानपुर में जो पल्टन बनी थी, वह धोबियों की अधिकता के कारण धोबी पल्टन कहलाती थी। २२ मई १८५७ को पेशावर में इसे निःशस्त्र

किया गयाथा, तब भी उसका नाम धोबी पल्टन था। १७८८ में जो सेना बंगाल से सूरत गई थी, उसमें छः बटालियन कुनबियों और अहीरों के थे। संभवतः अंग्रेज़ों ने यह नीति बदल दी थी। फिर भी यह सत्य नहीं है कि बंगाल सेना ने उच्च वर्ण के दंभ में विद्रोह कर दिया था। विद्रोह के बाद बंगाल सेना की सात पल्टनों में सिख ५४, मुसलमान १,१७०, ब्राह्मण १,८७८, राजपूत २,६३७ और इतर वर्णों के हिन्दू २,८५७ थे।[८१] ये सब सिपाही थे। इससे सेना में संप्रदाय और जात-बिरादरी के अनुपात का पता लग जाता है। जिन सिपाहियों ने अंग्रेज़ों का साथ दिया, उनमें सभी वर्णों के लोग थे; जिन्होंने उनसे युद्ध किया, उनमें भी सभी संप्रदायों और वर्णों के लोग थे।

सिपाही वर्ण-जाति के उतने कायल न थे जितना कि अंग्रेज़ों ने उन्हें साबित किया है। गांव से बाहर की दुनिया देखने और सेना के सामूहिक जीवन में भाग लेने के कारण उनका रूढ़िवाद वैसे ही कम हो जाता था। यदि वे उतने ही कट्टर वर्णवादी होते जितना कि अंग्रेज़ों ने उन्हें सिद्ध किया है तो मुसलमानों के साथ संयुक्त मोर्चा बनाना उनके लिये बहुत कठिन हो जाता। सन् ५७ से पचास वर्ष पहले १८०६ में पादरी मार्टिन ने एक सिपाही से मुलाकात का हाल लिखा है। वह उसे ईसाई धर्म में दीक्षित करने गया था। जाति-प्रथा के बारे में उसके विचार सुन-कर पादरी को लगा कि वह हिन्दू सिपाही मुसल्मानों की तरह बातें करता है। सिपाहियों की सामाजिक चेतना कैसे बदल रही थी, इसका अच्छा ज्ञान मार्टिन के वर्णन से होता है। "दोपहर में थोड़ी देर के लिये नाव रुकी तो मैं एक गाँव गया। एक भलेमानस दिखने वाले हिन्दू को हुक्का पीते देख कर मैं उसके पास बैठ गया। और कुछ लोग इकट्ठे हो गये। लेकिन वह बूढ़ा आदमी पहले सिपाही रह चुका था और अपनी मुहीमों के बारे में इतना बोल रहा था कि मैंने सोचा कि यदि इसे टोका नहीं और धर्म का विषय न छेड़ा तो कोई लाभ न होगा। अंग्रेज़ों के साथ बहुत रहने के कारण अधिकांश हिन्दुओं से उसके विचार अधिक उदार थे और वह मुसल्मानों की तरह बात करता था—कि ईश्वर के सामने सब एक ही जाति के हैं, एक दिन प्रलय होगी (day of judgment) और ईश्वर एक है। जब मैंने उसे ईसा मसीह की मृत्यु का रहस्य समझाने का प्रयत्न किया तो उसने इतना ही कहा, 'हां, वह आपका शास्त्र है।'

इसलिये इससे अधिक विफल प्रयत्न मैंने कभी नहीं किया।"[८२]

इससे कहीं वर्णदंभ की गंध आती है ? शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व की भावना है। आपके शास्त्र की बात आपके लिये ठीक है। ईश्वर एक है, उसके सामने सब एक ही बिरादरी के हैं। यह सिपाही बूढ़ा था और यह घटना १८०६ की है। इसका अर्थ यह है कि १८वीं सदी में ही सिपाहियों की सामाजिक चेतना बदल रही थी और काफी उदार थी। वास्तव में साम्प्रदायिक द्वेष फैलाने के साथ ऊँचनीच का भेदभाव तीव्र करने का श्रेय भी बहुत कुछ अंग्रेज़ों को है। जिस देश में जुलाहा पंडितों और मुल्लाओं को खुले-आम उल्टी-सीधी सुना सकता था, जहाँ चमार, नाई माली आदि सन्त बन गये हों, वहाँ वर्णदंभ और जातीय अहंकार के कारण एक विराट् विप्लव फूट पड़ा, यह अंग्रेज़ ही कह सकते थे और हिन्दुस्तान के कुछ बुद्धिजीवी ही उसे दोहरा सकते थे।

प्रिचार्ड और उसके साथी नसीराबाद से चलते हुए एक स्थान पर पहुँचे तो वहाँ के हिन्दू और मुसलमान कोई भी अपने बर्तनों में उन्हें पानी पिलाने को तैयार न था! हिन्दू ही नहीं मुसलमान भी! इस पर एक हिन्दू ने अपना बर्तन दे कर कहा, "अब जाति (caste) जैसी कोई चीज़ रही नहीं।"[८३] यदि उसे यह विश्वास होता कि अंग्रेज दूसरों की जाति बिगाड़ते हैं या उनके पानी पीने से उसका बर्तन सदा के लिये अपवित्र हो जायगा, तो न तो वह पानी पीने के लिये बर्तन देता, न यह कहता कि अब जाति जैसी कोई चीज़ रही नहीं है।

गरीबी के कारण वर्णदंभ वैसे भी कम हो रहा था। पाद्री मार्टिन ने बिहार में जिस ब्राह्मण को हल जोतते देखा था, उसने कहा था, अंग्रेज़ों ने देश ले लिया है, इसलिये हल जोतना पड़ता है। ब्राह्मणों में वह अकेला हल जोतने वाला किसान न था। स्लीमैन ने १८५७ से पहले, अवध के अंग्रेजी राज में बाकायदा मिलाये जाने के पहले लिखा था कि कनौजिये ब्राह्मण हलवाहों के बिना ही खुद हल जोत रहे थे। पूछने पर उन्होंने कहा कि हलवाहे रखने को पैसे नहीं हैं; हल पकड़ने से वे जात से बाहर न किये जाते थे।"[८४]

कलकत्ते के मेडिकल कालेज में हिन्दू विद्यार्थी शवों की चीरफाड़ करते थे। ट्रेवेलियन ने १८३८ में लिखा था कि पंडितों ने बड़े लचीले पन से घोषित कर दिया था कि औषध-विज्ञान के लिये मानव-शरीरों की

शल्यक्रिया शास्त्र-वर्जित नहीं है। [८५] जहाँ-जहाँ रेल बनी थी, वहाँ लोग जाति जाने का विचार न करके स्वच्छंदता-पूर्वक यात्रा करते थे, इसका उल्लेख पहले किया जा चुका है। जनसाधारण को जाति खोने का उतना भय नहीं था जितना अंग्रेजों ने रेलों को विद्रोह का कारण (!) बता कर विज्ञापित किया है। विद्रोह के एक नेता अजीमुल्ला भी थे। क्राइमिया के युद्ध में संवाददाता रसेल ने उन्हें खाने पर बुलाया। इस पर अज़ीमुल्ला ने मज़ाक करते हुए कहा, शुक्रिया, लेकिन खयाल कीजिये मैं पक्का मुसलमान हूँ। जब रसेल ने उन्हें याद दिलाया कि वह एक होटल में भोजन कर रहे थे, तब अज़ीमुल्ला ने कहा, "हाँ, हाँ, मैं मज़ाक कर रहा था। मै बेवक़ूफ नहीं हूँ कि इन दकियानूसी बातों को मानूं। मेरा कोई मज़हब नहीं है।" ("I am of no religion".)[८६] अज़ीमुल्ला के साथी नाना साहब के बारे में उनसे सुपरिचित अंग्रेज जौन लैंग ने लिखा था, "धर्म के मामलों में वह कट्टरता से बहुत दूर मालूम होते थे।" वह इतवार को अंग्रेज सैनिकों के साथ गिरजाघर गये थे। उनके यहां अंग्रेज अफ्सर खाना खाने आते थे और लैंग के अनुसार "यद्यपि महाराज स्वयं पक्के हिन्दू थे, फिर भी उनमें दुराग्रह (prejudice) न था। यदि अन्य प्रकार के मांस के बदले मुझे गोमांस (beef) पसंद हो तो मुझे आर्डर देने की ही देर रहती थी।"[८७] इससे कम के कम इतना तो स्पष्ट है कि नाना साहब या अजीमुल्ला धर्म या जातिप्रथा की रक्षा के लिये ईसाई स्त्रियों और बच्चों का वध करने वाले लोग न थे। अंग्रेजों द्वारा प्रचारित धारणा कि जातिगत अहंकार अथवा वर्ण-दंभ के कारण विद्रोह हुआ, मिथ्या प्रवाद-मात्र है।

संघर्ष में भाग लेने वाले सैनिक, किसान और अनेक सामन्तवर्ग के लोग राजनीतिक और आर्थिक कारणों से युद्ध कर रहे थे, यह उनके अनेक घोषणा-पत्रों से ही स्पष्ट है। विक्टोरिया के घोषणा-पत्र का खंडन करते हुए बेगम हज़रत महल की ओर से जो घोषणा-पत्र प्रकाशित हुआ था, उसमें हिन्दुस्तान की राजनीतिक स्वाधीनता, उसकी अक्षुण्ण सार्वभौम सत्ता का उल्लेख इस प्रकार किया गया था। "घोषणा-पत्र में लिखा है, कंपनी ने जो समझौते और वादे किये हैं, उन सब को रानी मान लेगी। लोगों को चाहिये कि इस चालाकी पर गौर करें। कंपनी ने सारा हिन्दुस्तान हथिया लिया है और अगर यह बन्दोबस्त

मान लिया जाय तो उसमें नयी बात क्या है ?" इस घोषणा-पत्र में जनता को याद दिलाया गया है कि अंग्रेजों ने कितने राजाओं के साथ विश्वासघात किया है और कितनों से वादे तोड़े हैं। अंग्रेजों की यह देश को हड़पने की विश्वासघाती नीति विद्रोह का राजनीतिक कारण थी। इसमें अंग्रेजों को चुनौती दी गई है कि जब तक वे फौज और जनता को सजा देने की बात कहेंगे, तब तक संघर्ष चलता रहेगा। 'मरता क्या न करता', यह कहावत उद्धृत करने के बाद अंग्रेजों को यहाँ के जनबल की याद दिलाई गई है : अगर हज़ार आदमी करोड़ों से लड़ेंगे तो बच कर कभी न निकल पायेंगे।

इसके बाद घोषणापत्र में अंग्रेजों के धार्मिक सहिष्णुता के वादे और उनके धर्म-प्रचार की खिल्ली उड़ाई गई है और लोगों से धर्म के लिये लड़ने को कहा गया है। हिन्दुस्तानी और अंग्रेज शासकों की तुलना करते हुए एक की दयालुता और दूसरे की क्रूरता का अन्तर दिखाया गया है। अन्त में अंग्रेजों के इस वादे का उल्लेख है कि शान्ति स्थापित होने पर सड़कें और नहरें बनवाई जायँगी। इस पर व्यंग्यपूर्ण टिप्पणी है : "जरा सोचने की बात है कि उन्होंने हिन्दुस्तानियों के लिये सड़कें बनाने और नहरें खोदने से बढ़कर दूसरे काम का वादा नहीं किया।"

अंग्रेज़ी राज में जनता के हर वर्ग का शोषण हुआ था। इन वर्गों को याद दिलाया गया था कि अंग्रेज़ी राज में उनकी क्या गति हुई थी और इस तरह उन्हें संघर्ष में भाग लेने के लिये आमंत्रित किया गया था। यहाँ का शासन सामन्त-वर्ग के हाथ में रह चुका था; इस वर्ग में से एक हिस्से ने अंग्रेज़ों का साथ दिया। एक हिस्से ने जनता के साथ अंग्रेज़ों का विरोध किया। बहुत से व्यापारियों और महाजनों की सहानुभूति क्रान्तिकारी पक्ष के साथ थी। अंग्रेज़ों को शिकायत थी कि पंजाब में उन्हें सामन्तों से तो सहायता मिल रही थी, लेकिन उन्होंने जब छः रुपये सैकड़ा ब्याज पर ऋण की माँग की तो व्यापारियों और धनी महाजनों ने कम से कम पैसा दिया।[८१] शेरर ने कालिंजर में देखा था कि महाजन अपने सिपाहियों की परेड करा रहे हैं जिससे अंग्रेज़ों को मालूम हो जाय कि उनकी सत्ता छिन गई है। मैसूर में अंग्रेजों द्वारा गिरफ्तार किये जाने वाले एक कार्यकर्त्ता के अनुसार लखनऊ के साहूकार नाना

साहब का समर्थन कर रहे थे।[९०] पटना के धनी महाजन लुत्फ अली पर कमिश्नर को संदेह था कि अंग्रेज़-विरोधी कार्यवाही के लिये उन्हीं से पैसा मिलता है लेकिन सबूत न मिलने से टेलर को उन्हें छोड़ देना पड़ा।[९१] अंग्रेज़ों ने जिस तरह शहरों को लूटा था, उससे यह स्वाभाविक था कि साधारणतः व्यापारी वर्ग की सहानुभूति क्रान्तिकारी पक्ष की ओर हो। वैसे सामन्त वर्ग की तरह यहाँ भी अनेक महाजनों ने अंग्रेज़ों का साथ दिया। क्रान्तिकारी शिविर में सबसे अधिक सताया हुआ, क्रान्ति में आगे बढ़कर हिस्सा लेने वाला और सेना की सबसे अधिक सहायता करने वाला वर्ग किसानों का था। किसानों और सिपाहियों का स्वाभाविक भाईचारा था। सिपाही किसान ही थे जो फौज में नौकरी करके घर वालों की सहायता करते थे। गाँव से उनका गहरा नाता था। वे अपनी सैनिक मांगों के अलावा गाँवों के किसानों की कठिनाइयों से भी अच्छी तरह परिचित थे। इसीलिये यदि वे दिल्ली में अपील निकालते थे कि सरकार को मालगुजारी न दी जाय तो उस पर अमल उनके गाँवों में भी होता था। होल्म्स ने विद्रोह-सम्बन्धी अपनी पुस्तक में स्वीकार किया है कि अंग्रेज़ी राज के खात्मे की बात सुनकर किसान प्रसन्न थे क्योंकि वे सरकार को टैक्स वसूल करने की एक जंगी मशीन समझते थे।[९२] चर्बी लगे कार्तूसों अथवा ईसाइयत के प्रचार की समस्या से इन किसानों को कोई सरोकार न था। उनका संबन्ध अंग्रेज़ी न्याय-व्यवस्था और कर-व्यवस्था से था और कचहरियों, थानों, जेलों पर आक्रमण करके उन्होंने अपने असन्तोष का बहुत ठोस प्रमाण भी दे दिया। मैलीसन ने अंग्रेज़ी भूमि-व्यवस्था को विद्रोह का प्रमुख कारण माना है। टौमासन नाम के अधिकारी ने ताल्लुकदारों के अधिकारों को खत्म करने पर विशेष ज़ोर दिया था। टौमासन की व्यवस्था के बारे में अन्य अंग्रेज़ों के मत की भी चर्चा करते हुए मैलीसन ने लिखा है, "मैंने बहुत से प्रभावशाली भारतीय सज्जनों और इस विषय से संबन्धित अंग्रेज अधिकारियों के मुँह से यह सुना है कि जिस आपत्तिजनक कार्य से क्षोभ उत्पन्न हुआ था, वह टौमासन की व्यवस्था की कठोर शुरूआत और उससे भी कठोर ढँग से उसे अमल में लाना था। और यह एक अविवादास्पद तथ्य है कि भारत में वहाँ सबसे अधिक क्षोभ था और यूरोपियनों के विरुद्ध सबसे अधिक घृणा प्रकट हुई थी जहाँ यह व्यवस्था

अमल में लाई गई थी।"[९३] टौमासन की भूमि-व्यवस्था का धर्म से कोई सम्बन्ध न था। मैलीसन जैसे लोगों ने विद्रोह के आर्थिक कारणों को स्वीकार किया है। किन्तु विद्रोह का मूल कारण ताल्लुकदारों के अधिकारों का अपहरण न था। अंग्रेज़ों ने किसानों के अधिकारों का भी अपहरण किया था। उनके अनादिकाल से चले आते भूमिगत अधिकारों को उन्होंने पैरों तले रौंदा था और उन पर असह्य टैक्स लाद दिये थे। इसलिये बिहार, अवध, रुहेलखण्ड, सुदूर उत्तर में सीमान्त प्रदेश, दक्षिण में बिलारी का जिला—सर्वत्र हम किसानों के असन्तोष का उभार देखते हैं और वे अंग्रेज़ों को मालगुजारी, टैक्स वगैरह देना बंद कर देते हैं। टौमासन ही नहीं, सारी अंग्रेज़ी व्यवस्था विद्रोह के लिये जिम्मेदार थी और उसके निर्मम शोषण से सबसे अधिक कष्ट किसानों को था।

अंग्रेज़ों ने यहाँ के विशाल प्रदेश उजाड़ दिये थे। बड़े-बड़े नगर अपना वैभव खो चुके थे। यहाँ के उद्योग-धन्धे चौपट हो गये थे। लोगों को न पेट भर अन्न मिलता था, न तन ढकने को वस्त्र। अंग्रेज़ शासक अपने यहाँ की जनता को समझाते थे कि विलायती कपड़े की बिक्री बढ़ रही है। लोगों के पास पैसा नहीं है तो खरीदता कौन है? खरीदने वाले यहाँ के अंग्रेज़, उनके पास मँडराने वाले कुछ हिन्दुस्तानी और शहरों के कुछ लोग थे। हेनरी मीड ने "सिपाही-विद्रोह" में मद्रास के बारे में एक बड़े पते की बात लिखी है। "देशी उद्योगधन्धों वाले लोग तबाह हो गये हैं और उसी के अनुपात से विदेशी वस्तुओं की खपत नहीं बढ़ी।" यह स्थिति मद्रास की ही नहीं, उत्तर भारत की भी थी। अंग्रेज़ इतिहासकार इंगलैण्ड में औद्योगिक क्रान्ति का हवाला देकर, अपने विकास की डींग हाँक कर यहाँ के अर्थतन्त्र में नये परिवर्तनों की बात करते थे। अवश्य उनके यहाँ औद्योगिक क्रान्ति हुई थी लेकिन १८१५ तक मशीनों से केवल मोटे किस्म का कपड़ा तैयार होता था। नफीस कपड़ा तैयार करने का काम अब भी दस्तकारों के हाथ में था। १८४० तक और उसके बाद भी ये दस्तकार अपना संघर्ष चलाते रहे, विशेषकर ऊनी कपड़ों के क्षेत्र में।[९४] जो लोग अपने घर में औद्योगिक क्रान्ति पूरी न कर पाये थे, जिनके यहाँ मशीनों का काम ज्यादातर मोटा कपड़ा तैयार करना था, वे मलमल और कमखाब के देश में ध्वंस के अलावा रचना-

त्मक कार्य क्या कर सकते थे ? उद्योगपति, कारीगर, व्यापारी, सामंत, किसान, नौकरी पेशा लोग सभी अंग्रेज़ी राज से परेशान थे। इन सभी वर्गों का न्यूनाधिक समर्थन क्रान्तिकारी पक्ष को प्राप्त था।

के ने लिखा है कि मई १८५७ में बनारस में आटेदाल का भाव अकाल पड़ने के समय का सा था। अंग्रेज़ अधिकारियों ने जाकर बाजार में चीजों के दाम सस्ते कराये।[१५] इस महँगाई का कारण क्या था ? लोग हमेशा यह समझते थे कि महँगाई अंग्रेज़ों के कारण बढ़ रही है।[१६] के ने धार्मिक अन्धविश्वासों पर बहुत जोर दिया है और उन्हें विद्रोह का कारण माना है। लेकिन उसी के अनुसार महँगाई बढ़ रही थी; जन-जीवन कष्ट में था और जनता में यह चेतना भी थी कि इस महँगाई का कारण अंग्रेज़ हैं। जनता की दैनिक आवश्यकताओं की पूर्ति में कठिनाई—विद्रोह के इस व्यापक आर्थिक कारण से इन्कार नहीं किया जा सकता।

अंग्रेज़ सिपाहियों से इसलिये नाराज थे कि नमक खा कर उन्होंने दगा की थी ! सिपाहियों से ज्यादा अंग्रेज़ों ने हिन्दुस्तान का नमक खाया था, और नमक के साथ वे यहाँ की अपार संपदा भी डकार गये थे। जो बची, उसे १८५७-५८ में लूट कर उन्होंने कम से कम हिन्दी-भाषी प्रदेश को तबाह कर दिया। सिपाहियों के अलावा उन्हें अन्य सरकारी कर्मचारियों का व्यवहार समझ में न आता था जिन्हें चर्बी लगे कातूसों से कोई भय न था, फिर भी जो बहुत जगह उनका साथ छोड़ कर विद्रोहियों से जा मिले थे। पँजाब के हिन्दुस्तानी अमलों को वे निकाल ही रहे थे। फतहपुर में डिप्टी मजिस्ट्रेट हिकमतुल्ला ने विद्रोह का नेतृत्व किया था। रेक्स ने उत्तर-पश्चिमी प्रान्त के ऊँची तनखाह पाने वाले कर्मचारियों के लिये लिखा है कि अंग्रेज़ों का साथ छोड़कर वे शत्रु से जा मिले।[१७] पचीसों जगह पुलिस और जेल के रक्षकों ने विद्रोही जनता और सिपाहियों का साथ दिया। इससे क्रान्ति के व्यापक आधार का अनुमान किया जा सकता है। अंग्रेजों को न पुलिस का सहारा था, न अपने राजकर्मचारियों का। उन्हे सहारा था केवल विश्वासघाती सामन्तों का, कश्मीर, राजस्थान, नेपाल के राजाओं का, अवध और विहार में बलरामपुर और डुमराँव जैसी रियासतों का। भारत के सुदूर पूर्व और सूदूर दक्षिण

में अपनी सत्ता अक्षुण्ण बनाये रखकर, वहाँ के साधनों का उपयोग करके, विलायत से धन और सेना की सहायता प्राप्त करके वे इस जन-क्रान्ति को घेरने और उसके अग्रदल को अवध, बिहार और रुहेलखंड से निकालने में समर्थ हुए।

विद्रोह के संगठन के सिलसिले में रोटी और कमल के वितरण की बात कही जाती है। विद्रोह की गति विषम थी, कहीं जल्दी फूटा, कहीं देर में; कहीं उसका घनत्व और वेग अधिक था, कहीं कम था। वह एक षड़यंत्र न होकर आन्दोलन था। सिपाहियों और अन्य नागरिकों ने प्रचार और संगठन में निःसन्देह भाग लिया। उनके प्रचार का एक रूप इश्तहार चिपकाना और घोषणाएँ करना था। इसके सिवा अनेक स्थानों में फकीरों के जाने और उनके पकड़े जाने का उल्लेख भी मिलता है। प्रचार और संगठन का यह कार्य बराबर चलता रहा, जैसा कि किसी भी आन्दोलन में होना अनिवार्य है। अंग्रेज़ लेखकों ने यह दिखाने का प्रयत्न किया है कि विद्रोह एक संगठित आन्दोलन न था, वह अलग-अलग फूट पड़ने वाले संघर्षों का एक समूह था। आरंभ में विद्रोही सेनाएं दिल्ली भले चली हों लेकिन दिल्ली के बाद सारा संघर्ष विशृंखल नहीं हो गया। वे कोई शृंखला ढूँढ़ते भी हैं तो वह यह होती है कि अवध-दरबार के लोग कलकत्ते जाकर षड़यन्त्र कर रहे थे।

विद्रोह के संगठन के अनेक सूत्र थे। पहला सूत्र सिपाहियों के परस्पर संगठन का था। दूसरा सिपाहियों और किसानों के संगठन का था। तीसरा वहाबियों द्वारा उत्तर, पूर्व और दक्षिण में संगठन का प्रयत्न था। चौथा नाना साहब आदि द्वारा अपने प्रदेश के बाहर दूतों द्वारा संगठन का प्रयत्न तथा विद्रोह के अनेक प्रमुख नेताओं द्वारा परस्पर संपर्क और सहयोग था।

२१ मई १८५७ को पंजाब के चीफ़ कमिश्नर जौन लारेन्स ने प्रधान सेनापति ऐनसन को लिखा था, "याद रखिये कि इस सारे समय जब हम रुके हुए हैं, विद्रोहियों [अर्थात् सिपाहियों] के दूत हर छावनी को चिट्ठियाँ लिख रहे हैं और उनमें पहुँच रहे हैं।"[१८] दूत भेजना, चिट्ठियाँ लिखना, विभिन्न छावनियों में संपर्क कायम करना—सिपाहियों के संगठन का तरीका यह था।

बनारस से ज्वाइंट मजिस्ट्रेट ने इसी महीने रिपोर्ट दी थीः "हिन्दु-

स्तान में यह शहर हमेशा बहुत सरकश रहा है। गरीब आदमियों पर अनाज की मुसीबत से जो कठिनाई आ पड़ी है, उससे खतरा और भी बढ़ गया है। पुरबिये सिपाही लगभग मार्च से ही बेचेनी प्रकट कर रहे थे। अब उन्होंने खुल्लमखुल्ला अपने देवताओं से प्रार्थना की है कि उन्हें फिरंगियों से मुक्त करें। आपस में मिल-जुलकर उन्होंने खबर लाने के लिये पच्छिम की ओर दूत भेजे हैं। और अन्त में उन्होंने अपने गुरु को बाहर भेज दिया है जिससे कि, उनका कहना है, आने वाली उथल-पुथल में उन्हें कोई कष्ट न हो।"[९९]

यहाँ भी षड़यंत्र नहीं है। खुल्लमखुल्ला वे देवताओं से प्रार्थना करते हैं कि फिरंगियों से मुक्ति मिले। शहर में महँगाई है। गरीबों के लिये खास तौर से कठिनाई है। अधिकारी समझते हैं कि शहर के ये गरीब सिपाहियों से मिल जायँगे। खतरा और बढ़ गया है। सबसे महत्वपूर्ण बात यह कि बनारस के सिपाहियों ने पच्छिम की ओर समाचार प्राप्त करने के लिये अपने दूत भेजे हैं। वे जल्दबाजी में अलग-थलग कोई काम नहीं करना चाहते। इसलिये दूसरे स्थानों की सेनाओं से संपर्क कायम करने का प्रयत्न कर रहे हैं।

सेना और जन-शिविर के अन्य अंगों के परस्पर संपर्क का प्रमाण स्यालकोट के विद्रोह के सिलसिले में मिलता है। स्यालकोट में यह खबर पहुँच गई थी कि झेलम की सेना ने विद्रोह कर दिया है। इस कारण सिपाहियों में काफी चहलपहल थी। "और उस शाम को [८ जुलाई १८५७] दिल्ली से एक दूत यह बुलावा लेकर आया था कि सेना चले और शाही फौज में शामिल हो जाय। इसलिये और भी परेशानी थी।"[१००] पंजाब की सेनाओं में ही परस्पर संपर्क नहीं था, पंजाब की सेनाओं और दिल्ली में भी संपर्क स्थापित था।

सुदूर पूर्व में जलपाईगुड़ी की छावनी में अंग्रेजों के विवरण के अनुसार मेरठ और लखनऊ के आदमी फकीरों के वेश में सिपाहियों से संपर्क स्थापित करते और उन्हें उकसाते दिखाई दिये।[१०]

मेरठ से ३६ वीं पल्टन और लखनऊ से ६१ वीं पल्टन जालन्धर भेजी गई थीं। अंग्रेजों को विश्वास था कि मेरठ और लखनऊ के वातावरण के विद्रोही कीटाणु जालन्धर में न होंगे। इसलिये फौज वहाँ भेजी गई थीं लेकिन उन्हें सन्देह था कि उन्होंने बहरामपुर और बैरक-

पुर में ख्याति प्राप्त करने वाली १६ वीं और ३४ वीं पल्टन से अपना संपर्क कायम रखा है।[101] इससे सेनाओं के परस्पर संपर्क कायम रखने का अनुमान किया जा सकता है।

सेना से भिन्न अन्य नागरिकों की संगठनात्मक कार्यवाही की एक मिसाल यह है। होल्म्स ने अपने विद्रोह के इतिहास में लिखा है, "जून के अन्त में हिन्दुस्तानियों का एक दल जो सीमान्त के एक उपद्रवी सामन्त के दूतों का दल था, चुपके से पेशावर घाटी में आ गया। उसने गाँव वालों से मालगुजारी देना बंद करने के लिये कहा। विद्रोह की यह चिनगारी बुझा दी गई। लेकिन अब दिल्ली से विशेष दूत आकर नसारा के पतन की घोषणाएं निरन्तर कर रहे थे।"[103] इससे प्रमाणित होता है कि सीमान्त प्रदेश की कार्यवाही अलग-थलग संघर्ष न थी। लगानबंदी से लेकर फौजी टक्कर तक सारे सूत्र दिल्ली से जुड़े हुए थे।

मद्रास में फौज को अपनी ओर करने के लिये जो प्रयत्न किये गये, उनका उल्लेख कौलिन कैम्पबेल और ह्यू रोज़ की जीवनियों के लेखक सर ओवेन ट्यूडर-बर्न ने किया है: "सेना छोड़कर जाने वाले सिपाही और राज्यद्रोही दूत बड़ी संख्या में प्रेसीडेन्सी [मद्रास] पहुँचे। उनका उद्देश्य सिपाहियों को उकसाना और सरकार के विरुद्ध बगावत कराना था।"[104] उत्तर भारत से सिपाही तथा अन्य लोग मद्रास गये; उत्तर भारत से ही लोग सीमान्त प्रदेश पहुँचे थे। मेरठ और लखनऊ के लोग जलपाईगुड़ी पहुँचे थे। इससे जिस विशाल अखिल भारतीय पैमाने पर विद्रोह के संगठन की योजना की गई थी, उसकी कल्पना की जा सकती है। दूर-दूर के प्रान्तों में संपर्क स्थापित करके, जनता और सैनिकों को क्रान्तिकारी आन्दोलन में खींचने का प्रयत्न करने वाले इन सिपाहियों और नागरिकों ने युद्ध-क्षेत्र में लड़ने वालों से कम वीरता नहीं दिखाई। १८५७ में यातायात के साधन अब से बहुत भिन्न थे। उन्हें इतनी दूर यात्रा करके छिपकर छावनियों में पहुँचने अथवा गाँवों में प्रचार करने में अनगिनत कठिनाइयों का सामना करना पड़ा होगा। अंग्रेज़ अधिकारियों ने छावनियों के पास फकीरों आदि के वेश में जिसको जरा भी सन्दिग्ध अवस्था में पाया, उसे फाँसी पर लटका दिया। उनकी जान गई, इतिहासकारों के लिये अखिल

भारतीयता का नाटक अधूरा ही रह गया।

नेपियर के नीचे सेना में कार्य करने वाले एक अंग्रेज ने बंगाल सेना के विद्रोह पर अपनी पुस्तक में लिखा है कि बैरकपुर के सिपाहियों ने स्यालकोट के सैनिकों के नाम पत्र लिखे थे जिसमें उन्हें विद्रोह करने का निर्देश था।[१०५]

बिहार और अवध में क्रान्ति के संगठन के सम्बन्ध में श्री कालीकिंकर दत्त ने लिखा है कि मुजफ्फरपुर में वारिसअली के पास जो पत्र मिले थे, वे सब बिहार के नेता अली करीम के लिखे हुए थे। पीर अली के घर में जो पत्र मिले थे, वे लखनऊ के पुस्तक-विक्रेता मसीहुज्ज़मां के लिखे हुए थे। इन पत्रों से अवध और बिहार का संपर्क और अंग्रेजों के विरुद्ध दानों की संयुक्त कार्यवाही का परिचय मिलता है।[१०६]

विद्रोह के संगठन में वहाबियों ने महत्वपूर्ण कार्य किया था। उनकी कार्यवाही का एक केन्द्र पटना था। पटना से पेशावर की ६४ वीं पल्टन के नाम पत्र भेजे गये थे जो अंग्रेज़ों के हाथ आ गये थे। ६४ वीं पल्टन से विद्रोह करने के लिये तो कहा ही गया था; उसके माध्यम से पटना वालों ने स्वात और सिताना के हिन्दुस्तानियों से भी संपर्क कायम कर रखा था।[१०७] इधर दक्षिण में पूना के वहाबी मौलवी ने दक्षिण महाराष्ट्र में अपने शिष्यों के नाम पत्र लिखे थें जिनमें विद्रोह की चर्चा थी।[१०८] उत्तर, पूर्व और दक्षिण तक विद्रोह के सूत्रों को मिलाने में वहाबियों का महत्वपूर्ण काम इन दो उदाहरणों से ही समझा जा सकता है।

विभिन्न स्थानों में बहादुरशाह के बादशाह होने की घोषणा और नये शासकों का अपने को बहादुरशाह के प्रभुत्व के नीचे रखना विस्तृत संगठन का प्रमाण है।

मेरठ में जब विद्रोह शुरू हुआ, तब दिल्ली जाने की योजना निश्चय ही पहले बन चुकी थी। उनके दिल्ली पहुँचने के बारे में मिर्ज़ा ग़ालिब ने लिखा था, "फसील के पहरेदारों ने उनका स्वागत किया और शहर के दरवाज़े उनके लिये खोल दिये। शायद पहले से ही इस बारे में दोनों तरफ से बातचीत हो चुकी होगी। आने वाले बाग़ियों ने जब शहर के दरवाजों को खुला और पहरेदारों को स्वागत के लिये तैयार देखा, तो दीवानों की तरह हर तरफ दौड़ पड़े।"[१०९] नेपियर के नीचे काम करने

वाले अंग्रेज़ ने भी "बंगाल सेना के विद्रोह" में यह विश्वास प्रकट किया है कि मेरठ से दिल्ली को दूत यह कहने भेजे गये थे कि वहाँ वाले ११ या १२ मई को तैयार रहें।[११०] सिपाहियों के परस्पर संपर्क के जो उदाहरण ऊपर दिये गये हैं, उन्हें ध्यान में रखें तो दिल्ली और मेरठ जैसी दो नज़दीक जगहों में उनका संपर्क न होना और अचानक सारी कार्यवाही कर बैठना बड़े आश्चर्य की बात होगी। दिल्ली-मेरठ की घटनाओं का विश्लेषण करने पर भी हर आदमी इस नतीजे पर पहुँचेगा कि सारी बातें पहले से आयोजित थीं।

दिल्ली और मेरठ में योजनाबद्ध रीति से कार्यवाही हुई। क्या लखनऊ और कानपुर में भी १० मई से पहले विद्रोह की कोई तैयारी थी? इस सम्बन्ध में अपने इतिहास के पहले भाग में के ने रसेल की डायरी से कुछ महत्वपूर्ण अंश उद्धृत किये हैं और यह संकेत भी किया है कि नाना साहब और अज़ीमुल्ला पहले से विद्रोह की तैयारी कर रहे थे और उनका संपर्क लखनऊ के लोगों से भी था। क्राइमिया के युद्ध में रूसियों की गोलाबारी में अज़ीमुल्ला की दिलचस्पी का स्मरण करके रसेल ने लिखा था, "अब क्या यह विचित्र बात नहीं है कि उसने खुद अपनी आँखों से देखना चाहा था कि क्राइमिया के युद्ध में क्या हो रहा है?" एशिया का कोई आदमी जो गैर-फौजी पेशे का हो, उसके लिये इस तरह की दिलचस्पी, रसेल के अनुसार-विचित्र ही थी। उस समय क्राइमिया में अंग्रेजी फौज की हालत पतली थी। उससे अंग्रेजों की वीरता और समरकौशल का अनुमान लगा कर अजीमुल्ला भारत लौटे और यहाँ आने के बाद शीघ्र ही वह नाना साहब के साथ लखनऊ गये। वहाँ उनके व्यवहार में गोरों को अपने प्रति कुछ असम्मान का भाव दिखाई दिया। "इसके बाद दोनों योग्य मित्र यात्रा का बहाना करके पहाड़ों पर गये। एक हिन्दू और एक मुसलमान – दोनों ने तीर्थयात्रा की! मुख्य ट्रंक रोड के किनारे वे सभी छावनियों में गये और अम्बाला तक पहुँचे। लोगों ने कहा है कि शिमला जाने में उनका उद्देश्य वहाँ की गुरखा-पल्टन को उकसाना था।" इसके बाद रसेल ने लिखा है कि अंबाला में जो पल्टन छावनी में थी, उससे वे संपर्क स्थापित न कर पाये। ठंढ का बहाना करके उन्होंने अपनी यात्रा स्थगित करदी।

इस पर के ने लिखा है कि १८५७ की वसंत ऋतु में नाना साहब के अम्बाला जाने की बात नथी है, अजीमुल्ला वहां निःसन्देह थे। वहां कैप्टेन मार्टिनो (Martineau) नाम का अफसर था जिससे जहाज़ पर अजीमुल्ला पहले मिल चुके थे। मार्टिनो अजीमुल्ला से अम्बाला में मिला था लेकिन उसे नाना साहब का पता न था।

मार्टिनों द्वारा इस बात की पुष्टि कि अजीमुल्ला अम्बाला में थे, रसेल की इस धारणा को सत्य प्रमाणित करती है कि नाना साहब और अजीमुल्ला सिपाहियों से संपर्क स्थापित करके और विद्रोह का संगठन करने के सिलसिले में ही अम्बाला की ओर गये थे। मेरठ में वेश्याओं के गाने सुनकर कुछ सिपाहियों ने बगावत करदी, फिर दिल्ली जैसे नगर पर एक घंटे में अधिकार भी कर लिया, फिर जगह-जगह सिपाहियों की गलतफहमी से विद्रोह होने लगे और शहरों, गावों तक में "खल्क खुदा का, मुल्क बादशाह का" की डुग्गी भी बिना किसी योजना के पिट गई—यह चंडूखाने की गप यदि मनुष्य की सहज बुद्धि से खंडित न हो तो ऊपर दिये हुए रसेल के बयान से खंडित हो जानी चाहिये।

बिहार में पीर अली और वारिस अली के पास जो पत्र मिले थे, उनसे भी यही सिद्ध होता है कि विद्रोह की तैयारी पहले से हो रही थी और अवध तथा बिहार से सम्पर्क कायम था।

मेजर गौर्डन को नाना साहब के पत्र और घोषणा पत्र मिले थे[111] जिनसे युद्ध के सगठन, उसके संचालन मे नाना साहब की महत्वपूर्ण भूमिका और विद्रोह के नेताओं के परस्पर संपर्क का पता चलता है। कानपुर के कोतवाल हुलास सिंह के नाम २४ जून १८५७ के आदेश में नाना साहब ने लिखा था कि जिसने रेलवे के अफसरों और अंग्रेज़ों की संपत्ति लूटी हो, वह उसे चार दिन में प्रस्तुत करे; न करेगा तो उसे दंड दिया जायगा। सीतापुर की ४१ वीं पल्टन के अफसर रघुनाथसिंह, भवानीसिंह आदि तथा सिकन्दरा की घुड़सवार पल्टन के नायब रिसालदार वहीद अलीखां की अर्जियों को स्वीकार करते हुए उनकी वीरता पर प्रसन्नता प्रकट की गई थी और उन्हें अपनी सेना में लेने का वादा किया गया था। इस पत्र में हिन्दू मुस्लिम एकता पर बल देते हुए लिखा था, "यह ध्यान रखो कि जनता में दोनों धर्मों के लोग हैं। उन्हें सताना या किसी तरह तकलीफ न पहुँचाना चाहिये। उनकी रक्षा

करने का ध्यान रखना।" ३ जुलाई १८५७ के पत्र में डौंडियाखेरे के रामबख्श सिंह की सहायता करने का वचन दिया गया है। ५ जुलाई १८५७ को हुलास सिंह के नाम पत्र में जनता को आश्वासन दिया गया है कि वह शहर छोड़ कर न जाय, इलाहाबाद से जो अंग्रेज़ी फौज आ रही है, उसे दंड दिया जायगा।

७ जुलाई १८५७ के पत्र में सेना के अफसरों और सिपाहियों को आश्वासन दिया गया है कि उन्हें रसद पहुँचाई जायगी। जिस समय अंग्रेजी सेना कानपुर के निकट पहुँच रही थी, उस समय १६ जुलाई को नाना साहब ने लखनऊ की सेना को पत्र लिखा था कि वह कुछ पल्टनें उसे रोकने के लिये बैसवाड़ा भेजे। कानपुर की ओर से स्वयं अंग्रेजों को दबाने का वादा किया था। यह भी लिखा था कि यदि उनका नाश न किया गया तो वे दिल्ली की ओर बढ़ते जायँगे। "हमें कोताही किये बिना मिलकर उनकी जड़ काट देनी चाहिये।"

इन पत्रों से सिद्ध होता है कि नाना साहब की निगाह कानपुर के अलावा दिल्ली और लखनऊ पर भी थी। वह अलग-थलग युद्ध न कर रहे थे वरन् कानपुर को एक विशाल संग्राम का मोर्चा समझ कर वहाँ युद्ध का संचालन कर रहे थे। बैसवाड़े से रामबख्शसिंह और सीतापुर की पल्टन से उनका संपर्क विद्रोहियों की संबद्ध कार्यवाही का सूचक है। हिन्दू मुस्लिम एकता पर बल और लूटने वालों को दंड देने की घोषणा युद्ध को अनुशासन सहित जनता के हित में चलाने का प्रमाण है।

अगस्त १९५७ के "उत्तर प्रदेश" में श्री ऐस० के० श्रीवास्तव का एक लेख प्रकाशित हुआ है जिसमें राना बेनी माधो सिंह के दो पत्र उद्धृत किये गये है। पहला पत्र १७ मई १८५८ को मौलवी अहमदुल्ला शाह के नाम लिखा गया था। इसमें घाटमपुर के बिन्दाबन का जिक्र है जो अंग्रेजों का साथ दे रहा था। उससे जुर्माना वसूल करने की बात है। इसमें अंग्रेजों से निकट भविष्य में होने वाले युद्ध की चर्चा है और मौलवी साहब से कहा गया है कि वह लखनऊ पर अधिकार करलें। पत्र में अंग्रेज़ों का साथ देने वाले खजुरगाँव के रघुनाथसिंह का भी उल्लेख है।

मौलवी अहमदुल्ला शाह और राना बेनीमाधोसिंह का परस्पर सम्पर्क, अंग्रेज़ों का साथ देने वालों के प्रति सतर्कता का व्यवहार और

उन्हें दंड देने की व्यवस्था, बैसवाड़े में युद्ध से लाभ उठा कर मौलवी साहब को लखनऊ पर हमला करने के लिये कहना और इस तरह अंग्रेज़ों को दो मोर्चों पर अटकाने की योजना—ये सब तथ्य इस पत्र से प्रकट होते हैं। इनसे बेनीमाधो सिंह कुशल सेनापति के रूप में हमारे सामने आते हैं।

दूसरा पत्र पेशवा बाला राव के नाम है। इसमें लिखा गया है कि राव साहब का आदमी तो पहुँच गया था लेकिन उनका जो पत्र ला-रहा था, वह खो गया है। उन्हें सूचित किया गया है कि बेगम हज़रत-महल बहराइच की ओर गई हैं और वहाँ सेना एकत्र कर रही हैं। राना को आज्ञा मिली है कि वह अंग्रेज़ों से लड़ने के लिये बैसवाड़े में तैयार रहें। राना ने जैसे मौलवी साहब को लिखा था कि वे लखनऊ पर आक्रमण करें, वैसे ही उन्होंने पेशवा बाला राव को लिखा कि वह अपनी जगह कोशिश करें तो सफल हो सकते हैं।

यह पत्र बहुत महत्वपूर्ण है। इसमें बेगम हज़रत महल, पेशवा बाला राव और राना बेनी माधोसिंह के परस्पर संपर्क का प्रमाण मिलता है। इससे यह भी सिद्ध होता है कि बैसवाड़े में राना का युद्ध कोई अलग-थलग संघर्ष न था। वहाँ युद्ध करने के लिये उन्हें अवध के प्रतिरोध-केन्द्र से ही आज्ञा मिली थी। इस पत्र से मालूम होता है कि विद्रोह के विभिन्न नेता संपर्क बनाये हुए थे और इस तरह युद्ध-संचालन कर रहे थे कि अंग्रेज़ों को कई जगह लड़ना पड़े और वे एक जगह सारी शक्ति लगाकर विद्रोही सेनाओं को न घेर लें।

दिल्ली के बाद सेना का केन्द्रीय संगठन टूटा नहीं। बख्त खाँ के साथ फौज मथुरा आई और वहाँ से लखनऊ पहुँची। बख्त खाँ अवध की सेना के साथ नेपाल की तराई मे पहुँचने तक रहे। उधर बिहार में कुँवरसिंह का संपर्क अवध से था और तात्या टोपे और नाना साहब के माध्यम से मध्य-भारत की सारी कार्यवाही अवध से जुड़ी हुई थी। लखनऊ पर अंग्रेजों का अधिकार होने के बाद अवध, बिहार और मध्य-भारत में बराबर संघर्ष चलता रहा। बड़े नगरों पर अधिकार होने के बाद भारतीय पक्ष ने लंबी लड़ाई चलाने की योजना बनाई। तात्या टोपें का बराबर चलते रहना, नदियाँ पार करना, रसद इकट्ठी करके लड़ने के लिये तैयार हो जाना, राजस्थान और महाराष्ट्र में जनता और

सामन्तों को उभाड़ने का प्रयत्न करना समर-नीति के अनुकूल था। इस रणनीति के कारण ही अंग्रेज कहीं भी विद्रोहियों को घेर कर उनका विनाश करने में सफल न हो सके। तात्या की युद्ध नीति से मिलती-जुलती अवध की लड़ाई थी। अन्तर यह था कि यहां की जनता अधिक सजग थी और छापेमार युद्ध में अधिक सक्रिय भाग लेने वाली थी। इसलिये प्रधान सेनापति कौलिन कैम्पबेल के नेतृत्व में ८५,००० सेना लेकर लड़ने पर भी अंग्रेजों का लक्ष्य सिद्ध न हुआ। वे भारतीय सेना को अन्त तक न घेर पाये और उन्हें भारी क्षति उठानी पड़ी। बिहार में उच्च स्तर की छापेमार कार्यवाही हुई और वहाँ की जनता ने गाँवों में बहुत दिनों तक अपनी सरकार की रक्षा की। इस प्रकार दिल्ली के बाद अवध, बिहार और मध्यभारत के संघर्ष की प्रगति मूलतः एक सी है। तीनों प्रदेशों में सेनानायकों की नीति एक सी है, अंग्रेजों को क्षति पहुँचाना और उनका घेरा तोड़ कर निकल जाना। युद्ध के अन्त की ओर बिहार और अवध के नेताओं का नेपाल की ही ओर जाना फिर उनके संगठन का सूचक है।

राज्यक्रान्ति में विभिन्न वर्गों ने भाग लिया। उनमें परस्पर अन्तर्विरोध भी थे। उनका सामान्य उद्देश्य अंग्रेजों को निकालना था। सिपाहियों में अधिकांश किसान थे। सेना और किसानों ने मिलकर क्रान्ति के जनतांत्रिक रुझान को दृढ़ किया। अनुशासम, संगठन, साहस और दृढ़ता से उसका संचालन किया गया। अन्त तक वह विशृंखल समूहों का संघर्ष बनने से बची रही।

—०:*:०—

शत्रुपक्ष: समरनीति और संस्कृति

१८५७-५६ की राज्यक्रान्ति में भारतीय जनता का उद्देश्य अंग्रेजों को निकाल कर देश को स्वाधीन करना था। अंग्रेजों का लक्ष्य हिन्दुस्तान को लूटना और उसे गुलाम बनाकर रखना था। दोनों पक्षों के दो भिन्न उद्देश्य थे। उन उद्देश्यों के अनुकूल उनके युद्ध करने की पद्धतियाँ भी भिन्न थीं।

जिन सामाजिक परिस्थितियों में यह युद्ध हुआ, वे सामन्तवाद के पतनकाल की परिस्थितियां थीं। जिस समय यहाँ का समाज एक मंजिल पार करके दूसरी मंज़िल की ओर बढ़ने का उपक्रम कर रहा था, अंग्रेजों ने यहाँ आकर भारतीय सामन्तवाद के विघटन से लाभ उठाया, एकता की शक्तियों का विरोध किया, सामन्तों की कमज़ोरी से लाभ उठाकर उन्होंने अपनी सार्वभौम सत्ता स्थापित कर ली। यह सत्ता वैधानिक नहीं थी; किन्तु कार्यरूप में वह स्थापित हो चुकी थी। सन् सत्तावन में इस सत्ता के विरुद्ध जनता ने विद्रोह किया।

आरंभ से ही अंग्रेजों के अनुकूल बहुत सी बातें थी। वे यहाँ की सामन्तशाही से मिल कर यहाँ के औद्योगिक विकास को भारी क्षति पहुँचा चुके थे। अब यहाँ कोई नौ-सेना नहीं थी जो इंगलैण्ड से इनका यातायात बद करके इन्हें भारत में बंद कर देती। यहाँ युद्ध-सामग्री तैयार करने के बड़े-बड़े कारखाने नहीं थे जहाँ से भारतीय सेना को निरन्तर युद्ध-सामग्री मिलती रहती। अंग्रेजों ने फौज में तोपखाना प्रायः अपने हाथ में रखा था। भारतीय सेना के पास किले तोड़ने वाली भारी तोपों और दूर तक मार करने वाले राइफलों का अभाव था। अंग्रेजों ने सामन्तशाही के निस्तेज अवशेषों को अपनी ओर मिला लिया था। उनकी सत्ता अंग्रेजी राज्यसत्ता पर निर्भर थी। इसलिये अंग्रेजी राज्य के देशी स्तंभ जब तक न गिराये जाते, तब तक अंग्रेजी राज्य का खत्म होना संभव नहीं था। राज्यक्रान्ति की मुख्य शक्ति सेना इस ओर उदासीन नहीं थी। वह अंग्रेजों से मिल जाने वालों पर दबाव डालती थी, उन्हें दंड देती थी; किन्तु स्वभावतः यह कार्य छोटे पैमाने पर हुआ। इसमें सन्देह नहीं कि भारत के सभी भागों में जनता को विद्रोहियों से सहानुभूति थी किन्तु यह सहानुभूति सभी जगह एक सा सक्रिय रूप न ले पा रही थी। क्रान्ति का संचालन मुख्यतः बंगाल-सेना द्वारा हुआ। बंगाल-सेना के क्षेत्र में अर्थात् हिन्दी-भाषी प्रदेश में क्रान्तिकारी संघर्ष ने उच्चतम रूप लिया। अंग्रेजों के पक्ष में यह परिस्थिति थी कि बंबई और मद्रास की सेनाओं में यथेष्ट राजनीतिक कार्यवाही न हुई। यह नहीं कि इन्हें मिलाने का प्रयत्न न किया गया हो किन्तु यह प्रयत्न पर्याप्त न था। १८५७ और १९४७ दोनों बार का अनुभव हिन्दुस्तान की विभिन्न जातियों में एकता के महत्व की ओर संकेत करता है। १८५७ में विभिन्न

जातियों की जनता अंग्रेजों से घृणा करती थी लेकिन यह घृणा हर जाति में एक स्तर की न थी। स्यालकोट में अंग्रेजों को हिन्दुस्तानी अमलों से भय लगता था किन्तु पंजाब में वे नयी पल्टनें तैयार करने में सफल हुए। पठान अंग्रेजों से घृणा करते थे किन्तु लूट का लालच देकर अंग्रेज बहुत से पठानों को भर्ती कर सके। अभी विभिन्न जातियों में इतनी राजनीतिक चेतना का प्रसार न हुआ था कि अंग्रेजों को जैसे हर "हिन्दुस्तानी" से भय लगता था, वैसे ही उन्हें हर भारतवासी से भय लगने लगता। अंग्रेजों ने धार्मिक, साम्प्रदायिक और जातीय विद्वेष जगाया। इसका विरोध हुआ लेकिन हिन्द प्रदेश के बाहर उतना विरोध नहीं हुआ जितना होना चाहिये था। भारतीय पक्ष की मुख्य कमज़ोरी यथेष्ट राजनीतिक कार्यवाही की यह कमी थी।

१६४७ में यह कमी बनी हुई थी। अंग्रेज अपनी विघटन नीति में सन् सत्तावन की अपेक्षा और भी सफल हुए। इस बार उन्होंने पंजाबी और बंगाली जातियों को बीच से तोड़ दिया, उनके प्रदेशों के दो टुकड़े कर दिये, उनका आर्थिक जीवन छिन्न-भिन्न कर दिया, उनकी भाषा और संस्कृति के विकास को भारी क्षति पहुँचाई। इन दो जातियों के दो हिस्सों के अलावा उन्होंने सिन्धियों और पठानों को देश से अलग कर दिया। कश्मीर में उकसावा पैदा करके दोनों नये राज्यों के बीच खासा तनाव पैदा कर दिया। साम्राज्यवादियों ने इस परिस्थिति से लाभ उठा कर पाकिस्तान में अड्डा जमाया और न केवल इन दोनों राज्यों की जनता के लिये वरन् विश्वशान्ति के लिये संकट पैदा कर दिया। इस परिस्थिति के अतिरिक्त भारतीय राज्य के अन्दर जातीय समस्या सुलझने के बदले काफी उलझ गई है। यद्यपि अनेक जातियों के अपने प्रदेशों की सीमाएं पुनः निर्धारित करदी गई हैं, फिर भी जातीय विद्वेष कम नहीं हुआ। पंजाब में हिन्दू-सिख समस्या, भाषा को लेकर उत्तर दक्षिण की समस्या, बंबई को लेकर गुजरात और महाराष्ट्र के पुनर्गठन की समस्या—१६५७ में इन तमाम समस्याओं का अस्तित्व यह बतलाता है कि १८५७ का अपूर्ण राजनीतिक काम बहुत कुछ अब भी पूरा नहीं हुआ है। एक हद तक कहीं कहीं परिस्थिति पहले से अधिक चिन्ताजनक है। यदि आज की इन कठिनाइयों को हम ध्यान में रखें तो १८५७ में एकता के प्रयत्नों को हम ज्यादा अच्छी तरह

समझ सकेंगे।

१८५७ की एक दूसरी शिक्षा यह है कि एशिया के सभी राष्ट्रों की स्वाधीनता उनकी परस्पर एकता पर निर्भर है। अंग्रेज़ों ने हिन्दुस्तान के बल पर एशिया के अन्य देशों पर आक्रमण किये थे, उन्हें गुलाम बना लिया था अथवा उन्हें अपने प्रभाव-क्षेत्र में ले लिया था। १८५७ के संघर्ष से इन देशों पर अंग्रेज़ी दबाव कम हुआ। यदि उस समय इन सब देशों की सम्मिलित कार्यवाही हुई होती तो अंग्रेज़ों का भारत ही नहीं, एशिया में टिकना कठिन हो जाता।

भारतीय जनता की एकता, भारत की विभिन्न जातियों की एकता, भारत तथा एशिया के अन्य देशों की एकता—स्वाधीनता प्राप्त करने, उसकी रक्षा करने और पराधीनता की विरासत ख़तम करने का मुख्य राजनीतिक साधन यही है।

सन् सत्तावन की राज्यक्रान्ति में अनेक सामन्तों ने भाग लिया। अनेक सामन्तों ने अंग्रेजों का साथ दिया। दोनों पक्षों के इन सामन्तों में बहुत बड़ा अन्तर था। एक ओर नाना साहब, राना बेनीमाधो, बेगम हज़रत महल, रानी लक्ष्मीबाई जैसे देशभक्त सामन्त थे जिन्होंने संघर्ष में बड़े धैर्य और साहस का परिचय दिया। दूसरी ओर अंग्रेज़ों के साथ सामन्त थे जिनसे स्वयं अंग्रेज़ घृणा करते थे। इतिहासकारों ने यह तो लिखा है कि अंग्रेज़ों से लड़कर कुछ भारतीय सामन्त अपने अधिकार प्राप्त करना चाहते थे। उन्होंने यह नहीं लिखा कि अंग्रेज़ों का साथ देने-वाले सामन्त एक सड़ी गली व्यवस्था की रक्षा करना चाहते थे, अंग्रेज़ों ने उनको साथ लेकर अपनी सामन्त-विरोधी क्रान्तिकारी भूमिका ख़त्म करदी, ये सामन्त अपने वर्ग के सब दुर्गणों से सम्पन्न थे, एक गुण स्वाधीनता का था, उसे अंग्रेज़ों के हाथ बेच चुके थे। यदि दो सामन्तों में ही एक को चुनना हो तो अंग्रेज़ों की प्रगतिशीलता के कायल इतिहासकार किसे चुनेंगे? अंग्रेज़ी राज से स्वतंत्र सामन्तों को या अंग्रेज़ी राज के गुलाम सामन्तों को?

संभव है, वह कहें, अंग्रज़ों की संगत से उनके गुलाम सामन्त भी प्रगतिशील हो गये थे, वे भी व्यक्ति की स्वाधीनता और गरीब-अमीर को बराबर समझने वाली न्यायव्यवस्था के हिमायती हो गये थे। इसलिये देखना चाहिये कि अपने मित्रों के प्रति स्वयं अंग्रेजों की धारणा

क्या थी।

मेरठ में विद्रोह का समाचार सुनकर हेनरी लारेन्स ने कैनिंग को तार देकर दो काम करने की सलाह दी: चीन और लंका भेजी हुई ब्रिटिश सेना को वापस बुलाना और नेपाल के राना जंगबहादुर से मदद देने के लिये कहना।[११२] विद्रोह के आरंभ से ही अंग्रेज़ों की राजनीति में यहाँ के और निकट के देशों के सामन्तों से सहायता लेना शामिल था। हेनरी लारेन्स को जितनी लालसा जंगबहादुर से सहायता लेने की थी, उससे भी अधिक लालसा जंगबहादुर को सहायता देने की थी। मई के महीने में ही उसने नेपाल की सारी सैन्यशक्ति गौराङ्ग प्रभु को समर्पित करने की सूचना अंग्रेज़-सरकार को दे दी। सहायता स्वीकार करने में कैनिंग को थोड़ा समय भी लगा किन्तु राना जंगबहादुर को यह निश्चय करने में जरा भी विलंब न लगा कि इस संघर्ष में किसका साथ देना चाहिये। अंग्रेज़ों की ओर से नेपाली सेना ने अगस्त १८५७ में आजमगढ़ और जौनपुर पर अधिकार कर लिया। इसके बाद नौ हजार सेना लेकर स्वयं जंगबहादुर आने को प्रस्तुत हुआ। गोरखपुर में अंग्रेज़ी राज्यसत्ता फिर से स्थापित करने में जंगबहादुर ने महत्वपूर्ण योग दिया। इसके बाद लखनऊ पर यूनियन जैक फहराने में उसने सशरीर कौलिन कैम्पबेल की सहायता की। जंगबहादुर की सहायता न मिलने से अंग्रेज अवध में अकेले पड़ जाते और उन्हें भारतीय सेना को परास्त करने में और भी कठिनाई पड़ती। जो सीमान्त भारतीय जनता के हित में सुरक्षित होना चाहिये था, उसका उपयोग अंग्रेज़ों ने अपने हित में किया।

जंगबहादुर लखनऊ में बड़ी तड़क-भड़क से कौलिन कैम्पबेल से मिला लेकिन "मुलाकात ज्यादा देर न चली। सर कौलिन को तड़क-भड़क से नफ़रत थी। नेपाल के राजा के बैठने के थोड़ी देर बाद ही खबर आयी, बेगम कोठी पर आक्रमण सफलतापूर्वक समाप्त हो गया था। इस पर सर कौलिन ने काम का बहाना किया और अपने मान्य अतिथि से विदा ली। मुलाकात खत्म हो गई।"[११३]

कौलिन कैम्पबेल ने जंगबहादुर की उपेक्षा की लेकिन ये सामन्त आत्मसम्मान बेच चुके थे। उसने इस उपेक्षा का जरा भी बुरा न माना और अंग्रेज़ों की ओर से फिर भी लड़ा।

जंगबहादुर के प्रति अंग्रेज़ों की वास्तविक भावना का स्पष्ट वर्णन

रसेल ने अपनी डायरी में किया है। नेपालियों की सजधन की चर्चा करने के बाद लिखा है : "जहाँ तक जंग का संबन्ध है, वह धूप में मोर की दुम की तरह चमक रहा था। न चमक-दमक में उसके भाई कम थे। लेकिन जितने भी हीरे-जवाहरात महाराजा पहने था, उनसे ज्यादा चमकती हुई उसकी आँख थी। उसमें से एक ठंडी [निर्मम] सी चमक थी जैसे फोस्फोरस का पिण्ड हो। क्या चीते की सी, निर्दयी, धूर्त, चालाक आंख थी। वह कैसे तंबू के पर्दों को पार करती हुई घूमती, चमकती, थिरकती थी। मेरे पास खड़े हुए एक आदमीने कहा, 'लगता है, शैतान की औलाद में, सबसे हरामी यही है' ('I believe', quoth one near me, 'he is the d———dest villain hung or unhung)···सारे समय यह दरबार काफी मूर्खतापूर्ण था लेकिन जब बाहर बैगपाइयों ने अपना स्वर छेड़ दिया, तो हालत बेबर्दाश्त होगई। फिर भी वहाँ से चल देने की हिम्मत किसी में न थी। आखिर सेनापति और महाराजा उठे और तब सेनापति ने महाराजा को ब्रिटिश अफ्सरों का परिचय देना शुरू किया। मेरे पास आने पर सर कौलिन ने कहा, 'क्या तुम महाराजा से परिचित होना पसन्द करोगे?' 'नहीं, योर एक्सेलेन्सी, मुझे परिचय प्राप्त करने की जरा भी इच्छा नहीं है।' और इस तरह मैं उस आदमी से हाथ मिलाने से बच गया जिसने निरपराध जनों की हत्या (cold blooded murder) की थी। महाराजा और उसके दो भाई सेनापति के राजाकीय हाथी पर सवार हुए जिसका मुंह और सूंड़ विचित्र ढंग से रँगे हुए थे, ऊपर चांदी का हौदा था और जगह जगह सोने का काम था। और इस तरह घोड़ों पर सवार अपने स्टाफ के साथ तैमूरलंग विदा हुआ।"[११४]

चीते की सी आँखें, धूर्त, चालाक, हत्यारा, तैमूरलंग—यह रूप था अंग्रेज़ों के सबसे महत्वपूर्ण सहायक राना जंगबहादुर का। अब सन् सत्तावन के संघर्ष को प्रतिक्रियावादी कहने वाले इतिहासकारों से पूछा जाय, यदि बहादुरशाह और जंगबहादुर में आपको मित्र चुनना हो तो आप किसे चुनेंगे? या अंग्रेज़ों के क्रान्तिकारी कार्य को बढ़ाने के लिये आप धूर्तता, हत्या आदि की चिन्ता न करेंगे? भारत में अंग्रेजी राज की स्थापना पर अपने प्रसिद्ध इतिहास (खंड ५) में श्री बामनदास वसु ने लिखा है कि वाजिदअली शाह के लड़के ने नेपाल के राना से विद्रोहियों

के साथ मिलकर अंग्रेजों से लड़ने की अपील की थी लेकिन उसे सफलता न मिली; जंगबहादुर ने डींग हाँकी थी कि लखनऊ पहुँचने तक उसने अवध की पाँच छः हजार प्रजा को कत्ल कर दिया था।

अंग्रेज़ों ने जैसे सीमान्त प्रदेश से डाकू और गुंडे फौज में भर्ती किये थे, वैसे ही उन्होंने सामन्तों में भी छाँट कर अपने मित्र बनाये थे। वास्तव में यदि ये सामन्त ऐसे सर्वगुणसंपन्न न होते तो अपने देश-वासियों अथवा पड़ोसियों के विरुद्ध सात समुन्दर पार के आततताइयों की मदद क्यों करते?

अंग्रेज़ों का एक दूसरा मित्र दोस्त मोहम्मद था। ईरान और रण-जीतसिंह के विरुद्ध वह अंग्रेजों की सहायता लेने को बहुत उत्सुक था। अफगानों और अंग्रेजों के युद्ध को वह वैसे ही भूल गया जैसे पंजाबियों और अंग्रेजों के युद्ध को सिख सामन्त भूल गये। दोस्त मोहम्मद की बड़ी तमन्ना थी कि पेशावर घाटी पर अधिकार कर ले लेकिन हिम्मत ने साथ न दिया। जिस समय पेशावर-घाटी अंग्रेजों के लिये राजनीतिक ज्वालामुखी बनी हुई थी, उस समय दोस्त मोहम्मद ने अंग्रेजों से दोस्ती निबाहकर उनके दूसरे सीमान्त को सुरक्षित कर दिया। इस दोस्त मोह-म्मद के बारे में अंग्रेजों की राय यह थी, "दोस्त-मोहम्मद की दोस्ती ब्रिटिश सोने से खरीदी गई थी।"[११५] पैसे पर बिके हुए ये गुलाम पठानों से विश्वासघात करके, अपने पड़ोसी देश से शत्रुता का व्यवहार करके अंग्रेजों से मित्रता निबाहते रहे।

जम्मू और कश्मीर के गुलाबसिंह ने डलहौजी का दामन पकड़ कर अपनी स्वाधीनता और आत्म सम्मान का बड़ा अच्छा परिचय दिया था। लखनऊ को फतह करने में जंगबहादुर ने मदद दी थी तो दिल्ली सर करने में गुलाबसिंह ने सैनिक सहायता भेजी थी। सिन्धु नदी पार करके जब भारतीय विद्रोही कश्मीर को अपना समझ कर वहाँ गये, तब गुलाबसिंह ने गिलगिट की सीमा पर अपनी सेना भेजी। उन दुर्गम पर्वतमालाओं को पार करने वाले भारतीय योद्धाओं के लिये उसने अंग्रेजों को आश्वासन दिया कि वह उन्हें खतम कर देगा। उसने वहाँ के कबीलों को आदेश दिया कि जो विद्रोही मिलें, उन्हें पकड़ लें।

इस तरह नेपाल से लेकर कश्मीर तक देश के सीमान्त अंग्रेजों के लिये सुरक्षित थे। आत्म सम्मानहीन और बिके हुए सामन्तों के बल पर

उन्होंने भारतीय स्वाधीनता-आन्दोलन की नाकेबन्दी कर ली थी। यही नहीं, उनकी सैनिक सहायता से उन्होंने उसका दमन करके अपना खूनी आतंक भी कायम किया।

पंजाब के सामन्तों को अंग्रेज ऐसे आज्ञा देते थे जैसे उन्हें खरीद लिया हो। उन्होंने भिंड के राजा को अपनी सेना लेकर कर्नाल पहुँचने का आदेश दिया। पटियाला के राजा ने थानेसर को फौज भेजी। अंग्रज़ों ने नाभा के राजा और मलेरकोटला के नवाब को सेना लेकर लुधियाना पहुँचने को कहा। फरीदपुर के राजा ने फीरोजपुर के डिप्टी कमिश्नर को अपनी सेवाएँ अर्पित कीं। इस तरह ग्राण्डट्रंक रोड और पंजाब में यातायात के साधनों की रक्षा की गई।[११८] विद्रोह के प्रारंभिक दिनों में अंग्रेज़ों की सहायता करके, उनके यातायात के साधनों की रक्षा करके, उनके लिये फौज भेजकर पंजाब के इन सामन्तों ने अंग्रेज़ी सत्ता की रक्षा करने में महत्वपूर्ण योग दिया। कर्नाल पर अंग्रेज़ी अधिकार बनाये रखकर उन्होंने अम्बाला और मेरठ का मार्ग सुरक्षित रखा और अंग्रेज़ी फौजों का मिलाना संभव बनाया। कर्नाल का नवाब एक बड़ा ज़मींदार था। उसने भी अंग्रेज़ों की मदद की। इनकी सहायता के महत्व के बारे में के ने लिखा है, "इससे निःसन्देह हमें बड़ी सहायता मिली। जब झिन्द के राजा ने अपनी सेना कर्नाल भेजी, तब उस प्रदेश की मिश्रित जनता के ग्राम-विद्रोह का खतरा समाप्त होगया था।"[११६] लुधियाना में विद्रोह हुआ, तो विद्रोहियों का सामना करने के लिये अंग्रेज़ों के नेतृत्व में रिकेट्स की सेना चली। सतलज के पास की रियासतों के राजाओं को अंग्रेज़ों ने हुक्म दिया कि अपनी जनता को निःशस्त्र कर दो। जनता एक ओर थी, ये सामन्त दूसरी ओर थे। "बहुत जल्दी पता चल गया कि लोग हथियार छिपा ही नहीं रहे हैं वरन् भारी तादाद में शोरा और गन्धक तथा बारूद बनाने की अन्य सामग्री खरीद रहे हैं, जिसे खतरे का समय आने पर इस्तेमान करें।"[११७] अपनी जनता को निःशस्त्र करना, दूसरे प्रदेशों की जनता के दमन के लिये सहायता करना, ऐसी सुन्दर भूमिका थी अंग्रेज़ों के अस्तित्व पर निर्भर इन सामन्तों की। बहावलपुर के नवाब ने अपने ज़मींदारों को डाटा ही था—तुम गरीब आदमियों की इतनी जुर्रत कि अंग्रेज़ सरकार

से लड़ो ! पहाड़ी प्रदेश के अनेक सामन्त अंग्रेज़ों के साथ थे। कपूर-थला के राजा ने दो हजार सेना देकर अंग्रेज़ों की सहायता की थी और स्वयं भी अवध की अनेक लड़ाइयों में मौजूद था।[११८]

जलन्धर की छावनी में अंग्रेज़ी सेना के अभाव की पूर्ति कपूरथला की सेना ने की। संभवत: इस सेना को अपने इस कर्तव्य से विशेष प्रेम न था। रौवर्ट्स ने लिखा है कि जलंधर में अपना काम बिगाड़ने के कारण अंग्रेज़ वहाँ के लोगों की निगाह में गिर गये थे और कपूरथला की सेना में यह स्पष्ट भाव था कि अंग्रेज़ी सेना सदा के लिये चली गई है, उसे अब लौट कर नहीं आना। कपूरथला की सेना में एक अफसर महताबसिंह नाम का था। कमिश्नर लेक ने एक दरबार किया था जिसमें निकलसन भी था। महताबसिंह कमरे में जूते पहने चला आया था; इस पर निकलसन ने उससे कहा कि जूते उतारो और हाथ में उन्हें टांगे हुए बाहर जाओ। कपूरथला नरेश के वीर अफसर महताब सिंह ने जूते उठाये और भीगी बिल्ली की तरह बाहर चला आया। इसके छः सात साल बाद ह्यू रोज की शान में कपूरथला के राजा ने सुअर के शिकार का प्रबन्ध किया। वहाँ रौबर्ट्स को महताब सिंह दिखाई दिया। कपूरथला के राजा ने यह जानकर कि लेक के दरबार में रौवर्ट्स भी था, बहुत रस लेकर उस घटना का वर्णन किया जब उसकी सेना के एक अफसर को निकलसन की आज्ञा से जूते लेकर बाहर जाना पड़ा था। उसने यह भी कहा कि उसके साथ यह व्यवहार बिल्कुल ठीक हुआ। ह्यू रोज़ ने उस घटना का विवरण सुना और निकलसन की बुद्धिमत्ता के बारे में एक राजा का सार्टिफिकेट पाकर प्रभावित हुआ। अंगेज़ों के सामने जूते उठाकर चलना और हिन्दुस्तानिश्रों पर गोलियाँ बरसाना—यह था इन सामन्तों और उनके फौजी अफसरों का रूप।

अंग्रेज जब कहते हैं, पंजाब ने उनका साथ दिया, तब उसका अर्थ होता है, पंजाब के विश्वासघाती सामन्तों ने उनका साथ दिया। अंगेज़ों की समझ में आ रहा था कि कुछ रियासतों को अंग्रेज़ी राज में न मिला कर उन्होंने अच्छा किया। रसेल ने लिखा है कि पटियाला की रियासत अंग्रेज़ी राज में मिला ली जाती तो वहाँ की जनता भी राजा को गद्दी पर बिठाने के लिये विद्रोह कर बैठती मानों यह सारा विद्रोह राजाओं को गद्दी पर बिठाने के लिये हो ! गद्दी पर बिठाने का सवाल था तो

अंग्रेज़ सतलज तट की रियासतों के राजाओं से अपनी प्रजा को निःशस्त्र करने के लिये क्यों कह रहे थे ? कोटा, जोधपुर, होलकर सिन्धिया, आदि की सेनाएँ विद्रोही पक्ष से क्यों मिल गई थीं ? वास्तव में जनता की इच्छा के विरुद्ध, उसकी स्वाधीनता और हितों के विरुद्ध ये सामन्त अंग्रेज़ों की सहायता देकर अपनी क्रान्ति-विरोधी भूमिका पूरी कर रहे थे ।

रसेल ने पटियाला के राजा के बारे में लिखा है कि उसने राजभक्ति ठुकरा दी होती तो ब्रिटिश साम्राज्य खत्म हो गया होता । किस महान् उद्देश्य से प्रेरित होकर पटियाला के राजा ने यह काम किया था ? रसेल ने लिखा है, "उसने यह काम मोहब्बत की वजह से, या स्वार्थ से या राजनीतिक होशियारी से किया और ऐसी दृढ़ता दिखाते हुए हमें अमूल्य सहायता दी, यह सब पूंछताछ करना अनुदारतापूर्ण और व्यर्थ होगा ।"[११९] उसने यह इशारा भी किया है कि रियासत पर शायद राजा का हक न था, वह अंग्रेजों की कृपा से राजा बना हुआ था । फिर भी उसने अंग्रेजों की बहुमूल्य सहायता की । अपनी सेना के अलावा नयी भर्ती करके उसने पल्टनें तैयार कीं । सामान ढोने के लिये उसने गाड़ियां, जानवर वगैरह जुटाये । उसने अंग्रेजों को नामचार के सूद पर तब रुपया उधार दिया, जब रसेल के शब्दों में चांदी की कीमत सोने के बराबर थी ।

१८६० में कैनिंग ने इन राजाओं को दर्शन देकर कृतार्थ किया । सबसे गौरव का आसन पटियाला के राजा को मिला । उसके बाद झिंद और नाभा की बारी आई । उनकी रियासतों का क्षेत्रफल और बढ़ा दिया गया । उनके बाद पहाड़ी प्रदेश के छोटे-मोटे राजा आये, जिन्होंने "शान्ति" कायम करने में अंग्रेजों की सहायता की थी । कैनिंग ने कपूरथला के राजा को अवध में रियासतें बख्शीं जहाँ वह एक बड़ा ताल्लुकदार बन गया ।[१२०]

राजस्थान की सामन्तशाही अंग्रेजों के साथ रही । नीमच में ब्रिटिश सेना के विद्रोह करने पर मेवाड़, कोटा और बूंदी दरबारों की सेना द्वारा अंग्रेजों ने उस पर फिर अधिकार किया ।[१२१] कौलविन की मांग पर अलवर के राजा ने अपनी सेना भेजी जिसे नीमच की फौज ने परास्त किया । जयपुर, बीकानेर, जोधपुर, भरतपुर आदि सभी रिया-

सतों ने अंग्रेजों की सैनिक सहायता की। मध्यभारत में फीरोज़शाह के प्रयत्नों को असफल बनाने के लिये जौरा के नबाब ने अंग्रेजों का साथ दिया। बिक्टोरिया द्वारा भारत का शासन अपने हाथ में लेने पर उदयपुर के राजा ने उसका अभिनन्दन करते हुए पत्र भेजा था। दक्षिण में निज़ाम की रियासत से लेकर राजस्थान, पंजाब, कश्मीर और नेपाल के सामन्तों के सहयोग से अंग्रेजों ने मूल विद्रोह - क्षेत्र का घेरा डाल लिया था। इन सामन्तों की सहायता से उन्हें धन-जन की कमी न रही, सैनिक सहायता मिली और युद्ध चलाने के लिये एक सुरक्षित पृष्ठ-भाग मिल गया।

इसके अलावा अवध में ही अंग्रेजों के बहुत से मित्र विद्यमान थे। बलरामपुर के राजा दिग्विजयसिंह ने भारतीय सेना को नेपाल की ओर ठेलने में अंग्रेज़ों का साथ दिया। इसके लिये तुलसीपुर का परगना उसकी रियासत में मिला दिया गया, महाराज का खिताब मिला और अंग्रेज़ों ने उसे नाइट कमाण्डर आफ स्टार आफ इण्डिया बनाया।[१२२] मौरांवा के ताल्लकदारों ने लखनऊ और कानपुर के युद्धों में अंग्रेजों को सामग्री आदि देकर उनकी सहायता की।[१२२] शाहगंज (फैज़ाबाद) के मानसिंह ने पहले छिपकर और बाद को खुल्लमखुल्ला अंग्रेज़ों का साथ दिया। अवध-गजेटियर के अनुसार रेजीडेन्सी का घेरा डालने वालों में वह भी था लेकिन अंदर के अंग्रेजों से उसका सम्पर्क बना हुआ था; यदि हृदय से अंग्रेजों के विरुद्ध होता तो उनकी स्थिति असहनीय बना दी जाती। रीवाँ, बनारस, डुमरांव के राजा तथा बुन्देलखंड के अधिकांश सामन्त अंग्रेजों के साथ रहे।

कुल मिलाकर भारतीय सामन्तवाद ने अंग्रेजों का साथ दिया। अंग्रेजों की विजय का यह मुख्य कारण था। रियासतों की जनता अंग्रेंजों को गाली देती थी। जोधपुर की सेना के साथ जाने वाले कैप्टेन हार्डकैसेल ने लिखा था, "जयपुर में जिस छावनी से भी होकर हम गये, वहाँ लोग अंग्रेज़ों को गाली देते थे।"[११३] जनता और सामन्तों के बीच इस तीव्र विरोध के कारण इस राज्यक्रान्ति ने अंशतः गृहयुद्ध का रूप ले लिया। अंग्रेजों के विरुद्ध लड़ाई उस तमाम सान्तशाही के खिलाफ लड़ाई भी थी जो अंग्रेजी राज की रक्षा के लिये कटिबद्ध होगई थी। भारतीय जनता और सामन्तवाद का अन्तर्विरोध इतने तीव्र रूप

में पहली बार प्रकट हुआ था। पंजाब में राजा अंग्रेजों का साथ देरहे थे; जनता शोरा और गन्धक इकट्ठा कर रही थी कि लड़ने के लिये बारूद बनाये। गुलाबसिंह अंग्रेजों को सेना भेज रहा था, पंजाब के नगरों में कश्मीरी उनसे लड़ रहे थे। दोस्त मोहम्मद के सलाहकार उससे लड़ने को कहते थे, वह अंग्रेजों से मित्रता निबाह रहा था।[१२४] सिन्धिया, होल्कर, निजाम--हर जगह जनता अंग्रेज़ों के विरुद्ध लड़ रही थी, सामन्त अंग्रेज़ों का साथ देरहे थे। इसलिये यह राज्य-क्रान्ति जहां मुख्य रूप से साम्राज्य-विरोधी थी, वहाँ गौण रूप से सामन्त विरोधी थी; क्योंकि ब्रिटिश साम्राज्य की आधी ताकत ये सामन्त थे। इनके अलाबा महाजनों, बुद्धिजीवियों आदि में और भी तत्त्व थे जिनकी वफादारी पर अंग्रेज भरोसा करते थें।

इतनी अनुकूल परिस्थितियाँ होने पर और युद्ध-सामग्री में बहुत बढ़-चढ़कर होने पर भी अंग्रेज़ों को भारी क्षति उठाकर यह युद्ध चलाना पड़ा। इसका कारण यह था कि यहाँ की धरती से उनकी जड़ें उखड़ गई थीं और इसके बाद एक-एक नगर में हजारों की संख्या में लोगों का खून बहाकर ही वे इस पवित्र धरती में फिर अपनी जड़ें जमा सकते थे।

विद्रोह का दमन करने के लिये अंग्रेज़ों की रणनीति बहुत सीधी थी। दिल्ली जीत लो और विद्रोह खत्म हो जायगा। यह रणनीति असफल रही। दिल्ली पर उनका अधिकार हो जाने के बाद विद्रोह खत्म नहीं हुआ। दिल्ली लेने के बाद किस तरह की कार्य-नीति अपनाई जाय, इस बारे में उनमें मतभेद था। अधिकांश अंग्रेज—खासकर शासन-विभाग के सिविलयन—तुरत हल्ला बोलकर दिल्ली पर अधिकार कर लेने के पक्ष में थे। इनमें फौजी नायक निकलसन भी था जो दिल्ली में प्रवेश करके फिर बाहर नहीं निकला। इनमें ब्रिटिश सेना के इंजिनियर थे जो तोपों और सुरंगों के बल पर दिल्ली ले लेने में विश्वास करते थे। इनकी कार्यनीति अमल में लाई जाते-जाते रह गई। जो अनुभवी सेनानायक थे, वे दिल्ली जीतने की कठिनाई जानते थे। जब तक किला तोड़ने वाली जंगी तोपें नहीं आगई, तब तक उन्होंने दिल्ली पर आक्रमण न किया।

दिल्ली के युद्ध को अंग्रेजों ने अपने इतिहास के सबसे रक्त-रंजित

युद्धों में गिना है। उन्होंने उसकी तुलना सेवास्तोपोल के युद्ध से की है। यदि गरम दिमाग के अंग्रेजों की चल जाती तो यह युद्ध इतना रक्त-रंजित होता कि शायद अंग्रेज यहां से लौट कर न जा पाते। और ऐसी स्थिति में वह तमाम सामन्तशाही जो उनकी मदद कर रही थी, बहुत ही कमजोर पड़ जाती।

दिल्ली के युद्ध के साथ अंग्रेज रेजीडेन्सी के घिरे हुए दल को मुक्त करना चाहते थे। इस कार्य में उन्नाव की जनता के जबर्दस्त संघर्ष ने हैवलौक को दो बार पीछे हटने पर विवश किया। आउट्रम के सैन्य दल की नयी सहायता मिलने पर ही वह लखनऊ की ओर बढ़ सका। रेजी-डेन्सी की ओर बढ़ने में जेनरल नील, कर्नल टेलर आदि सेनानायक और सैकड़ों ब्रिटिश सैनिक मारे गये। कौलिन कैम्पबेल के नेतृत्व में लखनऊ पर आक्रमण करने में उनकी रणनीति का मुख्य उद्देश्य, शहर को पीछे से घेर कर भारतीय सेना को निकलने न देना, असफल रहा। अवध पर अधिकार करने के लिये कैम्पबेल ने -५,००० सेना बटोरी; फिर भी दो साल के संघर्ष के बाद विद्रोह के प्रमुख नेताओं को पकड़ने और देशी सेना को घेर कर नष्ट करने में वह असफल रहा।

२५ मई १८५८ को जब अंग्रेजी सेना अवध में बढ़ रही थी, जोर की आँधी आई। एक बूढ़ा ब्रिटिश सैनिक जमीन पर पड़ा हुआ धीरे धीरे साँसें ले रहा था। रसेल ने उसे दिलासा देते हुए कहा कि युद्ध जल्दी ही खत्म हो जायगा। इस पर उसने कहा "मैं अठारह साल से फौज मै हूँ लेकिन ऐसी मुसीबत कभी नहीं उठाई।" आँधी के बाद लोग आगे बढ़ने के लिये उस सैनिक को उठाने लगे लेकिन तब तक उसके प्राण पखेरू उड़ गये थें। ब्रिटिश शासक-वर्ग ने अपनी लुटेरी नीति का पालन करने में भारतीय जनता की ही अपार क्षति नहीं की, अपनी जनता को भी भारी हानि पहुँचाई। हिन्दुस्तान की लू खाकर जान देने की उन्हें क्या ज़रूरत थी? हैजे और पेचिश से मरने वे यहाँ क्यों आये थे? रेजीडेंन्सी के घेरे में स्त्रियाँ और बच्चे क्यों मरे? इस-लिये कि अंग्रेज शासकों की सम्पत्ति लाखों से करोड़ों तक पहुँच जाय। लंदन में बैठे हुए इस शासक वर्ग ने ऐलान भी कर दिया था कि युद्ध समाप्त हो गया लेकिन यहां के अंग्रेज परिस्थिति को दूसरी निगाह से देखते थे। १६ मई १८५८ को रसेल ने लिखा था, "मैं देखता हूँ कि घर

पर बुद्धिमान आदमियों ने तै कर लिया है कि लड़ाई खत्म हो गई है और हिन्दुस्तान में शान्ति है। लेकिन अभी बहुत से अंग्रेजों को खून बहाना पड़ेगा और बहुत सा धन खर्च होगा, तब जाकर शान्ति स्थापित होगी।"[१२६] इस धन और जन की क्षति का उत्तरदायित्व इंगलैण्ड के शासक-वर्ग पर था।

सैनिक लड़ते लड़ते ऊब गये थे। इस तरह के युद्ध में उन्होंने कभी भाग न लिया था। यह जनता की लड़ाई थी। "अवध में हमारी सेना आगे बढ़ती है और हर तरफ दुश्मन को बिखेर देती है। दुश्मन पर इसका कोई स्थायी प्रभाव नही पड़ता। हमारे आगे बढ़ते ही वह फिर उठ खड़ा होता है। उसे जनता का लोकप्रिय समर्थन प्राप्त है या कम से कम वह इतना शक्तिशाली है कि हमारे मित्रों को दबाकर शान्त कर देता है।"[१२५] अवध में भारतीय सेना ने अंग्रेजों के मित्र सामन्तों को प्रायः निष्क्रिय कर दिया था। यह उनकी बहुत बड़ी सफलता थी। जो काम अबध में हुआ था, वह उचित संगठन और नेतृत्व से देश के अन्य भागों में भी हो सकता था। यदि इतने उच्च स्तर तक अन्य भागों का क्रान्तिकारी आन्दोलन उठता तो अंग्रेजों की पराजय निश्चित थी। उन विद्वानों की बात समझ में नहीं आती जो १८५७ में भारतीय पक्ष की पराजय अनिवार्य बतलाते हैं।

इस अन्यायपूर्ण युद्ध को न्यायपूर्ण ठहराने के लिये अंग्रेजों ने सिपाहियों के क्रूर कृत्यों की कहानियाँ गढ़कर ब्रिटेन की जनता को बरगलाया था और अपने सैनिकों की जघन्यतम हिंसावृत्ति जाग्रत की थी। इस तरह का झूठा प्रचार उनकी युद्धनीति का आवश्यक अंग था। वैसे अंग्रेज शासक इस कला में विशेष दक्ष हैं। फ्रान्सीसी क्रान्ति का विरोध करने के लिये उन्होंने उसे खूनी आतङ्क का पर्यायवाची बना दिया था। रूसी क्रान्ति की निन्दा करने में उन्होंने कौन से बर्बर कृत्य के लिये बोलशेवियों को उत्तरदायी नहीं ठहराया? १८०६ में वेल्लोर के विद्रोह में ही उन्होंने अंग्रेज स्त्रियों की हत्या और बच्चों के सिर कुचलने की झूठी कहानियों का प्रचार किया था।[१२६] दिल्ली के हत्याकाण्ड के बारे में के ने लिखा है, "यह कहानी, उसकी सचाई में पूर्ण विश्वास के साथ, कहना कठिन है।"[१२७] मेरठ में स्त्रियों के अंगभंग करने के किस्सों का खूब प्रचार किया गया था। इनके बारे में के का कहना है,

"श्रीमती मैकडौनेल्ड के अंगभंग होने की जो बात कही जाती है, उसका कोई प्रमाण मुझे नहीं मिला।" [१२८] प्रमाणों के अभाव में इतिहासकारों ने और उनके साथ के ने भी सिपाहियों पर हर तरह के इलजाम लगाने में कसर नहीं उठा रखी। कानपुर के हत्याकाण्ड (बीबीधर) के बारे में वह कहता है कि "प्रमाणयुक्त तथ्य सामने होते, तो भी" वीभत्स कृत्यों का वर्णन करने में उसकी रुचि नहीं है। [१२९] अंग्रेजों ने प्रचार किया था कि स्त्रियों को बेइज़्जत किया गया है, उनके अंग काटे गये हैं, इत्यादि। मौब्रे टौमसन ने इस सिलसिले में लिखा है कि सभी गुप्तचर इस बारे में एक-मत थे कि स्त्रियों को बेइज्जत नहीं किया गया। आततायीपन का प्रचार करने में अंग्रेज कितने सिद्धहस्त थे, इसका एक और प्रमाण यह है कि दीवालों पर उन्होंने कुछ मार्मिक वाक्य लिख दिये थे जिन्हें स्त्रियों का लिखा हुआ समझ कर सैनिक खूब उत्तेजित हों!("No writing was upon the walls, and it is supposed that the inscriptions, which soon became numerous, were put there by the troops, to infuriate each other in the work of revenging the atrocities that had been perpetrated there.") [१३०] दिल्ली के घेरे के समय ये सब अतिरंजित कहानियाँ ब्रिटिश सैनिकों को सुनाई जाती थीं [१३१] जिससे वे कोई भी क्रूर कर्म करने में पीछे न हटें।

इंगलैण्ड में लॉर्ड शैफ्ट्सबरी ने कहा था कि उसने भारत से एक उच्चतम अंग्रेज महिला का लिखा हुआ पत्र देखा है। झूठों के बादशाह इस लॉर्ड के अनुसार उसमें लिखा था कि कलकत्ते में अंग्रेज़ स्त्रियाँ आरही है जिनके नाक-कान कटे हुए हैं और आंखें निकाल ली गई हैं! बच्चों को उनके माता पिता के सामने सता-सता कर मारा गया है। उन्हें अपने बच्चों का मांस खिलाया गया और धीरे-धीरे आग पर भूना गया। बाद को जब लोगों ने पूछा कि वह खत कहां है तो लॉर्ड ने कह दिया कि उसने उसे देखा नहीं है, उसके बारे में सुना भर था। [१३२]

इस तरह की झूठी कहानियों का प्रचार करके अंग्रेज़ों ने अपनी बर्बरता को अन्याय के दंडस्वरूप प्रस्तुत किया। बर्बरता उनकी युद्ध-नीति का अंग थी। अमरीका में बसने वाले अंग्रेज़ों ने वहाँ के आदिवासियों के सिर लाने के लिये पचास पाउंड का इनाम रखा था। जब

अमरीका और इंगलैण्ड में युद्ध हुआ तब अंग्रेज़ों ने अपने ही भाई अमरीकियों के सिर लाने के लिये आदिवासियों से काम लिया।[133] यूरोप की जातियों ने जहाँ भी उपनिवेश बना कर आदिवासियों का संहार किया, उन्होंने ऐसी ही बर्बरता से काम लिया। मार्क्स ने इस सन्दर्भ में हौविट नाम के एक विशेषज्ञ का यह कथन उद्धृत किया है : "इस तथाकथित ईसाई जाति ने दुनियां के हर प्रदेश में और हर देश की जनता पर जिसे वह दबा पायी है, ऐसी बर्बरता और दुःसह अत्याचार किये हैं कि किसी भी युग में कैसी भी खूँखार, अशिक्षित और लज्जा और दया से हीन जाति के क्रूर कर्मों से उनकी तुलना नहीं की जा सकती।"[134] ऐसी ईसाइयत के श्रेष्ठ प्रतिनिधि अंग्रेज़ों ने अपना राक्षसी ताण्डव यहां रचा था।

विद्रोह के आरंभ से ही अंग्रेज़ों ने आतंक की नीति अपनायी थी। कैनिंग ने सेनापति ऐन्सन को सन्देश भेजा था, "चाहे जितनी कठोरता से पेश आओ, वह ज्यादा न होगी।"[135] अंग्रेज़ों ने खूनी आतंक और सामूहिक नर-संहार की नीति पर इस युद्ध का संचालन करने में वर्ण-द्वेष और धर्मान्धता से काम लिया। अंबाला से दिल्ली आते हुए गोरे सैनिकों ने सिपाहियों को जो गो-मांस खिलाकर उनके संगीनें चुभोई थीं और बाल नोचे थे, वह इसी धार्मिक द्वेष के कारण। उन्होंने जगह-जगह जो मंदिरों का नाश किया था, वह इसी धर्मान्धता के कारण। चार्ल्स रैक्स ने जामा मस्जिद के बारे में लिखा है कि आम गोरे सैनिकों की राय यह थी कि इस मस्जिद को मुसलमानों को सौंप देना मूर्खता होगी। दिल्ली के मजिस्ट्रेट की योजना से रैक्स स्वयं सहमत था और योजना यह थी : मस्जिद को गिरजाघर बना दिया जाय और उसके हर हिस्से में धर्म के लिये मरने वाले एक ईसाई का नाम लिख दिया जाय![136] रसेल ने अपनी डायरी में मुसलमानों के बदन में चर्बी मलने, उन्हें सुअर की खाल में सीकर बंद करने, उनके शरीर को जला देने, हिन्दुओं को तरह-तरह से भ्रष्ट करने का उल्लेख किया है।[137] यह धर्मान्धता तो थी है लेकिन वह भी असाधारण कोटि की थी। अंग्रेज़ों ने सिपाहियों को तोप से उड़ाने की जो पद्धति चलाई थी, उसका कारण भी उनकी धर्मान्धता थी। इस तरह वे मृत सिपाही की अन्त्येष्टि क्रिया के बिना उसका परलोक बिगाड़ने में विश्वास

करते थे ।

इस धर्मान्धता के साथ वर्णगत द्वेष जुड़ा हुआ था। अंग्रेज़ अपने को श्रेष्ठ वर्ण का और हिन्दुस्तानियों को काला आदमी कहते थे। अंग्रेज़ सैनिक आपस में "निगर" (हब्शी) लोगों का शिकार खेलने की बात करते थे।[१३८] उनका विचार था कि इन निगर हिन्दुस्तानियों के आत्मा नहीं होती और होती है तो अंग्रेज़ों जैसी नहीं होती।[१३९] दिल्ली में अंग्रेज़ों के परमभक्त ईसाई रामचन्द्र के सिर में एक अंग्रेज़ अफसर ने छड़ी मारी और कहा कि सलाम कर। उसने कई बार सलाम किया और कहा कि हुजूर, मैं ईसाई हूं। इस पर वह अंग्रेज़ बोला, तू आबनूस जैसा काला है ![१४०] दिल्ली में अंग्रेज़ों ने बहुत से अपने खेमाबर्दारों को मार डाला था, सिर्फ इसलिये कि उनका रंग काला था।[१४१]

इस वर्णद्वेष की एक विशेषता यह थी कि अंग्रेज़ एशिया की नस्लों से ख़ास तौर से घृणा करता था। हौडसन का विचार था कि संख्या आदि में चाहे जितना अन्तर हो, ऐंग्लो सैक्सन हमेशा एशियावालों को पीट सकते हैं।[१४२] मध्यभारत के पोलिटिकल एजेण्ट ड्यूरैण्ड को विश्वास था कि एशिया की नस्लें अंग्रेज़ों से बेहद घट कर हैं।[१४३] के, मैलीसन आदि इतिहासकारों में भी एशियाई शब्द का ऐसा ही घृणाव्यंजक प्रयोग मिलता है। अंग्रेज़ों ने फौज में यह नियम बना रखा था कि किसी काले आदमी को वीरता के लिये विक्टोरिया क्रौस न दिया जाय !

आदमी को आदमी न समझ कर वर्णदंभ और धर्मान्धता से पीड़ित अंग्रेज़ों ने यह युद्ध इस तरह चलाया मानों हिन्दुस्तान को जनशून्य कर देना हो। उन्होंने हज़ारों की तादाद में एक-एक नगर में लोगों को जो फाँसी दी, सैकड़ों आदमियों को एक साथ सामूहिक रूप से जो गोलियों से उड़ा दिया, उसका कारण उनकी धर्मान्ध क्रूरता और वर्णगत बर्बरता थी।

मिआंमीर से निःशस्त्र सिपाही प्राण बचाने के लिये भागे थे। उनमें डेढ़ सौ तो वैसे ही मारे गये। उसके बाद दो सौ अस्सी आदमियों को पकड़ कर अंग्रेज़ अजनाला लेगये और उन्हें फाँसी देना शुरू किया। रस्सी कम पड़ जाने से उन्हें गोली मारने का हुक्म हुआ। डेढ़ सौ को

मारने के बाद जल्लाद बेहोश हो गया। उसे कुछ देर सुस्ता लेने के लिये कहा गया। इसके बाद पता चला कि बाकी सिपाही जहाँ बन्द हैं, वहाँ से निकलने का नाम नहीं ले रहे हैं। यह सोच कर कि वे निकल कर भागेंगे, अंग्रेज़ों ने घेरा डाल कर दरबाज़ा खोला। वहां जितने बचे थे, वे सब दम घुटने से मर गये थे।[१४४]

अंग्रेज़ों ने गाँव के गाँव जला दिये और उनमें स्त्रियों, बच्चों, बूढ़ों सब को जीवित भून डाला। इलाहाबाद के इन अग्निकाण्डों के बारे में होल्म्स ने लिखा है, "बूढ़े आदमी जिन्होंने हमारा कुछ न बिगाड़ा था, असहाय स्त्रियाँ जो छाती से अपने बच्चे लगाये थीं, उन्होंने हमारी प्रतिहिंसा की तीव्रता का अनुभव वैसे ही किया जैसे कि कठोरतम अपराधियों ने।"[१४५]

लखनऊ में पीली कोठी (चक्कर वाली कोठी) पर अधिकार करने के बाद सिख सैनिक एक सिपाही को बाहर घसीट लाये। उन्होंने उसके मुँह और शरीर में संगीनें चुभोईं। दूसरे सैनिकों ने ईंधन इकट्ठा किया और उस पर "उस आदमी को जिन्दा जला दिया। वहाँ अँग्रेज़ खड़े देख रहे थे; एक से अधिक अफसरों ने यह सब देखा। किसी ने भी दखल न दिया। इस नारकीय दृश्य की वीभत्सता इस बात से और बढ़ गई कि वह गरीब जब अधजला होगया था, तो निकल कर भागने लगा। एकबारगी जोर लगा कर वह उछल पड़ा। उसकी हड्डियों से मांस लटक रहा था और इस हालत में वह कुछ दूर दौड़ा। इसके बाद सैनिक उसे पकड़ लाये और फिर आग पर रख दिया और जब तक वह जल न गया, तब तक उसे संगीनों से दाबे रहे।"[१४६]

रसेल के जिस मित्र ने उसे यह घटना सुनाई थी, उसने अपनी सफाई में कहा था कि सिख सैनिक अपने नायक ऐण्डरसन के मारे जाने से बहुत उत्तेजित थे—मानों युद्ध में किसी अंग्रेज़ को मारना सबसे बड़ा पाप हो!—"और अपने आदमी उन्हें उत्साहित कर रहे थे और मैं कुछ न कर सका।" मूल बात यह थी कि इन बर्बर कृत्यों के लिये अंग्रेज़ सिख सैनिकों को उत्साहित कर रहे थे। हिन्दुस्तानियों का महत्व मक्खियों-मच्छरों से ज़्यादा नहीं है, अंग्रेज स्वयं इस भावना से प्रेरित होकर ऐसे ही क्रूर कर्म करते थे। उनके लिये यह क्षम्य था कि उत्तेजित होकर ज़िन्दा आदमियों को भून डालें, गाँव के गाँव जला दें,

हजारों आदमियों को फाँसी पर लटका दें। हिन्दुस्तानियों ने उत्तेजित होकर अगर कहीं निर्दयता का व्यवहार किया तो दिल्ली से लंदन तक तहलका मच गया। लेकिन हिन्दुस्तानियों ने दो-चार जगह यदि निर्दयता का परिचय दिया तो पचासों जगह अंग्रेज़ों और उनकी स्त्रियों-बच्चों की उन्होंने जान भी बचाई। जान बचाने का काम उन्होंने कहीं ज्यादा किया, स्त्रियों-बच्चों की हत्या की घटनाएं बिरली ही थीं, वे पूरी तरह से प्रमाणित नहीं। फिर हिन्दुस्तानियों ने अंग्रेज़ों को जिंदा कहाँ जलाया, उनके बाल कब नोंचे, उनके जीवित या मृत शरीर में संगीनें कहाँ चुभोईं, सुअर की चर्बी मलने, सुअर की खाल में सी देने, परलोक नष्ट करने के विचार से तोप के मुहँ से बांध कर उड़ा देने के समान अंग्रेज़ों का वध करने में उन्होंने धर्मान्ध क्रूरता का परिचय कहाँ दिया? अंग्रेज़ों ने युद्धकाल में स्त्रियों को बेइज्ज़त करने, उनके अंग काटने आदि की कहानियों का खूब प्रचार किया; बाद को उन्हीं के इतिहासकारों ने इनका खंडन किया। सत्य यह है कि अंग्रेज़ों की क्रूरता और बर्बरता से भारतीय सेना का व्यवहार बिल्कुल उल्टा था। इस लिये वे इतिहासकार भारतीय स्वाधीनता के लिये लड़ने वाले शहीदों और योद्धाओं को कलंकित करते हैं जो उन्हें और अंग्रेज़ों को एक तराज़ू से तौलते हैं।

निरपराध लोगों को मारना, मरे हुए लोगों को अपमानित करना, ये काम लुटेरों और कायरों के होते हैं। रसेल को इस कायरता की थोड़ी सी अनुभूति हुई थी। आलमबाग के पास जलालाबाद में एक सिपाही का शव पड़ा हुआ था। "वह अफ्सर हड्डियों पर अपना घोड़ा क्यों चला रहा है? वीर पुरुष मुर्दों से युद्ध नहीं करते।"[१४७] तोपों और राइफलों के बल पर वीरता की डींग हाँकने वाले अंग्रेज़ों ने हर जगह वस्तुतः कायरता का ही परिचय दिया खून की प्यास के साथ उनमें पैसे की भूख भी बेहद थी। मारो और लूटो, यह उनकी नीति थी। खुद लूटते थे, औरों को लूट का लालच देकर फौज में भर्ती करते थे, दूसरों को लूटने के साथ वे आपस में भी लूटमार करते थे। लखनऊ की लूट में कुछ सिख सैनिकों के हाथ जवाहरात लगे। एक अंग्रेज़ अफ्सर की नज़र पड़ गई। लड़ाई छिड़ गई और जवाहरात अंग्रेज़ के कब्जे में आगये।[१४८] युद्ध के साथ लूट का आम रवाज था, इतना आम

कि बहुत से अंग्रेज़ उसके बारे में लिखने में जरा भी संकोच न करते थे। उदाहरण के लिये कानपुर से बिठूर जाते हुए गफ़ ने लिखा था कि वहाँ के लिये "हमने हवाई आशा बांध रखी थी कि लूट के माल से अपनी जेबें भरेंगे।"[१४९] एक लूट होती है टैक्सों के नाम पर, मालगुजारी लेकर, हिन्दुस्तानियों में वेकारी बढ़ाकर, उनके उद्योगधन्धे चौपट करके और अंग्रेज़ों को खूब ऊँची-ऊँची तनखाहें देकर। दूसरी यह शुद्ध लूट थी। दूसरों का माल उठाया और जेब में रख लिया। १८५७ में इन हत्यारों और लुटेरों की सेना ने तीन वर्ष तक हिन्दीभाषी प्रदेश में अकथनीय बर्बरता, क्रूरता और मनुष्य की निम्नतम लोभ और हिंसा की वृत्तियों का परिचय दिया था।

कितने वीर थे ये अंग्रेज़ शासक! शिमला में अफवाह उड़ी कि गुरखों ने बग़ावत कर दी है। भगदड़ मच गई। कौन पहले निकल कर भागता है, 'मर्दों' में होड हो रही थी और अपना समान ले जाने के लिये वे कुलियों को स्त्रियों से बढ़ कर दाम दे रहे थे।"[१५०] स्त्रियाँ न निकल पायें, हम आगे निकल जायँ; इसलिये ले कुली, हम से ज्यादा पैसे ले। एक बेबुनियाद अफ़वाह की वजह से भागने वाले ये वही साहब लोग थे जो स्त्रियों के अंगभंग की कहानियाँ गढ़ते थे, खूब उत्तेजित होते थे और काले आदमी का निशान मिटा देने की पुकार करते थे।

कलकत्ते में २५ मई ५७ को अफवाह थी कि बगावत होने वाली है। साहबों ने हथियार वगैरह लेकर तैयारी कर ली। एक मिस ने दो अंग्रेज़ मल्लाहों को रात भर घर की रखवाली के लिये रखा। मल्लाहों ने उन्हें जितना तंग किया, उतना उनके काल्पनिक शत्रु न करते।[१५१] १४ जून १८५७ को फिर अफ़वाह उड़ी कि मटियाबुर्ज़ में अवध के बादशाह वाजिदअली शाह के आदमी हमला करने वाले हैं और बैरकपुर से हिन्दुस्तानी फौज मदद के लिये आरही है। अंग्रेज़, पुर्तगाली यूरेशियन—सब घर छोड़-छोड़ कर नदी और किले की तरफ भागे। नदी के किनारे गोरे शरणार्थियों की भीड़ लग गई। नावें मिलना मुश्किल हो गया। यह साधारण गोरों की भगदड़ नहीं थी। शासक वर्ग के माननीय सदस्य भी इसमें थे और सबके आगे आगे थे। एक प्रत्यक्षदर्शी अंग्रेज़ ने लिखा है, "जो सबसे ऊँचे पदों पर थे, उन्होंने सबसे पहले

खतरे की घंटी बजाई। गवर्मेन्ट के सेक्रेटरी लोग काउंसिल [गवर्नर जनरल की काउंसिल] के मेम्बरों के पास दौड़ रहे थे, पिस्तौलों में गोलियाँ भर रहे थे, दरवाजों की मोर्चेबन्दी कर रहे थे। और सोफा सेटों पर सो रहे थे। काउंसिल के मेम्बर, अपने परिवार समेत घर छोड़ रहे थे और जहाज पर जाकर शरण ले रहे थे। इनसे कम प्रतिष्ठित सज्जनों की भीड़ें उनसे प्रेरणा पाकर जल्दी-जल्दी कीमती मालग्रासबाब इकट्ठा करके किले की तरफ़ बेतहाशा भाग रही थीं। उन्हें इसी की बड़ी खुशी थी कि किले की तोपों की छाया में सोने को मिलेगा।"[१५२] शहर की गलियाँ ऐसी हो गई थीं मानों महामारी से शहर वीरान हो गया हो। बहुत से घरों के दरवाजे खुले हुए थे लेकिन लूट के प्रेमी अंग्रेज़ों की लूटने की भी फुर्सत न थी। यह इतवार था और धर्म-प्रेमी अंग्रेज़ों को प्रार्थना करने की फुर्सत न थी; गिरजाघर सूने पड़े थे। "फ्रेण्ड ऑफ इण्डिया" ने लिखा था कि अफवाह यह थी कि दिल्ली से हिन्दुस्तानी फौज कलकत्ते पर हमला करने आरही है। कहीं नाना साहब और राना बेनीमाधो के साथ नेपाल होती हुई फौज कलकत्ते के पास पहुँच ही गई होती, तब जो होता, वह कल्पनातीत है। महज़ अफवाह पर उपर्युक्त पत्र के अनुसार "सभी वर्ग भय से बुरी तरह कांप रहे थे। चौरंगी और गार्डन रीच खाली करके लोग [अर्थात् अंग्रेज़ और अन्य गोरे] नदी पर जहाज़ों में और किले में चले गये थे।"[१५३] सुरक्षित घरों में सैकड़ों आदमी एक साथ प्रसन्नता से ठुँस गये। ये सब ब्लैकहोल की झूठी कहानी सुनाकर अत्यंत व्यथित होने वाले साहब लोग थे। उन्होंने और कोई सूरत न देखकर गवर्नर जनरल को आवेदन-पत्र भेजा कि बंगाल प्रेसीडेन्सी में हर जगह मार्शल लॉ जारी कर दिया जाय।[१५४]

कलकत्ते में लार्ड कैनिंग की नाक के नीचे रहने वाला हिन्दुस्तान का यह चुना हुआ सर्वोच्च अंग्रेज़ शासक-वर्ग था। इस तरह के कायर एक बार ताकत हाथ में आने पर निरपराध लोगों का खून बहायें तो आश्चर्य क्या? उनके लिये सिपाहियों की क्रूरता के किस्से गढ़ना मनोवैज्ञानिक दृष्टि से बहुत स्वाभाविक था। एक बार आगरे के किले में बंद अंग्रेज़ों में तहलका मच गया। गोली चलने की आवाज़ आई। पता चला कि कुछ अंग्रेज़ सैनिक एक गधे पर निशाना लगा रहे हैं! आपस में झगड़ों की कोई सीमा नहीं थी। एक प्रत्यक्षदर्शी के अनुसार "सिविल

अधिकारी फौज वालों से झगड़ते थे, अनियमित पल्टनों के लोग नियमित पल्टन वालों से लड़ते थे। और मानों इतना काफी न हो, कुछ सिविल अधिकारियों ने एकदम अकारण रोमन-कैथलिक बिशौप और पाद्रियों पर आक्रमण किया।"[155] आखिर इस चहल-पहल में धर्मप्राण प्रोटेस्टेएट अंग्रेज़ रोमन कैथलिकों से अपनी पुरानी शत्रुता कैसे भूल जाते? लेफ्टिनेएट-गवर्नर कौलविन का दिमाग जवाब दे रहा था। उसने जॉन लारेन्स को लिखा कि राजपूताना छोड़कर आगरे आ जाओ। प्रिचार्ड ने लिखा है कि "लगभग हर अधिकारी सिर्फ अपने महकमे की हिफाजत की बात सोचता था।"[156] अंग्रेजों में ऐसे भी थे जो परिस्थिति से घबड़ाये नहीं और सामन्तों और अपनी तोपों का भरोसा करके विद्रोह के दमन की तैयारी करने लगे। लेकिन ऐसे लोग कम थे। हिन्दुस्तानियों की सहायता के बिना लड़ने वाले अंग्रेज कहीं भी नहीं थे, लखनऊ की रेजीडेन्सी में भी नहीं। उनकी वीरता के खंभे हिन्दुस्तान के ही सैनिक और सामन्त थे।

अंग्रेजों की आपसी एकता का यह हाल था कि हिन्दुस्तानियों का खून बहाने में सब एकमत थे। इसके बाद अल्ला मालिक था। सिविलिया कहते थे कि जनता अंग्रेजों के खिलाफ़ नहीं है; यह सिपाहियों की बग़ावत है। फौज वाले कहते थे, नहीं, जनता भी खिलाफ़ है। कौलिन कैम्पबेल का कहना था, "हम देखते हैं कि ये सिविलियन हमें बराबर धोखा दे रहे हैं या देशी लोगों द्वारा खुद अपने को बरग़लाये जाने देते हैं। वे इसकी ज़िद करेंगे कि आम आदमी हमारे खिलाफ़ नहीं हैं।"[157] रसेल ने लिखा था कि सिविल अधिकारी जब बहुत परेशान होते हैं, तब फौजी हेडक्वार्टर के लोग बहुत प्रसन्न होते हैं।[158]

इनकी फौज के विश्व-प्रसिद्ध अनुशासन का यह हाल था कि इलाहाबाद में ब्रिटिश सैनिकों ने यूरोपियन व्यापारियों के गोदाम लूटे। किले में शराब की इतनी इफरात हो गई मानो पानी हो। सिख सैनिक अंग्रजों को शराब बेचकर अलग व्यापार करते थे।[159] इसी तरह कानपुर में यूरोपियन व्यापारियों की दूकानों से शराब लूटी गई; मार्च करते हुए ब्रिटिश सैनिक अपने सामग्री-विभाग को ही लूट चले।[160] शराब में अनुशासन ग़र्क करने के यही दृश्य दिल्ली में देखे गये। शराब और लूट के साथ अनुशासन कैसे चल सकता है?

अंग्रेज जब हारकर भागते थे, तब उनकी दहशत और बेसब्री की कल्पना ही की जा सकती है। जब वे जीतने का हौसला लिये हुए हमला करते थे, तब कभी-कभी उनके अनुशासन का जो हाल होता था, उसका वर्णन एक जगह गफ़ ने किया है। जलालाबाद के युद्ध में गफ़ की पल्टन ने लखनऊ की सेना का पीछा करना शुरू किया। तेजी में उसकी सफें टूट गईं और सैनिक बिखर गये। सिपाहियों ने घूम कर उन पर अपनी बची हुई तोप से गोले बरसाना शुरू किया। अंग्रेजी सेना की सफें टूट गईं, देशी सेना ने अपनी सफें दुरुस्त कर लीं। "हमारे आदमी पीछा करने या हमला करने में तेजी से आगे बढ़ने वाले बहादुर थे। शत्रु से जहाँ दबना पड़े, उस परिस्थिति में उन्हें दनादन मार खाना पसन्द न था। शोरगुल बेहद बढ़ गया। अफ्सर भरपूर कोशिश कर रहे थे; लेकिन सब बेकार और ऐसा लगता था कि हौडसन की घुड़सवार पल्टन भाग खड़ी होगी।...अग्निवर्षा बड़ी घातक थी। फासला कम था और चिकनी नली की मस्केटों से अधाधुन्ध गोलियाँ बरसाने के लिये बिल्कुल उपयुक्त था। हम इन गोलियों की बाढ़ में थे जिससे कि हमारे छोटे दल का हर आदमी या तो मारा गया या घायल हो गया।"[१६१] इस लड़ाई में गफ़ घायल हो गया था। अंग्रेजी कुमक पहुंचने पर उसकी जान बची। गफ़ ने अन्यत्र जाटों को दोष दिया था कि देखने में तो जँचते हैं लेकिन "बुद्धू जाट किसान को ड्रिल सिखाना बहुत मुश्किल होता है।"[१६२] नस्ल दूसरी होने से किसी जाति से घृणा करने का गुण गफ़ में विद्यमान था। उधर खास महारानी विक्टोरिया की ५३ वीं पल्टन के बारे में होप ग्राण्ट को शिकायत थी कि "उसे काबू में रखना मुश्किल था।"[१६३] इस पल्टन का एक किस्सा गफ़ ने लिखा है। आयरिश सैनिक कहीं से एक बैल खेद लाये। उसे मारने जा रहे थे कि सिख आ गये और उसके मारने पर आपत्ति करने लगे। झगड़ा बढ़ जाता लेकिन कर्नल ने आकर किसी तरह उन्हें शान्त कर दिया। आयरिश लोग अक्सर हाथ में न रहते थे, यह गफ़ ने भी लिखा है।[१६४] सिख लुटेरे थे, जाट ड्रिल करना न जानते थे, अन्य सैनिक शराब लूटते थे, अनुशासन केवल विशुद्ध ऐंग्लो सैक्सन जाति के सैनिकों में था!

अंग्रेजी सेना में जातीय भेदभाव के अलावा नौकरशाही मनोवृत्ति की कमी नहीं थी। मैलीसन के अनुसार मेजर रीड ने दिल्ली के युद्ध के

समय अनेक बार युद्ध संबन्धी विवरण पेन्सिल से लिखकर सेनापति विलसन को भेजा था। पेंसिल से लिखकर भेजना कायदे के खिलाफ़ था। विलसन ने पेंसिल से लिखे हुए वे कागज फाड़कर फेंक दिये। रीड ने बाद को स्याही से लिखकर अपना विवरण प्रधान सेनापति के पास भिजवाया और कुछ अफसरों की वीरता की ओर ध्यान आकृष्ट किया। कैम्पबेल ने उत्तर दिया कि अब बहुत विलम्ब होगया है और इस तरह की रिपोर्टों पर ध्यान नहीं दिया जा सकता। होप ग्राण्ट ने अपने एक अफसर को विक्टोरिया क्रॉस देने के लिये प्रधान सेनापति के पास उसकी सिफारिश लिख भेजी थी। कैम्पबेल ने उसका समर्थन न किया क्योंकि उसकी समझ में उतने बड़े अफसर को विक्टोरिया क्रास देना उचित न था। रौबर्ट्‌स ने एक कर्नल कैम्पबेल की यह कहानी लिखी है। वह उसे सूचित करने गया था कि बिग्रेडियर चेम्बरलेन आगे बढ़ने वाली पल्टन का नेतृत्व सँभालने आया है। कर्नल बिस्तर पर लेटा हुआ था। वैसे ही लेटे-लेटे उसने रौवर्ट्स की बात सुनी और बोला, ब्रिगेडियर चेम्बरलेन सिर्फ लेफ्टिनेंट-कर्नल है और मैं महारानी की फौज में कर्नल हूँ, इसलिये उसे अपना बड़ा अफसर नहीं मान सकता। कंपनी और महारानी विक्टोरिया के अफसरों में परस्पर ऊंच-नीच का भेद-भाव था। रौबर्ट्‌स ने इस सम्बन्ध में लिखा है कि चेम्बरलैन "जान कम्पनी" का नौकर था और कैम्पबेल महारानी की सेवा में था, इसलिये अपने को बड़ा समझता था। विद्रोह के उपरान्त महारानी विक्टोरिया का शासन होने से "यह बेहूदा और दुर्भाग्यपूर्ण ईर्ष्या" खत्म हो गई। सेना-नायकों की ईर्ष्या का एक उदाहरण के ने दिया है। दिल्ली पर आक्रमण करके अन्दर प्रवेश करने के पहले विलसन ने प्रधान सेना-नायकों की एक सभा की। निकलसन और विलसन में पटती नहीं थी; इसलिये निकलसन सभा में शामिल न होकर तोपों का मुआयना करने चला गया। ब्रिटिश सेना के उच्च अफसरों में बहुत से जमींदार थे जिनकी रियासतें रेहन रखी गई थीं। श्री सुरेन्द्रनाथ सेन ने फोर्ब्स-मिचेल का यह कथन उद्धृत किया है कि उसे इंगलैण्ड की एक ऐसी रियासत का पता था जिस पर एक लाख अस्सी हजार पाउंड कर्ज था। लखनऊ की लूट के बाद यह जायदाद छुड़ा ली गई!

हिन्दुस्तान के सामन्तों की मदद पर, लूट, हत्या, आगजनी और फाँसी का राज कायम करने वाली यह अंग्रेजी फौज उस ब्रिटिश सभ्यता का प्रतीक थी जिसका प्रकाश एशिया, अफरीका और प्रशान्त महासागर में फैल रहा था। युद्ध से विभिन्न वर्गों के चरित्र की वास्तविकता का बहुत जल्दी पता चल जाता है। अंग्रेज़ शासक वर्ग ने आगरा, कलकत्ता, शिमला आदि नगरों में अपने अनुशासन का अच्छी तरह परिचय दे दिया। अपनी जान के आगे उन्हें स्त्रियों की रक्षा करने की भी चिन्ता न रहती थी। धर्मान्धता और नस्लों के अहंकार में अंग्रेजी फौज ने सामन्तकाल की बदनाम फौजों को बहुत पीछे छोड़ दिया था। लोगों को सता-सताकर मारने और स्त्रियों-बच्चों को गांवों में जलाने में उसने नाजियों का पथ प्रदर्शन किया था। इस फौज के खूनी आतङ्क से जनता के जीवन और देश के सम्मान के लिये, अस्त्र-शस्त्रों में बहुत घट कर भी, सन् सत्तावन की क्रान्ति के वीरों ने अपूर्व दृढ़ता और आत्म-बलिदान का परिचय देते हुए युद्ध किया था। दोनों फौजों का अन्तर, दोनों पक्षों की रणनीति का अन्तर और ब्रिटिश आततायियों तथा सहृदय भारतीय जनता की संस्कृतियों का अन्तर हमें कभी न भूलना चाहिये।

भारतीय रणनीति और उसका महत्व

हिन्दुस्तान की सेनाओं के संगठन और उनके अस्त्र-शस्त्रों के बारे में अंग्रेज लेखकों की पुस्तकें पढ़कर ऐसा लगता है कि यहाँ के लोगों को न सेना-संगठन करना आता था, न अस्त्र-शस्त्रों का निर्माण करना आता था। सारी बातें यहाँ के लोगों ने अंग्रेजों अथवा अन्य यूरोपियनों से सीखीं। बारूद का आविष्कार चीन में हुआ था। तुर्कों ने तोपें बनाने में विशेष प्रगति की थी। पंद्रहवीं

सदी में तुर्की तोपों ने कुस्तुन्तुनिया पर विजय पाई। यूरोप में फ्रान्सीसियों ने इस विद्या में प्रगति की। पन्द्रहवीं सदी में ही फ्रान्सीसियों ने फौर्मिन्यी की लड़ाई में अंग्रेजों को अपने सुरक्षित स्थान छोड़कर बाहर निकलने पर वाध्य किया। कास्तिल्यों के युद्ध में उन्होंने अपनी तोपों से अंग्रेजों का भारी संहार किया। इस समय तोपें गाड़ियों पर जहाँ चाहो वहाँ न चली जाती थीं। उन्हें गतिशील बनाने का काम यूरोप में फ्रान्सीसियों ने किया। बारूद से चलने वाले छोटे हथियारों में सबसे पहले प्रगति करने वाली यूरोपियन जाति स्पैनिश थी। तोपों और बंदूकों का आविष्कार करने का श्रेय अंग्रेजों को नहीं है। अन्य अनेक क्षेत्रों की तरह यहाँ भी ये दूसरों के अनुवर्ती थे।

हिन्दुस्तान में लगभग इसी समय बाबर ने तोपों का प्रयोग किया था। आगरे में उसने तोपों के लिये लोहा गलाने और साचों में ढालने के लिये भट्टियां बनाई थीं। अकबर के समय में बारूद से चलने वाले अस्त्र शस्त्रों का खूब विकास हुआ। "भारतीय मुगलों की सेना" नाम की पुस्तक में विलियम इर्वाइन ने लिखा है कि "आईने अकबरी" में तोपों का बहुत थोड़ा जिक्र है, इससे यह अनुमान होता है कि यह शस्त्र विकसित हुआ भी था तो बहुत कम।[१६५] लेकिन जो थोड़ा कहा गया है, वह थोड़े में बहुत समझने की पद्धति से कहा गया है। अकबर के अनुसार तोपें साम्राज्य की ताला-चाभी थीं। बड़े आश्चर्य की बात होती यदि इतना समझने पर भी वह तोपखाने को विकसित न करता। औरंगजेब ने दक्षिण के युद्धों में किलों का घेरा डालने और उन पर विजय पाने के लिये तोपों का काफी उपयोग किया था। बर्नियर के अनुसार औरंगजेब के शासन के आरंभ में उसके पास सत्तर तोपें थीं जिनमें अधिकतर पीतल की थीं। १८०३ में लेक ने जिन भारतीय तोपों पर कब्जा किया था वे सब गाड़ियों पर चलने वाली यूरोपियन तोपों जैसी थीं। इर्वाइन के अनुसार लोहे की तोपें यूरोपियनों की बनाई हुई थीं लेकिन पीतल की तोपें, मौर्टर और हौबिट्जर हिन्दुस्तान में ढाले गये थे। इनमें कुछ मथुरा में बनी थीं; कुछ उज्जैन में। इनके कलात्मक रूप का श्रेय इर्वाइन ने किसी यूरोपियन कलाकार को दिया है (क्योंकि कला से भारतवासियों का कोई संबंध था नहीं!)। आगरे में अंग्रेज़ों को एक भारी तोप मिली थी जो चौदह फीट से ज्यादा लंबी थी। साढ़े

बाईस इंच का उसका मुंह था। इससे लगभग डेढ़ हजार पाउंड का गोला निकलता था। तोप का वजन १४६६ मन था। उसकी पीतल की कीमत उस समय ५३,४०० रुपये आँकी गई थी; यदि वह युद्ध के योग्य सिद्ध हो तो उसका मूल्य एक लाख साठ हजार रुपये आँका गया था। लेक की बड़ी इच्छा थी कि उसे आगरे से कलकत्ते और वहाँ से लंदन ले जाय। इसके लिये जमुना के ऊपर तख्तों का पुल बनाया गया लेकिन बुद्धिमान अंग्रेजों -- वैसी तोप बनाना दरकिनार—उसे जमुना के पार भी न ले जा सके। तख्तों के साथ उन्होंने उस जंगी तोप को भी जमुना मैया को समर्पित कर दिया।[१६५]

केवल बड़ी या भारी होने से कोई तोप बहुत उपयोगी नहीं हो जाती। लेकिन अवश्य ही लेक डेढ़ हजार मन पीतल ही ढोकर इंगलैण्ड न ले जाना चाहता था। इससे यह सिद्ध होता है कि अंग्रेजों को कोई ऐसी चीज मिली थी जिसे बनाना अभी उनके वश की बात नहीं थी। आगरे में लेक को ७६ पीतल की और ८६ लोहे की तोपें तथा उस बड़ी तोप से मिलती जुलती एक और तोप मिली थी। ये सब तोपें उस अठारहवीं सदी में बनी थीं जो अपनी अराजकता और भारतीय उद्योगधन्धों के ह्रास के लिये विख्यात की गई है। इनके अलावा औरंगजेब और बाद को सिन्धिया के पास हल्की तोपों वाले घुड़सवार तोपखाने भी थे।

तोपों के अलावा भारतीय सेनाओं में बान (रौकेट) का प्रयोग भी होता था। दारा शुकोह ने इन्हें समूगढ़ के युद्ध में इस्तेमाल किया था। अंग्रेजों ने रौकेट चलाने की विद्या हिन्दुस्तान से सीखी थी। इर्वाइन ने काफी कष्ट से स्वीकार किया है, "कहा जाता है कि ब्रिटिश फौज में कौन्ग्रीव-रौकेट का चलन १८०६ में उन बानों के आधार पर हुआ था जिन्हें १७९९ में टीपू सुल्तान ने सेरिंगापटम के युद्ध में इस्तेमाल किया था। उस युद्ध में कौन्ग्रीव सुबाल्टर्न [हवल्दार] की हैसियत से भाग ले रहा था। लेकिन रौकेट मैसूर की अनूठी चीज न थे। वे सभी युगों में इस्तेमाल किये गये थे और उस समय से पहले सारे भारत में फैल गये थे।"[१६६] बान एक लोहे की नली से बना होता था और यह नली दस-बारह फीट लंबे बाँस में लगी होती थी। नली में बारूद भर दी जाती थी और आग लगा कर उसे तीर की तरह छोड़ दिया जाता था।

कुछ बानों में कोठरी होती थी और वे गोले की तरह फूटते थे। भूमि-बान सर्पगति से चलते थे और धरती पर गिरने के बाद फिर उठते थे और जब तक वेग खत्म न हो जाय, आगे बढ़ते जाते थे ! घुड़सवारों के घोड़ों को अस्तव्यस्त करने में बान बहुत काम आते थे। कैप्टेन टौमस विलियमसन के अनुसार उससे घुड़सवारों में जो भगदड़ मचती थी, वह देखने के काबिल होती थी। जब वह लक्ष्य पर गिरता है, तब उसका प्रभाव कल्पनातीत होता है, सर्पाकार गति से बढ़ते हुए सीत्कार करते हुए इस आगन्तुक से सभी बचकर भागते हैं, संभवतः उस लकड़ी से तड़ से मार खाजाते हैं जिससे नली का दिशानिर्देश होता है और जिसके कारण वह आकस्मिक और अप्रत्याशित ढंग से अपनी दशा बदल लेती है। इस वृहदस्त्र (this tremendous weapon) के सञ्चालन के लिये इतना लाघव आवश्यक है कि बहुत सतर्कता के बिना उसके सञ्चालक सुरक्षित नहीं रह सकते। उसे ठीक ऊंचाई से छोड़ने के लिये, जिससे कि दूरी का अनुपात ठीक किया जा सके, बहुत अभ्यास की आवश्यकता होती है। यही नहीं, यह निश्चित करने के लिये भी कि छूटते समय गति भंग होने से वह अनिवार्यतः सञ्चालकों को क्षति न पहुँचाये, बहुत अभ्यास आवश्यक होता है।''[१४७]

१८५७ में भारतीय सेना ने बानों का प्रयोग किया और अंग्रेजों ने देखा कि इस क्षेत्र में सरिंगापटम के बाद उन्हें हिन्दुस्तानियों से अभी कुछ और भी सीखना है। इस राज्यक्रान्ति के समय तक भारतीय सामन्तों ने अंग्रेज़ी फौजें रख कर यहां की सैन्य-शक्ति और शस्त्र-विद्या को भारी हानि पहुँचाई थी। अंग्रेज़ों की विग्रह-नीति के फलस्वरूप उन्होंने परस्पर, युद्धों द्वारा अपनी शक्ति क्षीण की और वे शस्त्र-सज्जा में बहुत कुछ परमुखापेक्षी बन गये। यदि कुछ देशभक्त सामन्तों के एकता-सम्बन्धी प्रयत्न सफल हुए होते तो १८५७ में अंग्रेज़ शस्त्र-बल में यहां की सेनाओं से बहुत बढ़कर न होते। जिस समय राज्यक्रान्ति आरंभ हुई, उस समय भारत की प्रमुख सैन्यशक्ति—बंगाल सेना के विद्रोही सिपाही—अंग्रेज़ों के हाथ में तोपखाना होने और एनफील्ड राइफलों के प्रायः अभाव के कारण शस्त्र-सज्जा में शत्रु से घटकर थे।

पार्लियामेंटरी पेपर्स के आधार पर डा० रिज़वी द्वारा उद्धृत आंकड़ों के अनुसार भारतीय सैनिक अपने साथ जो तोपें दिल्ली लाये थे, वे

तीस के लगभग थीं। अंग्रेजों ने मेगज़ीन को उड़ा दिया था; यह पता नहीं कि उसमें भारतीय सेना को कितनी तोपें मिलीं। ब्रिटिश सेना से मिली हुई तोपों से युद्ध चलाना कठिन था। भारतीय सेना को देश में जो शस्त्र-निर्माण कौशल बचा था, उससे काम लेना पड़ा। झाँसी के किले पर ओरछा की सेना द्वारा आक्रमण होने पर रानी लक्ष्मीबाई ने तोपें ढालना और गोली बारूद तैयार करना शुरू किया था।[२५८] दिल्ली में गोला-बारूद न पाकर सेनाओं ने युद्धसामग्री तैयार की थी। के ने नाना साहब की ओर से लड़ने वाले कानपुर के नवाब नन्हें खां के लिये लिखा है कि उनके नेतृत्व में चलने वाली तोपों ने अंग्रेज़ों को बहुत हानि पहुँचाई। उन्होंने कुछ कुशल देशी कारीगर एकत्र किये थे "जो गर्म-सुर्ख गोलों और अन्य आग्नेय अस्त्रों पर प्रयोग कर रहे थे।"[२५९] उनकी एक तोप से ऐसा आग्नेय पदार्थ आकरगिरा कि बैरक जल गई। नाना साहब ने इस पर नबाब को पाँच हजार रुपये इनाम दिये। अंग्रेजों के लिये यह आग्नेय अस्त्र निश्चय ही नया था; उससे बैरक में आग लग जायगी, यह उन्हें पता न था। द्वितीय महायुद्ध में जो अग्नि-बम (incendiary bombs) इस्तेमाल किये गये थे, नवाब नन्हें खाँ का आग्नेय अस्त्र उनका पुरखा था। इससे सिद्ध होता है कि युद्धकाल में भी भारतीय प्रतिभा अस्त्र-शस्त्रों के प्रयोग में लगी थी और अनेक बार उसने नये अस्त्रों से अंग्रेज़ों को, जो कुल मिला कर शस्त्र-सज्जा में बढ़कर थे, चकित भी कर दिया।

युद्ध-काल में अंग्रेज़ों को जगह-जगह तोपें बनाने की भट्टियाँ मिली थीं। जगदीशपुर में उन्हें हाल की बनी एक तोप मिली थी जिसकी नाल तांबे की थी। लुगार्ड ने उसे "बहुत कौशल से निर्मित" ("most skilfully made") कहा था।[१७०] फतेहगढ़ के किले में भारतीय सेना ने तोपें और गोला-बारूद तैयार करने का कारखाना बनाया था। प्रतापगढ़ ज़िले में रामपुर के किले में अंग्रेजों को लोहा ढालने की भट्टी, बारूद बनाने और तोपों के लिये गाड़ियाँ तैयार करने का कारखाना मिला था। इसी तरह मैनपुरी आदि अन्य स्थानों में तोपें बनाई जाती थीं।

बहराइच में युद्ध-सामग्री का एक बड़ा कारखाना रसेल ने देखा था। उसने लिखा था, "इसी जगह सराय में जहाँ नाना साहब के भाई

बाला राव बहुत दिन तक रहे थे, अनेक बड़ी-बड़ी कोठरियाँ है जिनमें धौंकनी, भट्टियाँ, साँचे, तोपें ढालने के कुण्ड, गोलियाँ और गोले बनाने के विचित्र उपकरण थे।"[१७१]

विद्रोही सिपाहियों को थोड़े से एनफील्ड राइफल भी मिले थे। आगरे में अंग्रेज़ों को विद्रोही सिपाहियों की एक कंपनी से लड़ने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था जिसके पास एनफील्ड राइफल थे जब कि उनके पास मस्केटें ही थीं।[१७२] अंग्रेज इस युद्ध में पराजित हुए थे। अवध की बेगम की सेना में नेपाल पहुँचने तक कुछ एनफील्ड राइफल बचे हुए थे। विद्रोही सिपाही अधिकतर मस्केटों से लड़े। इनके अलावा बड़े पैमाने पर देसी बन्दूकें तैयार की गई थीं। इसके बिना आम जनता को शस्त्र-सज्जित करना असंभव होता। रौबर्टसन ने लिखा था कि विद्रोहियों के पास जो देशी बन्दूकें मिली थीं, उनमें से अधिकांश हाल की बनी थीं। उसने इस बात पर आश्चर्य प्रकट किया है कि साधारण हिन्दुस्तानी किसान भी कितनी जल्दी अस्त्र-शस्त्र का निर्माण करने लग जाते हैं।[१७३] इसका कारण यह था कि उस समय तक साधारण हिन्दुस्तानी अपने अस्त्र-शस्त्र के प्रयोग से बिल्कुल वंचित न किया जा सका था। रसेल ने अवध में बनने वाली बन्दूकों के बारे में लिखा था, "लोहे को पीट कर वे [अवध के लोग] अच्छी बंदूकें (मैचलौक) बनाते हैं और तीस शिलिंग या दो पाउंड में वे नई और दुरुस्त काम देने वाली मिल जाती हैं।" अवध के लोगों के शस्त्र-प्रेम के बारे में उसने लिखा था, "अवध के लोगों का शस्त्र-प्रेम व्यसन की सीमा तक पहुँच गया है।"[१७४] नेपाली सीमा पर भारतीय सेना से युद्ध के बाद रसेल ने एक किले में प्राप्त युद्ध-सामग्री के बारे में लिखा था, "बान (रौकेट), नीली रोशनी, पलीते, कातूंस, लोहे के गोले, नये ढाले हुये पीतल के गोले जो बहुत अच्छे बने हुये थे, उन्हें बनाने के साँचे, फ्यूज़, ढेरों अंग्रेज़ी कातूंस, और बंदूकों की टोपियों से भरे हुये झोले।" इसके बाद उसने बानों के बारे में विशेष रूप से लिखा था, "बानों में बड़ी चतुराई से ऐसे उपकरण लगा दिये गये थे कि वह उलट कर न उड़ सकें। हमारे इंजिनियरों ने इसे नोट कर लिया। बान के पीछे की ओर आने की इतनी संभावना रहती है कि उससे रक्षा का ध्यान रखना आवश्यक होता है।"रसेल की इस टिप्पणी से मालूम होता है कि अंग्रेज इस तरह

के बान बनाना न जानते थे जिनके उलट कर पीछे आने और उन्हें चलाने वालों को हानि पहुँचाने की संभावना न रही हो। इसीलिये उनके इंजिनियरों ने भारतीय बानों की विशेषता नोट करली थी। इस स्थान की मैगज़ीनों के बारे में रसेल ने लिखा था कि उसकी देखी हुई भारत की सब मैगजीनों से वे बढ़ कर थीं।

इन अस्त्रों-शस्त्रों के अलावा सबसे अधिक तलवारों का प्रयोग हुआ था। हिन्दुस्तानी ही नहीं, अंग्रेज़ भी तलवारें इस्तेमाल करते थे लेकिन उतनी नहीं जितनी यहाँ के लोग। तलवार जनता का अपना पुराना चिर-परिचित शस्त्र था। कलकत्ते के अस्पतालों में लखनऊ और कानपुर के युद्धों में घायल सैकड़ों अंग्रेज़ सैनिक पड़े थे। एक सैनिक को बहुत घायल देखकर रसेल ने अनुमान किया कि वह तोप के गोले से क्षत हुआ है किन्तु सैनिक ने कहा कि वह तलवार से घायल हुआ है। रसेल ने आगे लिखा है, "पूछने पर मालूम हुआ कि अधिकांश घाव, जिसमें बहुत से गहरे और घातक थे, तलवारों के वार से हुए थे। उन दो अस्पतालों में तलवारों से जितने घायल मैंने देखे उतने बैलक्लावा (क्राइमिया युद्ध) के बाद न देखे थे।"[१७५] आर्थिक दृष्टि से पिछड़े हुए देशों में सन्तुलित उत्पादन के लिये जैसे मशीनों के काम के साथ दस्तकारी को भी प्रोत्साहन दिया जाता है, वैसे ही भारतीय सेना तोपों और बंदूकों के साथ आमने सामने की लड़ाई के लिये तलवारों से काम लेती थी। अंग्रेजों के सामग्री लेजाने वाले काफिलों पर हमला करने के लिये, उनके खेमाबर्दारों को तितर बितर करने के लिये, उनकी तोपों पर टूट पड़ने के लिये, रात की लड़ाई और छापेमार-युद्ध के लिये तलवार सस्ता, लोकप्रिय और कारगर अस्त्र था। तलवार का उपयोग इसलिये न किया जाता था कि भारतीय सेना को बारूद से परहेज था और वह सामन्तों की तरह आमने-सामने की लड़ाई पसन्द करती थी। तलवार का उपयोग उस समय की ऐतिहासिक परिस्थितियों ने अनिवार्य कर दिया था जिनके कारण पर्याप्त मात्रा में और अच्छी श्रेणी की तोपें और बंदूकें सुलभ न थीं। तलवार एक ऐसा अस्त्र है जो व्यक्तिगत शौर्य और कौशल के बिना व्यर्थ हो जाता है। किसी चीज़ की ओट लेकर गोली चलाना एक तरह का कौशल है; आमने-सामने तलवार लेकर लड़ना दूसरी तरह का कौशल है। जब शत्रु के पास केवल तलवारें न

हो वरन् वह नयी तरह की शत्रु-सज्जा में बढ़कर हो, तब सैनिकों की व्यक्तिगत वीरता का अनुमान किया जा सकता है। कलकत्ते के जो दो बड़े-बड़े अस्पताल जनवरी १८५८ में—जब अवध का युद्ध बहुत कुछ बाकी था —कानपुर, लखनऊ आदि की लड़ाइयों में घायल सैनिकों से भरे हुए थे, वे अपने में भारतीय सूरमाओं के अनुपम साहस और कौशल की मार्मिक गाथा छिपाये हुए थे। ये ब्रिटिश सैनिक गङ्गा और गोमती के किनारे तलवारें और भाले लेकर युद्ध करने न गये थे। वे तोपों और राइफलों से सुसज्जित सेना का अंग थे। हिन्दुस्तानी सिपाहियों ने इनकी तोपों के आग उगलने की पर्वाह न करके, इनके एनफील्ड राइ-फलों की बाढ़ को चीर कर इन पर तलवारों से वार किये थे। इस शौर्य और पराक्रम का कोई विस्तृत वर्णन विजेता नहीं छोड़ गये। किन्तु तलवार से घायल होने वाले उन ब्रिटिश सैनिकों की संख्या वह कहानी स्वयं कहती है।

अगस्त १८५६ तक अंग्रेज़ों ने अवध में भारतीय सैनिकों और किसानों से जो अस्त्र शस्त्र छीने थे, उनसे संघर्ष की व्यापकता और युद्ध-सामग्री तैयार करने के उद्योग का अनुमान किया जा सकता है: ३८४ तोपें, १,८६,१७७ बंदूकें आदि, ५,६५,३२१ तलवारें, ५०,३११ भाले, ६,३६,६८३ अन्य प्रकार के छोटे-मोटे अस्त्र। इस अवधि में वहां के १५६६ दुर्गों को भी बारूद से उड़ाकर भूमिसात् किया गया था।[१७६]

हिन्दुस्तान के प्रतिभाशाली आविष्कारक जिन्होंने औद्योगिक क्रान्ति कर चुकने वाले इंगलैण्ड के सैनिकों को विचित्र दिखने वाले बान बनाये थे, कानपुर के वे आविष्कर्ता जिनके अगिन-गोलों से अंग्रेज़ों की मोर्चा-बन्दी में आग लग गई थी, वे हजारों कारीगर जो सैनिकों के साथ युद्ध के मोर्चों पर तोपें ढाल रहे थे, गोला-बारूद तैयार कर रहे थे और बंदूकें बना रहे थे, वे मजदूर जिन्होंने दिल्ली में नये सिरे से गोली-बारूद तैयार की और जिनके साढ़े चार सौ साथी सामन्तों के ढुलमुलपन और अंग्रेज़ों के भेदियों की कार्यवाही के फलस्वरूप दिल्ली में युद्धसामग्री के कारखाने के उड़ाये जाने के कारण नष्ट हुए, गाँवों के वे साधारण लुहार जिन्होंने हजारों की संख्या में किसानों की लिये तलवारें बनाईं, ये सब क्रान्तिकारी सेना का अभिन्न अंग थे, वे भारतीय प्रतिरोध को प्राणशक्ति देने वाले सूरमा थे, उनके बिना तीन वर्षों तक कठिन परि-

स्थितियों में युद्ध चलाना असंभव होता, इसलिये सेना के साथ उनके महत्व का उल्लेख करना आवश्यक है।

सेना-नायक प्राप्त शस्त्र-सज्जा के अनुरूप ही रणनीति निर्धारित करके युद्ध-सञ्चालन कर सकते हैं। भारतीय सेनापतियों ने आरंभ से ही अपनी शस्त्र-सज्जा और युद्ध-सामग्री की सीमाएँ देखकर एक निश्चित रणनीति निर्धारित की थी। शत्रु से जमकर नगरों में युद्ध करना, नगर छिन जाने पर सेना को विशृंखल होने से बचाकर देहात में, जंगलों में, पहाड़ों की उपत्यकाओं में, गढ़ों और दुर्गों में प्रतिरोध-केंद्र स्थापित करना, जनता के सहयोग से छापेमार युद्ध का संचालन करना, शत्रु के यातायात साधनों को छिन्न-भिन्न करना, उसके लिये खाद्य-सामग्री आदि प्राप्त करने में बाधायें देना, उसकी शक्ति को क्रमशः क्षीण करते हुए उस पर अन्त में प्रत्याक्रमण करना, साथ में एकता के प्रयत्न जारी रखकर युद्ध को नये प्रदेशों में फैलाने का प्रयत्न करना—यह रणनीति उन्होने निर्धारित की थी और वे इसे अमल में भी लाये थे। यदि यह वाक्य पढ़कर कोई कहे कि यह सब तो आधुनिक युग में साम्राज्यवादियों के विरुद्ध चलने वाली क्रान्तिकारी छापेमार लड़ाई जैसा लगता है, यह अपने इतिहास को अलंकृत करके देखने की पद्धति तो नहीं है, तो इसका उत्तर यह होगा कि ये नये छापेमार युद्ध अनेक बातों में पुराने छापेमार युद्धों से मिलते-जुलते है, साथ ही अनेक बातों में उनसे भिन्न भी हैं। मिलने वाली बातें ऊपर दी गई हैं। भिन्नता वाली बातें ये हैं। इन नये युद्धों में मजदूर वर्ग और उसकी क्रान्तिकारी पार्टी की भूमिका सर्वोपरि होती है। सन् १८५७ में हिन्दुस्तान में ऐसी कोई पार्टी नहीं थी, न इंगलैण्ड या फ्रान्स में प्रारंभिक कार्यवाही के अतिरिक्त ऐसी पार्टी बन पायी थी। इसके सिवा नये छापेमार युद्धों में उच्च श्रेणी का राजनीतिक प्रचार, जनता की एकता स्थापित करने के साधन और अन्तर-राष्ट्रीय सहयोग पाने की सुविधाएँ पहले से कहीं अधिक हैं। चीन में इस तरह के छापेमार युद्धों ने राष्ट्रीय युद्ध का रूप लेकर उस महान् देश को साम्राज्यवाद और सामन्तवाद की दासता से मुक्त कर दिया। चीन में जन-सेनाओं को एक सुविधा यह थी कि उनके पृष्ठ भाग पर सोवियत देश जैसा शक्तिशाली मित्र राष्ट्र था। हिन्दुस्तान के सीमान्त पर नेपाल, कश्मीर और अफगानिस्तान जैसे देश थे जहाँ के सामन्त

आततताइयों के मित्र थे और उन्हें सहायता दे रहे थे। चीन के शत्रु विभिन्न साम्राज्यवादी गुट आपस में लड़ रहे थे; इसलिये छापेमारों के लिये अपनी क्रान्तिकारी सरकार बनाकर युद्ध-संचालन करना आसान हुआ। विशेष रूप से जापान से लड़ते समय जब द्वितीय महायुद्ध आरंभ हुआ, तब जापान को अमरीका और इंगलैण्ड का भी सामना करना पड़ा और युद्ध के अन्तिम दिनों में सोवियत सेना ने जापानी फौज को छिन्नभिन्न कर दिया। इससे अमरीकी समर्थन के बल पर लड़ने वाले गृहशत्रु च्याङ्शाही से लड़ने में चीनी जन-सेना को सुविधा हुई। चीन का यह युद्ध सोवियत क्रान्ति के बाद हुआ, वैज्ञानिक विचारधारा के प्रसार, राजनीतिक संगठन के नये अनुभवों के आधार पर हुआ। इसलिये चीन की परिस्थितियाँ, वहाँ जनता के संगठन और क्रान्तिकारी पार्टी की राजनीतिक कार्यवाही का स्तर यहां से भिन्न था। भारतीयजन-संग्राम का ऐतिहासिक महत्व यह है कि नयी वैज्ञानिक विचारधारा के बिना, संगठित मजदूरवर्ग और उसकी राजनीतिक पार्टी के बिना अन्तर-राष्ट्रीय सहयोग के अभाव में, यूरोप के व्यापारी दस्युओं के प्रसारकाल में मुख्यतः किसानों और शत्रु सेना के विद्रोही सैनिकों की एकता के आधार पर अनेक देशभक्त सामन्तों के सक्रिय सहयोग और आंशिक रूप में, उनके नेतृत्व में यह राज्यक्रान्ति इतने दिनों तक इतने विशाल प्रदेश में, इतनी दृढ़ता, वीरता और बलिदान के साथ चलती रही। निःसंदेह यह उस युग की सबसे महान् साम्राज्यविरोधी क्रान्ति थी। मज़दूरवर्ग और उसकी पार्टी के नेतृत्व में चलने वाले बीसवीं सदी के साम्राज्य-विरोधी संग्राम विश्व समाजवादी क्रान्ति का अभिन्न अङ्ग हैं। सन् सत्तावन की भारतीय राज्यक्रान्ति उन युद्धों की शृंखला की सबसे महत्वपूर्ण कड़ी है जिन्हें उपनिवेशों की जनता ने उन्नीसवीं शताब्दी में यूरोप के आततताइयों के विरुद्ध छेड़ा था। इस पुस्तक में इतिहास को अलंकृत करके देखने और आज की मान्यताओं को सौ वर्ष पहले के भारत पर आरोपित करने का प्रयत्न नहीं किया गया। प्रयत्न यह है कि अंग्रेज़ी प्रचार के घटाटोप अन्धकार में अंग्रेज़ों के ही दिये हुए तथ्यों के आधार पर भारतीय जीवन की वास्तविकता का प्रकाश हमें दिखाई दे। कुछ लोग इस प्रचार से इतने अभिभूत हैं कि अंग्रेज इतिहासकारों के दिये हुए वे तथ्य जो हमारे पक्ष में हैं, उन्हें अविश्वसनीय लगते हैं, उनसे

उचित निष्कर्ष निकालना तो दूर की बात है।

राजनीतिक परिस्थिति और शस्त्र-सज्जा देखकर भारतीय सेनापतियों ने अपनी रणनीति निर्धारित की। यह नीति मूलत: सफल हुई। अंग्रेज़ों की नीति नगरों में भारतीय सेनाओं को घेर कर उनका नाश करके विद्रोह का दमन कर देने की थी। यह नीति मूलतः असफल रही। यही कारण है कि प्रत्येक युद्ध में शत्रु को यथा-संभव क्षति पहुँचाने के बाद भारतीय सेना के नेताओं का मनोबल दृढ़ रहता था; और प्रत्येक युद्ध में जीतने पर भी अंग्रेज़ों का मनोबल टूट जाता था। दो पक्ष, दो उद्देश्य, दो तरह की रणनीति और दो तरह के परिणाम : न्याय और अन्याय के इस संघर्ष में हम भारतीय और ब्रिटिश सेनाओं और उनकी कार्यवाही का अन्तर लक्ष्य किये बिना नहीं रह सकते।

दिल्ली में उस नगर के अलावा मेरठ, रुहेलखण्ड, पंजाब, झाँसी, नीमच और नसीराबाद की बिद्रोही पल्टनों ने अंग्रेज़ों का मुकाबला किया।[१७७] आजमगढ़ और बनारस की सेनाएं अवध आईं। मैक्लिओड इन्स के अनुसार अवध की सेनाएं अवध में ही रहीं। कानपुर की सेना के बारे में अंग्रेज़ लेखकों का अनुमान है कि नाना साहब उसे कल्याणपुर से लौटा लाये। लेकिन अवध की अन्य सेनाओं तथा आजमगढ़ और बनारस की सेनाओं को दिल्ली जाने से किसने रोका था ? यदि सेना में अवध के आदमी अपने प्रदेश के लिये लड़ना चाहते थे तो पंजाब, नीमच और नसीराबाद की सेनाएं यहाँ क्यों नहीं आईं ? स्पष्ट ही योजनाबद्ध कार्यवाही थी और युद्ध के संगठन-कर्ताओं ने अपनी सारी शक्ति एक ही दांव पर न लगा दी थी। अंग्रेज़ प्रचार यही करते थे कि सारे देश की विद्रोही सेनाएं दिल्ली की ओर चलीं और दिल्ली लिया नहीं कि विद्रोह खत्म हुआ। किन्तु ब्रिटिश फौज में जितने सिपाहियों ने विद्रोह किया, उनका पांचवा भाग ही दिल्ली में एकत्र हुआ था।[१७८] भौगोलिक दृष्टि से जो सेनाएं सबसे सुविधा से वहाँ एकत्र हो सकती थीं, वही दिल्ली पहुँची। यदि अपनी-अपनी रियासतों का सवाल होता तो बख्त खाँ का ब्रिगेड खान बहादुर खाँ की रियासत के लिये लड़ने को बरेली में रह जाता, झांसी की सेना रानी लक्ष्मीबाई के अमल का ऐलान करने के बाद वहीं बनी रहती, कुँवर सिंह लखनऊ, रीवां, बांदा की खाक न छानते और अंग्रेज़ों के लिये बहुत आसान हो जाता कि वे अलग-

थलग सामन्तों को घेर कर उनकी सैन्यशक्ति को छिन्न-भिन्न कर दें। परिस्थिति का विकास इससे ठीक उल्टी दिशा में हुआ।

बंगाल की सेना में ७४ हिन्दुस्तानी पल्टनें थीं इनमें ४५ ने विद्रोह किया था, २० को निःशस्त्र कर दिया गया था और तीन को भंग कर दिया गया था।[१७८] इस प्रकार दिल्ली के पतन के बाद भारतीय सेनापतियों के पास एक बड़ी संख्या में सुरक्षित कुमक मौजूद थी। इसलिये बख्त खां ने बहादुरशाह से दिल्ली छोड़ने का ठीक प्रस्ताव किया था। इसीलिये संघर्ष अस्तव्यस्त होकर टूटने के बदले और भी दृढ़ता से आगे बढ़ा। दिल्ली की बची हुई सेना का लखनऊ पहुँचना ऊपर बतायी हुई रणनीति की ओर संकेत करता है। अंग्रेज़ यह समझते थे कि दिल्ली के पतन का राजनीतिक असर इतना गहरा होगा कि विद्रोही सेना हताश हो जायगी और उसे परास्त करना कठिन न होगा। परिस्थिति के इस मूल्याङ्कन में उन्होंने भारी ग़लती की थी। विद्रोही सेना का अधिकांश भाग अभी सुरक्षित था; भारतीय सेनापतियों का मनोबल अटूट था; वे अपनी फौजों में नयी भर्ती करके, किसानों और जनता के अन्य स्तरों का सहयोग प्राप्त करके संघर्ष को और व्यापक बनाने में सफल हुए। दिल्ली और लखनऊ दोनों जगह वह युद्ध के बाद शेष सेना बचा ले गये। अवध की विशेष परिस्थितियों में जंगलों से घिरे हुए दुर्गों को आधार बनाकर युद्धसामग्री तैयार करने के केन्द्र स्थापित करके वे अंग्रेज़ों की रणनीति को विफल करने में समर्थ हुए। अंग्रेज़ अपने तोपखानों के बल पर दुर्गों को ढहा सकते थे, नगरों पर अधिकार कर सकते थे; किन्तु गतिशीलता में वे हिन्दुस्तानी फौज का मुकाबला न कर सकते थे। दिल्ली और लखनऊ के युद्धों के बाद विशेष रूप से भारतीय पक्ष ने गतिशील युद्ध की शैली अपनाई। नगरों के अलावा छोटे-छोटे दुर्गों में मोर्चा टूटने के बाद भारतीय सैनिक प्रायः सर्वत्र अंग्रेज़ों का घेरा तोड़ कर निकल जाने में सफल हुए। गतिशीलता का अर्थ शत्रु के सामने भाग खड़ा होना नहीं होता। पचीसों जगह छोटी-छोटी टोलियों ने दुर्गों के लिये—नगरों में विशेष रक्षा स्थानों के लिये—यह जानकर युद्ध किया कि अब यहाँ से हटना नहीं है। उन्होंने अडिग धैर्य से अपने प्राण दे दिये जिससे कि शत्रु आसानी से आगे न बढ़ सके, उसकी सेना और युद्ध-सामग्री को गथा-संभव क्षति पहुँचे। पचीसों जगह सैनिकों ने

फौज का मुख्य भाग निकल जाय, इसलिये पीछे रह कर अपने से प्रबल शत्रु का मुकाबला किया और व्यवस्थित रूप से पीछे हटने की कार्य-नीति को सफल बनाया। अनेक बार जब ब्रिटिश सैनिकों ने यह समझ कर कि सिपाहियों के पैर उखड़ गये, उनका बेतहाशा पीछा किया, तब हिन्दुस्तानी सिपाहियों ने घूम कर उनका मुकाबला किया और दिखा दिया कि पैर शत्रु के उखड़ गये थे, उनके नहीं। अंग्रेज़ी सेना के दांव-पेंच विफल करने में, झूठे समाचार देकर उसे बहकाने में, दुःसाहस के साथ अप्रत्याशित स्थानों पर हमला करने में, इस तरह के आक्रमणों द्वारा अन्य स्थानों में घिरती हुई भारतीय सेनाओं की सहायता करने में, शत्रु के लिये खाद्य-सामग्री का मिलना दुर्लभ करने में, भौगोलिक परि-स्थितियों और गर्मी-बरसात की ऋतुओं से पूरा फायदा उठाने में यहाँ के सेनापतियों और सिपाहियों ने अनुपम रणकौशल और सूझबूझ का परिचय दिया। जब झांसी घिरती है, तात्या टोपे ह्यू रोज़ पर पीछे से आक्रमण करते हैं; ब्रिटिश फौज लखनऊ की ओर बढ़ती है, वह कान-पुर पर आक्रमण करते हैं; जब कौलिन कैम्पबेल रुहेलखंड की ओर बढ़ता है, मौलवी अहमदुल्ला शाह शाहजहाँपुर पर हमला करते हैं; जब नेपाली सेना लखनऊ की ओर चलती है, लखनऊ से गफूरबेग जा कर उसका रास्ता रोकते हैं; जब अंग्रेज़ अवध में उलझे होते हैं, तब कुँवर-सिंह आज़मगढ़ पर अधिकार कर लेते हैं; जब ओरछा की सेना झांसी घेर लेती है, तब बानपुर के राजा रानी की फौज के लिये खाद्य-सामग्री भेजते हैं—इस तरह की अनेक घटनाएं उद्धृत की जा सकती हैं जिनसे यह सिद्ध होता है कि इस गतिशील युद्ध में भारतीय पक्ष के नेताओं में बराबर संपर्क बना हुआ था और उन्होंने एक ही व्यापक रणनीति के अन्तर्गत समग्र युद्ध का संचालन किया था।

ऐसा होना अनिवार्य था। भारतीय सेना की यह रणनीति उसकी राजनीति के आधार पर निर्मित हुई थी। इस राजनीति का मुख्य सूत्र देश की तमाम शक्तियों को अंग्रेज़ों के विरुद्ध एकत्र करना था। हर जगह खल्क खुदा का, मुल्क बादशाह का, अमल अमुक सामन्त का अथवा सिपाहियों का—यह घोषणा की जाती थी। जो सामन्त पहले स्वतंत्र थे, वे भी अपने को दिल्ली का नायब कहते थे। दिल्ली में और अन्यत्र भी सत्ता केवल सामन्तों के हाथ में न थी। उसमें सेना का

अधिनायकत्व था या उसका साझा था। वह सामन्तों की नौकरी करने वाली सेना की स्थिति से बिल्कुल भिन्न थी। दिल्ली में पहली बार-बकरीद के अवसर पर गोवध बद करने के सिलसिले में—इस तरह की घोषणा सुनाई दी थी : खल्क खुदा का, मुल्क बादशाह का, हुक्म फौज के बड़े सरदार का।[१७९] जैसे सारा मुल्क बादशाह का था, वैसे दिल्ली भी थी। हुक्म फौज के बड़े सर्दार का था। इस फौज से और राज्यसत्ता से लोग आशा करते थे कि वह अंग्रेज़-विरोधी शक्तियों को बटोरने में सहायता करेगी। मर्दानसिंह ने बादशाह को फर्मानों के लिये लिखा था जिनसे मध्यभारत के राजा अंग्रेज़ों का साथ न देकर दिल्ली का साथ दें। मद्रास से लेकर सीमान्त-प्रदेश तक विद्रोह के संगठन के लिये जो कार्यकर्ता भेजे गये थे, वे इस राजनीति के अन्तर्गत कार्य कर रहे थे।

२६ मई १८५७ को पंजाब से ताजुद्दीन नाम के किन्हीं सज्जन ने दिल्ली के बादशाह को एक पत्र लिखा था। इससे विद्रोह के प्रारंभिक दिनों में ही पंजाब और शेष उत्तर भारत को मिलाने के प्रयत्नों का ज्ञान होता है। ताजुद्दीन ने सूचित किया था कि पंजाब की सेनाओं में असंतोष है। दिल्ली में अपनी पराजय से पंजाब में अंग्रेज़ बहुत सतर्क हो गये हैं। "अंग्रेज़ हर छावनी में सेना की खुशामद करते हैं, उसकी तारीफें करते हैं लेकिन हिन्दुस्तानी सिपाही अंग्रेज़ों की बात का और उनके काम का अब बिल्कुल भरोसा नहीं करते। उनमें भारी खलबली मची हुई है। अपनी रक्षा के लिये वे पंजाब के सर्दारों का सहारा लेते हैं।" अभी तक वे गोरे सैनिकों और सर्दारों के कारण बचे हुए हैं। इसके बाद ताजुद्दीन ने पंजाब की हिन्दुस्तानी सेना के महत्वपूर्ण राजनीतिक प्रयत्नों का उल्लेख किया है। "सभी छावनियों के सिपाही सर्दारों का सहयोग और समर्थन प्राप्त करने को उत्सुक हैं और उनकी सहायता से अपने हथियार और मैगज़ीन के साथ अपनी छावनियों से चल देना चाहते हैं और अपने प्राणों का बलिदान करने के लिये बादशाह के सामने हाज़िर होना चाहते हैं।"

सिपाही राजनीतिक एकता स्थापित करने के लिये पहल कर रहे थे। वे पंजाब के सामन्तों को अपनी ओर मिलाने का प्रयत्न कर रहे थे। उनकी सहायता से पंजाब की छावनियों से निकल कर वे दिल्ली की सुरक्षा को और दृढ़ करना चाहते थे। किन्तु पंजाब के देशद्रोही साम-

न्तों ने अंग्रेजों का साथ देकर भारतीय क्रान्ति को न केवल अपने सहयोग और समर्थन से वंचित रखा वरन पंजाब की हिन्दुस्तानी फौज का पूरा सहयोग न मिलने दिया। विद्रोह की योजना में वे बहुत बड़ी बाधा साबित हुए। ताजुद्दीन ने इन सामन्तों के बारे में लिखा था, "पंजाब के राजा इतने कायर हैं कि उनमें से किसी ने भी सेना को सहायता देने का वचन न दिया। इसके विपरीत वे काफिर हुक्मरान की ताबेदारी करने पर तुले हुए हैं।" ताजुद्दीन ने खुद भी कई राजाओं से गुप्त रूप से बातचीत की थी। उन्होंने लिखा था कि पंजाब के सभी राजा मौका देख रहे हैं! जब शाही फर्मान पहुँचेगा, तब वे तैयार हो जायँगे। मर्दानसिंह की तरह ताजुद्दीन ने भी बादशाह को लिखा था कि फर्मान भेजिये। लेकिन ताजुद्दीन का विचार था कि फर्मान से काम नहीं भी निकल सकता है। इसलिये उन्होंने यह भी लिखा था कि फर्मान भेजिये या चार पाँच हज़ार फौज और कुछ तोपों के साथ किसी सालारेजंग को पंजाब भेजिये। तब इसकी पूर्ण संभावना रहेगी कि हिन्दुस्तानी सेना शाही फौज का साथ देगी और पंजाब से अंग्रेजों का सफाया कर देगी।

ताजुद्दीन का सुझाव बहुत अच्छा था और यदि दिल्ली की सेना इस स्थिति में होती अर्थात् उसके पास यथेष्ट युद्ध-सामग्री होती और दिल्ली की सुरक्षा के लिये काफी सेना छोड़ने के बाद पंजाब के लिये सैनिक होते तो ताजुद्दीन की योजना अवश्य सफल होती। किन्तु स्थिति भिन्न थी। अभी दिल्ली में विद्रोही सेना का पाँचवा भाग भी न पहुँचा था। गोले-बारूद की कमी थी। इस लिये यह योजना काम में न लाई जा सकी। इससे यह जरूर मालूम होता है कि विद्रोह के आरंभ से ही पंजाब और शेष उत्तर भारत को मिलाने के प्रयत्न हो रहे थे, इन प्रयत्नों में हिन्दुस्तानी सिपाही प्रमुख भाग ले रहे थे, क्रान्तिकारी पक्ष में ऐसे लोग थे जो सामन्तों के न मानने पर उन पर बल प्रयोग करने से झिझकते न थे। अंग्रेजों का साथ देने वाले सामन्तों के प्रति यह नीति उचित थी। क्रान्ति को दृढ़ता से संचालित करने का यही मार्ग था। इसी मार्ग से ढुलमुल और देशद्रोही सामन्तों की शक्ति क्षीण करके जनता के पक्ष को और शक्तिशाली बनाया जा सकता था।

क्या भारतीय विद्रोही जानबूझ कर अंग्रेजों को गर्मी में लड़ने पर

मजपूर करते थे जिससे उनको अधिकाधिक हानि पहुँचे ? ताजुद्दीन ने इस पत्र में लिखा था, "गर्मी बहुत पड़ रही है। अगर इस मौसम में यूरोपियन फौज चलेगी तो गर्मी की शिद्दत की वजह से ज़रूर मरेगी।"

अंग्रेजों के संपर्क-साधन छिन्न भिन्न करने की योजना भी बहुत पुरानी थी। ताजुद्दीन ने इस सिलसिले में लिखा था, "काफिरों की डाक को रोकने का जो इन्तजाम किया गया है, वह पूरी तरह बनाये रखना चाहिये। जहाँ तक हो सके, कोई भी डाक न निकलने देनी चाहिये।" [ग़दर काग़जात के संपादक ने इस पत्र की तारीख के बारे में लिखा है कि वह ग़लत है क्योकि पत्र में बाद की घटनाओं का भी जिक्र है—जैसे कि ४ जुलाई को हेनरी लौरेन्स की मृत्यु का।][१८०]

ताजुद्दीन के इस पत्र से यह मालूम होता है कि सामन्तों को अपनी ओर मिलाने, न मिलने पर दबाव डालने और शत्रु के यातायात के साधन छिन्न-भिन्न करने की एक व्यापक योजना बहुत पहले से बनी हुई थी। पत्र दिल्ली के पतन से पहले लिखा गया था। उसमें जिस नीति की चर्चा है, उस पर बाद में भी दिल्ली से दूर-दूर अमल होता रहा।

इस राजनीति के अनुरूप भारतीय सेना की रणनीति बनाई गई थी। शस्त्रसज्जा और सामाजिक तथा भौगोलिक परिस्थितियों के अनुरूप उसकी कार्यनीति थी। भारतीय सेना ने शत्रु को अनुकूल न पड़ने वाली ऋतु में, शत्रु के अनुकूल न पड़ने वाली परिस्थितियों में उसे युद्ध करने के लिये वाध्य किया। ५ मई १८५८ को रसेल ने अपनी डायरी में लिखा था, "बारह बजे से सूरज डूबने तक बेहद गर्मी थी और इस दिन सर्वत्र हिन्दुस्तान में लू लगने से हमारे अक्षरशः सैकड़ों आदमी मारे गये।"[१८१]

जिस समय जॉन लारेन्स यह मसौदा पेश कर रहा था कि पेशावर की घाटी दोस्त मोहम्मद को सौंप देनी चाहिये, उस समय के लिये के ने लिखा है कि दिल्ली और कलकत्ते का सब संपर्क टूट चुका था।[१८२] जहाँ संपर्क बना हुआ था, वहाँ भी अंग्रेज़ों को उससे बहुत लाभ न होता था। जेम्स लीसर ने लिखा है कि उस समय संपर्क के

साधन बहुत पिछड़े हुए थे, इसलिये जो दस्तावेज लिखते समय सामयिक महत्व के होते थे, वे पहुँचने पर केवल ऐतिहासिक महत्व के रह जाते थे।[१८३]

शत्रुपक्ष अस्त्र शस्त्रों में प्रवल था, इसलिये भारतीय सेना गुप्त रीति से उन्हें नष्ट करना अथवा कमजोर करने का प्रवन्ध करती थी। दिल्ली के युद्ध के सिलसिले में जेम्स लीसर ने लिखा है कि अंग्रेजों के भेदिये बंदूकों की कुछ टोपियाँ लाये थे जिन्हें विद्रोहियों ने शहर में बनाया था। टोपियों में जो कसर रह गई थी, उसे विद्रोही सेना अंग्रेजी खेमे में तोड़-फोड़ का संगठन करके पूरा कर रही थी। हिन्दुस्तानियों ने बारूद के साथ काँच और पत्थर पीस कर मिला दिये थे। अंग्रेजों ने तोड़-फोड़ के सन्देह पर तम्बू गाड़ने वाले दो खलासियों को फाँसी दे दी।[१८४]

अस्त्र-शस्त्रों में शत्रु पक्ष के प्रवल होने के कारण भारतीय सेना सामने से आक्रमण कम करती थी। उसकी साधारण नीति ब्रिटिश फौज के बाजुओं पर और उसके पीछे के हिस्से पर अचानक आक्रमण करने की थी।[१८५] इस तरह अपनी पाँति सुरक्षित रखते हुए भारतीय सेना शत्र दल को अधिक से अधिक हानि पहुँचाने की कोशिश करती थी।

अंग्रेज लेखकों ने कई जगह इस बात पर आश्चर्य प्रकट किया है कि विद्रोही सेना ने पुल नहीं उड़ाये; कभी-कभी युद्ध-सामग्री नष्ट नहीं की। इसका कारण भारतीय पक्ष में इंजिनियरों की कमी थी। यह नहीं था कि लोग इन सैनिक कार्यों का महत्व न समझते थे; उनके पास ऐसे कार्यों के लिये सदा आवश्यक साधन न रहते थे।

भारतीय सेना की रीति-नीति ब्रिटिश फौज से बिल्कुल भिन्न थी। अंग्रेज लूटते थे; भारतीय सेना अपने लिये आवश्यक सामग्री खरीदती थी और उसके लिये पैसे देती थी। अंग्रेज़ मंदिर तोड़ते थे, सिपाही साधारणतः उनके गिरजाघर छोड़ देते थे। चार्ल्स रैक्स ने लिखा था, "यह एक विचित्र बात है कि आगरा, अलीगढ़, मैनपुरी, फतहगढ़ और दूसरी जगहों में अंग्रेजों की निजी इमारतों की अपेक्षा गिरजाघरों का कम नुक्सान हुआ था।"[१८५] कारण स्पष्ट था; सिपाही अंग्रेजों से लड़ रहे थे, उन्हें अपने देश से निकालने के लिये; उन्हें गिरजाघरों से कोई खास वैर न था। अंग्रेजों ने यहाँ के देशद्रोही सामन्तों के बल पर युद्ध-

सञ्चालन किया था; भारतीय सेना आम जनता के भरोसे युद्ध चला रही थी। अंग्रेज़ों ने नाना साहब को पकड़ने के लिये एक लाख रुपये का इनाम घोषित किया था और उन लोगों को क्षमा कर देने का भी वादा किया था जो शासन की दृष्टि में यूरोपियनों की हत्या के अपराधी थे। [१८७] लेकिन नाना साहब को वे अन्त तक न पा सके। जंगबहादुर की दोस्ती जरा भी काम न आयी। अंग्रेज तार की सहायता से भी आपस में संपर्क कायम न रख पाते थे और हिन्दुस्तानी सेनाएं, सेना-नायक और अनेक प्रचारक तथा संगठनकर्ता जनता के समर्थन के कारण आपस में संपर्क बनाये रखते थे। अंग्रेजों को शिकायत रहती थी कि उनके गुप्तचर उन्हें ठीक खबर नहीं देते अथवा वे विद्रोहियों को भी बराबर खबर देते रहते हैं। जौर्ज ब्रूशियर ने लिखा था, "शत्रु को खूब अच्छी तरह खबरें मिलती रहती थीं" ("The enemy were supplied with the best information")। [१८८] अंग्रेजों ने फौज के मैदान में और उससे भी अधिक शिमला, कलकत्ता, आगरा आदि शहरों में अपनी स्वार्थपरता, कायरता, अफवाहों अथवा संकट की संभावना होने पर अस्तव्यस्त होकर अनुशासनहीन ढंग से भागने की नीति का परिचय दिया। इसके विपरीत हिन्दुस्तान के दूर-दूर छोरों पर जनता और सिपाहियों ने मृत्यु के सम्मुख आत्म-सम्मान से सिर ऊंचा रखकर अंग्रेज़ों को निस्तेज कर दिया। पीरअली ने मरने से पहले टेलर को चेतावनी दी थी, तुम मुझ जैसों को फाँसी दे सकते हो लेकिन तुम अपने मकसद में कभी कामयाब न होगे। वह टेलर से विदा होते हुए उस हत्यारे से भी बड़ी शिष्टता से पेश आये "मानों अपने से, दुनियाँ से और मुझ [टेलर] से उनके सम्बन्ध बहुत ही अच्छे हों।"[१८९]

पंजाब में अंग्रेजों ने निःशस्त्र सैनिकों को सैकड़ों की संख्या में फांसी दी, गोलियों से मारा या तोप से उड़ा दिया। "वीरता और क्रोध के साथ उन्होंने मृत्यु को वरण किया। उन्होंने सिर्फ इस बात की इच्छा प्रकट की कि उन्हें कुत्तों की तरह फाँसी से न लटका कर सैनिकों की तरह तोपों के मुँह से उड़ा दिया जाय।"[१९०]

अवध में जब अंग्रेजी सेना बढ़ रही थी तब शिवरतन सिंह ने अपने गढ़ में लड़ते हुए मरने का निश्चय करके कहा, इस युद्ध में मेरे सब

लड़के मारे गये हैं, मैं भी यहाँ लड़ता हुआ मरूंगा।[१९१]

कानपुर के नर-संहार में "मुसलमानों ने अभिमान और क्रुद्ध घृणा के साथ मृत्यु का सामना किया और हिन्दुओं ने आश्चर्यजनक उदासीनता के साथ।"[१९२]

आरा में जिन्हें फाँसी दी गई थी: "अधिकांश ने यही इच्छा प्रकट की कि उन्हें खुद फाँसी का फन्दा लगाने की अनुमति दे दी जाय; और सभी ने आत्म-सम्मान के साथ मौत का सामना किया।"[१९३]

फीरोजपुर में बारह हिन्दुओं और मुसलमानों को तोपों से उड़ाया गया। "वे बारह दो पंक्तियों में छः आगे छः पीछे शान्त और स्थिर-चित्त एक भी शब्द कहे बिना खड़े हुए थे।" उनमें कुछ घूमकर पलीतों को भी देख रहे थे जिनसे तोपें दागी जाने वाली थीं।[१९४]

अहमद नगर में तीन रुहेलों और चार रामुसी जाति के लोगों को फाँसी दी गई थी। "उन सभी ने मृत्यु के प्रति निर्भयता प्रकट की और अपने उचित दंड को इस तरह सहा जो सबसे बड़े भाग्यवादियों के योग्य था।"[१९५] ये शब्द बोम्बे टाइम्स के संवाददाता ने लिखे थे जो निर्भयता को देख सकता था लेकिन उसका आदर करना न जानता था।

औरंगाबाद में इक्कीस विद्रोही सैनिकों को मृत्यु-दंड दिया गया था; "मुझे यह देख कर आश्चर्य हुआ कि उन्होंने अपने मृत्यु दंड का समाचार कितने शान्त चित्त से सुना।"[१९६]

ये केवल थोड़े से उदाहरण हैं मृत्यु पर विजय पाने वाली वीरता के। इस वीरता का उल्लेख शत्रु ने ही अपनी पुस्तकों-पत्रों आदि में किया है। ये उदाहरण एक स्थान के नहीं, एक जाति, वर्ग और सम्प्रदाय के नहीं। ये उदाहरण उस अमर भारतीय मानवता के प्रतीक हैं जो सदा अपराजेय रही है और सदा अपराजेय रहेगी। इस अदम्य शौर्य पर अंग्रेज कैसे विजय पा सकते थे?

अंग्रेज अपने तात्कालिक उद्देश्य में सफल हुए। अपने खूनी आतङ्क के बल पर वे इस जन-क्रान्ति का दमन करने में सफल हुए। उनकी हेकड़ी पहले से कुछ कम हो गई। ताल्लुकदारों की रियासतें हड़प करने के बदले उन्होंने उन्हें अपना मित्र बना कर रखना ज्यादा उचित समझा। किन्तु अवध के सामन्तों में जो सर्वोत्कृष्ट तत्त्व थे, वे अपने देश के लिये युद्ध करते हुए खेत रहे थे। अंग्रेज़ों ने युद्ध किया

फीरोज़पुर में तोपों से सिपाहियों का उड़ाया जाना

था, इस देश को अपना गुलाम बना कर रखने के लिये। क्या यह हिन्दुस्तान गुलाम बना रहेगा ? लोग सन् सत्तावन को कैसे भूलेंगे ? वे जानते थे कि सौभाग्य से सन् सत्तावन तक क्राइमिया का युद्ध समाप्त हो गया था। यदि कहीं वे दूसरे मोर्चे पर फँसे होते तो क्या होता ? सारे हिन्दुस्तान में विद्रोह का संगठन, उसकी शक्ति, उसका वेग एक सा नहीं था। जहाँ अपेक्षाकृत शान्ति रही थी, वहाँ के लोगों ने अगली बार सशस्त्र क्रान्ति में भाग लिया तो ? यूरोप और सारी दुनियाँ में ब्रिटिश सभ्यता की वास्तविकता सब पर प्रकट हो गई थी। अंग्रेजों ने देखा कि सैनिक विजय प्राप्त करने पर भी उन्हें नैतिक विजय नहीं मिली। इस नैतिक विजय के लिये उन्होंने धुआँधार प्रचार किया। जनता के संघर्ष को क्रूरता और बर्बरता के कल्पित कृत्यों का इतिहास बना डाला। अपने शौर्य के उच्च स्वर में गीत गाये और अपने हिंसक आतंक और लूट और ध्वंस को न्यायपूर्ण दंड कहा। फिर भी भविष्य की चिन्ता उन्हें खाये जाती थी क्योंकि प्रत्येक युद्ध में विजेताओं का उद्देश्य भविष्य में अपने हितों को सुरक्षित रखना होता है। अंग्रेजों को ये हित बहुत अरक्षित दिखाई देते थे।

विजेताओं ने सोचा था कि अपने आतङ्क और दमन से, सहस्रों नर-नारियों का संहार करके वे भारतीय जनता को त्रस्त कर लेंगे। उन्हें त्रास के बदले जनता की आँखों में क्रोध और घृणा के दर्शन होते थे। रसेल ने लिखा, "आह, वह आँखों की भाषा! कौन उस पर सन्देह कर सकता है ? कौन उसका दूसरा अर्थ निकाल सकता है ? इस भाषा से ही मैंने जाना है कि बहुत से लोग हमारी जाति से अक्सर डरते भी नहीं हैं और सभी उससे घृणा करते हैं। ईश्वर करे, मैंने उसे गलत समझा हो।"[१२७] गलत समझने की गुंजाइश नहीं थी। जब लखनऊ में कैनिंग का दरबार हुआ, तब रौबर्ट्स ने यही क्रोध, यही घृणा वहाँ की जनता की आँखों में देखी थी।

अंग्रेजों ने क्षमादान का स्वांग किया। नाना साहब ने उत्तर दिया, "मैंने आपके छपे हुए इश्तहारनामे की बात सुनी और लड़ने की तैयारी की। और अब तक मैं आपसे लड़ता रहा हूँ और जब तक प्राण है, तब तक लड़ूंगा। आप अच्छी तरह जानते हैं कि मैं हत्यारा नहीं हूँ, न मैं अपराधी हूँ, न आपने मेरे बारे में कोई हुक्म जारी किया है। मेरे

सिवा आपका कोई दुश्मन नहीं है, इसलिये जब तक मैं जीवित रहूँगा, मैं लड़ूँगा। मैं भी मनुष्य हूँ। मैं आपसे दो कोस की दूरी पर हूँ। आश्चर्य की बात है कि एक महान् और शक्तिशाली जाति मुझ से दो साल से लड़ रही है और कुछ भी नहीं कर पायी, विशेष कर तब जब इस बात पर विचार किया जाय कि मेरे सैनिक मेरा कहना नहीं मानते और अपने देश पर मेरा अधिकार नहीं है। आपने सब के अपराध क्षमा कर दिये हैं और नेपाल के राजा आपके मित्र हैं। यह सब होने पर भी आप कुछ नहीं कर पाये। आपने सब को अपनी ओर मिला लिया है और मैं ही अकेला रह गया हूँ लेकिन आप देखेंगे कि जिन सैनिकों को मैं दो साल से बचाये हुए हूं, वे क्या करते हैं। हम और आप मिलेंगे और तब मैं तुम्हारा रक्त बहाऊँगा और वह घुटनों तक बहेगा। मैं मरने को तैयार हूँ। यदि मैं ही अंग्रेजों जैसी शक्तिशाली जाति का शत्रु होने के योग्य हूँ, तो मैं इसे अपने लिये बड़े सम्मान की बात समझता हूँ। और हृदय की सब इच्छाएं पूरी होने के बाद एक दिन मृत्यु आयेगी तो उससे भय क्या ?" [१९८]

मृत्यु से न डरने वाले, अंग्रेजों की विजय के क्षण में उन्हें यों चुनौती देने वाले, एक लाख का इनाम सिर पर लिये दो कोस से यों ललकारने वाले इस व्यक्ति के सामने अंग्रेजों की क्या चलती ?

जब अंग्रेजों ने कंपनी का राज खत्म करके मल्का विक्टोरिया का राज कायम करने की घोषणा की, तब बेगम हजरत महल की ओर से इश्तहार प्रकाशित किया गया और उसमें स्वांग का भण्डाफोड़ किया गया। इसमें जनता को कूटनीति के प्रति सतर्क किया गया और अंग्रेजों को "मरता क्या न करता" की हिन्दुस्तानी कहावत का अर्थ समझा दिया गया।

१८५७ की क्रान्ति के दमन के कुछ वर्षों बाद "अवध गजेटियर" के लेखक ने लखनऊ के रंगमञ्च के बारे में लिखा, "शासकों के परिवर्तन से, लगता है, रंगमंच को लाभ हुआ है। नाटक के बहाने बिना कोई खतरा मोल लिये शासक वर्ग का मजाक उड़ाने का इतना अच्छा अवसर मिलता है कि उसे छोड़ा नहीं जा सकता जब कि अंग्रेजों के जीवन के कुछ विचित्र और घृणास्पद पहलू न्यायपूर्ण नकल के लिये खूब मसाला देते हों।" अदालतें, पुलिस अफसर, अंग्रेजों का घरेलू जीवन,

कर्तव्य के प्रति उदासीनता, कानूनों का अज्ञान, चुरट पीना, शराब ढालना, इन सबका निर्ममता से पर्दाफाश किया जाता था। जमींदारों के अत्याचार और हिन्दुस्तानी अफसरों का भी खाका खींचा जाता था।

न विद्रोह के समय और न विद्रोह के बाद अंग्रेजों की आतंक-नीति सफल हुई। यह उनकी सबसे बड़ी पराजय थी। नैतिक पराजय ही नहीं, १८५६ में उनकी विजय के भीतर ही राजनीतिक पराजय के बीज छिपे हुए थे। उन्होंने दमन का रास्ता छोड़ा नहीं किन्तु अधिकाधिक उन्हें सुधारों और कूटनीति का आश्रय लेना पड़ा। हम हिन्दुस्तान को शासन योग्य बनाकर विलायत चले जायँगे, यह धूर्ततापूर्ण घोषणा उन्हें करनी पड़ी।

१८५८ में चारों ओर ब्रिटिश आतंक देखकर रसेल के मन में यह प्रश्न उठा था, क्या हिन्दुस्तान के लोग इसे भूल जायेंगे? "बहुत साल बीतेंगे, तब इस उथल-पुथल से उत्पन्न होने वाली दुर्भावनाएं खत्म होंगी। **शायद परस्पर विश्वास अब कभी कायम न होगा**। यदि ऐसा हुआ तो हिन्दुस्तान में अपना शासन बनाये रखने के लिये हमें इतनी मुसीबत उठानी पड़ेगी कि उसकी कल्पना करने से डर लगता है।"[१९९]

अंग्रेज शासक वर्ग और भारतीय जनता में "परस्पर विश्वास" फिर कभी कायम नहीं हुआ। सन् सत्तावन की राज्यक्रान्ति की यह सबसे बड़ी सफलता थी।

जनता का दृष्टिकोण

सन् सत्तावन की राज्यक्रान्ति के दौरान में विश्व-जनमत दो खेमों में विभाजित था। जितने प्रतिक्रियावादी थे, जो दूसरे देशों की जनता को गुलाम बना रहे थे, जो अपनी जनता पर अत्याचार कर रहे थे, जो एशिया और अफ्रीका में यूरोपियन सभ्यता के प्रसार के दावेदार थे, वे सब अंग्रेजों के साथ थे, अंग्रेजों की नुक्ताचीनी भी करते थे तो जीत उन्हीं

की मनाते थे, हिन्दुस्तानियों की विजय की संभावना को विश्व सभ्यता और संस्कृति के लिये महान् संकट समझते थे, साथ ही क्रान्ति का मूल्याङ्कन करने में वे अंग्रेज़ प्रचारकों का अनुसरण करते हुए उसे धार्मिक अन्ध-विश्वासों से प्रेरित और अपने स्वामियों के विरुद्ध सिपाहियों के अन्यायपूर्ण विद्रोह के रूप में देखते थे। इनके विपरीत एशिया और यूरोप में जहाँ भी लोग अपनी राष्ट्रीय एकता और स्वाधीनता के लिये संघर्ष कर रहे थे, वहां इस क्रान्ति के समाचारों को वे उत्सुकता से सुनते थे, उससे अपनी सहानुभूति और भाईचारा प्रकट करते थे और उसका मूल्याङ्कन करते हुए अंग्रेज़ी राज्य के अत्याचारों, अंग्रेज़ी नीति, अंग्रेज़ी प्रचार की तीव्र आलोचना करते थे और एक स्वर से भारतीय जनता का स्वाधीनता-संग्राम कह कर उसका अभिनन्दन करते थे। १८५७ की क्रान्ति के शताब्दि-महोत्सव पर यूरोप के मजदूरवर्ग के अनेक प्रतिनिधियों ने उस समय अपने देशों के जनमत पर अलभ्य सामग्री प्रस्तुत करके इस राज्यक्रान्ति का अन्तरराष्ट्रीय महत्व आंकने में भारतीय लेखकों की अपरिमित सहायता की है। इनके साथ चीनी जनता की ओर से दो लेखकों ने उस युग में भारत और चीन के संबन्धों पर प्रकाश डालते हुए नयी सामग्री संकलित की है और सन् सत्तावन की क्रान्ति का महत्व आंकने के लिये वैज्ञानिक दृष्टिकोण भी पेश किया है। ये सब लेख श्री पूरनचंद जोशी द्वारा संपादित 'विद्रोह १८५७' में प्रकाशित हुए हैं। इस पुस्तक की सबसे महत्वपूर्ण सामग्री ये विभिन्न देशों से आये हुए लेख हैं।

भारत में हैवलौक की मृत्यु का समाचार सुनकर अमरीका में राष्ट्रीय झंडे शोक से नीचे उतार कर फहराये गये थे। वहाँ का समाचार था कि विद्रोह का दमन करने के लिये पचास हजार स्वयंसेवकों की सेना एकत्र की जा रही है।[२००] बेल्जियम की सरकार ने अपनी सेना भेजकर विद्रोह का दमन करने में सहायता देने की सूचना इंगलैण्ड भेजी। सितंबर १८५७ में फ्रान्स के प्रतिक्रियावादी पत्र ल पेयी (Le Pays) ने लिखा, भारत में ब्रिटिश साम्राज्य के अन्त का अर्थ होगा, सभ्यता पर बर्बरता की विजय।' जुलाई १८५७ में जोसफ मसारी ने इटालियन जनता को समझाया कि यह विद्रोह भारत-राष्ट्र का निर्माण करने या स्वाधीनता प्राप्त करने से बिल्कुल संबधित नहीं है। "सिपाही-विद्रोह

विशुद्ध फौजी बग़ावत है जो ब्राह्मणों की धर्मान्धता से फूट पड़ा है, स्वाधीनता-स्वतंत्रता से उसका कोई संबंध नहीं है।" रूसी पत्र रूस्की वेस्तनिक ने लिखा, "गतिरुद्ध एशिया के नैतिक अंधकार में यूरोपियन जीवन-पद्धति का प्रकाश फैलाने का भार इंगलैण्ड और रूस पर है। यहाँ हम दोनों साथी हैं; यहाँ परस्पर भाई-चारा है।" चीनी लेखक यू शेङ्-वू और चाङ् चेन-कुन के अनुसार भारतीय क्रान्ति के दमन के बाद अंग्रेज़ माञ्चू शासकों के साथ मिलकर काम करने लगे और चीनी क्रान्तिकारियों का दमन करने के लिये भारतीय सेना भेजकर माञ्चू शासन की मदद करने लगे।

इस प्रकार राज्यक्रान्ति के समय संसार के प्रतिक्रियावादियों की सहानुभूति अंग्रेजों के साथ थी, अग्रेजों से कहीं मतभेद था तो हिंदुस्तानी जनता के विरुद्ध सब एक थे। इन्होंने क्रान्ति का ग़लत रूप पेश करके अपनी जनता को बरग़लाने में अंग्रेजों का अनुकरण किया। इनके साथ और बहुत से लोग थे जो स्वार्थवश या भ्रमवश इन्हीं की सी बातें कहते थे। इनसे भिन्न दृष्टिकोण उन लोगों का था जो अपनी स्वाधीनता के लिये लड़ रहे थे और जो ब्रिटिश साम्राज्य के प्रसार का खतरा समझते थे।

यह स्वाभाविक था कि भारतीय राज्यक्रान्ति का सबसे अधिक प्रभाव एशिया के देशों पर पड़े। बर्मा के लोग कितनी उत्सुकता से यहाँ की खबरें सुनते थे, इसका उल्लेख पहले हो चुका है। फ्रांसीसी पत्रकार जोंकियेर आन्तोनेल ने "रेव्यू द परी" में ब्रिटिश प्रभाव के घटने के बारे में लिखा था, "कुस्तुन्तुनिया में ब्रिटिश प्रभाव कम हो रहा है। स्वेज में उस पर संकट है। ईरान में ब्रिटेन सशस्त्र शान्ति में उलझा हुआ है। और वह शान्ति युद्ध का रूप लें सकती है। चीन में उससे लोग घृणा करते हैं। हिंदुस्तान में ब्रिटिश सत्ता ध्वस्त हो रही है और उस समय से तुर्की के लोग खुशी मना रहे हैं। समग्र पूर्व इंगलैण्ड को धिक्कारता है।" इस लेखक ने साम्राज्यवाद के विरुद्ध पूर्व के देशों की जनता के संघर्षों के संदर्भ में भारतीय राज्यक्रान्ति को देखा है। तुर्की के लोगों को ख़ुशी मनाना एशिया के देशों की सामान्य भावना का सूचक है।

इटली की जनवादी पत्रिका "इतालिया देल पोपोलो" ("जनता

की इटली'') ने चीन और भारत की जनता के एक ही समय होने वाले क्रान्तिकारी संघर्षों के महत्व के बारे में लिखा था, ''भारत में ब्रिटिश साम्राज्य चाहे जल्दी चाहे देर में, चाहे आंशिक रूप में चाहे पूर्णतः बहाल हो, यह सदा के लिये सत्य है कि पीली नदी और गंगा के तट पर क्रन्ति का अभ्युदय एक विराट् घटना है और किसी भी तरह देखें, वह स्वाधीनता की चेतना के नये उद्वेलन की सूचक है।''

चीन में १८५६-६० में वहाँ की जनता अंग्रेज़ों से लड़ रही थी। उपर्युक्त चीनी लेखकों के शब्दों में उस देश के लोगों ने अपने संघर्ष के समय भारतीय जनता में अपना मित्र और भाई पाया। अंग्रेज़ों को चीन जाने वाली फौज बुलानी पड़ी लेकिन वे वहाँ से सारी फौज वापस न बुला सकते थे। इसलिये चीनी जनता ने अंग्रेज़ों के विरुद्ध अपना संघर्ष जारी रख कर भारतीय जनता की सहायता की। चीन की जनता भारतीय संघर्ष को किस उत्सुकता और उल्लास से देखती थी, इसका चित्र एक चीनी राजनीतिज्ञ शुएह फू-चेङ् के वक्तव्य में मिलता है। उन्होंने कहा था, ''कैन्तन के लोग अंग्रेज़ों से घृणा करते हैं। अफवाह यह है कि अंग्रेज़ों के उपनिवेश हिन्दुस्तान ने विद्रोह कर दिया है और अंग्रेज़ सैनिकों की हार हुई है और उनके कई सेनापति मारे गये हैं।'' एक अन्य चीनी लेखक हुआ तिङ-चिएह ने क्वाङ्तुङ् की जनता की भावनाओं के बारे में लिखा था, ''उस समय हौंगकौंग के कुछ लोग कहते थे कि अंग्रेज़ ऐसे आर्थिक संकट में हैं कि वे अपनी फौज को तनखाह ही नहीं दे सकते, वरन् अपनी दैनिक आवश्यकताएं भी पूरी नहीं कर सकते। उन्हें चीन से व्यापार करने की सख्त जरूरत है। दूसरे लोग कहते थे कि उन्हें उड़ती हुई खबर मिली है कि अंग्रेज़ों के अधीन देश बंगाल ने विद्रोह कर दिया है और अंग्रेज़ी फौज हार गई है। एक दो महीने बाद फिर यह अफ़वाह फैली कि अंग्रेज़ी फौज को चकमा देकर घेर लिया गया है और वह पूरी तरह नष्ट कर दी गई है। एक सेनापति, कुछ लोग कहते थे कि विक्टोरिया का दामाद, मारा गया है और दूसरे सेनापति इतने घवड़ा गये थे कि उनसे कुछ करते-धरते न बन पड़ रहा था। एक मुँह से दूसरे मुँह तक ये खबरें पहुँचती थीं और हर आदमी एक ही बात कहता था। वास्तविक परिस्थिति के बारे में पूछे जाने पर गवर्नर-जनरल येह मिङ-शेन ने कहा कि उन्हें विभिन्न

सूत्रों से ऐसे ही समाचार मिले हैं। हाँ, हौंगकौंग के व्यापारियों के पत्रों में भी ऐसी ही बातें लिखी होती थीं। लोगों में बेहद खुशी थी।" चीन के ये साधारण जन इतिहासकार नहीं थे। समाचार प्राप्त करने के उपयुक्त साधन भी उनके पास नहीं थे। फिर भी उनकी सहज बुद्धि कहती थी कि हिन्दुस्तान के लोग अंग्रेज़ों से लड़ रहे हैं, यह ठीक हो रहा है। वे हृदय से चाहते थे कि अंग्रेज़ हारें और हिन्दुस्तानी जीतें। उनके हृदय में यह भावना इसलिये उत्पन्न हुई थी कि वे स्वयं अपनी स्वाधीनता से प्रेम करते थे और उसके लिये लड़ते थे।

१८५९ के उतरार्द्ध में सिङ्किआङ् में रूसी राजदूत के सुझाव से मण्डारिन फाहफूली और तातार सेनापति चलाफेन्ता ने चीन के सम्राट् को एक आवेदन पत्र भेजा था जिसमें कहा था कि किसी योग्य व्यक्ति को गुप्त रीति से हिन्दुस्तान भेजना चाहिए जो वहाँ के लोगों से वादा करा ले कि अगले वर्ष जब अंग्रेज़ी फौज तिनत्सिन पर हमला करे, तब वे अपने यहाँ संघर्ष छेड़ दें। इस तरह चीन पर से युद्ध का संकट टल जायगा। इस प्रकार चीन की जनता भारत के स्वाधीनता-संग्राम को अपना मित्र समझती थी और वहाँ के अनेक दूरदर्शी राजनीतिज्ञ और सेनापति इस नतीजे पर पहुँच गये थे कि चीनी और हिन्दुस्तानी जनता की संयुक्त कार्यवाही से एशिया में साम्राज्यवादी अभियान को रोका जा सकता है। उपर्युक्त आवेदन-पत्र में अंग्रेज़ों के प्रति भारतीय जनता की भावनाओं को ठीक-ठीक आँकते हुए लिखा गया था, "वहाँ के लोगों के हृदय में अंग्रेज़ों के लिये गहरी घृणा है।" चीन के स्वाधीनता संग्राम को दबाने के लिये जो भारतीय सैनिक भेजे गये थे, उनमें से बहुतों ने चीनी जनता का साथ देकर अंग्रेज़ों से युद्ध करते हुए दोनों देशों की साम्राज्य-विरोधी मैत्री की नींव डाली।

भारतीय क्रान्ति के घटनाक्रम के प्रति जनता की उत्सुकता पूर्व के देशों तक सीमित न थी। यूरोप के लोग जानते थे कि इसमें एशिया में ब्रिटिश साम्राज्य के भविष्य का वारा-न्यारा होरहा है।

फ्रान्सीसी पत्र "ल सियेक्ल" ("शताब्दी") ने ६ सितंबर १८५७ को लिखा था, "भारतीय विद्रोह एकमात्र महान् घटना है जो इस समय लोगों का ध्यान आकर्षित कर सकती है।" रूसी पत्रिका "अते-चेस्त्वेन्निये ज़पीस्की" ('देश की बात") ने लिखा था, "आज के राज-

नीतिक जगत् में भारत के प्रश्न से बढ़ कर शायद ही कोई अधिक महत्वपूर्ण, रोचक अथवा गंभीर प्रश्न हो। लोग बड़ी बेसब्री से हिन्दुस्तान से आनेवाली खबरों का इन्तज़ार करते हैं। सब से आकर्षक सुर्खियाँ इस तरह की होती हैं: 'हिन्दुस्तान', 'हिन्दुस्तान की डाक' और 'कलकत्ते से आये हुए पत्र'। हिन्दुस्तान की परिस्थिति आज की सबसे सजीव समस्या बन गई है। पाँच महीने से सारे यूरोप की आंखें हिन्दुस्तान की ओर लगी हैं।"

यूरोप के विभिन्न देशों में क्रान्ति के समाचार से वहाँ के क्रान्तिकारियों में उत्साह और उल्लास भर गया। इटली की पत्रिका "ला राजिओने" ("विवेक") ने लिखा, "पीड़ित लोग समझ गये हैं कि अत्याचारियों के निकट पहुँच कर उन्हें ध्वस्त कर देना चाहिए। हम हृदय से उस दिन का अभिनन्दन करते हैं जब 'अत्यन्त स्वाधीन' इंगलैण्ड से भारत स्वाधीन हो जायगा।"

यूरोप के सभी जनवादी पत्रों ने इस संघर्ष को मुक्त कंठ से भारत का स्वाधीनता-संग्राम घोषित किया। ३ अक्तूबर १८५७ को फ्रान्सीसी पत्र "लेताफेत" ने लिखा "यह बात पक्की होगई है कि धर्म का प्रश्न बहाना भर था। वास्तविक कारण राष्ट्रीयता का अभ्युदय है।" फ्रांस को इंगलैण्ड की सहायता न करनी चाहिये, इस मत का प्रतिपादन करते हुए इसी पत्र ने २५ अगस्त १८५७ को लिखा था कि हिन्दुस्तानी "विद्रोही केवल इसलिये हैं कि अपनी राष्ट्रीय स्वाधीनता प्राप्त करें।" भारतीय इसिहास पर पुस्तक लिखने वाले इटली के विद्वान् कार्लो कत्तानिओ ने लिखा था कि "हिन्दुस्तान की धरती में स्वाधीनता का बीज लग चुका है और आज के दास कल के स्वामी बन सकते हैं।" "इतालिया देल पोपोलो" ने लिखा था, "संभव है कि वह [ब्रिटेन] उस अभागी जनता की मुक्ति के लिये इस महान् प्रयास को रक्त में डुबा दे और उसका दमन करदे। लेकिन श्रीगणेश हो चुका है, आग जलाई जा चुकी है, और कुछ भी हो, हमारी राय में बात यहीं खत्म न हो जायगी।" अंग्रेज़ों के अत्याचारों की तीव्र आलोचना करते हुए और भारतीय स्वाधीनता के उद्देश्य के प्रति अपनी पूर्ण सहानुभूति प्रकट करते हुए इस पत्र ने लिखा था, "प्रायः सभी अंग्रेज़ी पत्र ऐसे खूंखार विद्रोह के प्रति क्रोध प्रकट करते हुए टाइम्स की तरह उस दुखी और

उत्पीड़ित जनता के विरुद्ध प्रतिहिंसा और नर-संहार का आन्दोलन कर रहे हैं जो अपनी दासता की बेड़ियाँ सदा के लिये तोड़ देना चाहती थी। हम जो जनता के पवित्र अधिकारों को स्वार्थ की विजय से बढ़ कर मानते हैं, हृदय से चाहते हैं कि अंग्रेज़ जाति हिन्दुस्तान से सदा के लिए निकाल दी जाय। दुनिया में हिन्दुस्तान की अंग्रेज़ी हुकूमत शायद सब से ज्यादा बर्बर है।"

लंदन में रूस के सैनिक प्रतिनिधि इग्नातिएव ने लिखा था, "भारत का विद्रोह कंपनी के विरुद्ध कई देशी पल्टनों की आकस्मिक बग़ावत नहीं है।" इग्नतिएव के अनुसार विद्रोह का कारण कंपनी का लोभ और शासकों के दुर्गुण थे। रूसी क्रान्तिकारी दोब्रोल्यूबोव ने भारतीय संघर्ष को ऐतिहासिक रूप से अनिवार्य बतलाया था और अंग्रेज़ों की डाकू नीति की तीव्र आलोचना की थी। "जनता ने विद्रोह इसलिये किया था कि उसने अंग्रेज़ों की शासन-व्यवस्था में ही खराबी देखी थी।" रूसी जनता क्राइमिया के युद्ध में अंग्रेज़ों से लड़ चुकी थी, इसलिये भी उसकी सहज सहानुभूति हिन्दुस्तान के साथ थी।

भारत के इन मित्रों ने जहाँ सन् सत्तावन के संघर्ष को स्वाधीनता संग्राम के रूप में स्वीकार करके उसके प्रति अपनी सहानुभूति प्रकट की, वहाँ उन्होंने यहाँ की परिस्थिति के लियें अंग्रेज़ों को उत्तरदायी ठहरा कर यूरोप के लोगों को अंग्रेज़ी राज की वास्तविक स्थिति से परिचित कराया। भारतीय स्वाधीनता-संग्राम का सुसंगत समर्थन न करने पर भी ब्रिटिश उद्योगपतियों के प्रतिनिधि कौब्डन ने लिखा था कि कंपनी के इजारेदारों ने ऐसे अत्याचार किये हैं जिनसे वन्य जातियां भी विद्रोह करने पर तुल जायँगी। मज़दूरों से सहानुभूति रखने वाले अंग्रेज़ पत्र "रेनौल्ड्स न्यूज़पेपर" ने अंग्रेज़ सरकार के "विशाल और अभूतपूर्व अपराधों" का उल्लेख करके भारतीय विद्रोहियों को अत्याचार और अन्याय के लिये युद्ध करता हुआ बताया था। फ्रान्सीसी पत्र "रेव्यू दे दो मोंद" ("विश्व-समीक्षक") ने राज्य हड़पने और यहाँ की भूमि-व्यवस्था के उलटने को विद्रोह का कारण माना था। "लेताफेत" का कहना था कि अंग्रेज़ों ने हिन्दुस्तान को एक विशाल कारागार बना दिया है जहां फांसी के तख्ते ही तख्ते दिखाई देते हैं। "ल्यूनियों" ("एकता") ने क्रान्ति के फलस्वरूप विश्व-राजनीति में अंग्रेज़ों की भूमिका में कमी

आने की बात लिखी थी। "इतालिया देल पोपोलो" ने अंग्रेज़ों की क्रूर दमन-नीति की आलोचना करते हुए उनकी राजनीति के बारे में लिखा था, "विश्वासघात, धोखे, और हिंसा के ज़रिये उन्होंने बादशाह और अपने मित्र और साथी राजाओं की रियासतों पर अधिकार कर लिया। वे उधार रक्में इसलिये देते हैं कि फिर शर्तों को तोड़ें। दूसरों के प्रदेश पर अधिकार करने के लिये वे भाई-भाई के बीच, पिता-पुत्र के बीच, पुत्र और माता के बीच निर्मम शत्रुभाव जगाने से नहीं हिचकते।" इस पत्र ने अंग्रेज़ों की राज्य हड़पने और यहाँ एकता के बदले विघटन-शक्तियों को बढ़ावा देने का बहुत सुन्दर चित्र खींचा था। १८५७ में ही अंग्रेज़ों का प्रचार यूरोप के जागरूक विचारकों को बरगलाने में असफल हो रहा था। इसीलिये वे अपनी नैतिक पराजय से चिन्तित थे। अंग्रेजों ने हिन्दुस्तानियों की धर्मान्धता और स्त्रियों को बेइज्ज़त करने और उनके अंग काटने के किस्सों को खूब प्रचारित किया था। वह स्याही-कागज का खर्च सजग यूरोप के लिये तो व्यर्थ ही सिद्ध हुआ।

यूरोप के अनेक नागरिकों ने भारतीय जनता के क्रान्तिकारी संघर्ष में योग देने के उद्देश्य से उसकी सहायता करने के लिए भी आंदोलन किया। यद्यपि उनकी ये भावनाएं अमली रूप न ले सकीं, फिर भी अर्नेस्ट जोन्स की तरह उन्होंने यूरोप और एशिया, पूर्व और पश्चिम की जनता की मैत्री का आधार दृढ़ किया। यह मैत्री स्वार्थ की न थी वरन् उसका सामान्य आधार स्वाधीनता प्रेम और साम्राज्यवाद का विरोध था। फ्रान्सीसी पत्र "लेताफेत" के अज्ञातनाम पाठकों ने उसमें अपनी चिट्ठियाँ प्रकाशित कराके अपने देश की श्रेष्ठ क्रान्तिकारी परंपराओं का परिचय दिया और अंग्रेजों को बता दिया कि इस संघर्ष में भारतीय जनता अकेली नहीं है। यूरोप के स्वाधीनता-प्रेमियों का सारा मनोबल उसकी सहायता कर रहा है। एक उदारहृदय फ्रान्सीसी पाठक ने लिखा था, "हिन्दुस्तानियों के हित में हस्तक्षेप करो। अपनी समस्त नौ-सेना रवाना करो। रूस के साथ मिलकर प्रयत्न करो। एशिया के सभी लोगों से अपील करो, उन्हें सशस्त्र करो, उन्हें ब्रिटिश इंडिया से लड़ने भेजो, अत्याचारियों को मार भगाओ, मुगल सम्राट् का राज्य स्थापित करो। फ्रान्स की महान परंपरा के सचमुच अनुकूल यही एक नीति हो

सकती है ।"

कुछ दिन पहले फ्रान्स और इंगलैण्ड मिलकर रूस से लड़ चुके थे। यह कहने के लिये बड़े साहस की आवश्यकता थी कि इंगलैण्ड के विरुद्ध फ्रान्स रूस से मिलकर भारत की सहायता करे। उस समय फ्रान्स में तानाशाही जमी हुई थी। इसे ध्यान में रखते हुए सौ वर्ष पहले के इस फ्रान्सीसी मित्र के साहस की प्रशंसा और भी करनी पड़ती है। उसकी राजनीतिक सूझबूझ भी देखते ही बनती है। वह ब्रिटिश साम्राज्यवाद के विरुद्ध यूरोप और एशिया की जनता की संयुक्त कार्यवाही की कल्पना कर रहा है।

फ्रान्सीसी पत्रकार जोंकियेर अन्तोनेल ने स्वयं सिपाही बनकर भारतीय स्वाधीनता के लिये लड़ने की भावना प्रकट की थी। उन्होंने लिखा था, "तुम नहीं जानते मैं कब सिपाही बन जाऊँगा।"

इस उदारता और सहृदयता की अभिव्यंजना के अतिरिक्त विदेशों के इन मित्रों ने क्रान्ति का अध्ययन करने और उसका उचित मूल्याङ्कन करने के लिये बहुत से उपयोगी सूत्र भी दिये थे। क्रान्ति का सञ्चालन कैसे हो रहा था? उसे जनता का समर्थन कहाँ तक प्राप्त था? "इतालिया देल पोपोलो" ने लिखा था, "उन्हें [विद्रोहियों] को जनता की सहानुभूति या कम से कम तटस्थता प्राप्त है।" इस पत्र के अनुसार सभी वर्गों के लोगों में स्वाधीनता प्राप्त करने के लिये नया उत्साह पैदा हो गया था। "ला राजिओने" ने अंग्रेज़ों द्वारा भारत से धन बटोरने, यहाँ के उद्योगधन्धों को तबाह करने और एक भी नया उपयोगी धन्धा कायम न करने का उल्लेख किया था और इस तरह संघर्ष के आर्थिक कारणों की ओर ध्यान आकर्षित किया था।

हिन्दुस्तान में अंग्रेज़ों के शोषण का रूप क्या था? क्या वे अपने उद्योगधन्धों के लिये यहाँ से कच्चा माल ले जाते थे और वापस अपना तैयार माल बेचते थे? फोंवियेल और लगोल नाम के दो फ्रान्सीसियों ने १८५७ में "भारतीय विद्रोह" पर एक पुस्तक प्रकाशित की थी। उसकी भूमिका में उन्होंने लिखा था, "भारत में तीन तरह के बड़े हित स्वार्थ की तलाश करते हैं और संतोष प्राप्त करते हैं—कंपनी के हित, साधारण रूप में व्यापार के हित और अभिजातवर्ग के हित।" हिंदुस्तान के तत्कालीन इतिहास की चर्चा में अनेक विचारक इंगलैण्ड के

अभिजातवर्ग की भूमिका भूल जाते हैं। इन दोनों लेखकों ने व्यापारियों के साथ अभिजातवर्ग का उल्लेख किया है, यह वस्तुस्थिति को निकट से अध्ययन करने का परिणाम है। कंपनी का काम क्या रह गया है? उसका काम टैक्स वसूल करना है। पैसा बटोरने के सब साधन कंपनी के लिये उचित हैं, इसलिये लोग उससे घृणा करते हैं और वह मूर्खतापूर्ण व्यवहार करने लगती है। व्यापार में अफीम की उपज मुख्य है जिससे भारत को कोई लाभ नहीं होता। कंपनी द्वारा अभिजातवर्ग का लाभ इस प्रकार होता है, "कंपनी ठप हो रही है। शासन में पैसे के लिये तंग खानदान के लोगों को वह नौकरियाँ देती है। उसकी फौज में अभिजात-वर्ग के उम्मीदवारों को अपने रुतबे के हिसाब से लंबी तनखाहों वाली जगह मिलती है और अक्सर वे जल्दी ही मालामाल हो जाते हैं।" इस तरह अंग्रेज़ अभिजातवर्ग इस देश की लूट में हिस्सा लेता था। अर्नेस्ट जोन्स ने भी लिखा था कि अभिजात वर्ग के बेटे भारत जाकर लूट-खसोट और हिंसा के कार्यों में दीक्षित हो जाते हैं।

१८५७ की राज्यक्रान्ति पर मार्क्स ने कई लेख प्रकाशित किये थे। इनमें क्रान्ति की अनेक विशेषताओं के बारे में मार्क्स की मूल्यवान स्थापनाओं के दर्शन होते हैं। दिल्ली के बाद भारतीय सेना विशृंखल नहीं हो गई। १५ जून १८५८ के लेख में मार्क्स ने दिल्ली के बाद लखनऊ को विद्रोहियों का हेडक्वार्टर कहा है। उनके अनुसार १८५८ के मध्य भाग में क्रान्ति समाप्त न होगई थी वरन् नगरों के घेरों और जमकर लड़ने वाले युद्धों के बदले अब लड़ाई का ऐसा दौर शुरू हुआ था जिसमें परिस्थिति विद्रोहियों के अधिक अनुकूल थी। अंग्रेज़ प्रचार कर रहे थे कि लखनऊ के पतन के बाद विद्रोहाग्नि शान्त हो जायगी। उनकी रणनीति का उद्देश्य भी यही था। किन्तु मार्क्स ने लिखा था, "लखनऊ पर अधिकार होने से अवध ने आत्मसमर्पण नहीं कर दिया; न अवध के आत्मसमर्पण करने से हिन्दुस्तान में शान्ति स्थापित हो जायगी।" अवध में विद्रोहियों की आत्मरक्षा के लिये अनुकूल परिस्थितियाँ थीं। मार्क्स ने लिखा कि यद्यपि इन पर विजय पाना कठिन नहीं है, फिर भी उन सब पर एक-एक करके अधिकार करना बड़ा ही कठिन काम होगा और उसमें अंग्रेज़ों को पहले से अधिक हानि होगी। मार्क्स ने छापेमार युद्ध, कलकत्ते से अंग्रेज़ों के संपर्क-साधनों को छिन्न भिन्न करने से और किसानों के

भूमिकर न देने के महत्व की ओर संकेत किया। युद्ध की गतिशीलता विद्रोहियों के लिये लाभदायी थी। गर्मी की ऋतु में विद्रोहियों के पीछे बराबर दौड़ते रहने से अंग्रेज़ों को भारी क्षति होगी, इस संभावना पर मार्क्स ने जोर दिया। सिपाही बंबई और मद्रास जाकर वहाँ के सैनिकों को अपने पक्ष में कर सकते हैं, यह संभावना भी बनी हुई थी।

२६ जून १८५८ के लेख में रसेल के विवरण के आधार पर और उसे उद्धृत करते हुए मार्क्स ने दिल्ली और लखनऊ की लूट की चर्चा की। लुटेरी फौज के अनुशासन के बारे में मार्क्स ने लिखा था, "लखनऊ जीतने के बाद अंग्रेज़ी फौजों की निष्क्रियता का कारण यह है। लूट के काम में एक पखवारा अच्छा बीता। अफसरों और सैनिकों ने जब नगर में प्रवेश किया था, तब वे गरीब और कर्जदार थे। वहाँ से निकले तो अचानक धनी हो गये। अब वे पहलेवाले आदमी नहीं थे। फिर भी उनसे आशा की जाती थी कि वे पहले की तरह अपनी फौजी ड्यूटी बजा लायेंगे, ताबेदार होंगे, चुपचाप हुक्म मानेंगे, भूख, थकान और लड़ाई का सामना करेंगे। लेकिन यह अब होने का नहीं। जो फौज लूट के लिये तितर-बितर हो जाती है, वह सदा के लिये बदल जाती है। कोई भी हुक्म, सेनापति का कितना भी रोबदाब उसे पहले जैसी नहीं बना सकता।" रसेल के विवरण के आधार परयुद्ध के लिये अंग्रेज़ सैनिकों की अनिच्छा का जिक्र करके मार्क्स ने लिखा था कि सुना गया है कि डेढ़ सौ अफ़सरों ने सर कौलिन कैम्पबेल को इस्तीफा भेज दिया है। अंग्रेज़ सैनिक अपने ही भाई-बंदों को लूट रहे थे। मार्क्स के शब्दों में "लूटने से और भी लूट का माल पाने की इच्छा होती है। लूट के लिये आसपास हिन्दुस्तानी खजाने न मिलें तो ब्रिटिश हुकूमत के खजानों पर क्यों न हाथ साफ किया जाय?" रसेल ने लिखा था कि वेतन-विवरण करनेवाले अफ्सर अंग्रेज़ों की अपेक्षा भारतीय सैनिकों को खजाने की चौकसी के लिये तैनात करना ज्यादा उचित समझते थे। इस पर मार्क्स ने टिप्पणी की थी, "सचमुच बहुत ठीक। अनुपम आदर्श योद्धा ब्रिटिश सैनिक से हिन्दू या सिख अधिक अनुशासन मानने वाला, कम चोरी करने वाला और कम लुटेरा है।"

मार्क्स के ये शब्द इस प्रचार का खंडन करते हैं कि लूट में ब्रिटिश

सेना के हिन्दुस्तानी सैनिक सबसे आगे रहते थे। अंग्रेज़ सेनापतियों को अपने हमवतनों पर इनना कम भरोसा था कि खजाने की रक्षा के लिये वे उनका विश्वास न करते थे। ब्रिटिश सैनिकों की व्यक्तिगत लूट के अलावा मार्क्स ने अंग्रेज़ों की सामूहिक लूट की चर्चा की है। इस तरह अंग्रेज़ों के ही अनुसार लखनऊ से पचास-साठ लाख पाउंड की संपत्ति लूटी गई थी। मार्क्स ने इस व्यवस्थित लूट के बारे में लिखा था, 'चंगेज-खाँ और तैमूर की कैलमुक सेनाएं किसी नगर पर टिड्डी दल की तरह टूट पड़ती थीं और जो चीज़ उनके सामने पड़ती थी, उसका सफाया कर देती थीं। लेकिन इन ईसाई, सभ्य, उदार और सहृदय अंग्रेज सैनिकों की बाढ़ के सामने वे लोगों को वरदान मालूम पड़ती होंगी। वे कम से कम अपने तूफानी वेग से जहाँ मन चाहा आगे निकल जाती थीं। लेकिन बाकायदा काम करने वाले ये अंग्रेज़ अपने साथ प्राइज़ एजेण्ट [इनाम के रूप में लूट का माल एकत्र करने वाले] लाते हैं जो लूट का हिसाब रखते हैं, उसे नीलाम करते हैं और इस बात की चौकसी करते रहते हैं कि ब्रिटिश वीरता अपने पुरस्कार से वंचित न रह जाय।" इस व्यंग्य-पूर्ण शैली में मार्क्स ने अंग्रेज़ लुटेरों की नैतिकता और उनकी युद्धनीति का चित्र आँका था। यह और अन्य लेख अमरीकी पत्र "न्यूयौर्क डेली ट्रिब्यून" में छपे थे। अमरीका के कुछ अन्य पत्र भारतीय जनता के संघर्ष का विरोध कर रहे थे। मार्क्स के लेखों ने साधारण अमरीकी नागरिकों को अंग्रेज़ी सभ्यता, अंग्रेज़ी फौज और उसके लूटपाट के उद्देश्य से परिचित कराया होगा।

अवध की सारी जनता अंग्रेज़ों के विरुद्ध थी, इसलिये कौलिन कैम्प-बेल के लिये आवश्यक था कि हर जगह अपनी चौकियां स्थापित करके वहाँ फौजी दस्ते रखता जाय। अंग्रेज़ी फौज के पुराने सैनिक जो हिन्दु-स्तान की जलवायु के आदी थे, खत्म हो गये थे। उनके बदले नये सैनिक आये थे जिन्हें यहाँ की गर्मी से बेहद नुक्सान पहुँचता था। मार्क्स के अनुसार अंग्रेज़ों ने हिन्दुस्तान के एक प्रदेश में इतनी बड़ी फौज कभी केन्द्रित न की थी। वह भी हर तरफ बिखरी हुई थी। मार्क्स ने एक ओर तो अंग्रेज़ों की सैनिक स्थिति की इस कमजोरी की ओर संकेत किया कि उन्हें फौज बिखरा कर रखनी पड़ती है, दूसरी ओर दिखाया कि राजस्थान और महाराष्ट्र में संघर्ष ने जोर पकड़ा तो उनकी स्थिति और भी संकट-

मय हो सकती है। मार्क्स ने इस संभावना का इस तरह उल्लेख किया था मानों वह चाहते हों कि वहाँ संघर्ष फैले। तात्या टोपे और नाना साहब इस सम्भावना और संघर्ष को उन प्रदेशों में फैलाने की आवश्यकता से अपरिचित न थे। किन्तु सामन्तों के विश्वासघात के कारण उनकी योजना सफल न हो सकी।

२१ जुलाई १८५८ के लेख में मार्क्स ने छापेमार युद्ध की संभावनाओं पर प्रकाश डाला। उन्होंने इस बात को लक्ष्य किया कि विभिन्न प्रदेशों में विद्रोहियों की कार्यनीति एकसी है। बिहार के छापेमारों का हवाला देने के बाद उन्होंने लिखा, "अवध और रुहेलखण्ड के विद्रोहियों के साथ इनकी कार्यनीति की समानता स्पष्ट है।" उन्होंने यह तथ्य लोगों के सामने रखा कि संघर्ष एक बड़े पैमाने पर चल रहा था। "इस प्रकार हिमालय से लेकर बिहार और विन्ध्याचल तक, और ग्वालियर तथा दिल्ली से लेकर गोरखपुर और दीनापुर तक सारे प्रदेश सक्रिय विद्रोही समूहों से भरे पड़े है। ये लोग साल भर के युद्ध के अनुभव के बल पर एक हद तक संगठित हैं। कई बार हारने पर भी इस बात से उत्साहित होते हैं कि लड़ाई निर्णायक नहीं होती और अंग्रेज़ों को बहुत थोड़ा लाभ होता है।" जनता से अंग्रेज कितने अलग हैं और शस्त्र-बल पर अपनी सत्ता कायम किये हैं, इस विषय में मार्क्स ने लिखा, "लेकिन दूसरी ओर इस विशाल प्रदेश में अंग्रेजों के पास शहरों के अलावा और कुछ नहीं है। देहात में जहाँ उनके फौजी दस्ते चलते हैं, वहीं उनका अधिकार होता है।" हैजा, पेचिश और गर्मी के कारण ब्रिटिश सैनिक मर रहे थे; उधर हिन्दुस्तानी सेना अंग्रेजों को उन परिस्थितियों में लड़ने को मजबूर कर रही थी जो उसके अनुकूल थीं। छापेमार युद्ध में घुड़सवार ज्यादा काम देते हैं, भारतीय सेना के पास घुड़सवार कम और पैदल सिपाही अधिक थे।

१ अक्तूबर १८५८ के लेख में उन्होंने शाहाबाद के छापेमार-युद्ध के उच्च स्तर पर टिप्पणी की, "बाँसों और झाड़ियों का यह अभेद्य जंगल अमरसिंह के नेतृत्व में विद्रोही-दल के अधिकार में है। अमरसिंह ने अधिक सक्रियता और छापेमार लड़ाई की जानकारी का परिचय दिया है। चुपचाप अंग्रेजों की राह देखने के बदले वह कम से कम, जब भी बन पड़ता है, उन पर आक्रमण तो करते हैं।" इस समय अंग्रेज फौज

के सिख सिपाहियों के प्रति सशंक थे। उन्हें भय था कि वे फिर अपना राज कायम करने के लिये संघर्ष न छेड़ दें। राजस्थान और महाराष्ट्र के साथ मार्क्स ने सिख सैनिकों के विद्रोह की सम्भावना का भी जिक्र किया है।

मार्क्स ने अपने लेखों द्वारा अंग्रेज़ों की लुटेरी फौज, जनता से उनके अलगाव, केवल शस्त्रबल से शासन कायम रखने की नीति, उनकी राजनीतिक और सैनिक परिस्थिति की कमजोरी, संघर्ष को सफल बनाने के लिये और ज़ोरों से छापेमार युद्ध चलाने तथा संघर्ष को नये प्रदेशों में फैलाने की आवश्यकता पर अपने विचार प्रकट किये और इस तरह अमरीका और यूरोप की जनता को अंग्रेज़ी राज की वास्तविकता से बहुत कुछ परिचित कराया। भारतीय स्वाधीनता आंदोलन के लिये यह उनकी बहुमूल्य सहायता थी। उन्हें तथ्यों के लिये ब्रिटिश सूत्रों पर निर्भर रहना पड़ता था और इनमें बहुत थोड़े उस समय प्रकाश में आये थे। इस कारण सिपाहियों के बारे में उनकी कुछ बातों से सहमत होना कठिन है। उदाहरण के लिये उन्होंने सिपाहियों के क्रूर कर्मों की बात स्वीकार कर ली थी और उसके लिये अंग्रेजों की नीति को उत्तरदायी ठहराया था। वास्तव में सिपाहियों और अंग्रेजों की नीति में ज़मीन-आस्मान का अन्तर था। भारतीय इतिहास के घटनाक्रम पर अपनी टिप्पणियों में उन्होंने अंग्रेजी राज की बड़ी तीव्र आलोचना की है, अंग्रेजों के सहायक सामंतों को कुत्ता कहा है और "सिपाही राज्यक्रांति" (मार्क्स ने अंग्रेजी के Sepoy Revolution शब्दों का प्रयोग किया था) को डलहौज़ी की गर्वोक्तियों का उत्तर बतलाया था। मार्क्स की भारत-संबंधी अन्तिम मान्यता इतिहास की इस पुस्तक में है। निःसंदेह वह इस राज्यक्रांति को अंग्रेजों को यहाँ से निकालने और स्वाधीनता प्राप्त करने का वृहद् प्रयत्न मानते थे।

भारतीय जनता ने इस युद्ध को क्या समझा था, यह उस घोषणा से प्रकट होता है जो सिपाहियों ने दिल्ली से प्रकाशित की थी। यह युद्ध स्वाधीनता के अतिरिक्त एक नयी राज्य-सत्ता, एक नयी शासन-व्यवस्था के लिये भी था। जिस पर सेना के द्वारा किसानों का भी अधिकार हो और जो उन्हें टैक्सों से मुक्त करके भूमि पर उनके पुराने अधिकारों को फिर उन्हें प्राप्त करा दे। यह फौज पुरानी सामंती सेनाओं से भिन्न

थी ; वह ब्रिटिश फौज से भी भिन्न थी जिसके विद्रोही सिपाहियों ने उसे संगठित किया था। १५ अगस्त १९५७ के "साप्ताहिक हिन्दुस्तान" में श्री विश्वम्भरनाथ पांडे का एक लेख प्रकाशित हुआ है, "१८५७ का राष्ट्रीय पत्र पयामे आज़ादी"। इसमें उन्होंने लिखा है कि रसेल ने "टाइम्स" को अपने एक पत्र के साथ "पयामे आज़ादी" में प्रकाशित बहादुरशाह का एक ऐलान भी भेजा था। इसमें सबसे पहले आजादी के लिये हिन्दुओं और मुसलमानों का आह्वान किया गया है। लिखा है, "हिन्दुस्तान के हिन्दुओ और मुसलमानो, उठो ! भाइयो, उठो ! खुदा ने इन्सान को जितनी बरकतें अता की हैं, इनमें सबसे कीमती बरकत आज़ादी की है। वह जालिम नाकिस, जिसने धोका दे देकर हमसे वह बरकत छीन ली है, क्या हमेशा के लिये हमें उससे महरूम रख सकेगा ?" यह आशा प्रकट करने के बाद कि जल्दी ही हिन्दुस्तान में अंग्रेज़ों का नाम-निशान न रहेगा, ऐलान में फौज के जनतांत्रिक रूप का उल्लेख इस प्रकार है, "हमारी इस फौज में छोटे-बड़े की कोई तमीज़ न होगी। सबके साथ बराबरी का बर्ताव किया जायगा। इस पाक-जंग में शरीक होने वाले सब भाई-भाई हैं। उनमें छोटे-बड़े का कोई फर्क नहीं है।" भारतीय सेना में अनेक वर्गों के लोग थे ; उनमें परस्पर अन्तर्विरोध भी थे। कुछ लोग ऐसे भी थे जो विधवा-विवाह के वैध करार दिये जाने, सती-प्रथा पर रोक लगने, कचहरी में सामंतों के साथ साधारण जनों की तुलना में सम्मानपूर्ण व्यवहार न करने से असन्तुष्ट थे और इश्तहारों में इन बातों का जिक्र भी करते थे। किंतु अंग्रेज-विरोधी मोर्चे की मुख्य शक्ति किसान और सिपाही थे। उनकी स्वाधीनता और समानता की भावना उपर्युक्त ऐलान में प्रकाशित हुई है। इस कारण हम कह सकते हैं कि सन् सत्तावन की राज्यक्रांति एक जनवादी क्रांति भी थी जिसमें भाग लेने वाले साधारण सिपाही और किसान समानता और भाईचारे का भाव लेकर लड़े थे। बिर्जिस कदर के दरबार में सैनिकों का व्यवहार, बहादुरशाह के साथ उनका बर्ताव, किसानों से मालगुजारी न देने की अपील, ज़काउल्ला के अनुसार अंग्रेज़ों से लड़ते हुए प्राण देने वाले हर सैनिक के परिवार को पाँच बीघे ज़मीन, जिसकी मालगुज़ारी माफ हो, देने का वादा,[२०२] ये सब बातें क्रांति में उसकी मुख्य संचालक शक्ति के जनतांत्रिक लक्ष्य और दृष्टिकोण की सूचक हैं। संघर्ष के दौर में

पल्टनों द्वारा प्रतिनिधि चुनना, दिल्ली के कोर्ट में प्रतिनिधि भेजना, प्रतिनिधियों द्वारा कार्य-संचालन और किसी भी समस्या पर विचार करते हुए उसका निर्णय करने के लिये मतदान के नियम और सामंती रवाज तोड़कर नजर लेने, घूस देने आदि पर पावन्दी आदि बातें क्रांति के जनवादी पक्ष को उभारकर सामने रखती है।

श्री विश्वंभरनाथ पाण्डे ने लिखा है कि "पयामे आज़ादी" के प्रकाशन की योजना अजीमुल्ला ने बनाई थी। उन्होंने क्राइमिया के युद्ध पर रसेल की पुस्तक से अजीमुल्ला के सम्बन्ध में यह वाक्य उद्धृत किया है, "अनेक यूरोपीय और एशियाई भाषाओं से परिचित भारतीय आज़ादी के इस संदेशवाहक में पत्रकार के वे सभी गुण मौजूद थे जो उन्हें यूरोप की किसी प्रमुख भाषा का श्रेष्ठ और लोकप्रिय पत्रकार बना सकते थे।" भारतीय स्वाधीनता का समर्थन करने वाले फ्रांस और इटली के जिन पत्रों का उल्लेख ऊपर हुआ है, उनकी पंक्ति में, "पयामे आजादी" गौरवपूर्ण स्थान पाने का अधिकारी है। उसमें प्रकाशित ऐलान की विचारधारा फ्रांसीसी राज्यक्रांति के बाद यूरोप के प्रगतिशील विचारकों की भावनाओं से मेल खाती है। यूरोप के उन क्रांतिकारी पत्रकारों में भारत के प्रतिनिधि की हैसियत से अज़ीमुल्ला सम्मिलित होने केपूर्णत: योग्य थे, यह रसेल की टिप्पणी से स्पष्ट है। श्री विश्वंभर नाथ पाण्डे के अनुसार "पयामे आजादी" के तीसरे अंक में भारतीय नरेशों की एकता के सम्बन्ध में अज़ीमुल्ला का एक बयान छपा था। सामंतों के साथ सेना का संयुक्त मोर्चा बनाने में सम्भवत: अज़ीमुल्ला का विशेष हाथ था। "पयामे आजादी" नागरी और उर्दू दोनों लिपियों में छपता था और झाँसी से उसका एक मराठी संस्करण भी प्रकाशित हुआ था। एक से अधिक लिपियों तथा भाषाओं में पत्र का प्रकाशित होना अधिक से अधिक जनता तक पहुंचने और उसे संगठित करने के प्रयास की ओर संकेत करता है। बाँदा के नबाव का हिन्दी-उर्दू दोनों में इश्तहार निकालना, इसी प्रकार हिन्दी-उर्दू में बिर्जिस कदर के इश्तहार का प्रकाशित होना[२०३] उपर्युक्त नीति के अनुकूल है। भाषा-समस्या की ओर क्रांति के नेताओं का यह रुख कम महत्वपूर्ण नहीं है, न आज की परिस्थिति के लिये कम शिक्षाप्रद है।

सन् सत्तावन के संघर्ष के दौर में जन-साधारण में नया आत्म-

विश्वास उत्पन्न हुआ था। वे देख रहे थे कि जिस प्रतापी ब्रिटिश साम्राज्य के सामने उनके देश के बड़े-बड़े राजे-महाराजे सिर झुका चुके थे, उसे कुछ सामंतों के साथ उन जैसे सिपाही चुनौती दे रहे थे। इसलिये अंग्रेजों का साथ देने वाले सामंतों के प्रति उनके मन में उपेक्षा और क्रोध के भाव उत्पन्न हुए थे। अनेक लोकगीतों में जनता का यह सामंत-विरोधी दृष्टिकोण सुरक्षित है।

बूँदी के राजकवि सूरजमल (अथवा सूरजमाल) १८५७ में ४२ वर्ष के थे। उन्होंने सन् सत्तावन के साल को विषधर नाग कहा है जिसने अंग्रेजों को डस कर पलटा खाया। उन्होंने राजस्थान के सामंतों को ललकारते हुए लिखा था—

"सीह न बाजौ ठाकुरां, दीन गुजारौ दीह।
हाथल पाड़ै हाथियाँ, मौभड़ बाजै सीह॥"

सामंतों को सिंह नाम छोड़ देना चाहिए क्योंकि वे पर-निर्भर हो गये हैं; सिंह वह होता है जो हाथ से हाथी पर वार करता है।[२०४] आवा (अथवा आउवा) के युद्ध का वर्णन अनेक लोकगीतों में किया गया है। फिरंगी लड़ने आया है; राजा उसका साथ दे रहा है। लेकिन तोपों के गोले मिट्टी में लगकर व्यर्थ हो जाते हैं। एक दोहे में आउवा के प्रतिरोध की प्रशंसा करते हुए कहा गया है—

"हुआ दुखी हिंदवाणरा, रुकी न गोरां राह।
विकट लड़ै सहियो विखो, वाह आउवा वाह।"

हिन्दुस्तान दुखी है, गोरों की राह रुकती नहीं। आउवा ने विकट युद्ध करके उन गोरों की राह रोकी; उस आउवा को धन्य है। गिरवरदान के छप्पय में संवत् १९१४ (सन् १८५७) के आने पर अपार युद्ध छिड़ने और कम्पनी के हृदय में आग लगने—"दाय कम्पनी उर दीधौ"—तथा सिपाहियों का आउवा आने और युद्ध करने का वर्णन है। एक अन्य कविता में आउवा के खुशालसिंह की कठिनाइयों का वर्णन है और उन्हें साहस से आश्रय देने वाले कोठारियों के रावत जोधसिंह की प्रशंसा है। राजस्थानी कविता में स्वाधीनता-प्रेम और सामंत-विरोधी चेतना का विकास १८५७ से पहले ही हो रहा था। कविराजा बाँकीदास का देहान्त संवत् १८९० में सन् सत्तावन से चौबीस वर्ष पहले हुआ था। उन्होंने भारत में अंग्रेज़ी राज के प्रसार और सामंतों की कायरता के

बारे में लिखा था--

"आयो इंगरेज मुलक रै ऊपर, आहं सलीधा खेंचि उरा।
धणियाँ मरै न दीधी धरती, धणियाँ ऊभाँगई धरा॥"

मुल्क पर अंग्रेज़ आ गया; उसने हृदय से अन्तस खींच लिया। पहले धनी (धरती के स्वामी) प्राण दे देते थे लेकिन धरती न देते थे। अब उनके रहते हुए भी धरती चली गयी। बाँकीदास ने जोधपुर, उदयपुर और जैपुर द्वारा अपना वंश-गौरव खो देने की बात भी लिखी थी। यह चेतना १८५७ में समाप्त नहीं हुई वरन् और विकसित हुई।

देश की गुलामी और गरीबी के विरुद्ध विप्लव के नेता लड़े थे, यह स्मृति इस भोजपुरी लोकगीत में सुरक्षित है:

बबुआ, मरले मराठा जूझल सिखवा हो ना।
बबुआ, पेसवा के पूतवा गुलमवा हो ना।
बबुआ, दिल्लीपति भइले कंगलवा हो ना।
बबुआ, मँगलो पर मिले नाहीं भिखिया हो ना।
बबुआ, ओहे दिन दादा लेली तरुअरिया हो ना।

अपनी खेती के काम की चीजों से किसानों ने तलवारें बनवाईं और छापेमार युद्ध चलाया, इस पर लोक-कवि कहता है—

बबुआ, बिछिया बिचइली जाह दिन तोपवा हो ना।
बबुआ, जंग खाइ गइले बन्दुकिया हो ना।
बबुआ, हँसुआ गड़इले तरुवरिया हो ना!
बबुआ, तजि देले लाठी भोजपुरिया हो ना।
बबुआ ओहे दिन दादा लेली तरुअरिया हो ना।

किसान के लिए कुँवरसिंह राज सिंहासन पर बैठने वाले ऐसे सामंत नहीं हैं जिनसे वह अपने को दूर पाता है। उसके लिए कुँवरसिंह उसी की तरह लाठी लेकर चलने वाले किसान हैं और हँसिया को पीट-पाट कर तलवार बनवाते हैं। नेता और जनता एक दूसरे के अत्यन्त निकट हैं। बड़े प्यार से और अपनपौ से लोककवि कुँवरसिंह के बुढ़ापे का चित्रण करता है और इस दशा में भी अंग्रेजों के विरुद्ध तलवार उठाने के लिए संकेत से उनकी प्रशंसा करता है:

बबुआ असी हो बरीस के उमिरिया हो ना।
बबुआ, थर थर काँपे जा कर मुड़िया हो ना।

बबुआ, बकुला के पाँखि अइसन केसिया हो ना।
बबुआ, गिरि गइलो जाह दिन बतिसिया हो ना
बबुआ, ओही दिन दादा लेलो तरुअरिया हो ना।

भोजपुरी जनता के लिये कुँवरसिह उन छापेमार-योद्धाओं के प्रतीक हैं जो किसानों में उत्पन्न हुए थे और अपने सीमित अस्त्र-शस्त्रों से भी जिन्होंने अंग्रेज़ी राज की जगह गाँवों की जन सत्ता कायम की थी। होली के दिन आते हैं; चारों ओर लोग रंग खेलते है। लेकिन अपनी राज्य सत्ता की याद आने पर किसान दर्द से गाता है,

बाबू कुँअरसिंह तोहरे राज बिनु अब न रँगइबो केसरिया।

श्री दुर्गाशङ्करप्रसाद सिंह ने "कुँअरसिंह एक अध्ययन में पुस्तक" इस तरह के लोकगीत संकलिय किये हैं। उपर्युक्त पंक्तियां उसी पुस्तक से यहाँ उद्धृत की गई हैं। उन्होंने बिहार की पँवरिया जाति का ज़िक्र किया है जिसका काम तलवार लेकर नाचना और वीर रस के पँवारे गाने होता था। ऐसे ही एक पँवारे में कवि ने कुँअरसिंह के बुढ़ापे का वर्णन किया है। क्या मुसीवत है कि लड़ाई तब छिड़ी जब कुँअरसिह बूढ़े हो गये। इस पर भाई अमरसिंह आश्वासन देते हैं, तुम बैठे बैठे पान चबाओ, मैं अंग्रेज़ को देखूँगा।

सुन अमर मेरी वात जब जवानी मेरी थी,
तव अंगरेज बिगड़ल ना, अब जयेफी बीती जाय,
जीरा ऐसा दाँत हो जाय, आ सन ऐसा बार हो जाय
जुल जुल मास लटकत जाय, बाँह में कूबत मिले जाय
कैसे तेगा पकड़ूं मैं, कैसे मनी (कलक्टर) को मारूं मैं।
तब ले अमरसिह बोले का, सुन भैया मेरी बात,
बैठल भैया पान चबाव, मै अँगरेजत को देखूँगा।

एक अन्य पँवारे में इतिहासकारों को मात करने वाली मार्मिक दृष्टि से लोक कवि ने तोपों के मुकाबले में जंगलों का सहारा लेकर छापेमार लड़ाई चलाने के कौशल के बारे में लिखा है,

जगदीशपुर किला छोड़ दिया, जंगल में घुसा जाय।
जंगले - जंगले बाबू चले, ई जरनैल जोड़ किया।
दूरवीन लगायके देखे जाय, यही बाबू जाता है।
लिख परवाना भेजे का, सुनो बाबू मेरी बात,

जंगल छोड़ कर लड़ो, इतनी बात बाबू सुने,
सुन जरनैल मेरी बात, मैं जंगल छोड़ूंगा,
तुम तोप धर के लड़ो, इतनी बात जरनैल सुने,
सुनिये बाबू मेरी बात, मैं तोप नहीं धरूँगा,
मेरा तोप माता है, इतनी बात बाबू सुने
सुन जरनेल मेरी बात, तुम्हारा तोप माता है,
मेरा जंगल पिता है, मैं जंगल छोड़ूंगा नहीं ।।

तोपों का मुकाबला कैसे किया जाय ? अंग्रेज़ी सेना अस्त्र-शस्त्रों में बढ़-चढ़ कर है । इधर हँसिया पीटकर तलवार बनाने वाले लोग हैं। जंगल के भरोसे ही छापेमार युद्ध हो सकता है । जन-कवि ने दोनों पक्षों की शस्त्र-सज्जा का भेद, उनकी समर-नीति का भेद बड़ी बारीकी से चित्रित किया है । अंग्रेज तोप के बल पर सूरमा है । वह छापेमारों को जङ्गल से निकल कर लड़ने को ललकारता है । छापेमारों की ओर से उत्तर है, तू भी तोप छोड़कर आ, तब आमने-सामने बराबरी का युद्ध हो । हिन्दुस्तानी योद्धा अंग्रेज की वीरता से डर कर नहीं भागा; तोपों की मार व्यर्थ करके जंगल में छापेमार युद्ध चलाना उसकी समरनीति के अनुकूल है । बहुत ही सुन्दर और आलंकारिक ढंग से संवाद लिखकर अंग्रेज़ से तोप को माता कहला कर और कुंवरसिह से जंगल को पिता कहला कर जनकवि ने दो पंक्तियों में बिहार के युद्ध का सारा मर्म उद्-घाटित कर दिया है । जो बात स्वनामधन्य इतिहासकारों को नहीं सूझती, उसे इस कवि ने लोक-परम्परा के आधार पर इतने सूक्ष्म और प्रभावशाली ढँग से अङ्कित कर दिया है ।

जनता अपने लोकप्रिय वीरों को कभी नहीं भूलती, न उन देश-द्रोहियों को भूलती है जो जनता का पक्ष छोड़ कर शत्रु से मिल जाते हैं । अवध के एक लोकप्रिय गीत में राना बेनीमाधो के प्रति जनता का प्रेम, उनके युद्ध-कौशल के चमत्कार और शत्रु से मिल जाने वालों के प्रति जनता की घृणा इन शब्दों में प्रकट हुई है ।

अवध मा राना भयो मरदाना ।
पहिलि लड़ाई बक्सर मारचो सेमरी के मैदाना ।
उहाँ ते जाय पुरवा माँ जीत्यौ तबै लाट घबराना ।
इष्ट-मित्र सब ही बुलवायो सबको दुआ सलामा ।

तुम तो जाय मिल्यौ गोरन मां, हमको है भगबाना।
नक्की मिले, भानुसिंह मिलिगे, मिले सुदर्शन जाना।
सूर वीर याकौ न मिलिहै मिलिहै झारि जनाना।
हाथ सिरोही बगल मां भाला घोड़ा चलै मनमाना।
कहै दुलारे सुनौ पियारे उत्तर कियौ पयाना।
अवध माँ राना भयो मरदाना।।

भले ही कुछ बुद्धिजीवियों के लिये १८५७ में अंग्रेज़ प्रगतिशील रहे हों और उनसे लड़नेवाले प्रगतिशीलता के रथ को रोके लेते हों, जहाँ तक जनता का दृष्टिकोण है, उसके अनुसार मर्दाने वही हैं जो अंग्रेज़ों से लड़े, दुश्मन का साथ देने वाले मर्दों के वेश में ज़नाने हैं।

एक दूसरे लोकगीत में जनता की राजनीतिक समझ इस रूप में प्रकट हुई है। राजा लोग अंग्रेज़ से मिल गये, अंग्रेज़ों ने नेपाल की मदद से सूबे को जीता। शाही मकान खोद कर उन्होंने सड़कें बनाईं, फिर भी अंग्रेज़ खौफ़ के मारे हथियार लिये घूमता था। खौफ़ जनता की सेना में न था; खौफ़ था तोपों-राइफलों से लैस केवल शस्त्रबल पर लड़ने वाले शत्रु में। शस्त्रबल से परास्त होकर जनता का मनोबल टूटा नहीं। इसीलिये खौफ़ अंग्रेज के दिल में है, न कि जनता के हृदय में।

सूबे के राजवार फिरंगी से मिल गये।
जितने लड़े समर में सब उत्तर चले गये।
दो एक निमक हराम किरिस्तान हो गये।
सदहा लड़ाई मारि कै राना निकल गये।
अंग्रेज़ मारे खौफ़ के हथियार ले लिया।
क्या पूछते हो यार ज़माना बदल गया।
बिरजिस कदर बहादुर दो साल तक लड़ा।
लिये दुनाली हाथ में तोपों पै जा खड़ा।
मुर्चों पर घूमता था, दहशत नहीं जरा।
आगे कदम बढ़ाके पीछे नहीं हटा।
अंग्रेज मारे खौफ़ के हथियार ले लिया।
क्या पूछते हो यार ज़माना बदल गया।
नैपाल की मदद से सूबे को ले लिया।
डुग्गी पिटा के मुल्क में थाना बिठा दिया।

शाही मकान खोद के सड़कें बना दिया।
दो चार राजा नवाब को फाँसी चढ़ा दिया।
अँगरेज मारे खौफ के हथियार ले लिया।
क्या पूछते हो यार ज़माना बदल गया।
बुढ़वल के जा किला पर बेगम किया मुकाम।
उस पार घाघरा के फिरंगी ने बाँधी लाम।
ऐसी हुई लड़ाई कि अफ्सर भी आये काम।
लन्दन तलक हो गया बिरजिस कदर का नाम।
अंग्रेज मारे खौफ के हथियार ले लिया।
क्या पूछते हो यार जमाना बदल गया।

अंग्रेज़ों का आतंक व्यर्थ सिद्ध हुआ। जनता तोप-बन्दूक और पुलिस-थानों के बल पर राज करनेवालों को कायर समझती है। उसे कौन परास्त कर सकता है जो राजनीतिक पराधीनता में अपने इतिहास को स्मरण करके शत्रु को यों चुनौती देता हो?

राना बेनीमाधो सिंह और बिरजिस कदर के बारे में ये लोकगीत मुझे श्री रामपालसिंह गौड़ और श्री कृपाशङ्कर मिश्र (दोनों का स्थान, ग्राम ऊँचगाँव, जिला उन्नाव) से प्राप्त हुए हैं। कृपाशंकर जी ने मुझे सूचित किया है कि उनका भेजा हुआ (बिरजिस कदर सम्बन्धी) लोक-गीत उन्हें सत्तर वर्ष के एक वृद्ध सज्जन से प्राप्त हुआ था जिन्होंने उसे अपने पिता से सुना था। इससे मालूम होता है कि यह लोकगीत काफी पुराना है।

झाँसी से श्री भगवानदास माहौर ने वहाँ के लोकगीतों पर अपना एक लेख मुझे भेजने की कृपा की थी। इसमें जनकवि चतरेश के बारे में उन्होंने लिखा है, "महारानी लक्ष्मीबाई की प्रशस्ति जिस खुले दिल और मर्दानगी से चतरेश ने गाई, उतने खुले रूप में निःसङ्कोच गाने का साहस अन्य कोई उस युग में न कर सका। यह वह युग था जब लोग विक्टोरिया महारानी का यशोगान कर रहे थे और अंग्रेजों की देव-सदृश स्तुतियाँ हो रही थीं, जब भारतेन्दुजी को भी 'अंगरेज राज सुख साज सजे सब भारी' कह कर ही 'पर धन विदेश चलि जात यहै अति ख्वारी' का रोना रोना पड़ता था। ऐसे समय में यह झाँसी का बनियाँ झाँसी की रानी की देशभक्ति और वीरता का गान गाते हुए अंग्रेज़ों

और अंग्रेज़ी शासन के प्रति अपनी विद्रोही वृत्ति के बड़े ओजपूर्ण उद्‌गार कर रहा था।" चतरेश के एक कवित्त में अंग्रेज़ों के यातायात के साधनों के ध्वंस का उल्लेख है।

झाँसी से शहर का बिगड़ना न देखा गया
किल्ले से निकर नजर जंग के जिताव की।
नंगी शमशेरन मारे जंगी से फिरंगी
छीन ली कलंगी कुमक राजन नवाब की।
भन चतरेश चित्त चडनी गदर पडनी
शुभ भडनी कर दई फूक छाडनी रबाव की।
छिक गई जेलें डाक तार टोर डारी रेलें
एके पड़ गईं बगमेलें बाई साब की।

झांसी के एक अन्य लोकप्रिय कबि थे भग्गी दाऊ जू "श्याम"। श्री वृन्दावनलाल वर्मा ने झाँसी की रानी पर अपने उपन्यास में उन्हें रानी का समकालीन लिखा है। श्री भगवानदास माहौर ने जिस हस्तलिखित प्रति से रानी सम्बन्धी कविता अपने लेख में उद्‌धृत की है, वह प्रति माहौर जी के अनुसार संवत् १९५७ की है। संभव है भग्गी दाऊजू ने अपनी कविता युद्ध के कुछ समय बाद लिखी हो लेकिन है वह काफ़ी पुरानी। झाँसी पर चढ़ाई कर आने वाले अंग्रेज़ों के मित्र राजाओं को कवि ने इन शब्दों में याद किया है,

कब कब करी सपूती इननैं कब कब करी लड़ाई।
चढ़ आए दल साज बेसरम रंचक लाज न आई।
ठानी वृथा न मानी नैकउ सेकी आन जनाई!
जो झाँसी की लटी तकै सुन ताय कालका खाई।
निमक हराम बदल गए जासैं तासैं सागर पाई।
जा दिन आन चढ़े झाँसी पै ता दिन समझी जाई।
हुइयै कटा भटा से पुल हैं जियत एक नहिं जाई।
जो झाँसी की लटी तकै सुन ताय कालका खाई॥

रानी का पत्र पाकर वीरों ने किस तरह उसका सम्मान किया, रानी के प्रति लोगों में कितनी गहरी आदर की भावना थी, इसका चित्र दाऊ जी की इन दंक्तियों में है,

मुहर छाप रानी के घर की जब धुनकर ने पाई।
पाँउ परे माथे पै धर लई फिर छाती चिपकाई।

लई ढाल तरवार समर कैं सुमिरे पीर खुदाई।
जो झाँसी की लटी तकै सुन ताय कालका खाई ॥

तोप चालक खुदाबख्श के लिये लिखा है—

खुदा बगस मन सुमर खुदा कौ चलौ अगारी बढ़ कें।
ज्यों सुरराज गाज ब्रज ऊपर धायौ उमड़ घुमड़ कें।

रानी वीरों को किस तरह प्रोत्साहन देती थीं, इसकी झलक इन पंक्तियों में है—

खबर सुनी सोई बाई साबनैं मुख से बचन उचारौ।
खुदाबगस मरदान ज्वान कों हाथ फेर पुचकारौ ॥

लोकगीतों से सन् सत्तावन के सङ्घर्ष के प्रति जनता के दृष्टिकोण का पता चलता है। अंग्रेज़ों के बर्बर दमन से आतंकित न होकर उनसे लड़ने वालों के प्रति जनता अपना स्नेह और आदर प्रकट करती रही। उसके लोकप्रिय कवियों ने अंग्रेजों को अराजकता से मुक्ति देने बाला नहीं कहा। उसके लिये पुलिस और फ़ौज के बल पर राज करने वाले अंग्रेज़ विदेशी आततायी थे। अनेक गीतों में इन कवियों ने युद्ध का विश्लेषण करने में और शत्रु-मित्र की विभिन्न समर-नीति का भेद आँकने में विलक्षण प्रतिभा का परिचय दिया। अंग्रेज़ न तो यूरोप की जागरूक जनता को धोखा दे सके, न यहाँ की जनता को त्रस्त और आतङ्कित कर सके। सन् सत्तावन की राजक्रान्ति देश की प्रगति के लिये चिरन्तन प्रेरणा बन गई। बीसवीं सदी के राष्ट्रीय आन्दोलन में स्वर्गीय सुभद्रा कुमारी चौहान की लोकप्रिय रचना "खूब लड़ी मर्दानी वह तो झांसी वाली रानी थी" जन-जन के कण्ठ में बस गई। नये जनतांत्रिक चीन के लेखक १८५७ में चीन और हिन्दुस्तान की जनता के एक साथ चलने वाले सङ्घर्ष को इन दो देशों की मैत्री के लिये प्रेरणा रूप में स्वीकार करते हैं। पिछले सौ वर्षों में भारतीय वीरों का अमर वलिदान इस देश की जनता को स्वाधीनता के लिये और भी दृढ़ता से लड़ने का उत्साह और आत्मबल देता रहा है; आज वह स्वाधीनता की रक्षा करके एशिया की जनता की एकता दृढ़ करने और विश्वशान्ति की रक्षा करने की प्रेरणा देता है। इतिहास ने अंग्रेजों की रणनीति को व्यर्थ सिद्ध कर दिया। अन्त में जनता की रणनीति की ही विजय हुई।

इतिहासकारों का दृष्टिकोण

सन् सत्तावन की राज्यक्रांति का अध्ययन करने के लिए इस वर्ष स्वतन्त्र भारत में प्रकाशित तीन पुस्तकों की ओर ध्यान देना आवश्यक है। पहली श्री मजूमदार की, दूसरी श्री सेन की और तीसरी श्री पूरनचन्द जोशी द्वारा सम्पादित पुस्तक है। इस तीसरी पुस्तक में दो महत्वपूर्ण लेख हैं, एक तल्मीज़ खाल्दुन के नाम से प्रकाशित लेख है, दूसरा श्री जोशीका लिखा है। ये दोनों लेख ऐसे विद्वानों के हैं जो इतिहास के विश्लेषण में मार्क्सवादी दृष्टिकोण और पद्धति स्वीकार करते हैं।

इन चारों लेखकों में एक बात समान है। वे सभी सन् सत्तावन के संघर्ष को राष्ट्रीय स्वाधीनता - संग्राम नहीं मानते। श्री सेन के अनुसार व्यक्ति की स्वाधीनता को लोग जानते ही न थे ; फिर स्वाधीनता-संग्राम कहाँ से होता ? श्रीतल्मीज़ खाल्दुन ने अपने लेख के आरम्भ में उन अंग्रेज लेखकों की आलोचना की है जो उसे सिपाही-विद्रोह मात्र कहते हैं। साथ ही उनका विचार है कि जो उसे स्वाधीनता-संग्राम कहते हैं, वे अविवेकशील राष्ट्रवाद का परिचय देते हैं। इसके लिए पहली दलील यह है कि जैसे ही विद्रोही सिपाही या विद्रोही सामंत एक ज़िले से निकाल दिये जाते हैं, वहाँ तुरन्त शान्ति कायम हो जाती थी। इस दलील का खण्डन खाल्दुन के लेख से ही हो जाता है। उन्होंने सन् सत्तावन के संघर्ष को किसान-युद्ध कहा है ; उनके अनुसार किसान सामंत-विरोधी संघर्ष चला रहे थे और उनका उद्देश्य भूमि पर अपना अधिकार प्राप्त करना था। यह संघर्ष मुख्यतः सामंत-विरोधी था या नहीं, यह अलग सवाल है। उसमें किसानों ने भाग लिया, यह निश्चित है। तब विद्रोही सामन्तों और सिपाहियों के निकल जाने मात्र से शान्ति कैसे कायम हो सकती थी ?

दूसरा तर्क है, "राष्ट्रीयता की भावना, जिससे कि आज हम परिचित हैं, उस समय थी नहीं।" यही तर्क श्री मजूमदार का है। राष्ट्रीय भावना के अभाव पर प्रकाश डालते हुए श्री पूरनचंद जोशी ने उसके ऐतिहासिक कारण बतलाये हैं। किसान अंग्रेज़-विरोधी था लेकिन अपने गाँव में बंद रहता था। उसका राजनीतिक ज्ञान उस राज्य की सीमाओं के बाहर न फैला था जिस पर उसका परंपरागत राजा राज्य करता

था। जहाँ तक सामन्त वर्ग का सम्बन्ध है, राजनीति और विचारधारा में नेतृत्व सामन्त वर्ग का था। सामन्तों में अंग्रेज़-विरोधी भावना थी लेकिन वे अपने प्रतिद्वन्दी सामन्तों से और भी अधिक डरते थे। इनका वर्ग पतनशील था और उनकी ऐतिहासिक स्मृतियाँ (historic memories) सामन्ती विघटन और गृहयुद्धों की थीं। एक संयुक्त स्वाधीन भारत का स्वप्न उनकी आँखों के सामने उदय न हो सकता था। इसके सिवा राष्ट्रीय भावना का भौतिक आधार प्रस्तुत न किया गया था। श्री पूरनचन्द जोशी ने श्री मजूमदार की स्थापना को वैज्ञानिक तर्कों से पुष्ट करते हुए लिखा है, "उन दिनों देशप्रेम का अर्थ होता था अपने परंपरागत राजा द्वारा शासित जन्म-स्थान (homeland)। हिन्दुस्तान हम सभी का देश है, वह धारणा उस समय उत्पन्न न हुई थी। इस धारणा के पनपने में सामन्ती ऐतिहासिक स्मृतियाँ (feudal historic memories) ही बाधक न थीं वरन् रेलवे, टेलीग्राफ, आधुनिक शिक्षा की एकसी व्यवस्था आदि के रूप में उसकी भौतिक नींव न डाली गई थी। नींव डालने की शुरूआत भर हुई थी।"

इसका अर्थ यह हुआ कि औद्योगिक क्रान्ति हुए बिना किसी भी देश अथवा प्रदेश के लोगों में राष्ट्रीयता अथवा जातीयता की भावना उत्पन्न नहीं हो सकती। इंगलैण्ड में औद्योगिक क्रान्ति अठारहवीं सदी में हुई। शेक्सपियर ने सोलहीं सदी में लिखा था (अथवा जॉन गौण्ट नाम के सामन्त ने कहा था):

"इंगलैण्ड बादशाहों के सिंहासन के समान है। उस पर राजदंड धारण करने वाले शासन करते हैं। उसकी धरती गरिमामय है। वह युद्ध के देवता की भूमि है। उसे दूसरा स्वर्ग अथवा नंदन-कानन कहना चाहिये। दूषित सँसर्ग से बचाने के लिये उसे प्रकृति ने ही दुर्गरूप में रचा है। वह प्रसन्न जनों की भूमि है, एक छोटा सा संसार, रुपहले समुद्र में जड़ा हुआ बहुमूल्य हीरा, जिसकी रक्षा दूर्ग की प्राचीर के रूप में वह समुद्र करता है, अथवा जो एक खाँई की तरह है जो किसी सदन की रक्षा के लिये बनाई जाती है, कम खुशहाल देशों की ईर्ष्या से बचने के लिये। यह पुण्यभूमि, यह धरती, यह राज्य, यह इंगलैण्ड, यह सम्राट्-गर्भा धरा, भूपालों की धात्री, जिनके कारण लोग उससे भय खाते हैं और जिनके जन्म लेने से वह विख्यात है, उनके कार्यों के लिए, ईसाई

सेवा और सच्ची वीर भावना [शिवैलरी अर्थात् सामन्ती संस्कृति] के लिये वहाँ तक विख्यात है जहाँ हठी यहूदियों के बीच कुमारी मरियम के विश्वत्राता पुत्र की समाधि है। ऐसे प्यारे लोगों का यह देश, यह प्यारा प्यारा देश, संसार में अपनी प्रसिद्धि के लिये प्रिय, किसी खेत या मकान की तरह—मैं मरते हुए यह कह रहा हूँ—उठा दिया गया है। इंगलैण्ड जो विजयी समुद्र से घिरा हुआ है, जिसके तट की दृढ़ चट्टानें ईर्ष्यालु समुद्र का घेरा पीछे ठेल देती हैं, इस समय लज्जा से बँधा हुआ है, स्याही के धब्बों और सड़े हुए कागजी बन्धनों से बँधा हुआ है। वह इंगलैण्ड जो दूसरों को जीतता था, उसने अपने को लज्जाजनक रूप में विजित कर लिया है।"

रेल, तार, शिक्षा की एक सी व्यवस्था न जॉन ऑफ गौण्ट के समय थी, न शेक्सपियर के समय। फिर भी इंगलैण्ड पर इससे सुन्दर पंक्तियां किस दूसरे अंग्रेज़ कवि ने लिखी हैं ? और देश की इस वन्दना में बराबर सम्राटों की स्तुति है जो रेल तार की दुनिया से बहुत दूर थे। हठी यहूदियों और मरियम के विश्वत्राता पुत्र का उल्लेख धार्मिक भावना का अस्तित्व सिद्ध करता है। शिवैलरी अथवा सामन्ती संस्कृति का उल्लेख विशेषरूप से किया गया है। भौगोलिक स्थिति पर गर्व, अपने इतिहास पर गर्व, सामन्तों पर गर्व, धर्म पर गर्व—ये सब भावनाएं यहां एक साथ देश-प्रेम की भावना में गुँथ गई हैं।

भारत छोटा सा देश नहीं है। उसमें इंगलैण्ड जैसे न जाने कितने देश निकलेंगे। यहां का समुद्र इंगलिश चैनेल से बहुत बड़ा है जिसका वर्णन रघुवंश में पढ़ा जा सकता है। यहां समुद्र-तट के अलावा संसार का सबसे बड़ा और सबसे ऊँचा पर्वत हिमालय है जो दोनों समुद्रों को बांध कर पृथिवी के मानदण्ड के समान स्थित है :

अस्त्युत्तरस्यां दिशि देवमाल्यां हिमालयो नाम नगाधिराजः।
पूर्वापरौ तोयनिधीवगाह्य स्थितः पृथिव्या इव मानदण्डः॥

यहाँ के लोग अत्यन्त प्राचीन काल से अपने धार्मिक कृत्यों में गंगा के साथ गोदावरी का भी स्मरण करते रहे हैं। यहां का एक धर्मतीर्थ हिमालय में है तो दूसरा धुर दक्षिण के समुद्र-तट पर। यहां समुद्रगुप्त, चन्द्रगुप्त, स्कन्दगुप्त आदि प्राचीन राजाओं ने चक्रवर्ती सम्राटों के रूप में

देश में उससे अधिक एकता स्थापित की जितनी एलीज़ाबेथ के समय ग्रेट ब्रिटेन में हुई थी। विदेशी आक्रमणों का विरोध करने से, केरल के शंकर और कश्मीर के अभिनवगुप्त के एक ही विशाल सांस्कृतिक परंपरा में बँधे होने से, पहले संस्कृत, फिर फारसी के माध्यम से यहां के दूर-दूर के प्रदेशों के शिक्षित वर्ग के सम्पर्क से यदि लोगों ने इस देश को भारत वर्ष कहना सीखा हो, रेल-तार के पहले इसकी नदियों और पहाड़ों से, उसके इतिहास और संस्कृति से प्रेम करना सीखा हो तो इसमें आश्चर्य क्या ?

फिर उन्नीसवीं सदी के पूर्वार्द्ध में तो दुनिया बहुत बदल गई थी। यहाँ व्यापार के बड़े-बड़े केन्द्र कायम हो चुके थे; भौतिक आधार के लिए बहुत से उपकरण प्रस्तुत हो चुके थे। लेनिन ने रूसी जातीयता का विकास सत्रहवीं सदी में माना था जब वहाँ न रेल थी, न तार। अवश्य ही श्री जोशी और लेनिन के ऐतिहासिक भौतिकवाद में कहीं कोई अन्तर है। उन्नीसवीं सदी में यहाँ की जनता की राष्ट्रीय चेतना और ज्वलन्त प्रेम के अनेक प्रमाण पहले दिये जा चुके हैं, उन्हें यहाँ दोहराने की आवश्यकता नहीं है। यहाँ केवल इतना ही संकेत करना है कि ऐतिहासिक भौतिकवाद के नाम पर भी ऐसी बातें कही जा सकती हैं जिनका संबन्ध न तो इतिहास से है, न भौतिकवाद से।

किन्तु जोशी जी की स्थापना का सबसे अच्छा खंडन स्वयं जोशी जी ने किया है। जो लोग समझते हैं कि सामन्त देश-भक्तों की भूमिका पूरी नहीं कर सकते, उन्हें फटकारते हुए उन्होंने लिखा है, "यह सही नहीं है कि सामन्तों ने इतिहास में कभी निश्चयात्मक देशभक्ति पूर्ण भूमिका (positive patriotic role) पूरी नहीं की है। हम सोवियत राजनीतिज्ञों और इतिहासज्ञों के कठमुल्लेपन से मुक्त दृष्टिकोण की प्रशंसा करते हैं जब वे उन रूसी सामन्त सेनानायकों और नेताओं का बखान करते हैं जिन्होंने उन्नीसवीं सदी के आरम्भ में नैपोलियन के विरुद्ध प्रतिरोध संगठित किया था। हम पोलैण्ड के विभाजन के विरुद्ध और मातृभूमि की स्वाधीनता के लिये वहाँ की जनता के संघर्ष की प्रशंसा करते हैं जिसका नेतृत्व पोल सामन्तों ने किया था। अपनी मातृभूमि की एकता और स्वाधीनता के लिये हम इटली की जनता के वीरतापूर्ण और हठपूर्वक चलाये हुए संघर्ष की प्रशंसा करते हैं जिसका

नेतृत्व माज्जिनी और गैरीबाल्डी जैसे क्रांतिकारी जनवादियों ने ही न किया था वरन् जिसमें सामन्त कावूर और पियेडमौएट के राजा ने भी भाग लिया था। हम दूसरे देशों में सामन्तों की देशभक्तिपूर्ण भूमिका की प्रशंसा करते हैं—बस एक अपना देश छोड़ कर !" (इस वाक्य के अन्त में आश्चर्य-चिन्ह मूल लेख के अनुसार ही है।)

अब प्रश्न यह है कि वे कौन लोग हैं जो रूस, पौलैएड और इटली के सामन्तों की देशभक्ति की प्रशंसा करते हैं लेकिन १८५७ के हिन्दुस्तान में इस धारणा का अस्तित्व ही नहीं मानते कि यह देश हमारा है। रेल-तार के बिना देशभक्ति की चेतना का अभाव कौन मानता है ? सामन्तों की "ऐतिहासिक स्मृतियों" को देशभक्ति में अनिवार्य बाधा कौन मानता है ? उत्तर है, उपर्युक्त ओजपूर्ण पंक्तियों के ही लेखक श्री पूरनचन्द जोशी।

यदि रेल-तार के बिना राष्ट्रीय चेतना का अभ्युदय असंभव है तो मानना होगा कि यहाँ के सामन्तों की तुलना में वस्तुगत रूप से अंग्रेज़ों ने प्रगतिशील भूमिका पूरी की। उन्होंने इस देश की जनता को चाहे जितना लूटा-खसोटा हो, इस बात से कैसे इन्कार किया जा सकता है कि उन्होंने यहाँ तार लगाये और रेलें चलाईं ? प्रत्यक्ष रूप से नहीं, परोक्ष रूप से अंग्रेज़ी राज की प्रगतिशील भूमिका की स्थापना जोशी जी के लेख में विद्यमान है। उन्होंने दिल्ली के कोर्ट और सिपाहियों के जनतांत्रिक रुझान का उल्लेख कर के यह निष्कर्ष ठीक निकाला है कि विद्रोहियों की जीत होने पर यह आवश्यक नहीं था कि सामन्तों की सत्ता कायम ही रहती। प्रश्न यह है कि यदि सामंतों की सत्ता कायम ही रहती तो क्या घड़ी की सुई पीछे घूम जाती ? श्री जोशी तथा श्री सेन-मजूमदार में अन्तर यह है कि जहां जोशी जी सन् सत्तावन के संघर्ष में सामन्तों से भिन्न अन्य सामाजिक शक्तियों का अस्तित्व मानते हैं, वहाँ श्री सेन-मजूमदार उससे इन्कार करते हैं। जोशी जी के लिये सुई पीछे न घूमती तो इसलिये कि संघर्ष में गैर-सामन्ती सामाजिक शक्तियाँ थीं; इसलिये नहीं कि सामन्त देशभक्ति पूर्ण भूमिका पूरी कर रहे थे।

श्री तलमीज़ खाल्दुन के लेख में अंग्रेज़ी राज की प्रगतिशील भूमिका पर विशेष प्रकाश डाला गया है। अवध के ताल्लुकदार क्या करते थे ? नवाब-वज़ीर के निर्बल शासन में सब स्वतंत्र थे। वे संगीन के बल पर

[भले ही उनके पास संगीनें न रही हों] मालगुजारी वसूल करते थे। देश में बराबर अव्यवस्था बनी रहती थी। स्लीमैन के शब्दों में हत्या और लूट का राज था। उधर पंजाब से जिन सामन्तों को अंग्रेज़ों ने निकाला न था, वे "खालसा फौज के अत्याचार को याद करते" थे। फ्रेडरिक कूपर के शब्दों में सिख राज्य पेशावर-घाटी से बारह लाख सालाना वसूल करता था और सर्दार उससे भी ज्यादा लूटते थे। अंग्रेज़ सरकार छः लाख वसूल करके और प्रति मास उतना ही खर्च करके "स्वयं सन्तुष्ट रहती है और जनता को सन्तुष्ट रखती है।" खाल्दुन महोदय ने ये वाक्य खंडन करने के लिये उद्धृत नहीं किये वरन् अपनी स्थापनाओं के समर्थन में उद्धृत किये हैं। उन्होंने अंग्रेज़ी राज की प्रशंसा में उद्धरण चिन्हों के बिना अपनी ओर से यह वाक्य लिखा है, "नयी शासन-व्यवस्था में टैक्स और अन्य प्रकार की वसूली जो महाराज रणजीतसिंह की मृत्यु के बाद की अराजकता के बाद बेहद बढ़ गई थी, कम करदी गई थी।" डकैती बंद हो गई थी; मालगुजारी कम ली जाती थी। कूपर के शब्दों में पंजाब खूब खुश और समृद्ध था! सर सैयद अहमद खाँ के शब्दों में पंजाब में अभी गरीबी ने डेरा न जमाया था। और खाल्दुन साहब के शब्दों में पंजाब में बेकारी न थी।

अब ऐसे सुन्दर राज्य को छोड़कर कौन ग़दर और बग़ावत के चक्कर में पड़ता? अंग्रेज़ आये; मालगुज़ारी कम करदी। डकैती खत्म करदी। बेकारी भी नहीं रहीं। स्वयं भी सन्तुष्ट, जनता भी सन्तुष्ट!

यह सब १६५७ में! सन् सत्तावन की राज्यक्रान्ति शताब्दि-महोत्सव पर! श्री पूरनचंद जोशी द्वारा संपादित पुस्तक में! ऐतिहासिक भौतिकवाद के नाम पर!

यह कहना कि यह दृष्टिकोण अंग्रेज़ इतिहासकारों की नकल है, उनके साथ अन्याय करना होगा। अंग्रेज़ों में जो जनवादी विचारों के लोग थे, उन्हें छोड़ देने पर जो विद्रोहियों को लुच्चा और बदमाश, हत्यारा और डाकू कहते थे, उन्होंने भी अंग्रेज़ी राज की प्रशंसा करने के बाद अपने अन्तः करण की रक्षा के लिये कहीं दो-चार शब्द यहाँ के सामन्तों के शासन की प्रशंसा में भी लिख दिये हैं। ऐसी चरम अराजकता का चित्र उन्होंने भी नहीं खींचा। रानी लक्ष्मीबाई के सिलसिले

में के ने लिखा था, "उनके बारे में बुरी बातें कही जाती थीं क्योंकि हम लोगों में यह रवाज है कि किसी देशी राजा का राज्य ले लें और फिर उस राज्य से अलग किये हुए शासक अथवा उसके संभाव्य उत्तराधिकारी को गालियाँ दें।"[२०५]

और अधिक स्पष्ट शब्दों में रसेल ने लिखा था, "हिन्दुस्तान को शासित करने की समस्या मुझे चिन्तित किये है क्योंकि इस समय वह बलपूर्वक शासित है जिस बल (force) का प्रयोग थोड़े से लोग करते हैं, जिन्हें मजबूर होकर दमन के साधनों के रूप में देशी लोगों को इस्तेमाल करना पड़ता है। मुझे इसमें सन्देह नहीं है कि हमारे शासन का आधार बल-प्रयोग है क्योंकि शासितों से अपने सम्बन्धों में मैं बल के अतिरिक्त और किसी चीज का प्रयोग नहीं देखता हूँ। जनता की दशा सुधारने के प्रयत्न वे लोग या संस्थाएं करती हैं जिनका हुकूमत से कोई सम्बन्ध नहीं है। सुधार के मामलों में हुकूमत मालगुजारी के विचार से ही कदम उठाती है। क्या वह जनता के महान् शिक्षक के रूप में, हमारी उच्चतर नैतिकता और सभ्यता के प्रचारक के रूप में- क्या वह संधियों का पालन करती है, अपने को उदार, न्यायपूर्ण और निःस्वार्थ दिखलाती है? क्या हम अपनी अदालतों की निन्दा स्वयं नहीं करते? क्या यह स्वीकृत सत्य नहीं है कि वे देश के लिये अभिशाप हैं? वास्तव में मेरे मन में जो गंभीर, खेदजनक सन्देह उठता रहा है, वह यह है कि क्या हमारे शासन में हिन्दुस्तान पहले से अच्छा है, जहाँ तक कि जनता के विशाल समूह की सामाजिक स्थिति का प्रश्न है। हमने सतीप्रथा बंद कर दी है, हमने बालहत्या रोकने का प्रयत्न किया है; लेकिन मैंने यहाँ सैकड़ों मील ऐसे देश की यात्रा की है जिसकी धरती झोंपड़ियों के गांवों से ढँकी हुई है और जिसके निवासी भिखारी हैं।"[२०६]

अंग्रेज़ भी सन्तुष्ट, जनता भी सन्तुष्ट !

लेकिन इस उद्धरण में देशी राज्य की प्रशंसा नहीं आई। हो सकता है, अंग्रेज़ी राज बुरा हो, सामन्ती राज भी बुरा हो। यह भी संभव है कि रसेल ने अवध ही देखा हो और अवध में अंग्रेज़ी राज जितना बुरा था, उतना पंजाब में न रहा हो। श्री खाल्दुन ने पंजाब की शासन-व्यवस्था के बारे में हेनरी लारेन्स का उल्लेख अनेक बार किया है। देशी और विदेशी शासन का तुलनात्मक अध्ययन करने के बाद हेनरी लारेन्स जिस

निष्कर्ष पर पहुँचा था, वह रसेल के शब्दों में इस प्रकार है, "सर हेनरी लारेन्स ने, जिसे विविध प्रकार का और दीर्घकाल तक अनुभव प्राप्त हुआ था, सर रौबर्ट मौण्टगोमरी से कहा था, जिनके आधार पर मैं यह वक्तव्य दोहरा रहा हूँ कि उसे विश्वास हो गया था कि कुल मिलाकर हमारे शासन की अपेक्षा देशी हुकूमत में जनता अधिक प्रसन्न थी।"[२०८]

किस की बात सच मानी जाय, रसेल और हेनरी लारेन्स की या तलमीज खाल्दुन और उनके उद्धृत लेखकों की ?

अब भी सन्देह हो तो सन् सत्तावन में जनता के व्यवहार का अध्ययन करना चाहिये – अवध में ही नहीं पंजाब में भी।

खाल्दुन जी ने यह मान लिया है कि पंजाब विद्रोह से अलग था। अलग ही नहीं, विद्रोह के प्रति उसका विरोध-भाव (Punjab's antipathy) भी था। अंग्रेजों ने पंजाब को जो खुशहाली बख्शी थी, उसके अलावा जातीय और साम्प्रदायिक समस्या का रूप यह था। सिख सर्दार मुगल शासन के फिर स्थापित होने से डरते थे। सिख सामन्तों को पुरबियों के कारण अपनी पराजय याद थी; उन्हें यह भी याद था कि पुरबिये सिपाही उन्हें अपने से नीची जाति का समझते थे। सिखों को मुसल्मानों के धार्मिक अत्याचार याद थे। दिल्ली में गुरू तेगबहादुर की शहादत याद थी। इसलिये जॉन लारेन्स ने "उनकी भावनाओं का सही अनुमान लगाते हुए" (!) यह प्रचार किया कि दिल्ली का बादशाह सिखों को मार कर उनका सिर लाने वालों को इनाम देगा। और पंजाब में सिखों ने ही अंग्रेजों का साथ नहीं दिया, "सभी पंजाबियों ने विद्रोह में उनकी मदद की।"

श्री पूरनचंद जोशी ने उक्त स्थापनाओं को और विस्तृत किया है। गुरखों ने अंग्रेजों का साथ क्यों दिया ? इसलिये कि अंग्रेजों ने हिन्दुस्तानी फौज के बल पर नेपाल से युद्ध किया था। जंगबहादुर अवध से बदला लेने के नाम पर गुरखा सैनिकों को लाया था। "मुगलों के विरुद्ध सिखों की अपनी ऐतिहासिक स्मृतियाँ थीं।" इसलिये खालसा फौज के सैनिकों और सिख सामन्तों के निजी सिपाहियों को अंग्रेजों ने भर्ती कर लिया। मराठों में पेशवा के उत्तराधिकारी ने विद्रोह किया था लेकिन मराठा सर्दारों में आपसी प्रतिद्वन्दिता थी और दक्षिण में निजाम से और उत्तर में मुगलों से "ऐतिहासिक झगड़े" थे। राजस्थान के सामन्तों के मन में मुगलों

और मराठों के प्रभुत्व की अपनी "ऐतिहासिक स्मृतियाँ" थीं। इसलिये अतीतकाल के सामन्ती विघटन की "ऐतिहासिक स्मृतियों" ने देश के विशाल प्रदेशों की जनता को अपाहिज बना दिया।

इन स्थापनाओं का खंडन भी जोशी जी के लेख से हो जाता है। उन्होंने लिखा है कि हर दरबार में एक-एक संगठित गुट था जो "राष्ट्रीय विद्रोह की सहायता करना चाहता था।" और भी लिखा है, "किन्तु नयी क्रान्तिकारी भावना देशी रियासतों में फैल गई थी, विशेष रूप से उनके सैनिकों में जिन्होंने शेष भारत में अपने भाई सिपाहियों के उदाहरण से सक्रिय होड़ की।" इंदौर के राजा की सेना ने अंग्रेज़ों से युद्ध किया। सिन्धिया के सैनिकों ने झांसी की रानी और तात्या का साथ दिया। उदयपुर के राना की सेना अंग्रेज़ों के लिये विश्वसनीय न थी। जैपुर की सेना मथुरा और गुड़गाँव को भेजी गई लेकिन उसने लड़ने से इन्कार कर दिया। सिहौर के घुड़सवारों ने यही किया। कोटा और भरतपुर की सेनाएं अंग्रेज़ों के प्रति वफ़ादार नहीं रहीं। इन तथ्यों के बाद जोशीजी ने मैलीसन से यह उद्धरण दिया है, "यह स्पष्ट दिखाई दिया कि जब पूर्व के लोगों की कट्टरता पूरी तरह जाग्रत होती है तो उनका राजा भी, जिसे वे सब पिता समझते हैं और जिसे कुछ लोग अपना ईश्वर कहने में प्रसन्न होते हैं, उनका राजा भी उनके विश्वास के विरुद्ध उन्हें झुका नहीं सकता।" क्या इससे यह सिद्ध नहीं होता कि विद्रोह से राजस्थान के सामन्तों की "ऐतिहासिक स्मृतियों" का जरा भी सम्बन्ध न था? या मुगलों और मराठों ने सामन्तों को सताया था और जनता को छोड़ दिया था? या जनता से सामन्तों की स्मरण-शक्ति ज्यादा अच्छी थी?

इसी प्रकार हैदराबाद में निजाम ने अंग्रेज़ों का साथ दिया, जनता ने रेज़ीडेन्सी पर हमला किया। नेपाल में जंगबहादुर ने अवध में अंग्रेज़ों का साथ दिया लेकिन क्रान्ति के भय से वह नेपाल जाने वाले विद्रोहियों को अंग्रेजों के हवाले न कर सका। जिन लोगों से उसे क्रान्ति का भय था, क्या वे अवध के सैनिकों का आक्रमण भूल गये थे? यहाँ की जातियों में परस्पर द्वेष और कलह बढ़ाने के लिये अंग्रेज़ों ने जो प्रचार किया था, उसे श्री जोशी-खाल्दून की स्थापनाओं में ज्यों का त्यों उतार लिया गया है। सिख और गुरखे पुरबियों से बदला लेना चाहते थे लेकिन पुर-

बियों को भर्ती करने वाले, उनका नेतृत्व करने वाले, सिखों और गुरखों पर तोपों से गोलों को वर्षा करने वाले, उनका राज्य (अथवा उसका एक अंश) हड़पने वाले अंग्रेज़ों को आखिर सिख और गुरखे कैसे भूल गये, इसका उत्तर नहीं है। वास्तव में वे भूले नहीं थे और भारतीय पक्ष से उन्हें सहानुभूति थी

पंजाब के मामले में श्री मजूमदार ने कम से कम इतना माना है कि वहाँ विद्रोह हुआ। यही नहीं, उसने जन-आन्दोलन का रूप भी ले लिया। लेकिन क्यों? कारण पूर्वी पंजाब के लोगों की कुछ चरित्रगत विशेषताएं थीं। लिखा है, "पंजाब में बग़ावत (mutiny) हुई लेकिन केवल पूर्वी पंजाब में कुछ समय के लिये वह जन-आन्दोलन (mass movement) बन गई जिसका मुख्य कारण आबादी के बड़े हिस्सों का डकैत स्वभाव (predatory habits) था।" (पृ० २२२) इस तरह का सुन्दर वाक्य कोई अंग्रेज़ भी न लिख सकता था। जिसे वह डाकुओं की हरकत कहता, उसे वह जन-आन्दोलन कभी न कहता। पंजाब की बग़ावत जन-आन्दोलन बन गई, यह मानने के बाद उसका कारण जनता का डकैत स्वभाव बताना, यह साहस उन्हीं में हो सकता है जो नकल करने में असल को भी मात कर दें।

श्री सेन ने पंजाब पर अलग एक अध्याय लिखा है और उससे उपर्युक्त तीनों लेखकों की तुलना में वास्तविकता की अधिक जानकारी होती है। श्री सेन ने फिल्लौर के विद्रोही सिपाहियों के बारे में लिखा है कि वे लुधियाना में कुछ ही समय के लिये रुके " लेकिन शहर में उनके कुछ समय के लिये आने से सिद्ध हो गया कि अंग्रेज़ शासक पंजाब के गाँवों के लोगों के प्रेम का कितना कम भरोसा कर सकते थे।" श्री सेन ने लिखा है कि होती मर्दान के सिख सैनिकों ने हिन्दुस्तानी सिपाहियों का साथ दिया; और हिसार, रेवाड़ी और गुड़गाँव के इलाके में "पंजाबी जनता ने विद्रोहियों की शक्ति बढ़ाई और कुछ सिख सामन्तों ने पूर्ण हृदय से उनका साथ दिया।" श्री सेन ने मुल्तान के विद्रोह को अत्यन्त गंभीर कहा है और कुछ समय के लिये मुल्तान और लाहौर के बीच संपर्क-सम्बन्ध टूट जाने की बात कही है। इससे कम से कम इस भावना का तो खंडन हो जाता है कि पंजाब के लोग अंग्रेज़ी राज में खुशहाल थे और हिन्दू, मुसलमान, सिख, सभी पंजाबी अंग्रेज़ों की सहायता करने के

लिये व्याकुल थे।

श्री तल्मीज़ खाल्दुन ने पंजाब में अंग्रेज़ों द्वारा ऋण प्राप्त करने के बारे में लिखा है, "पेशावर में हुकूमत ने व्यापारियों से ऋण के रूप में बड़ी रकमें (big loans) प्राप्त कीं।"

श्री सेन ने इसी सिलसिले में लिखा है, "व्यापारी वर्ग भी, जिसे अंग्रेज़ों के दृढ़ शासन से इतना अधिक लाभ हुआ था, सरकार को उधार रकमें देने में झिझकता था। पेशावर के महाजनों ने सिर्फ पन्द्रह हजार रुपये दिये लेकिन एडवर्ड्स ने उन्हें दबाकर उनसे पाँच लाख वसूल किये।"

पंजाब में अंग्रेजों ने बड़ी सुन्दर शासन-व्यवस्था कायम की, इस बारे में दोनों लेखक एकमत हैं। लेकिन तथ्यों को ठीक-ठीक पेश करने में श्री खाल्दुन से श्री सेन फिर गनीमत हैं। उन्होंने अंग्रेजों के दबाव डाल कर पंद्रह हज़ार की जगह पांच लाख वसूल करने की बात लिखी तो। खाल्दुन साहब ने तो स्थिति का यों वर्णन किया है मानों महाजन अंग्रेजों के लिये थैलियाँ खोले बैठे हों।

क्या सन् सत्तावन की राज्यक्रान्ति को हम स्वधर्म और स्वराज्य के लिये युद्ध कह सकते हैं? विद्रोहियों में अजीमुल्ला जैसे लोग थे जो अपने को सब धर्मों से परे मानते थे। उनमें नाना साहब जैसे लोग थे जो धर्म के मामलों में उदार दृष्टिकोण रखते थे और उन्हें ईसाई धर्म से कोई बैर न था। विद्रोहियों में फैजाबाद के सिपाही थे जिन्होंने स्पष्ट कहा था कि अंग्रेजों को देश से बाहर निकालना है, इसलिये लड़ रहे हैं; और किसी बहाने की जरूरत नहीं है। उनमें दिल्ली में एकत्र होने वाले हिंदू-मुस्लिम सिपाही थे जिन्होंने सबसे अधिक अंग्रेजों के आर्थिक शोषण और उनकी भूमिव्यवस्था के अन्यायपूर्ण होने पर जोर दिया था। उनमें वे सिपाही थे जिन्होंने अंग्रेजों के विरुद्ध अपवित्र कारतूसों का प्रयोग किया था। उनमें वह जनता थी जिसने अधिकांश स्थानों में गिरजाघरों को ज्यों का त्यों सुरक्षित छोड़ दिया था। इसलिये यह मानते हुए कि बहुत से लोग धर्म की रक्षा के लिये लड़े, यह कहना अनुचित होगा कि यह स्वधर्म और स्वराज्य के लिये युद्ध था। श्री जोशी ने धर्म को इस संघर्ष में बड़ी भूमिका (big role) पूरी करते हुए बताया है। "हमारे विद्रोही पुरखों ने धर्म का उपयोग क्रान्तिकारी संघर्ष को बढ़ाने के लिये किया।" ऐतिहासिक भौतिकवाद के अनुसार उन्होंने धर्म की इस महान् भूमिका

की अनिवार्यता भी सिद्ध कर दी है। "१८५७ की ऐतिहासिक परिस्थितियों में संघर्ष का विचारधारा-सम्बन्धी रूप धार्मिक रूप लिये बिना न रह सका।" वास्तव में जिस सीमा तक धर्मान्धता रही, उसने क्रान्ति के प्रसार को रोका; उसमें जनक्रान्ति के बदले ईसाई-विरोधी जेहाद का रुझान पैदा किया। इसके विपरीत उसके सबसे प्रभावशाली और सचेत तत्व वे थे जो आर्थिक और राजनीतिक कारणों से लड़ रहे थे और बार-बार उनकी घोषणा करते थे। अनेक इश्तहारों में जहां धर्म के लिये लड़ने का आदेश है, वहाँ अक्सर जमीदारों, व्यापारियों, कारीगरों नौकरी पेशा लोगों आदि के प्रति अंग्रेजों के व्यवहार पर अधिक जोर दिया गया है।

श्री मजूमदार ने विद्रोह का प्रत्यक्ष और सबसे महत्वपूर्ण कारण हिन्दुओं और मुसलमानों की धार्मिक भावनाओं (religious scruples) को माना है (पृ० २५१)। श्री तल्मीज़ खाल्दुन ने सती-प्रथा, बंद करने विधवा-विवाह को वैध करार देने, लड़कियों की हत्या रोकने आदि सुधारों को "भारतीय रीति-रिवाजों और परम्पराओं को घृणित लगने वाला" कहा है। श्री सेन के अनुसार विद्रोह की आग बहुत पहले से सुलग रही थी; चर्बी लगे कारतूस ने चिनगारी का काम कर दिया। इन सबसे मैलीसन जैसे इतिहासकार फिर अच्छे जिन्होंने कातूंस को विद्रोह का कारण मानकर सन्तोष करने से इन्कार कर दिया था।

अंग्रेज़ों के विरुद्ध हिन्दुस्तान की जनता ने जो संयुक्त मोर्चा बनाया, उसमें विभिन्न वर्गों की भूमिका क्या थी? श्री तल्मीज़ खाल्दुन ने केव-ब्राउन का हवाला देकर लिखा है कि बहादुरशाह ने दिल्ली के युद्ध के दौर में संधि-वार्ता के लिये अंग्रेज़ों के पास अपने आदमी भेजे। इसके बाद अपनी ओर से यह टिप्पणी की है, "यदि हिन्दुस्तान के शहंशाह की यह हालत थी तो आम महाजनों और सामंतों के वर्गों की दशा की कल्पना की जा सकती है।" बहादुरशाह की दशा से आम सामंतों और व्यापारियों की दशा की कल्पना बिल्कुल नहीं की जा सकती। बहादुरशाह बादशाहत कर चुके थे, साधारण सामंतों में उनसे अधिक युद्ध क्षमता थी जैसा कि अवध और विहार के अनुभव ने सिद्ध कर दिया। फिर यह बात प्रमाणित नहीं हुई कि बहादुरशाह स्वयं अंग्रेज़ों से मिले हुए थे या उनसे संधि-वार्ता कर रहे थे। ग्रेटहेड ने लिखा था कि २१ अगस्त को ज़ीनत-

महल के पास से उसके यहां दूत आया था जिसने कहा था मामला तै हो जाय तो "वह बादशाह पर अपना प्रभाव डालेगी।" यदि बादशाह दुश्मनों से मिला होता या संधि करना चाहता तो ज़ीनतमहल को उस पर प्रभाव डालने की बात न कहनी पड़ती। इसलिये तल्मीज़ खाल्दुन का निष्कर्ष सही नहीं माना जा सकता। दिल्ली दरबार और अवध के सामंतों में अन्तर था लेकिन श्री जोशी का यह कथन भी सत्य नहीं है कि दिल्ली दरबार में "स्वार्थपरता, कायरता और विश्वासघात" का बोलबाला था। उन्होंने श्री सेन का यह मत स्वीकृति के साथ उद्धृत किया है कि दरबार वालों की यह योजना थी कि अंग्रेज बादशाह को पेंशन दें और उसके विशेषाधिकारों को मान लें तो वे घुड़सवारों को मिलाकर पैदल सेना को दबा लेंगे और अंग्रेज़ों को भीतर दाखिल कर लेंगे। बहादुरशाह ने क्रांति की सफलता के लिये अपनी ओर से जो काम किये थे, इन कल्पना-चित्रों में उनका कहीं ज़िक्र नहीं है। यह इतिहास के प्रति एकाङ्गी दृष्टिकोण का परिणाम है।

श्री मजूमदार ने बहादुरशाह को इतना निकम्मा समझा है कि विद्रोह की सफलता-असफलता, दोनों को ही उनकी देन स्वीकार किया है। बहादुरशाह ने अंग्रेज़ों से संधि वार्ता की, इसे ध्रुव सत्य मानकर उन्होंने प्रसन्नता से लिखा है कि उनके पत्र से बहादुरशाह की असलियत ज़ाहिर हो जाती है (shows Bahadur Shah in his true colour) लेकिन ग्रेटहेड के पत्र का उद्धरण देने के बाद, जिसमें बादशाह पर ज़ीनत-महल के प्रभाव डालने की बात है, उनके मन में संदेह पैदा हो जाता है। इसलिये लिखा है, "अंग्रेज़ों के साथ बहादुरशाह की प्रिय रानी और उनके लड़कों ने स्वतंत्र रूप से दुरभिसंधि आरम्भ की या यह उसी की अगली कड़ी थी जिसे उन्होंने (बहादुरशाह ने) आरम्भ किया था, यह कहना कठिन है।" इस कठिनाई को श्री मजूमदार ने एक वाक्य के बाद ही हल कर लिया। उन्होंने सारे गवाहों के बयानों पर निगाह डालकर यह फैसला किया कि इसमें संदेह की गुंजाइश नहीं कि "बहादुरशाह और उनके परिवार ने न केवल उन विद्रोहियों के उद्देश्य के प्रति विश्वासघात किया, जिनके वह नामचार के नेता थे, वरन् सारे देश के उद्देश्य के प्रति भी विश्वासघात किया।" लेकिन सारे देश का उद्देश्य था कहाँ? बहादुरशाह को गद्दार साबित करने के लिये मजूमदार महाशय ने क्या

जल्दी अपने झोले से देशभक्ति का गोला निकाला है। बहादुरशाह नहीं तो उसका कुनबा, कुनबा नहीं तो बहादुरशाह, सबसे अच्छा दोनों ने विश्वासघात किया, विद्रोहियों के प्रति किया, यह साधारण विश्वासघात हुआ, इसलिये देशभक्त इतिहासकार की आत्मा तड़प कर कहती है, बादशाह ने सारे देश के साथ विश्वासघात किया।

प्रश्न यह है कि श्री मजूमदार स्वयं १६ वीं सदी के पूर्वार्ध के भारत में अंग्रेज़ों की भूमिका के बारे में क्या सोचते हैं ? उन्होंने १६०८ में हिन्दुस्तान के वायसराय लार्ड मिण्टो और एक राजा की बातचीत का उल्लेख किया है। मिण्टो ने पूछा कि अंग्रेज हिन्दुस्तान से चले जायँ तो क्या होगा ? राजा ने तुरत उत्तर दिया कि चारों ओर उथल-पुथल मच जायगी और न एक रुपया सुरक्षित रहेगा, न एक कुमारी अछूती बचेगी। इसके बाद अन्य सामंतों का उल्लेख किया है जिनके अनुसार अंग्रेजों के जाने के बाद लूटपाट शुरू हो जाती। इसके बाद श्री मजूमदार की अपनी टिप्पणी है, "यदि १६०८ में लोगों का रवैया यह था तो हमें इसमें आश्चर्य न करना चाहिये कि अर्ध शताब्दी पहले सामंतों को ऐसी ही भावनाओं से अपने कार्यों के लिये प्रेरणा मिली थी। इसकी नग्न वास्तविकता लेखबद्ध घटनाओं से सिद्ध होती है।" फिर नग्न वास्तविकता के उदाहरणस्वरूप पार्लियामेंटरी कागज़ात से यह घटना उद्धृत की गई है। गया ज़िले में एक ज़मीदार ने ऐलान किया कि अंग्रेजी राज्य खत्म हो गया। उसने अपने विरोधी प्रत्येक गांव वाले को मार डाला। जो ज़मीन उसकी नहीं थी, उसे अपने अनुयाइयों में उसने बाँट दिया। विद्रोहियों के झुण्ड स्वेच्छा से प्रदेश में घूमते रहे, लूटमार करते रहे, सार्वजनिक कार्यों की इमारतें नष्ट करते रहे, उन्होंने खिराज वसूल किया और "प्रतिष्ठित हिन्दुओं की स्त्रियों का सतीत्व भंग किया।"

यदि अंग्रेजी राज्य खत्म होने पर इस तरह की परिस्थिति उत्पन्न हो सकती थी (श्री मजूमदार ने इसे typical example कहा है) तो शान्ति-व्यवस्था कायम करने और प्रतिष्ठित जनों की स्त्रियों के सतीत्व की रक्षा करने के लिये यदि बहादुरशाह ने अंग्रेजों से सन्धि-वार्ता की तो क्या बुरा किया ? लेकिन इस अंग्रेजी प्रचार के साथ उन्हें पचीसों अंग्रेजों के उन वक्तव्यों का भी उल्लेख करना चाहिये था जिनमें

उन्होंने स्वीकार किया है कि अंग्रेज स्त्रियों को बेइज़्ज़त नहीं किया गया, उन्हें अंग्रेजों के उन वक्तव्यों का भी उल्लेख करना चाहिये था जिनमें उन्होंने स्वीकार किया है कि उनकी ओर के कुछ लोगों ने अंग्रेज स्त्रियों की बेइज़्ज़ती और अंगभंग करने के किस्से गढ़े थे। यदि अंग्रेज विद्रोह का दमन करने के लिये और हजारों की संख्या में जनता को फाँसी गोली का शिकार बनाने के लिये अपनी ही स्त्रियों के बेइज्जत होने के किस्से गढ़ सकते थे, तो उन्हें हिन्दुओं की स्त्रियों की बेइज्जती के किस्से गढ़ने में क्या देर लगती थी ?

अँग्रेज़ जैसे लूटमार स्वयं करते थे, दोष अपनी सेना के हिन्दुस्तानी सिपाहियों को देते थे, विद्रोहियों को तो लुटेरा कहते ही थे, उसी तरह स्त्रियों की बेइज्जती खुद करते थे, उसका आरोप उनसे लड़ने वाली जनता पर करते थे।

५ अक्टूबर १८५७ के "इंगलिशमैन" ने अंग्रेज़ अधिकारियों के चरित्र पर विस्तार से प्रकाश डाला था। एक रेज़ीडेण्ट ने अपने निवासस्थान को वेश्यालय बना डाला था। एक अंग्रेज़ सिविलियन खुल्लमखुल्ला डींग हाँकता था कि मुकदमे में एक ओर कोई सुन्दर स्त्री हुई तो वह उसकी इज्जत लेकर उसके पक्ष में फैसला करता था। एक जिले में ब्रिटिश सेना का नायक औरतें उड़ाने का काम व्यवस्थित ढँग से करता था। गवर्नर उसका संरक्षक था, इसलिये कोई उसका कुछ न कर सकता था। अपने कुकृत्यों के लिए सारी पल्टन बदनाम थी।[२०८] १५ अप्रैल १८५८ के एक अंग्रेजी पत्र ने एक अंग्रेज अफ्सर का जिक्र किया था जिसने अपने यहाँ हिन्दुस्तानी स्त्रियों का हरम बना रखा था। उसकी पल्टन में सभी गोरे अफ्सर अविवाहित थे क्योंकि वे अपनी कामेच्छा यहाँ की स्त्रियों से पूरी कर लेते थे। विद्रोह होने पर इस पल्टन के तमाम अफ्सर मार डाले गये।[२०९]

नाना साहब के लिये श्री मजूमदार ने लिखा है कि उनकी स्थिति बहादुरशाह से भिन्न न थी। नाना साहब ने अंग्रेजों का विरोध किया, सिपाहियों के दबाव के कारण। श्री सेन और श्री मजूमदार ने मलका विक्टोरिया और अन्य अंग्रेज अधिकारियों के नाम २० अप्रैल १८५९ को लिखा हुआ नाना साहब का एक पत्र उद्धृत किया है। इसमें नाना साहब ने लिखा है कि उन्होंने असहाय होने की दशा में विद्रोहियों का

साथ दिया। उनकी प्रजा जोर दे रही थी और सैनिक उनके अपने देश के न थे। इनके दबाव के कारण उन्होंने विद्रोहियों का साथ दिया। तात्या टोपे के बयान में - जिसके बारे में बहुत सन्देह है कि वह तात्या टोपे का ही है—नाना साहब के इसी प्रकार विद्रोह में शामिल होने की बात है।

विद्रोह का अन्त होने के समय नाना साहब और तात्या टोपे ने क्या कहा, इससे इस बात का फैसला नहीं होता कि उन्होंने उसके आरंभ में क्या किया था। नाना साहब ने उत्तर की छावनियों की यात्रा की, यह रसेल के वक्तव्य से स्पष्ट है। अज़ीमुल्ला कट्टर अंग्रेज-विरोधी थे और नाना साहब के खास सलाहकारों में थे, यह भी रसेल की डायरी से स्पष्ट है। अंग्रेजों के अनुसार नाना साहब सिपाहियों को दिल्ली जाने से रोककर कल्याणपुर से लौटा लाये थे। श्री मजूमदार ने इस घटना का उल्लेख करते हुये लिखा है कि इस सिलसिले में होल्म्स और तात्या टोपे एकमत हैं। आश्चर्य की बात है कि जो व्यक्ति युद्ध न करना चाहता था, वह सिपाहियों को कानपुर में लड़ने के लिये कल्याणपुर से लौटा लाया।

इसके साथ नाना साहब के चरित्र पर ध्यान देना आवश्यक है। अंग्रेजों से उनका व्यक्तिगत सम्बन्ध अच्छा था लेकिन अंग्रेजों के अन्याय से वह क्रुद्ध थे। ट्रेवेलियन ने लिखा है कि वह अंग्रेजों को दावतें देते थे लेकिन उनके यहाँ दावतों में कभी न जाते थे। कारण यह कि अंग्रेज ऊन्हें पेशवा के रूप में स्वीकार करके तोपों की सलामी न देते थे। युद्ध के दौर में अन्त तक उनकी दृढ़ता इसी बात की परिचायक है कि वह स्वेच्छा से जन-पक्ष के साथ थे। विद्रोह की समाप्ति पर उन्होंने अंग्रेजों से सम्मानपूर्वक संधि करना चाहा था। उन्होंने मलका विक्टोरिया के मुहर लगे पत्र के बिना आत्म-समर्पण करने से इन्कार कर दिया था। उन पर स्त्रियों-बच्चों की हत्या का अपराध लगाया गया था, इसे उन्होंने अस्वीकार किया। वह प्रजा और सैनिकों के आग्रह पर अंग्रेजों से लड़े और जमकर लड़े। आत्म-सम्मान वेचकर आत्म-समर्पण करने से उन्होंने इन्कार किया। वह उन इतिहासकारों से बहुत ऊँचे हैं जो अभी तक निर्णय नहीं कर पाये कि सन् सत्तावन में अंग्रेजों से लड़ना उचित था, या अनुचित।

जनता, सेना और सामन्त—इन तीनों के संयुक्त मोर्चे में जनता और सेना सामंतों से प्रबल शक्ति थी। नाना साहब का यह कहना कि प्रजा और अपने सैनिकों—जो विद्रोही सिपाहियों से भिन्न थे—के दबाव से उन्होंने क्रान्तिकारियों का साथ दिया, इसी तथ्यकी ओर संकेत करता है। सामंत अपनी शर्तों पर, सिपाहियों को अपने अनुशासन में रखकर, अपनी रणनीति और कार्यनीति के अनुसार अंग्रेजों से लड़ना चाहते थे। सिपाही संयुक्त मोर्चे की प्रमुख शक्ति थे। युद्ध-संचालन का मुख्य भार उन पर था। इसलिये वह सामंतों का अनुसरण न करके उन्हें अपनी नीति पर चलने के लिये वाध्य करते थे। इससे यह सिद्ध नहीं होता कि सामंत लड़ना न चाहते थे। वे लड़ना चाहते थे, अपने ढंग से, अपनी शर्तों पर। सिपाहियों का दबाव उन्हें अनुशासनहीनता मालूम होता था, उनकी सामाजिक पृष्ठभूमि को देखते हुये स्वाभाविक था।

अवध की बेगम हज़रतमहल ने भी सिपाहियों के दबाव की बात की थी। राष्ट्रीय स्वाधीनता संग्राम के विरुद्ध तर्कों में श्री सेन-मजूमदार से यह तर्क छूट गया है।

होप ग्राण्ट ने राना जंगबहादुर के पास कर्नल बलभद्र मांझी द्वारा भेजा हुआ अवध की बेगम से मुलाकात के बारे में एक विवरण दिया है। इस विवरण के अनुसार जंगवहादुर द्वारा भेजे हुए आत्म-समर्पण कर देने के बारे में सन्देश का उत्तर देते हुए बेगम ने कहा, "न यह मेरी मंशा थी, न मेरे लड़के की जो उसे वादशाह बनाया गया। न हममें से किसी ने किसी अंग्रेज अफसर, बच्चों या स्त्रियों की हत्या का हुक्म दिया। यदि मेरा लड़का बादशाह होता तो सेना उसका हुक्म मानती जब कि वह उसके हुक्म में है। एक तरफ अंग्रेज मेरे दुश्मन थे [I had the British as enemies], दूसरी तरफ सिपाहियों ने हमें (बलि का) बकरा बना दिया।" उन्हें जंगबहादुर के यहाँ शरण पाने की आशा थी लेकिन यदि वह चाहता है कि वह और उनका लड़का मर जायँ तो वह असहाय थीं।

जंगबहादुर का खरीता सर्दारों के सामने पढ़ा गया। उन्होंने कहा, हम धर्म के लिये लड़े हैं; जंगबहादुर भी हिन्दू है, इसलिये उसे हमारी मदद करनी चाहिये। उन्होंने यह भी कहा, "लड़ने भर को हम अभी काफी हैं।" उन्होंने-अवध के उन अजेय योद्धाओं ने—यह प्रस्ताव रखा,

यदि जंगबहादुर पचास-साठ हजार फौज देकर मदद करे तो उसके सैनिकों को अंग्रेज जितनी तनखाह देते थे, वे उन्हें उससे दुगनी देंगे। यदि यह न हो सके तो वह अपना एक-एक अफ्सर हिन्दुस्तानी पल्टनों के साथ कर दे। जो देश जीतेंगे, वह गुरखा-सरकार का होगा। यह भी न हो तो उन्हें नेपाल में शरण पाने दे।

कुछ सूबेदार और सिपाहियों ने आकर कर्नल मांझी से बातचीत शुरू की। बेगम के तम्बू से चार सर्दार निकल कर आये और बोले, "कर्नल साहब, हमारे सिपाहियों से बात न कीजिये। ये भले आदमी नहीं हैं (They are a bad lot)। आपकी शान के खिलाफ़ कुछ कह देंगे तो हमारी बदनामी होगी।"[२११]

इस विवरण से संयुक्त मोर्चे का रूप बहुत साफ उभर कर आता है। बेगम इस समय थकी हुई हैं। जीतने की आशा नहीं है। अंग्रेज दुश्मन हैं; सिपाहियों ने बलि का बकरा बनाया सो अलग। बिरजिस क़दर नामचार को बादशाह है; सिपाही उसका हुक्म नहीं मानते वरन् उस पर हुकूमत करते हैं। इससे यह अर्थ नहीं निकलता कि हज़रतमहल लड़ना न चाहती थीं।

सामन्ती शक्ति में अवध के छोटे सामन्त मुख्य हैं। वे जीवट से लड़े हैं। इस समय सैनिक सहायता आवश्यक है। वे नेपाल से सेना लेकर एक बार फिर अंग्रेजों से रण ठानना चाहते हैं। इसके लिये तनखाह और भूमि का लालच भी देते हैं।

इनके बाद सिपाही और सूबेदार हैं जिनसे आशङ्का है कि वे जंग-बहादुर के प्रतिनिधि से बहुत शराफत से पेश न आयेंगे। ये संयुक्त मोर्चे के संचालक और उसकी मुख्य शक्ति थे।

श्री तलमीज़ खाल्दुन ने ज़मींदारों, कारीगरों, किसानों, सिपाहियों और मौलवियों-पण्डितों के संयुक्त मोर्चे को motley crowd अथवा भानमती का कुनबा कहा है। ये सभी वर्ग परस्पर भिन्नताएँ रखते हुए भी अंग्रेजी राज को निर्मूल करने की उत्कट आकांक्षा से एक महान् शक्ति बन गये थे जिसने ब्रिटिश साम्राज्य की जड़ें हिला दीं, यह सत्य उक्त स्थापना से गायब हो गया है। अंग्रेज लेखकों ने कैनिंग के घोषणा पत्र को बहुत दोष दिया है कि उसके कारण अवध के ताल्लुकदार लड़ते रहे। अवध में ताल्लुकदार उससे बहुत पहले से लड़ रहे थे। उनमें

बहुत से वे थे जिनकी ज़मीन अंग्रेजों ने छीनी न थी। अंग्रेजों के सहायकों में वे ताल्लुकदार थे जिनके प्रति शासकों ने अन्याय किया था। इस स्थिति पर अनेक अंग्रेज लेखकों ने आश्चर्य प्रकट किया है। इससे परिणाम यही निकलता है कि ताल्लुकदारों में देशभक्त, ढुलमुल यकीन और देशद्रोही, सभी तरह के लोग थे। कैनिंग के घोषणापत्र से बहुत पहले मई १८५७ में ही आगरे की गवर्मेंट गजट में यह ऐलान छापा था, "चूँकि पता चला है कि मेरठ के जिले में और दिल्ली तथा उसके आस-पास कुछ अदूरदर्शी विद्रोहियों ने ब्रिटिश हुकूमत का विरोध करने की हिम्मत की है, यह ऐलान किया जाता है कि हर ताल्लुकेदार, जमींदार या जमीन का और कोई मालिक जो इस विरोध में शामिल होगा, उसकी भूमि-सम्पत्ति पर उसके सभी अधिकार खत्म हो जायेंगे, वह संपत्ति जब्त करली जायगी और उन वफादार ताल्लुकदारों और ज़मींदारों को हमेशा के लिये दे दी जायगी जो हुकूमत की ताबेदारी के कामों से और शान्ति कायम रखने के अपनी कोशिशों से यह साबित करेंगे कि वे हुकूमत से इनाम-इकराम पाने के हक़दार है। ब्रिटिश हुकूमत अच्छी तरह अपने दोस्तों को इनाम देगी और दुश्मनों को सज़ा देगी।"[२१२]

इस ऐलान से आतंकित होकर उत्तर-पश्चिमी प्रान्त के लोगों ने संघर्ष बन्द नहीं कर दिया। उसी तरह अवध में कैनिंग की धमकियों से न तो संघर्ष बन्द हुआ और न उनके अभाव में वह पहले ही बन्द था।

श्री मजूमदार ने रानी लक्ष्मीबाई के बारे में लिखा है कि जून १८५७ में झाँसी के विद्रोह में उनका कोई हाथ न था। "विद्रोही सिपाहियों ने दुधारू गाय की तरह उन्हें इस्तेमाल किया।" ("....she was only used as a milch cow by the mutinous sepoys.")

इतिहासकार ने यहाँ कलम तोड़ दी है। विद्रोह को अराष्ट्रीय सिद्ध करने के उत्साह में उसको शिष्टता का ध्यान भी नहीं रहा। चुनकर आलंकारिक शब्दावली का प्रयोग किया। लोगों के भावुकतापूर्ण दृष्टिकोण को यथार्थवादी बनाने के लिये उसने रानी को मनोबलहीन, सिपाहियों के हाथ की कठपुतली बना दिया है। और सिपाही भी कैसे? लुटेरे और हत्यारे; रानी को ही धमका कर रुपये वसूल करने वाले! और रानी जो निर्भय होकर युद्धक्षेत्र में लड़ सकती थी, इस अन्याय के सामने

दबती चली गई। श्री सेन ने रानी को "निर्दोष" सिद्ध करने के लिये और भी वकालत की है। दोनों इतिहासकारों की स्थापना यह है कि रानी ने ब्रिटिश सरकार की ओर से झाँसी पर राज्य किया। जब अंग्रेजों ने रानी के प्रार्थना-पत्रों पर ध्यान न दिया, तब मृत्यु निश्चित जानकर रानी ने लड़ने का निश्चय किया।

श्री मजूमदार ने आंशिक रूप में और श्री सेन ने पूर्ण रूप में झांसी की रानी की ओर से सागर के अंग्रेज़ अधिकारियों के पास भेजे हुए दो खरीते उद्धृत किये हैं। पहला खरीता १२ जून १८५७ का है। इसमें लिखा है कि सिपाहियों ने बेवफाई और हिंसा द्वारा अंग्रेज अफसरों को मार डाला है और तोपें न होने से रानी उनकी सहायता न कर सकी। सिपाहियों ने रानी से रुपया वसूल किया और उनसे झाँसी की रियासत सँभालने को कहा क्योंकि वे दिल्ली जा रहे थे। रानी बिल्कुल अंग्रेजों पर निर्भर थीं; सिपाहियों ने धमकी दी कि जरा भी आगा-पीछा किया तो तोपों से महल उड़ा दिया जायगा। रानी को उन्हें पैसा देना पड़ा और उनकी आज्ञा माननी पड़ी। जनता के कुशल क्षेम के विचार से रानी ने अधिकारियों के पास परवाने भेज दिये थे। सिपाहियों के दिल्ली चले जाने के बाद उन्हें सूचना भेजने का अवसर मिला था, इसीलिये अब सूचना भेजी जा रही थी।

दूसरा खरीता १४ जून १८५७ का है। इसमें अंग्रेज़ों के मारे जाने पर खेद प्रकट करने के बाद झाँसी के इलाकों में छोटे सामन्तों द्वारा गढ़ियों पर अधिकार करने और लूटमार करने का जिक्र है। जिले की रक्षा के साधन उनके पास नहीं हैं। महाजनों से उधार मिलने की सम्भावना नहीं है। अपनी व्यक्तिगत सम्पत्ति बेच कर वह किसी तरह शासन कायम किये हैं। इसलिये झाँसी की दशा का वर्णन साथ भेजा जा रहा है जिस पर हुक्म भेजे जायँ।

तीसरा खरीता १ जनवरी १८५८ का है जिसमें पूर्व घटनाओं के उल्लेख के बाद झासी पर ओरछा की सेना के आक्रमण की चर्चा है। "ऐसी स्थिति में ब्रिटिश हुकूमत की सहायता के बिना मैं इन शत्रुओं से निपटने की और भारी ऋण से मुक्त होने की आशा नहीं कर सकती।"

पहले दो खरीतों (के अंग्रेजी अनुवाद) में रानी की बात प्रथम

पुरुष और तीसरे खरीते में उत्तम पुरुष में कही गई है। यह बात सन्देह पैदा करने वाली है। इसके सिवा जब तक खरीते की मूल प्रति सुलभ न हो, तब तक यह कहना कठिन है कि अनुवाद कहाँ तक ठीक हुआ है। मान लीजिये कि ये तीनों खरीतें सही हैं। यह संभावना बनी रहती है कि झाँसी के दरबार में अंग्रेजों से युद्ध करने के विरोधियों का गुट उस समय शक्तिशाली रहा हो, उसकी ओर से ये पत्र भेजे गये हों। यह संभावना भी रद करके मान लें कि रानी ने ही ये पत्र भेजे थे, तो भी वे निष्कर्ष नहीं निकलते जो श्री सेन-मजूमदार ने निकाले है।

यहाँ यह कह देना भी आवश्यक है कि रानी झाँसी पर अंग्रेज़ों की ओर से शासन कर रही थी, यह कोई नयी खोज नहीं है। अंग्रेज इतिहासकार इससे परिचित थे। अन्तर इतना है कि उन्हें उस पर विश्वास न था; श्री सेन-मजूमदार को उस पर विश्बास है। के ने लिखा था कि रानी ने एक ओर तो युद्ध की तैयारी की और नाना साहब को दूत भेजे, दूसरी ओर अंग्रेज़ हुकूमत से अच्छे सम्बन्ध बनाये रखने की कोशिश की "और यह कहती रहीं कि वह झाँसी जिले पर तब तक अधिकार किये थीं जब तक हमारी सरकार उस पर फिर अधिकार करने का प्रबन्ध नहीं करतीं।" ("...and declaring that she only held the Jhansi district till our Government could make arrangements to reoccupy it.") [२१३] इसके बाद के ने लिखा है कि उसने जबलपुर के कमिश्नर एर्सकाइन की रिपोर्ट को ध्यान से पढ़ा लेकिन उपर्युक्त तथ्य के समर्थन में उसे कुछ भी नहीं मिला। के को श्री सेन-मजूमदार द्वारा उद्धृत पत्र नहीं मिले यद्यपि वह उनकी स्थापना से परिचित था।

झाँसी में सिपाहियी ने अंग्रेजों के विरुद्ध विद्रोह किया। नगर की जनता ने इनका साथ दिया। रानी के राज का ऐलान किया गया और रानी ने शासक होना स्वीकार किया।

इन तथ्यों के बारे में मतभेद नहीं है। ऐलान में मुल्क बादशाह का घोषित किया गया था, कम्पनी बहादुर का नहीं। रानी ने उन सिपाहियों के कहने से सत्ता स्वीकार की जो अंग्रेजों से लड़ रहे थे। ब्रिटिश राज्य के लिये झाँसी की रक्षा करने के लिये ओरछा और दतिया के विरुद्ध रानी की सेना में अंग्रेजों से लड़ने वाले विद्रोही सिपाही थे और उनके

सहायकों में बानपुर और शाहगढ़ के विद्रोही राजा थे। निःसन्देह झाँसी की रक्षा करने का यह बड़ा विचित्र ढँग था कि इस कार्य के लिये उन्हीं से सहायता ली जाय जो अंग्रेजों से लड़ रहे थे। श्री सेन ने रानी के सहायकों का उल्लेख करते हुए इस कठिनाई का अनुभव किया है कि रानी के "निर्दोष" होने की स्थापना खंडित हो रही है। इसलिये लिखा हैं, "नत्थे खाँ ने मुँह की खाई लेकिन रानी भी विद्रोहियों की लपेट में आगई (the Rani also got involved with the rebels.)" यह लपेटे में आना क्या होता है ? रानी विद्रोही राजाओं और सिपाहियों को साथ लेकर शत्रुओं से लड़ रही थी। क्या वह जानती न थीं कि इसका परिणाम क्या होगा ? यह भी ध्यान देने की वात है कि उनका किला "उन बुन्देला सर्दारों द्वारा घेरा गया था जो ब्रिटिश सरकार के प्रति अधीनता घोषित करते थे।"[२१४]

एक ओर रानी और अंग्रेज़ों से विद्रोह करने वाले सामन्त और सिपाही हैं; दूसरी ओर वे सामन्त हैं जो अंग्रेज़ों की अधीनता की घोषणा करते हैं। एक ओर अंग्रेज़ों के सहायक, दूसरी ओर उनके विरोधी। रानी की भूमिका स्पष्ट है।

इसके साथ रानी के व्यक्तित्व का अध्ययन करना चाहिए और देखना चाहिए कि क्या वह इस तरह की नारी थीं जो दबाव में आकर अपनी इच्छा के विपरीत कुछ करें। झांसी अंग्रेजी राज में मिलाया जायगा, यह घोषणा होने के बाद रानी ने अंग्रेज़ राज्यसत्ता के प्रतिनिधि लैंग जौन को मिलने के लिये बुलवाया था। लैंग जोन ने लिखा है कि झाँसी बुलवाने का उद्देश्य इस संभावना के बारे में सलाह करना था कि झाँसी को अंग्रेज़ी राज में मिलाने के बारे में हुक्म रद्द हो सकता है या नहीं। लैंग जूते उतार कर जब रानी से मिलने कमरे में गया तब उसने सूचित किया कि गवर्नर जनरल को यह अधिकार नहीं है कि वह राज्य वापस करे और उनके दत्तक पुत्र को स्वीकार करे। इसके लिये इंगलैण्ड को लिखना होगा। इसलिये उनके लिए उचित यह होगा कि इंगलैण्ड की महारानी के पास अर्जी भेजें। इस बीच वह छः हजार पाउंड साल की पेंशन इस शर्त पर लेती रहें कि इससे उनके दत्तक पुत्र के अधिकार के बारे में निर्णय करने में कोई बाधा न पड़ेगी। "पहले उन्होंने ऐसा करने से इन्कार किया और कुछ तेज़ स्वर में कहा, 'मेरा

झाँसी नहीं देंगी (and rather energetically exclaimed 'Mera Jhansi nahin dengee') ।"[२१५] लैंग ने उन्हें समझाया कि विरोध करना व्यर्थ होगा और तोपों और सेना के निकट होने का भी उल्लेख किया, "मैंने यह इस लिये किया कि उन्होंने मुझे जता दिया था—और उनके वकील (अटर्नी) ने भी जता दिया था—और मेरी धारणा है कि वे सत्य कह रहे थे—कि झाँसी की जनता ईस्ट इण्डिया कम्पनी की हुक़ूमत के नीचे नहीं आना चाहती।"[२१६]

यह बहुत महत्वपूर्ण तथ्य है। झाँसी की जनता और रानी ने निश्चय कर लिया था कि कम्पनी की हुक़ूमत स्वीकार नहीं करनी है। रानी ने अपने सतेज स्वर में अंग्रेज़ी राज के उस प्रतिनिधि को समझा दिया था—मेरा झाँसी नहीं देंगी। इस तरह के व्यक्तित्व की देवी सन् सत्तावन में जब समग्र उत्तर भारत में अंग्रेज़ी राज्यसत्ता छिन्न-भिन्न हो रही थी, क्या करती? अंग्रेजों के लिये झाँसी की रक्षा करती? या विद्रोही सामंतों और सिपाहियों के साथ मिलकर अंग्रेज़ों और उनके समर्थकों से युद्ध करती? रानी ने अपने चरित्र और व्यक्तित्व के अनुरूप दूसरी नीति का अनुसरण किया। बानपुर और शाहगढ़ के राजाओं और विद्रोही सिपाहियों के साथ अंग्रेज़ भक्त ओरछा और दतिया के दरबारों की सेना का मुकाबला किया। बाद को झाँसी की समस्त जनता के साथ उन्होंने अंग्रेज़ों से युद्ध किया।

क्रान्ति की मुख्य शक्ति भारतीय सेना को पानी पी-पीकर कोसने में श्री रमेशचन्द्र मजूमदार ने अंग्रेज़ों को मात कर दिया है। उनके अनुसार दिल्ली में सिपाहियों ने दूकानदारों और धनी नागरिकों को लूटा और लूट का हिस्सा-बाँट करने के लिये आपस में लड़ने लगे (पृ० ७३)। यह नहीं लिखा कि उन्होंने अपने कोर्ट द्वारा दिल्ली में लूटमार रोकी थी: बख्तखाँ ने भूखे सिपाहियों क लिये दो मन चने भेजने के लिये कहा था। और अंग्रेजों द्वारा दिल्ली की लूट? वह भी कोई लिखने की बात है! सिपाही झाँसी में रानी को शासन सौंपकर दिल्ली चल दिये; इससे मालूम होता है कि 'उन्हें केवल लूट और हत्या की चिन्ता थी'। (पृ० १४६) मानो झाँसी में लूटने के लिये कुछ न रह गया था, न हत्या करने के लिये इन्सान बचे थे। और वे विद्रोही सिपाही कहाँ से आ गये थे, जिन्होंने ओरछा के विरुद्ध रानी का साथ दिया था? कुछ सिपाही

दिल्ली आ गये ; कुछ झाँसी में रहे। यदि सभी दिल्ली चले गये हों तो भी वे लूट और हत्या के लिये गये थे, न कि वहाँ अंग्रेजों से लड़ने, यह कैसे साबित हुआ ? बरेली में सिपाही गरीब, अमीर सभी को लूटने में लगे हुए थे ! लोगों को सता-सताकर रुपये वसूल किये गये ! हिन्दुओं और मुसलमानों को गाय और सुअर का गोश्त खिलाकर अपना गड़ा धन बताने के लिए वाध्य किया गया ! "लूट, चोरी, डकैती, बलात्कार—हर रोज़ इन्हीं का दौर रहता था।" यह सब और इस तरह का और बहुत सा मसाला मजूमदार महाशय ने दुर्गादास बन्धोपाध्याय नाम के "बंगाली सज्जन" के आधार पर दिया है। बरेली वह शहर था जहाँ अंग्रेज़ हिन्दू-मुस्लिम दंगे कराने में असफल रहे थे। उनके पचास हज़ार रुपयों को कोई हाथ लगाने वाला न था। वहाँ के लिये श्री मजूमदार ने लिखा है कि मुसलमान हिन्दुओं पर थूकते थे, उनके घरों पर गाय का खून छिड़कते थे और आस-पास गाय की हड्डियाँ डाल जाते थे। यदि कोई कहे कि यह सब अतिरंजित कल्पना है तो श्री मजूमदार कहते हैं, तात्या ने भी अपने बयान में सिपाहियों के बारे में ऐसी ही बातें कही थीं। बरेली के बारे में श्री सेन ने अधिक सचाई से लिखा है, "खानबहादुर खां ने रुहेलखंड के नबाव-नाज़िम बनकर आमतौर से हिन्दुओं को और खासतौर से राजपूत ठाकुरों को मिलाने तथा दिल्ली से अपने स्वतः प्राप्त अधिकार के लिये बाक़ायदा स्वीकृति पाने के लिये शीघ्र उपाय किये। उन्होंने बादशाह को कीमती भेंट और नज़र भेजी और यथासमय आवश्यक फर्मान प्राप्त कर लिया। एक प्रमुख ठाकुर जैमल सिंह ने सबसे पहले खानबहादुर खाँ का आधिपत्य स्वीकार किया। औरों ने उसका अनुसरण किया। शोभाराम नाम का बनिया दीवान बनाया गया और एक को छोड़कर उसके कार्यकर्ता सब हिन्दू थे। बख्तखाँ के दिल्ली चले जाने के बाद खानबहादुरखाँ ने शांति स्थापित करने का प्रयत्न किया और शासन चलाने के लिये आठ आदमियों की समिति बनाई, जिसमें दो हिन्दू थे और छः मुसलमान। ठाकुर जैमलसिंह इस समिति के सदस्य थे और जितने दिन खानबहादुर खाँ सत्तारूढ़ रहे, यह समिति कार्य करती रही। उन्होंने नगर में गोवध, निःसंदेह हिन्दू भावनाओं का आदर करके, बन्द करा दिया; लेकिन वह नौ मोहल्ले के सैयदों को काबू में न रख सके और व्यक्तिगत झगड़ों में कभी-कभी साम्प्रदा-

यिकता का रंग चढ़ गया।" (पृ० ३४८-४६) श्री मजूमदार ने दुर्गादास बन्धोपाध्याय के विवरण को वैसे ही प्रस्तुत किया है जैसे अमरीकी रिपोर्टर अपने विश्वस्त सूत्रों के आधार पर सोवियत समाज का चित्र खींचते हैं। जितनी बातें उनके विपक्ष में पड़तीं थीं—अर्थात् जिनसे नयी राज्य सत्ता के प्रति लोगों की सहानुभूति होती – उन्हें छोड़ दिया और जितनी अपने मतलब की मिलीं--विद्रोहियों को बदनाम करने का जितना झूठ-सच मसाला मिला—उसे समेटकर तुरत वेद वाक्य मानकर पेश कर दिया। यह सब भावुकता से बचने, तटस्थ रहकर सत्य, केवल सत्य को ग्रहण करने के नाम पर !

तटस्थता का एक उदाहरण यह है। अंग्रेज़ों के क्रूर कर्मों के बारे में अंग्रेज़ लेखकों से बहुत से उद्धरण देने के बाद श्री मजूमदार ने लिखा है, "मानवता को इनसे बड़ी शिक्षा मिलती है । वे सिद्ध करते हैं, यदि सिद्ध करना आवश्यक हो, कि प्रगतिशील संसार की वह संस्कृति जिसका डंका पीटा जाता है, चमड़े से नीचे नहीं गई, चाहे वह चमड़ा गोरा हो चाहे काला, चाहे वह अध्यात्मवादी पूर्व का हो चाहे भौतिकवादी पश्चिम का हो, चाहे सभ्य यूरोप का हो, चाहे पिछड़े हुए एशिया का हो।" (पृ० ११३)

श्री मजूमदार के इस दार्शनिक चिन्तन का कारण क्या है ? कारण यह है कि अंग्रेज़ों के क्रूर कर्मों पर पर्दा डाला नहीं जा सकता और उनकी निन्दा करने में लज्जा का अनुभव होता है। इसलिये पूर्व और पश्चिम, एशिया और यूरोप को समेट कर बात कहना ज्यादा युक्ति-संगत है। जब सिपाहियों के सच्चे या कल्पित निर्दय कृत्यों की बात होती है, तब वह उन्हें हत्यारा, लुटेरा कहने से बाज़ नहीं आते। जब अंग्रेज़ की बारी है, तब काले-गोरे दोनों खराब हैं। लेकिन श्री मजूमदार ने ब्लंट से दिल्ली के नरमेध के बारे में यह तथ्य उद्धृत किया है: "नगर पर अंग्रेज़ों का अधिकार होने के बाद सैनिकों ने छब्बीस हजार आदमियों को गोली से उड़ा दिया या फांसी दे दी।" (पृ० १०६) इस नरसंहार और सिपाहियों द्वारा चंद अंग्रेज़ों के वध करने को उन्होंने एक सा ही कर्म ठहराया है ! कितना महान् दार्शनिक तथ्य उद्घाटित किया है श्री मजूमदार ने, "मनुष्य जाति के लिये उचित है कि सोचे—इंसान और हैवान के बीच की सीमारेखा बहुत पतली है।"

दुरुस्त है। ऐसा कौन इन्सान होगा जो आताताइयों की वीरता के गीत गाये और अपने देशवासियों की प्रत्येक विफलता पर फूला न समाये ?

कानपुर में युद्ध हूआ। अंग्रेज जीत गये। कैसे जीत गये ? साहस और वीरता में हिन्दुस्तानियों से बढ़कर थे ("superior dash and courage of the British men and officers") (पृष्ठ १३५).

सन् सत्तावन में भोली जनता समझ बैठी कि अंग्रेजी राज खत्म हो गया। प्रतापी ब्रिटिश राज कैसे खत्म हो सकता था ? इस जनता को जरा सोचना चाहिये था। "उन्हें (लोगों को) इंगलैण्ड की शक्ति की बहुत कम जानकारी थी और हाल में क्राइमिया में रूसियों द्वारा अंग्रेजों को जो क्षति पहुँचाई गई थी; उसे बहुत बढ़ा-चढ़ाकर हिन्दुस्तान में बताया जाता था। इससे लोगों ने ब्रिटिश हुकूमत की शक्ति और सामर्थ्य को बहुत कम करके आँका।" (पृ० २३६)

श्री मजूमदार की मनोवृत्ति उन बाबुओं की सी है जो अंग्रेजों के सामने हुजूर, हुजूर करते थे और अपने देशवासियों को डैमफूल कहते थे। उन्होंने अंग्रेजों की शब्दावली तक की नकल कर ली है। अंग्रेज यहाँ वालों को "नेटिव" कह कर अपनी नफरत जाहिर करता था। यहाँ भी नेटिव फौज का प्रयोग मौजूद है। (पृ० ७०) मई सन् सत्तावन् के आरम्भ में अंग्रेजों के लिये परिस्थिति चिन्ताजनक थी। इसलिए श्री मजूमदार भी उसे "अत्यन्त चिन्ताजनक (disquieting in the extreme)" (पृ० ४८७) बतलाते हैं। लगता है, परिस्थितियों से जितना अंग्रेज परेशान थे, उससे ज्यादा मजूमदार महाशय हैं। अंग्रेज अपने सिपाहियों की बहादुरी की तारीफ कुछ शब्दों के प्रयोग द्वारा किया करते थे। मानभूम और सिंवभूम के कमिश्नर को, सैन्यदल समेत कोलों द्वारा घेर लिये जाने पर, सिखों ने बचाया। श्री मजूमदार सिख सैनिकों की "गैलेण्ट्री" का जिक्र करना नहीं भूलते। जॉन लौरेन्स ने पंजाब में आतंक के बल पर विद्रोह का दमन किया। मजूमदार जी के शब्दों में - जो अंग्रेज़ इतिहासकारों की चिरपरिचित शब्दावली है—उसने कूवत और फुर्ती से काम लिया और जल्द ही फसाद की जड़ काट दी। ("acted with a vigour and promptitude which nipped the trouble in thetbud")। (पृ० ६५) इस तरह की शब्दावली

का प्रयोग वही कर सकता है जिसने अंग्रेज़ों का दृष्टिकोण अपना लिया हो और उनके विरुद्ध लड़ने वालों को बलवा-फसाद करने वालों के अलावा और कुछ समझ ही न सकता न हो। कहीं-कहीं श्री मजूमदार ने अंग्रेज़ों की तरह हिन्दुस्तानियों के लिये दुश्मन शब्द का प्रयोग भी किया है। हैवलौक इलाहाबाद से चला और चार युद्धों में शत्रु को हराकर कानपुर में दाखिल हुआ। (पृ० ७) यह वाक्य या शत्रु शब्द श्री मजूमदार ने उद्धरण के रूप में नहीं लिखा। वाक्य उनका है यद्यपि उसमें वर्णित विषयवस्तु उधार ली हुई है। विषयवस्तु के साथ उन्होंने उसका रूप भी ले लिया है और अपने देश की जनता को शत्रु लिखा है। स्वाधीनता-आंदोलन का इतिहास लिखने के लिये योग्यता का इससे बड़ा प्रमाण-पत्र क्या होगा ?

यह कार्य श्री सेन ने भी खूब किया है। भारत में लार्ड कैनिंग के आगमन का वर्णन करते हुये श्री सेन ने लिखा है, "नये गवर्नर जनरल के बारे में लोगों को ज्यादा जानकारी न थी, न हृदय और मस्तिष्क के वे महान् गुण अभी प्रकट हुए थे जिनसे बाद को वह इंगलैण्ड के लिये हिन्दुस्तान को बचा सके, और भारतीय जनता की कृतज्ञता प्राप्त कर सके।" (पृ० १५)

कहना चाहिये, कैनिंग ने विद्रोह के दमन में, अंग्रेज शासन का नेतृत्व किया, हिन्दुस्तान को अंग्रेजों के लिये बचा लिया, यह इस देश की जनता की कृतज्ञता का सबसे बड़ा कारण होना चाहिये। कहीं अंग्रेजों को यहां से जाना पड़ता तब तो सत्यानाश ही हो जाता।

सिन्ध की एक घटना का जिक्र करते हुए लिखा है, यूरोपियन फौज के वजूद ने उनका (हिंदुस्तान के सिपाहियों का) दिमाग "ठण्ढा" रखा। (पृ० १६) इस ठण्ढे शब्द की क्या तारीफ की जाय ? कितना चुभता हुआ व्यंग्य है ! हिन्दुस्तानियों की यह मजाल कि यूरोपियनों के खिलाफ बगावत करें ! गोरी पल्टन के आते ही दिमाग़ ठण्ढा हो गया। लखनऊ में मच्छी भवन के सामने अंग्रेज़ों ने फांसी देना शुरू किया। "संकट के समय सख्ती से काम लेना आवश्यक था।" (पृ० १८४) ऐसे लिखा है मानो संकट में श्री सेन के देशवासी पड़े हों और उनकी रक्षा के लिये फाँसी देकर आतंक जमाने का सख्त काम आवश्यक हो गया हो।

अंग्रेज़ों की वीरता का उल्लेख करना श्री सेन कभी नहीं भूलते। "इस प्रकार सर हेनरी लारेन्स अन्त तक अपने कर्तव्य का पालन करते हुए मरा।" (पृ० १६८) उस कर्तव्य से हमारा हानि लाभ क्या होता था, उसकी चर्चा नहीं हैं। "हैवलौक एक महान् सैनिक और धर्मप्राण ईसाई था।" (पृ० २२६) "विद्रोह के बहुत से वीरों की तरह उसने प्रथम अफगान युद्ध में ख्याति पायी थी।" (पृ० ३११) यह विद्रोह का वीर कौन था? हेनरी मैरिअर, ड्यूरैण्ड जो मध्य भारत में गवर्नर जनरल का एजेण्ट था। आवा के युद्ध में "एक मूल्यवान जीवन नष्ट हुआ।" (पृ० ३१६) यह किसका जीवन था? अंग्रेज अधिकारी मौंक मैसन का!

श्री सेन से अधिक उदारता से रसेल ने अपनी डायरी लिखी है। उससे अंग्रेज शासकवर्ग और उसकी फौज के राक्षसी कृत्यों का अधिक यथार्थ और सजीव चित्र आँखों के सामने उपस्थित होता है।

क्या राज्यक्रांति में हिन्दुस्तानियों की पराजय अनिवार्य थी? श्री पूरनचन्द जोशी ने लिखा है, "१८५७का विद्रोह और उसकी असफलता दोनों ऐतिहासिक रूप से अनिवार्य थे।" जोशीजी ने अपने लेख के एक हिस्से का शीर्षक रखा है, "असफलता क्यों?" इसमें यह बताने के बाद कि बाहर तो सामंतों को भी देशभक्त माना गया है, यहीं नहीं माना जाता, उन्होंने हैदराबाद, राजस्थान, ग्वालियर और पंजाब की रियासतों का जिक्र किया है, जिन्होंने अंग्रेजों की सहायता की थी। इसमें ऐतिहासिक अनिवार्यता क्या है, यह समझ में नहीं आया। यदि दिल्ली में भारतीय सेना जीत जाती तो इन सामंतों की स्थिति बिल्कुल दूसरी होती। जोशीजी ने गुरखों, सिक्खों और राजस्थान के राजाओं की ऐतिहासिक स्मृतियों का जिक्र किया है, उनका विश्लेषण पहले किया जा चुका है। इसके बाद जोशीजी ने विचारधारा में सामंती नेतृत्व और राष्ट्रीयता की चेतना के अभाव का उल्लेख किया है। यह सत्य भी हो तो उससे हिन्दुस्तान की जनता की पराजय अनिवार्य कैसे हो जाती है?

अंग्रेज़ों की तात्कालिक विजय के अनेक कारण थे लेकिन इनमें एक भी कारण ऐसा नहीं था जिससे कहा जा सके कि भारतवासियों की पराजय और अंग्रेज़ों की विजय अनिवार्य थी। अनिवार्य पराजय की स्थापना श्री मजूमदार की उस धारणा से बहुत मिलती जुलती है कि

भोले-भाले लोग अंग्रेज़ी राज्य की शक्ति न पहचानकर उससे भिड़ गये। अंग्रेज़ों के पास तोपें और राइफल थे, यहाँ के सामन्तों ने उनकी सहायता की, अंग्रेज़ों ने यहाँ की जातियों में परस्पर द्वेष फैलाने में एक सीमा तक सफलता प्राप्त की। इसके विपरीत यहाँ युद्ध-सामग्री तैयार करने के बहुत से अड्डे सुरक्षित थे; मस्केटों की मार से तोपें और रायफल भी कभी कभी व्यर्थ हो जाते थे। अंग्रेज़ों के सहायक सामन्तों की सेना अधिकतर विद्रोहियों के साथ हो गई या उनसे सहानुभूति रखती थी। यहाँ की सभी-जातियों में अंग्रेज़ों के प्रति घृणा थी और उनकी पराजय से सारे भारत की जनता को खुशी होती थी। इस परिस्थिति के कारण ही अवध और बिहार में अंग्रेज़ों को तीन साल तक संघर्ष करना पड़ा और उनके हजारों सैनिक मारे गये। जो कार्य इन दो प्रदेशों में हुआ, वह अन्यत्र भी हो सकता था। होता तो विद्रोह के प्रसार से, संपर्क-साधनों के छिन्न-भिन्न होने से, छापेमारों से निरन्तर लड़ते रहने के कारण लड़ाई के लम्बे खिचने से, अपार धन-जन और युद्ध-सामग्री की क्षति से अंग्रेज़ों के लिये यहाँ अपना शासन कायम रखना असंभव हो जाता। अवध और बिहार की जनता ने एक ऐतिहासिक सत्य संसार के सामने प्रकट किया। वह यह कि युद्ध-सामग्री में घटकर होने और कौशल में शत्रु से पिछड़े रहने पर भी जनता की एकता के बल छापेमार लड़ाई चलाकर, कम से कम गाँवों में और कुछ समय के लिये, जनता अपनी सत्ता कायम कर सकती है और उसे कायम रख सकती है। यह ऐतिहासिक सत्य न केवल भारत के लिये महत्वपूर्ण है वरन् संसार की तमाम कौशल में अपेक्षाकृत पिछड़ी हुई जनता के लिये है। पहले ही नहीं, रौकेट और अणुबमों के इस युग में भी सन् सत्तावन की राज्यक्रान्ति की यह शिक्षा महत्वपूर्ण है।

कई अंग्रेज लेखकों ने किसी बड़े नेता का न होना विद्रोह की पराजय का कारण माना है। बड़ा नेता वही होता है जो वस्तुगत परिस्थितियों को पहचानकर उनके अनुकूल जनता का उद्देश्य सफल करने के लिये समर्थ रूप में कार्य कर सकता है। विद्रोह के नेताओं से भी बड़े-नेता हो सकते थे लेकिन ब्रिटिश पक्ष के कैनिंग जिसके लिये दिल्ली दूर थी, और जॉन लारेन्स जो पेशावर घाटी खाली करने की सोच रहा था, और हेनरी लारेन्स जिसने चिनहट में मुँह की खाई, उसका भाई जॉर्ज लारेन्स जो आवा में पिटा, विलसन, जो दिल्ली में घुसते घुसते वापस

आरहा था, कौलिन कैंम्पबेल जो लखनऊ से नेपाल की सीमा तक कहीं भी भारतीय सेना को घेर न पाया, इनसे बख्त खाँ और उनके साथी जिन्होंने घेरने वालों को घेर लिया था, मौलवी अहमदुल्ला शाह जिन्होंने कौलिन कैम्पबेल को कई बार चकमा दिया और रुहेलखंड की मदद के लिये अंग्रेज़ी सेना पर पीछे से आक्रमण किया, तात्या टोपे जिसने कैम्पबेल को लखनऊ में फँसा देखकर कानपुर पर, फिर ग्वालियर पर अधिकार कर लिया, कुँवरसिंह, अमरसिंह, हरेकृष्णसिंह जिन्होंने छापेमार युद्ध चलाकर लुगार्ड को घर भेज दिया और गांवों में अपनी सरकार चलाई, राना बेनी माधो जिन्हें अंग्रेज़ हर कहीं देखते थे,लेकिन पकड़ न पाते थे, रानी लक्ष्मीबाई जिन्होंने झांसी की जनता में अमित शौर्य भर दिया था, बेगम हज़रतमहल, नाना साहब, अजीमुल्ला आदि आदि प्रभावशाली व्यक्तित्व ऐसे थे जिनकी तुलना में अंग्रेज़ों के यहाँ कोई था नहीं। इनके साथ वे सूबेदार और सिपाही थे जो सेना के नेतृत्व के अलावा सामाजिक क्षेत्र में भी नयी जनतांत्रिक पद्धति अपना रहे थे और संयुक्त मोर्चे की प्रमुख शक्ति थे, उनकी समरनीति, वीरता और अनुशासन में कोई कमी न थी। अंग्रेज़ों ने यहाँ के धनजन को इस देश के विरुद्ध इस्तेमाल किया, इस काम को राजनीतिक रूप से रोकने में विद्रोह के नेता असफल रहे। राजनीतिक कार्यवाही द्वारा विद्रोह को फैलाने और अन्य स्थानों में उसके स्तर को अवध और बिहार के स्तर तक लाने के लिये जिस संगठन की आवश्यकता थी, उसका अभाव था। यह अभाव ऐतिहासिक रूप से अनिवार्य नहीं था। मनुष्य के प्रयत्न से परिस्थिति पर हावी होने की पूरी संभावना थी। स्वाधीनता प्राप्ति के लिये और उसकी रक्षा के लिये सारे देश की जनता की एकता, उसका दृढ़ संगठन और उसकी राजनीतिक कार्यवाही आवश्यक हैं—सन् सत्तावन की राज्यक्रान्ति की यह शिक्षा है।

१६ वीं सदी में ईरान, सीरिया, लबनान, बोर्निओ, चीन आदि देशों में यूरोप के आतताइयों के विरुद्ध संघर्ष चल रहे थे। उनमें सन् सत्तावन की राज्यक्रान्ति है जिसने एशिया के इस आन्दोलन को आगे बढ़ाया और यूरोप की क्रान्तिकारी शक्तियों ने उसका अभिनन्दन किया। अंग्रेज़ों ने कंपनी-राज खत्म करके मलका विक्टोरिया का राज कायम किया। वस्तुतः पहले भी यहाँ के शासन के लिये ब्रिटिश पार्लियामेंट जिम्मेदार

थी, बाद को भी रही। किन्तु सन् सत्तावन की राज्यक्रान्ति से इंगलैंड के शासक अभिजातवर्ग को भारी धक्का लगा। उद्योगपतियों के प्रतिनिधियों ने उसे और दबाना शुरू किया और इसके लिये वे सन् सत्तावन के विद्रोह को लेकर अभिजातवर्ग को दोषी ठहराते थे। उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध में ब्रिटिश पूंजीपति वर्ग हिन्दुस्तान का मालिक बना। उसने यहाँ के शोषण को और व्यवस्थित किया। खुद लूटने के साथ कुछ हिन्दुस्तानियों को भी उसने टुकड़े फेंके। उसने इस देश को कच्चा माल देने वाला और तैयार माल लेने वाला उपनिवेश बनाया। दमन के साथ उसने अधिकाधिक सुधारों का उपयोग किया। उसने दिल्ली की तरह हजारों का कत्लेआम नहीं किया; उसने लाखों को अकाल और भुखमरी के हवाले कर दिया। लेकिन सन् सत्तावन की स्मृति लिये भारतीय जनता लड़ती रही और अंग्रेज़ी सभ्यता का असली रूप दुनिया के सामने और भी खुलकर प्रकट होता गया। देश के विभाजन की कीमत पर और करोड़ों रुपये की ब्रिटिश पूँजी सुरक्षित रखकर देश स्वतन्त्र हुआ।

क्या सन् सत्तावन का संघर्ष राज्यक्रान्ति था?

श्री रमेशचन्द्र मजूमदार ने अपनी पुस्तक की भूमिका में लिखा है कि उन्हें उसका नाम रखने में काफी कठिनाई हुई। उन्होंने उसका नाम "सिपाहियों की बग़ावत और १८५७ का विद्रोह" रखा। यह इसलिये कि विद्रोह में बहुत से आम लोग भी शामिल हुए थे; सिपाहियों की बग़ावत फौज से शुरू हुई थी। इन दो नामों को जोड़ना सूचित करता है कि श्री मजूमदार ने सिपाहियों और आम जनता की संयुक्त कार्यवाही को अलग करके देखा है। वस्तुतः वे दोनों एक ही उद्देश्य के लिये एक ही कार्यवाही का अंग है। उद्देश्य था, अंग्रेज़ी राज का खात्मा और भारतीय राज्यसत्ता की स्थापना। कार्यवाही थी, शत्रु से सैनिक संघर्ष। स्वाधीनता प्राप्ति के अलावा संघर्ष में अनेक गृहयुद्ध के तत्त्व भी सम्मिलित हो गये थे। अनेक स्थानों में वर्गों के परस्पर अन्तर्विरोध उभर कर आये थे। इसके अलावा संघर्ष का रूप और संचालन ही क्रान्तिकारी था। हिन्दुस्तान के इतिहास पहली बार सामन्तों ने ऐसा युद्ध किया था जिसमें सेना पर उनके हावी होने के बदले सेना उन पर हावी थी। संयुक्त मोर्चे का यह रूप, उसमें सेना का अधिनायकत्व, राजनीतिक क्षेत्र में किसान जनता का लाखों की संख्या में आना और संघर्ष में भाग लेना -

यह सब सामन्तवाद को कमजोर करता था और जनता की राष्ट्रीय और जनवादी चेतना को तीव्र करता था। इसलिये इस संघर्ष को राज्य-क्रान्ति कहना उचित है। उसके लिये इस शब्द (revolution) का प्रयोग अनेक लेखक पहले कर भी चुके हैं।

श्री मजूमदार ने इस संघर्ष को स्वाधीनता संग्राम नहीं माना। उन्होंने सामन्तों को या तो सिपाहियों के दबाव में आकर या अपने स्वार्थ के लिये लड़ते हुए दिखाया है। लेकिन सन् सत्तावन का साल भी खूब है। १८५७ के पहले ही लोग आशा लगाये बैठे थे, कुछ होगा। पलासी का शताब्दि-महोत्सव उन्होंने धूमधाम से मनाया। उसके बाद से लोग सन् सत्तावन का साल बराबर याद करते आये हैं। ऐसे सुन्दर वर्ष में, भले ही वह १६५७ हो, श्री मजूमदार भी उस क्रान्ति की प्रशंसा में दो चार शब्द कहे बिना न रह सकते थे। इसका श्रेय सत्तावन के साल को है। जादू वह जो सिर पर चढ़ के बोले। "१८५७ का महान् क्रान्तिकारी आन्दोलन" (पृ० ३७), अंग्रेज ठीक समझते थे कि दिल्ली "समग्र क्रान्ति का वास्तविक केन्द्र" है (पृ० ६६), जगदीशपुर से बाँदा तक पहुँचने में कुँवरसिंह के आने से "नागरिक जनता की क्रान्तिकारी भावनाओं को निश्चित बल मिला" (पृ० ८२), महान् आन्दोलन (पृ० १७०), "१८५७ का महान् विद्रोह" (पृ० २१०), इत्यादि। श्री मजूमदार क्रांति और महान् शब्दों का जो भी अर्थ लगाते हों, साधारण अर्थ लेते हुए उनके उपर्युक्त शब्द सत्य हैं। यह संघर्ष षड़यन्त्र नहीं आन्दोलन था। यह आन्दोलन साधारण नहीं क्रांतिकारी था। क्रांति असंगठित नहीं थी, उसके केन्द्र थे, जिनमें एक दिल्ली था। विद्रोह के नेता एक प्रदेश में बन्द होकर नहीं बैठ गये, वे दूर-दूर तक जाकर नागरिक जनता की क्रान्तिकारी भावनाओं को दृढ़ करते थे। इस क्रान्ति का अनुभव भारतीय जनता के संस्कारों में घुल मिल गया है। इस प्रकार वह उसके विभिन्न कार्यों को प्रभावित करता रहता है। इस रूप में सन् सत्तावन के अमर शहीद आज भी हमारे साथ हैं और इसी भाँति सदा हमारे साथ रहेंगे।

—:◆:—

निष्कर्ष

सन् सत्तावन की राज्यक्रान्ति १९ वीं सदी में यूरोप के आततताइयों के विरुद्ध एशिया, अफ्रीका, प्रशान्त महासागर के द्वीपों आदि की जनता के संघर्ष का अभिन्न अंग है। उस समय इन उपनिवेशों पर यूरोप के पूँजीवाद का अधिकार न था। स्वयं इंगलैण्ड में राज्यसत्ता पर पूँजीपतियों का अधिकार न था। सत्ता भूस्वामी अभिजातवर्ग के हाथ में थी। यह वर्ग पुराने सामन्तों से भिन्न था क्योंकि वह बड़े खेतों में मज़दूरों से कृषि कराता था। फिर भी उसके साथ महत्वपूर्ण सामन्ती अवशेष जुड़े हुए थे। वह मजदूर वर्ग के हितों का विरोधी तो था ही, पूँजीपतियों के हितों का भी विरोधी था। उसने मताधिकार अपने वर्ग के हाथ में रखा था, कुछ सुविधाएँ उद्योगपतियों को दी थीं किन्तु इतनी ही कि सत्ता उनके हाथ से न जाने पाये। इसने जो न्यायव्यवस्था कायम की थी, वह फ्रान्सीसी राज्यक्रान्ति के भय से जनता के अधिकारों का दमन करने के लिये थी। न्यायाधीश अभिजात वर्ग के अंग होते थे। न्याय का उपयोग मज़दूर वर्ग के जनतान्त्रिक आन्दोलन को दबाने और किसानों की जमीन छीनने के लिये किया गया। चर्च और सेना में इसी अभिजात वर्ग का प्रभुत्व था। उसने आर्थिक उत्पीड़न के साथ धार्मिक उत्पीड़न भी जोड़ दिया था जिसकी सबसे बड़ी मिसाल आयर्लैण्ड के कैथलिकों के साथ उसका व्यवहार था।

उपनिवेशों के निर्माण में दासों के व्यापारियों, इंगलैण्ड और आयर्लैण्ड के निर्वासित अपराधियों और मुफलिसों, सौदागरों और जमींदारों का हाथ था। इस समय उपनिवेश विलायत को कच्चा माल भेजने वाले और बदले में तैयार माल लेने वाले देश न थे। उनके शोषण का मुख्य रूप विदेशी ज़मींदारों का शोषण था जिसमें गुलामों या गुलामों जैसी हालत के कुलियों द्वारा खेती कराना शामिल था। इनके साथ यूरोप के सौदागर उपनिवेशों की अथाह सम्पदा लूटकर अपना घर भर रहे थे। इस प्रकार इंगलैण्ड विश्व-प्रतिक्रियावाद का गढ़ था। उसने अपने ही वर्ग-धर्म वाले अमरीकी उपनिवेशों को पराधीन बनाये रखने के लिये उनसे युद्ध किया था। उसने फ्राँसीसी राज्यक्रान्ति का विरोध किया और अपने यहाँ की सबसे प्रगतिशील शक्ति मज़दूर वर्ग के आन्दोलन का

दमन किया था। एशिया और अफ्रीका में सर्वत्र अपनी तोपों और गोला-बारूद के बल पर वह लूट और हत्या का साम्राज्य स्थापित किये हुए था। १८५७ के संघर्ष में अंग्रेज दस्युओं के इस प्रतिक्रियाबादी अभियान को हिन्दुस्तान की धरती पर सबसे कठोर प्रहार सहना पड़ा।

ईस्ट इण्डिया कम्पनी व्यापार का काम बन्द करके अब यहाँ की मालगुजारी वसूल करने वाली ज़मींदार बन गई थी। उसने यहाँ की समाज व्यबस्था में कोई क्रान्ति न की थी, न जान-बूझकर, न अनजाने में। यहाँ के प्रतिक्रियावादी सामन्तों से मिलकर उसने यहाँ की अभ्युदय-शील पूँजी और उद्योग-धन्धों को अवश्य भारी क्षति पहुँचायी थी। अठारहवीं सदी में यहाँ का औद्योगिक विकास बन्द न हो गया था वरन् अंग्रेज उद्योगपति यहाँ के व्यापारियों से होड़ में परास्त हुए थे। अंग्रेज़ों ने यहाँ के सामन्ती विघटन को बढ़ावा दिया और उन्नीसवीं सदी के पूर्वार्द्ध में यहाँ अराजकता फैलाने वालों में वह सब से आगे थे। उन्होंने यहाँ की न्याय-व्यवस्था, शिक्षा पद्धति, उद्योगधन्धे—सभी को क्षति पहुँ-चाई। इनके विरुद्ध यहाँ के अनेक देशभक्त सामन्तों ने सारे देश की शक्तियों को एक करने और अंग्रेजों को निकालने के महत्वपूर्ण प्रयत्न किये। यहाँ की जनता ने अंग्रेजों के विरुद्ध बराबर संघर्ष जारी रखा। उसने संगठन के जनवादी तरीके अपनाये, एक प्रदेश के बाहर की जनता से भी एका कायम करना सीखा, अंग्रेजों के अन्यत्र युद्धों में उल-झने से लाभ उठाया और इस प्रकार अपने स्वाधीनता-प्रेम और राष्ट्रीय चेतना का परिचय दिया। फौज के सैनिकों ने, विशेष कर बंगाल-सेना के सिपाहियों ने अंग्रेजों की वर्ण-भेद, धर्म-भेद की नीति को अपने अनुभव से जाना, अपने संघर्षों से अंग्रेजी राज का सच्चा रूप पहचाना, देश में चारों ओर फैले होने से अंग्रेजों की विश्वासघातक कूटनीति को समझा और १८५७ के अंग्रेज-विरोधी संघर्ष में सबसे आगे बढ़ कर भाग लिया।

राज्यक्रान्ति के मुख्य कारण आर्थिक और राजनीतिक थे। अंग्रेजों ने एक के बाद दूसरी सन्धि तोड़ कर सारे देश को अपने अधिकार में कर लिया था। उन्होंने सामन्तों के अधिकार छीनने के अलावा यहाँ के किसानों के सनातन काल से चले आते अधिकार भी छीन लिये थे। अंग्रेजों द्वारा किसानों का शोषण सामन्ती उत्पीड़न से भी बढ़कर था।

जमीन छीन कर सारी सम्पत्ति जब्त करने या नीलाम कराने के लिये अंग्रेजों की न्यायव्यवस्था मौजूद थी। फौज के अंग्रेज अफसर ऐश करते थे। हिन्दुस्तानी स्त्रियों के हरम बनाते थे। अनेक न्यायाधीश स्त्रियों का सतीत्व नष्ट करने की शर्त पर उनके पक्ष में मुकदमों का फैसला करते थे। इस अंग्रेज़ी राज का नाश करने के लिये किसानों और उनके साथ बहुत से सामन्तों ने युद्ध किया और जनता पर अत्याचार करने वाली न्यायवयवस्था खत्म कर दी।

बहुत से अंग्रेज़ों का उद्देश्य हिन्दुस्तान की जनता को ईसाई बनाना था। अंग्रेज अधिकारी और फौजी अफसर अपने पद का दुरुपयोग धर्म-प्रचार के लिये करते थे। ईसाई मिशनरियों के उद्देश्य ने यहाँ की नयी भौतिकवादी विचारधारा का विरोध किया, धार्मिक सहिष्णुता के बदले धर्मान्धता का प्रचार किया। उनका मूल उद्देश्य अंग्रेज़ी राज के समर्थक उत्पन्न करना था। सन् सत्तावन में चर्च ने जनता के विरुद्ध अंग्रेज आक्रमणकारियों का साथ दिया। पंजाब सरकार द्वारा प्रकाशित "ग़दर के कागज़ात" में एक दिलचस्प समाचार छपा था। २४ अगस्त १८५७ को बिशप के नेतृत्व में ईश्वर से विशेष प्रार्थना करने का आयोजन किया गया था। आर्चडीकन की ओर से इस संबंध में गश्ती चिट्ठी भेज़ी गई थी जिसमें इस विशेष अवसर पर ईसाई ईश-भक्तों द्वारा पढ़ी जाने वाली प्रार्थना दी गई थी। उस प्रार्थना में ईश्वर से कहा गया था, "अगर तेरी यह शुभ इच्छा हो तो इस देश में पहले से भी ज्यादा मज़बूत नींव पर हमारा साम्राज्य स्थापित कर; और सबसे बढ़ कर यह कि उसे सर्वत्र अपने बेटे के राज्य फैलाने का शुभ साधन बना।" चर्च यहाँ ब्रिटिश साम्राज्य स्थापित करने के लिये खुल्लमखुल्ला ईश्वर से प्रार्थना करता है, साथ ही उस साम्राज्य को ईसाई धर्म के प्रचार का साधन भी बनाना चाहता है। पश्चिमी साम्राज्यवादियों की वह नीति अभी जारी है। नियोगी कमीशन की रिपोर्ट के अनुसार जनवरी १९५० से जून १९५४ तक हिन्दुस्तान के मिशनों को विदेश से २९ करोड़ २७ लाख रुपये मिले थे जिनमें २० करोड़ ६८ लाख ६३ हजार केवल संयुक्तराज्य अमरीका से आये थे।

मेरठ में विद्रोह आरम्भ हुआ तो उसमें सैनिकों के साथ नगर और

आसपास के गाँवों की जनता ने भी भाग लिया। लोगों को पहले से दस मई की तारीख का पता था और एक अंग्रेज़ अफसर को नौ मई को पता चल गया था कि कल विद्रोह होगा। दिल्ली में पहले से तैयारी थी; इसलिये देखते-देखते वहाँ अंग्रेजी सत्ता समाप्त हो गई। मई के महीने में हैदराबार से लेकर सीमान्त प्रदेश तक अनेक स्थानों में संघर्ष छिड़ गया। क्रान्ति के प्रसार का वह वेग आश्चर्यजनक था। संपर्क साधनों की असुविधा होते हुए भी विद्रोह के समाचार बहुत जल्दी एक स्थान से दूसरे स्थान पहुँचते थे। इन संघर्षों में किसान जनता ने अंग्रेजों द्वारा अपहृत स्वत्वों को फिर प्राप्त किया।

दिल्ली के युद्ध में भारतीय सेना को अनेक कठिन सामाजिक और सैनिक समस्याएँ सुलझानी पड़ीं। उसने नगर में नये ढंग की गैर-सामंती जनतांत्रिक राज्यसत्ता स्थापित की, देश की तमाम शक्तियों को बटोरने के प्रयत्न किये, शासन का प्रबन्ध किया और युद्ध-सामग्री तैयार कराई। दिल्ली का घेरा डालने के पहले अंग्रेजों का डटकर मुकावला किया गया। घेरा डालने वाले घिर गए। लंबे खिंचने वाले युद्ध में अंग्रेजों को भारी हानि उठानी पड़ी। अंग्रेजों के भेदियों ने युद्ध सामग्री बनाने का कारखाना उड़ा दिया किन्तु हिन्दू-मुस्लिम दंगे कराने में असफल रहे। दिल्ली की लूट और नर-संहार में अंग्रेजों की संस्कृति अपने नग्न रूप में प्रकट हो गई। दिल्ली के युद्ध में सामन्तशाही ने ढुलमुल रवैया दिखलाया, लेकिन आम जनता, स्त्रियों, पत्रकारों आदि ने साहस से संघर्ष में भाग लिया।

लखनऊ, कानपुर, इलाहाबाद और अन्य स्थानों में अंग्रेजों ने खूनी आतंक द्वारा क्रान्ति का दमन किया। बिहार और अवध में छापेमार युद्ध चलकर जनता संघर्ष को और ऊँचे स्तर पर ले गई। मई १८५६ तक अंग्रेजों को भारी फौज लेकर मध्य भारत से लेकर बिहार तक अपना राज्य फिर से कायम करने के प्रयत्न में लगे रहना पड़ा।

क्रांति में भारत की एक से अधिक जातियों ने भाग लिया। उसे सभी प्रदेशों की जनता की सहानुभूति प्राप्त थी। उसकी धुरी हिन्द प्रदेश की जनता थी। इसका कारण इस प्रदेश की राजनीतिक और सांस्कृतिक परिस्थितियों के अलावा क्रांति में बंगाल सेना की भूमिका थी। अंग्रेज़ों ने यहाँ के आत्मसम्मानहीन सामंतों की सहायता ली, पंजाब, सीमांत प्रदेश

और नेपाल के कुछ लोगों को लूट का लालच देकर एशिया के इस भाग के लोगों को, हिंदुस्तान की क्रांतिकारी शक्तियों को छिन्न-भिन्न करने के लिये, इस्तेमाल किया। क्रांतिपक्ष ने देशभक्त सामंतोंको अपने साथ लिया। किसानों के आधार पर एक विस्तृत प्रदेश में दीर्घ अवधि तक अंग्रेज़ों के विरुद्ध संघर्ष चलाया। आक्रमणकारियों और क्रांतिकारियों की संस्कृति में आकाश पाताल का अन्तर स्पष्ट हो गया। अंग्रेज़ों ने अपने क्रूर कर्मों में धर्मांधता का विशेष परिचय दिया। नील ने कानपुर में क्रूर यातनायें देने के अलावा मुसलमानों के शवों को जलाया और हिंदुओं के शवों को गाड़ा। भारतीय वीरों ने देश के विभिन्न प्रदेशों में मृत्यु पर विजय पाने वाले अपने साहस से शत्रु को भी चमत्कृत कर दिया। जहाँ तक शौर्य का सम्बन्ध था, अंग्रेज़ पराजित थे।

भारतीय सेनानायकों ने यहाँ की राजनीतिक और सैनिक परिस्थितियों के अनुकूल अपनी रणनीति और कार्यनीति स्थिर की। वे आरंभ से ही लम्बे खिचने वाले युद्ध के लिये तैयार थे। इसलिये दिल्ली अथवा लखनऊ छोड़ने पर उनका मनोबल टूटा नहीं। शत्रु से सामने न लड़कर उसके बाजुओं और पृष्ठभाग पर आक्रमण करना उनके रण कौशल की विशेषता थी। उन्होंने शहरों और गाँवों में अपने निशानेबाजों द्वारा शत्रु के सैकड़ों सैनिकों का नाश किया। उन्होंने सचेत ढंग से यातायात और सम्पर्क के साधन भिन्न-छिन्न करके, शत्रु के हाथ न पड़े, इसलिये आस-पास की खाद्य-सामग्री आदि नष्ट करके (जैसे झाँसी में), शत्रु को अपनी शर्तों पर लड़ने के लिये बाध्य करके गतिशील छापेमार युद्ध का सुव्यवस्थित संचालन किया। अन्य प्रदेशों में क्रांति के प्रसार में सफलता न मिलने से, अन्तरराष्ट्रीय परिस्थिति शत्रु के अनुकूल होने से, सीमांत पर दोस्तमुहम्मद, गुलाबसिंह और जंगबहादुर जैसे मित्र होने से और युद्ध-सज्जा में जंगी तोपें और एनफील्ड राइफल होने से तात्कालिक विजय प्राप्त करने में अंग्रेज़ सफल हुए।

अँग्रेज़ों की विजय अनिवार्य नहीं थी। अवध और बिहार का संघर्ष अन्य क्षेत्रों में फैलता तो अंग्रेज़ों के लिये यहाँ अपना राज्य कायम करना असम्भव हो जाता। जिन देशी सामंतों ने अंग्रेज़ों की सहायता की, वह भी ऐतिहासिक रूप से अनिवार्य नहीं थी। उनकी निजी सेनाओं और जनता की सहानुभूति क्रांतिपक्ष के साथ थी।

इस क्रांति में जनता के सभी वर्गों के लोगों ने भाग लिया। उसका नेतृत्व सेना के हाथ में था। सैनिक और किसान उसके मूलाधार थे। क्रांति अनेक स्थानों में तीव्र सामंत-विरोधी रूप में विकसित हुई। ब्रिटेन के सचेत मज़दूरों ने, रूस, इटली और फ्रांस के क्रांतिकारी जनवादियों ने इस संघर्ष को भारतीय जनता का स्वाधीनता-संग्राम कह कर उसका समर्थन किया। इंगलैंड में अर्नेस्ट जोन्स ने उसके लिये लोकमत संग्रह करने में स्तुत्य प्रयास किया। भारत में अनेक यूरोपियन यहाँ की जनता की ओर से लड़े और उन्होंने अपने रक्त से संसार के स्वाधीनता-प्रेमियों का अन्तरराष्ट्रीय भाईचारा दृढ़ किया। क्रांति के समय चीन की जनता भी अंग्रेज़ों से लड़ रही थी। वह भारतीय-संघर्ष के समाचार बड़ी रुचि से सुनती थी और अंग्रेज़ों की हार से प्रसन्न होती थी।

इस क्रान्ति के प्रति जनता का दृष्टिकोण अंग्रेज प्रचारकों के दृष्टिकोण से बिल्कुल भिन्न था। वह इसे अंग्रेज़ों को निकालने, अपनी स्वाधीनता फिर प्राप्त करने का युद्ध समझती थी। अंग्रेज़ प्रचारक उसे धर्मान्धता से उत्पन्न कहते थे, अपने को प्रगतिशील कह कर यहाँ की सामाजिक शक्तियों के प्रगतिविरोधी बतलाते थे, अपनी जीत को भारत के भावी विकास के लिये परम आवश्यक सिद्ध करते थें। दुर्भाग्य से इन स्थापनाओं को अनेक इतिहासकारों ने भी विभिन्न रूपों में दोहराया है।

सन् सत्तावन की राज्यक्रान्ति को यूरोप और एशिया की तमाम स्वाधीनता-प्रेमी जनता की सहानुभूति प्राप्त थी। ब्रिटिश साम्राज्य नैतिक रूप से विश्वमंच पर पराजित हुआ। अनेक दूरदर्शी अंग्रेज़ इस पराजय के प्रति सचेत थे और विजय के क्षण में भी भविष्य की आशङ्का से त्रस्त थे। इस क्रान्ति ने भारतीय जनता के स्वाधीनता-संग्राम और यूरोप, विशेषकर ब्रिटेन, के समाजवादी मजदूरों की मैत्री कायम की। उसने चीन और भारत जैसे दो बड़े देशों की साम्राज्यविरोधी मैत्री की नींव डाली। ब्रिटेन में अभिजात वर्ग को बहुत जल्दी सत्ता की बागडोर छोड़नी पड़ी। पूँजीवादी शोषण का नया युग आरंभ हुआ। भावी संघर्षों में सन सत्तावन के वीरों की याद से जनता सदा प्रेरणा पाती रही। इस क्रान्ति ने मुख्य शिक्षा यह दी कि जनता के संगठन और उसकी राजनीतिक कार्यवाही के बल पर जो युद्ध चलाया जायगा, वह युद्ध-सामग्री में अपने से शक्तिशाली शत्रु और उसके पचीसों प्रतिक्रियावादी सहायकों को

परास्त कर सकता है।

१६५७ में भारतीय जनता ने उस जन-संग्राम का शताब्दि-महोत्सव मना कर अपने शहीदों को श्रद्धाञ्जलि अर्पित की, क्रान्ति के महत्व को चारों दिशाओं में घोषित कर दिया और जनता के इस प्रचण्ड उद्घोष में गुमराह इतिहासकारों का स्वर नक्कारखाने में तूती की आवाज की तरह खो गया। क्रांति के सम्बन्धों में अनेक महत्वपूर्ण पुस्तकें प्रकाशित हुईं, सैकड़ों लेख निकले और सभाओं में भाषण हुए। अन्य देशों ने भी इस कार्य में सहयोग किया। आज संसार की क्रान्तिकारी शक्तियां सौ वर्ष पहले से बहुत अधिक समर्थ और संगठित हैं और साम्राज्यवाद की शक्तियां विशृंखलता और पतन की ओर जा रही हैं। विश्व मानवता की पूर्ण स्वाधीनता का दिन दूर नहीं है। इस परिस्थिति को उत्पन्न करने में १८५७ के अमर शहीदों ने महत्वपूर्ण योग दिया था।

टिप्पणियाँ

टिप्पणियां

(पुस्तक का प्रथम बार उल्लेख होने पर पूरा विवरण दिया गया है; बाद को लेखक अथवा पुस्तक के नाम के साथ पृष्ठ संख्या दे दी गयी है। प्र०, द्वि०, तृ० प्रथम, द्वितीय, तृतीय खंडों के लिये हैं; उप० उपर्युक्त के लिये है।)

अंग्रेजी राज की प्रगतिशील भूमिका

१—ट्रेविलयन, १५२ (G. M Trevelyan, British History in the Nineteenth Century: 1930)

२—उप० २३७-३८

३—उप० २४०-४१

४—म्यूर, ३२९ (Ramsay Muir, A Short History of the British Commonwealth; द्वितीय खण्ड; १९३४)

५ - मार्क्स और एंगेल्स, ४३२ (Karl Marx and Frederick Engels, On Britain: मौस्को; १९५३)

६—ब्राइट, ४४७ (John Bright, Speeches on Questions of Policy: लंदन, १८९८)

७—उप० ४४९-५०

८—उप० ३६

९—मार्क्स और एंगेल्स, ३१०

१०—उप० ३५३-५४

११—उप० ३५७-५८

१२ - ट्रेवेलियन, ३५८

१३ उप० १७३

१४—मार्क्स और एंगेल्स ४१४-२५

१५—ब्राइट, ३२८

१६—जोन्स (स्नेहांशु आचार्य और महादेव प्रसाद साहा द्वारा सम्पादित अर्नेस्ट जोन्स का The Revolt of Hindostan or The New World: ईस्टर्न ट्रेडिंग कम्पनी, कलकत्ता; १९५७)

१७ -उप० ५१३

१८—रिबेलियन (Rebellion 1857 : A Symposium: पिपुल्स पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली; १९५७)

१९—रामकृष्ण मुखर्जी, The Rise and Fall of the East India Company;

बर्लिन, १९५५, में उद्धृत ११ जुलाई १८५३ के न्यूयार्क हेराल्ड ट्रिब्यून में मार्क्स का ईस्ट इण्डिया कम्पनी पर लेख

२०—डिग्बी, २९८ (William Digby, Prosperous British India: लन्दन, १९०१)

२१—उप० ४०८-१०

२२—फे, ३११ (C. R. Fay, Great Britain from Adam Smith to the Present Day: लौंगमैन्स)

२३—उप० ३५१

२४—ब्राइट, ४२७

२५—उप० १०१-१०२

२६—उप० १६

२७—म्यूर, ३३२

२८—उप० ४००

२९—मार्क्स और एंगेल्स, ४९०-९१

३०—डारविन, ४११ (Darwin, Journal of Researches· लन्दन)

३१—म्यूर, ५३२

३२—वुडवार्ड ७७८ (W. H. Woodward, A Short History of the Expansion of the British Empire; कैम्ब्रिज; १९०७)

३३—उप० १३५

३४—म्यूर, ५३५

३५—मार्क्स और एंगेल्स, ३५१

३६—उप० ५०५

३७—डे, ६९० (Clive Day, Economic Development of Europe; न्यूयौर्क, १९४६)

३८—उप०

३९—ब्राइट, २१७

४०—ट्रेवेलियन, ३५५

४१—उप०

४२—ट्रान्जैक्शंस (W. P. Morrell, The Transition to Christianity in the South Pacific.

यह लेख Transactions of the Royal Historical Society, खण्ड २८, १९४६ में प्रकाशित हुआ था।)

४३—म्यूर, ४४३

४४—लटूरेट (Kenneth Scott Latourett, History of the Far East; न्यूयौर्क १९५७)

४५—उप० ४९०

४६—उप० ६३६

४७—सुन्दरलाल China Today, इलाहाबाद, १९५२

४८—उप० ५३१

४९—हफ, ३७४ (Rev. James Hough, The History of Christianity in India, खंड ५, लदन, १८६०)

५०—स्मिथ, ३२७-२८ (George Smith, The Life of Alexander Duff, खंड २, लन्दन, १८७९)

५१—उप० ३५०-१

५२—उप० ३२९

५३—उप० २४५

५४—म्यूटिनीज (Mutinies in the East Indies Presented to both Houses of Parliament by Command of Her Majesty, लन्दन; १८५७)

५५—ओ मैली, ३२०-२५ (L. S. S. O'Malley द्वारा संपादित Modern India and the West, औक्सफोर्ड, १९४१)

५६—ट्रान्जैक्शन्स, १०६

५७—सार्जेन्ट, २०८ (Rev. John Sargent, Life and Letters of the Rev. Henry Martyn, लंदन, १८८५)

५८—उप० २८५

५९—उप० १७५

६०—उप० २४६

६१—उप० १६ .

६२—हफ, ६३१

६३—उप० ६३२

६४—उप०

६५—उप० ८४

६६—उप० १५६

६७—उप०

६८—ब्राइट, १२

६९—स्मिथ, ३९४-५

७०—ओ मैली, ४०

७१—उप० २१

७२—उप० ६८

७३—क्रूक, २२८ (W. Crooke, The North-Western Provinces of India, लन्दन, १८९७)

७४—बेसेन्ट, १३५ (Annie Besant, India Bond Or Free, लन्दन, १९२६)

७५—ओ मैली १८-१९

७६—उप० ४२

७७—राधाकमल मुकर्जी, ८१ (Radhakamal Mukerji, the Economic History of India: 1600-1800; लौंगमैन्स)

७८—के, प्र०, २०० (John William Kaye, A History of the Sepoy War in India, प्रथम खंड, १८६५)

७९—ओ मैली, २६६-६७

८०—News and Views

८१—A Gazetter of the Province of Oudh; प्रथम खंड, पृ० ७८
८३—अवध गजेटियर, प्र०, ५८
८४—क्रूक, २८०-८६
८५—अवध गजेटियर, प्र०, १७७
८६—उप० १७६
from the U. S. S. R. १४ मई १९५७)
८२—दत्त, ३८६ (R. C. Dutt, The Economic History of British India, प्रथम खंड, लंदन, छठा संस्करण)
८७—मोरलैण्ड, ८६ (W. H. Moreland, The Revenue Administration of the United Provinces, इलाहाबाद, १९११)
८८—बेसेन्ट, ११४-१५
८९—उप० ११७
९०—उप० १२०
९१—ओ मैली, २३९
९२—ब्राइट, २३
९३—ओ मैली, ७७
९४—डे, १३१-३२
९५—फे, ३०१
९६—टाइम्स आफ इण्डिया, १५ अगस्त १९५७
[इसके बाद दस अङ्क अशुद्ध हैं। पाठक इन्हें कृपया शुद्ध कर लें।]
८७—टाइम्स आफ इण्डिया, १० जुलाई, १९५७।
८८—उप० ११ जुलाई १९५७
८९—उप० १३ जुलाई १९५७
९०—ओ मैली, पृ० २६६
९१—के, द्वि, १३०-३१
९२—J. A. R. Marriott, England Since Waterloo, लंदन, १९५०, पृ० २१७
९३—ट्रैन्जैक्शन्स, खंड ५, वर्ग ४, १९२२.
(F. W. Buckler, The Political Theory tf the Indian Mutiny)
९४—एस० आर० शर्मा, भारत में मुस्लिम शासन का इतिहास, आगरा, १९५४; पृ० ६८१
९५—कालीकिंकर दत्त, Studies in the History of the Bengal Subah, 1740-70: कलकत्ता, १९३६; पृ० ४९४
९६—राधाकमल मुकर्जी, ७०
९७—दत्त, २६
९८—उप० २७
९ —के, तृ०, २०
१००—ओ मैली, २२७
१०१—उप० ६१६

१०२—उप० ३०-३१

१०३ – ब्राइट

१०४—उप०

१०५—मेडले, इंगलैंड का वैधानिक इतिहास, पृ० ४ ५२ ५३

१०६—जेनिंग्स, २४८

१०७—ग्रीव्ज, २१५

१०८ - जेनिंग्स, २४१

१०९—उप० २५२

११०—मार्क्स और एंगेल्स, ३१६-१७

१११—कैपिटल, न्यूयौर्क, पृ० ७६४-६५

११२—उप० ७८८

११३—उप० ७८९

११४—उप० ७९६

११५—उप० ८००

११६—उप० ८०२

११७—क्षितीश चन्द्र चौधरी, The History and Economics of The Land System in Bengal: कलकत्ता, १९२७; पृ० ११

११८—उप० ३३

११९—उप० ४४

१२०—उप० ६६

१२१—B. H. Baden-Powell, Land System of British India, औक्सफोर्ड, १८९२, खंड २, पृ० २८

१२२—उप० १५९

१२३—उप० १६२-६३

१२४—उप० १६४

१२५—उप० १६३-६७

१२६—Report of the United Provinces Zamindari Abolition Committee, खण्ड १, इलाहाबाद, १९४८; पृ० ६०-६१

१२७—बेडेन-पौवेल, २१२

१२८—P. E. Roberts, History of British India, औक्सफर्ड, १९२७; पृ० २६१-६२

१२९—उप० ३३०

१३०—ट्रैन्जैक्शन्स, पृ० ७५

१३१—पी० ई० रौबर्ट्स, २४७

१३२—शान्ति प्रसाद वर्मा, A Study in Maratha Diplomacy, आगरा, १९५६, पृ० ४०४

१३३—उप० ३९०

१३४—उप० २४०

१३५—म्यूर, ३४७

१३६—पी० ई० रौबर्ट्स, ३३४

१३७—उप० ३४०

१३८—उप० ३५५

१३९—के, पृ० ११९

१४०—उप० १५१

१४१—सेन, १७७ (Surendra Nath Sen, Eighteen Fifty-Seven, दिल्ली, १९५७)

१४२—के, तृ० ४२९

१४३—म्यूर, ३५५

१४४—सेन, ३८८-८९

१४५—रौबर्ट्स, ३५७

१४६—के, प्र० १३६

१४७—उप० १५५

१४८—उप० ३१४

१४९—उप० ३१६

१५०—चौधरी, ५७ (S. B. Chaudhari, Civil Disturbances in India.)

१५१—मजूमदार, २५ (R. C. Majumdar, The Sepoy Mutiny and Revolt of 1857: कलकत्ता, १९५७)

१५२—उप० २६

१५३—चौधरी, ७६

१५४—उप० ८६

१५५—उप० ९२

१५६—उप० १२८

१५७—उप० ६०

१५८—के, प्र०, ४९७

१५९—चौधरी, २०३-४

१६०—उप० २०३

१६१—उप० २०४

१६२—उप० २०५

१६३—सार्जेन्ट, १८४

१६४—के०, प्र०, २३२

१६५—उप० २७४

१६६—उप० ३०६

१६७—उप० ३०७

१६८—उप० ३०९

१६९—उप० ३४२

१७०—उप० ३४३

१७१—उप० ३५७

१७२—उप० ३५८

१७३—उप० २११

१७४—ग्रीव्ज, २०१

१७५—ग्रीव्ज २०२

१७६—मार्क्स और एंगेल्स, ४०६-७

१७७—लीसर, १०९ (John Leasor, Red Fort, लंदन, १९५६)

१७८—Archibold Forbes, Havelock; लन्दन, १९०३, पृ० १०७

१७९—के, प्र०, २६६-२६७

१८०—लीसर, ११३

१८१—के, प्र०, २२१

१८२—उप० २२२

१८३—उप० २६३

१८४—सेन, २१

१८५—उप० २५-२७

१८६—के, प्र०, २०६-८

१८७—उप० २२९

१८८—उप० २३०

१८९—उप० २३५

१९०—उप० २९४-६

१९१—उप० ३०४

१९२—उप० ३२०

१९३ - उप० ३२२

१९४—उप० ३४७

१९५—उप० ४८६

१९६—होल्मस ५६ (T. Rice Holmes, A History of the Indian Mutiny, १८९८)

१९७—उप० ६५

१९८—रौबर्ट्‌स, ६५ (Field-Marshal Earl Roberts of Kandahar, Forty-one Years in India, लन्दन, १९२१)

१९३—मैरियट, ८३५

१९४—के, प्र०, ४८८

१९५—उप० ५१९

१९६—लीसर, ९४

१९७ - के, प्र०, ५२१-२२

१९८—गफ, २९-३० (Sir Hugh Gough, Old Memories, लंदन, १८९७)

१९९—Times of India, ३० अगस्त १९५७

२००—ग्राएट, ३७५ (Sir Hope Grant, Incidents in the Sepoy War, 1857-8; लन्दन; १८७३)

२०१—Further Papers relating to the Mutinies in the East Indies.

२०२—फौरेस्ट, १७८ (G. W. Forrest, A History of the Indian Mutiny, खण्ड १, १९०४)

२०३—केव-ब्राउन, ७ (Rev. T. Cave-Brown, The Punjab and Delhi in 1857; १८६१)

२०४—मैक्लिओड इन्स, The Sepoy Revolt, लन्दन १८९७; पृ० ६

२०५—The Mutiny of the Bengal Army by One who has served under Sir Charles Napier, लन्दन, १८९७; पृ० २७

२०६- ग्राएट, २

२०७—के, प्र०, ४९८

२०८—उप० ५४४

२०९—Mutinies in the East Indies.

२१०—के, प्र०, ५४१

२११—म्यूटिनीज

२१२—उप०

२१३—के, प्र०, ५५८

२१४—उप० ५०७ ८

सत्ता के लिए संघर्ष

१—गफ, ११
२—के, द्वि०, ६०
३—उप० ५५
४—उप० ५३
५—उप ६१
६—गफ, ३१-३२
७—उप० ३६
८- उप० ५४
९—रैक्स, १२ (Charles Raikes, Notes on the Revolt in North-Western Provinces of India, लंदन, १८५८)
१०--के, द्वि०, ८३
११—फौरेस्ट, १४८
१२--रौबर्ट्स, ५०
१३—रिज़वी, २३ (सैयद अतहर अब्बास रिजवी, स्वतन्त्र-दिल्ली; लखनऊ; १९५७)
१४—के, द्वि०, ६३
१५—के, प्र०, ६४३
१६—गदर की डायरी, ११७ (गदर-दिल्ली की डायरी, मूल लेखक, मुईनुद्दीन खाँ तथा मुंशी जीवनलाल; कर्मयोगी प्रेस, इलाहाबाद, १९५३)
१७—उप० १२५-२६
१८—केव-ब्राउन, के द्वारा उद्धृत, द्वि०, ४२४
१९—के, द्वि०, ४३६
२०--उप० ४४०
२१--उप० ४७६
२२—गदर के कागजात, प्र०, ७७ (Mutiny Records, Correspondence: लाहौर; १९११)
२३—उप० ७९
२४—उप० ८९
२५--फौरेस्ट, १८५
२६—के, प्र०, ५७७
२७—केव-ब्राउन, ३३-३६
२८ -के, तृ०, २७८
२९--उप० २७९
३०—प्रिचार्ड, १२ (I. T. Prichard, The Mutinies in Rajputana: लन्दन, १८६०)
३१—उप० ७२
३२—के, तृ०, २१२
३३—उप० २१४
३४—उप० २१९
३५ -उप० २२०
३६--मथुरा गजेटियर, इलाहाबाद, १९११.
३७—मजूमदार, ५५
३८--रौबर्टसन, ३२ (H. D. Robertson, District Duties

During the Revolt in the N. W. Provinces of India in 1857)

३६—उप० ४३

४०—उप० १६१

४१—शेरर, १५ (J. W. Sherer, Daily life During the Indian Mutiny: लंदन, १६१०)

४२—उप० २४

४३—उप० ३३

४४—उप० ४३

४५—के, प्र०, २६०

४६—उप० २६१

४७—उप० २५६

४८—उप० २५८

४९—उप० २४६

५०—उप० २३४

५१—उप० २३८

५२—हचिन्सन, १०८ (G. Hutchinson, Narrative of the Mutinies in Oude: लंदन १८५६)

५३—फौरेस्ट, २०८-६

५४—के, द्वि०, ४५२

५५—उप० ४६६

५६—फौरेस्ट, २ ७

५७—के, द्वि०, ४०७

५८—के, तृ०, २८७

५९—उप० २६२

६०—उप० ३·५

६१—उप० ३०६

६२—के, द्वि०, ४११

६३—के, तृ०, ८१

६४—उप० ८५

६५—हैदराबाद, १५ (The Freedom Struggle in Hyderabad, खंड २, हैदराबाद, १९५६)

६६—उप० ५१

६७—उप० ५७

६८—उप० ६५

६९—गदर के कागजात, प्र०, १५६

७०—उप० २६७

७१—उप० ३५५

७२—उप० ३५६ ५७

७३—उप० ३५६

७४—उप०, द्वि०, ५६

७५—उप०

७६—उप० प्र० २२५

७७—उप० २·५-६

७८—उप० २३७

७९—उप०, द्वि०, २६६

८०—प्रिचार्ड, ८६

८१—उप० ११३

८२—उप० १३०

८३—उप० १३७

८४—उप० १४९

८५—उप० १५८

८६—उप०२ २८

८७—उप० २४३

८८—मैलीसन, ५७० (G. B. Malleson, History of the Indian Mutiny, खंड २, लंदन, १८७६)

८९—के, तृ०, ३२६

९०—उप० ३२८

९१—उप० ३३०

९२—उप० ३३७

९३—उप० ३४२

९४—उप० ३४८

९५—उप० ३१३-१४

९६—उप० ३१८

९७—होल्म्स ४७१ (T. R. Holmes, A History of the Indian Mutiny: १८९८)

९८—उप० ४६६

९९—मैलीसन, ४२७

१००—के, द्वि०, १८६

१०१—रौबर्ट्स, ८५

१०२—के, द्वि०, १९२

१०३—उप० ५४८

१०४—उप० ५५१

१०५—रौबर्ट्स, ९४

१०६—के, द्वि०, ५५४

१०७—उप० ५५५

१०८—उप० ५५६

१०९—उप० ५९१

११०—उप० ६५४

१११—गदर की डायरी, १४५

११२—प्रिचार्ड, ११३

११३—गदर के कागजात, द्वि०, ११७ १९

११४—उप० २२५

११५—उप० २२५

११६—उप० २९२

११७—उप० ९९

११८—उप० १४३

११९—उप० २ ५

१२०—उप० २९९

१२१—उप० ३०३

१२२—रिज़्वी, १६२

१२३—गदर की डायरी, २४९

१२४—उप० २५०

१२५—रिज़्वी १६३

१२६—गदर की डायरी, २५२-३

१२७—रिज़्वी १४९

१२८—ग्रेटहेड, २१७ (H. H. Greathed, Letters Written during the Siege of Delhi; १८५८)

१२९—गदर के कागजात, प्र०, १८३

१३०—रिज़्वी, १७८

१३१—उप० ७६

१३२—उप० ९८-९९

१३३—उप० १०८

१३४—उप० १०५

१३५—लीसर, २०१

१३६—उप० १२७
१३८—उप० १६४
१४०—गदर के कागजात, प्र०, १४४
१४२—उप०, द्वि०, १६५
१४४—ब्राइट, १२
१४५—के, प्र०, परिशिष्ट
१४६—उप० ५७
१४७—उप० द्वि०. ६४१
१४८—उप० ६२४
१५०—लीसर, १५६
१५२—उप० १८०
१५४—के, तृ०, ५७२
१५६—उप० ५८९
१५८—उप० ५९७
१६०—रौबर्ट्स, १२९
१६२—उप० १३४
१६४—उप० ६२७
१६६—फौरेस्ट, १५०-५१
१६८—लीसर १३५-६
१६९—के, तृ०, ६१८-१९
१७१—उप० २८५
१७२—उप० २८१
१७४—उप० ३५६
१७६—ग्रेटहेड, २८०

१३७—रिज़नी, १०८
१३९—उप० ८०-८१
१४१—उप० १४४ ४६
१४३—Arthur Broome, History of the Rise and Progress of the Bengal Army; कलकत्ता, १८५०; पृ० ४३
१४९—उप० ६२५-२६
१५१—उप० १७८
१५३—उप० २६५
१५५—उप० ५८६
१५७—उप० ५९६
१५९—उप० ६१०
१६१—उप० १३२
१६३—के, तृ०, ६२५
१६५—उप० ६२९
१६७—गदर के कागजात द्वि०, २९१
१७०—गदर के कागजात, द्वि०, २९१
१७३—लीसर, ३५५
१७५—रौबर्ट्स, १४२

१७७—The Revolt in Cenrtal India 1857-59, Compiled in the Intelligence Branch Division of the Chief of the Staff, Army Head Quarters, India, शिमला, १९०८; पृ० १२५
१७८—उप० १८८
१७९—रेक्स, ८२ (Charles Raikes, Notes on the Revolt in the North-Western Provinces of India, लन्दन, १८५८)

१८०—नया समाज, अगस्त १६५७

१८१—उप०

१८२—उप०

१८३—उप०

१८४—के, तृ०, ३८८

१८५—उप०

१८६—रौबर्ट्‌स, १५३

१८७—के, द्वि०, ५०५

१८८—उप०

१८६—उत्तर प्रदेश, लखनऊ; अगस्त १६५७

१६०—के, द्वि०, २६३

१६१—उप० २६२

१६२—उप० ३०७

१६३—उप० ३६६

१६४—उप० ३१३

१६५—उप० ३२७

१६६—उप० ३३८

१६७—टौमसन, १६६ (Mowbray Thomson, The Story of Cawnpore: लन्दन, १८५६)

१६८—सेन, १४८

१६६—उप० १४६

२००—के, द्वि०, ३४२

२०१—उप० २६६

२०२—उप० २३०

२०३—उप० १७०

२०४—सेन, १५०

२०५—के, द्वि० २६०

२०६—सेन, १५५

२०७—के, द्वि०, २७३

२०८—उप०

२०६—रसेल, ४५ (W. H. Russel, My Indian Mutiny Diary, edited by M. Edwardes, लन्दन, १६५७)

२१०—के, द्वि०, २८४

२११—उप० ३१४ १५

२१२—उप० ३६२

२१३—उप० ३८४

२१४—उप० ४०५

२१५—उप०, तृ०, ५१२

२१६—उप० ५२०

२१७—उप० ५२४

२१८—उप० ५३८

२१६—उप० ५४१

२२०—सेन, २१४

२२१—उप० २०८

२२२—H. A. Shark, The Call of the Blood: रंगून; १६३२; पृ० ४६

२२३—उप० ५१

२२४—T. H. Kavanagh, How I won the Victoria Cross. १८६०, पृ० ६५

२२५—उप० १२६

२२६—सेन, १६७

२२७—उत्तर प्रदेश, अगस्त १६५७

२२८—फौरेस्ट, ४०७

२२९—सेन, २११
२३०—फौरेस्ट ३३३
२३१—उप० ३०२
२३२—सेन, १९५
२३३—के, तृ०, ५३२
२३४—सेन, १९९
२३५—फौरेस्ट, ४८५
२३६—अवध गजेटियर, तृ०, ५५८-५९
२३७—फौरेस्ट, ४८८
२३८—उप० ४९५
२३९—सेन, २०७
२४०—टेलर, ३० (W. Tayler, The Patna Crisis: लन्दन, १८८२)
२४१—के, तृ०, ९५
२४२—उप० ११४
२४३—उप० १३०-३१
२४४—उप० १७०
२४५—कुँवरसिंह, १२३ (K. K. Datta, Biography of Kunwar Singh and Amar Singh, पटना, १९५७)
२४६—गफ, १२४
२४७—उप० १४७
२४८—रौबर्ट्स, १६५
२४९—उप० १६६
२५०—मैलीसन, १८७
२५१—रौबर्ट्स, १८५
२५२—मैलीसन, २८६
२५३—ग्राण्ट, १६९
२५४—रौबर्ट्स, २१६
२५५—ग्राण्ट, २३४
२५६—उप०
२५७—रौबर्ट्स, २१८
२५८—ग्राण्ट, २३५
२५९—रौबर्ट्स, २२०
२६०—मैलीसन, ३५९
२६१—उप० ३८७
२६२—रौबर्ट्स, २२५
२६३—उप० २२४
२६४—मैलीसन, ३९०
२६५—उप० ३९४
२६६—रसेल, ३९
२६७—उप० ४०
२६८—उप० ४३
२६९—उप० ५८
२७०—उप० १०३
२७१—उप० १०५
२७२—उप० ५९
२७३—उप० ६०
२७४—उप० ९०
२७५—उप० ६५
२७६—रैक्स, १३०
२७७—उप० १३१
२७८—रसेल, १०९
२७९—उप० ११३
२८०—रौबर्ट्स, २५६-५७
२८१—मैलीसन, ३३२
२८२—उप० ४०७
२८३—उप० ४११

२८४—उप० ११४
२८५—कुँवरसिंह, १४१
२८६—उप० १४२
२८७—उप० १४३
२८८—मैलीसन, ४६१
२८९—उप० ४७२
२९०—कुँवरसिंह, १४४
२९१—उप० १५३
२९२—उप० १५४
२९३—उप० १६१
२९४—उप० १६२
२९५—उप० १६४
२९६—उप० १६५
२९७—उप० १६६
२९८—उप० १६७
२९९—उप० १७१
३००—उप० १८०
३०१—उप० १७२
३०२—उप० १७३
३०३—हैदराबाद, ७
३०४—उप० १९३
३०५—उप० ८-९
३०६—उप० १६
३०७—उप० २९
३०८—उप० ३८
३०९—उप०
३१०—उप० ८३
३११—उप० ९९
३१२—उप० १०७
३१३—उप० ११०
३१४—उप० ११३
३१५—उप० ११९
३१६—उप० १५९
३१७—मैलीसन, ५२२
३१८—उप० ५३१
३१९—रसेल, १४२
३२०—गदर के कागजात, द्वि०, ११९-२१
३२१—गोडशे, ८१-८२ (आँखों देखा गदर, मूल लेखक विष्णुभट गोडशे, अनु० अमृतलाल नागर, लखनऊ; १९५७)
३२२—संघर्षकालीन नेताओं की जीवनियाँ, लखनऊ, १९५७, पृ० ९१
३२३ गोडशे, ९४
३२४—उप० ८३
३२५—वृन्दावनलाल वर्मा, रानी लक्ष्मीबाई।
३२६—मैलीसन, ५४४
३२७—रौबर्ट्स, २२६
३२८—ग्राण्ट, २६४
३२९—रसेल, ७३
३३०—ग्राण्ट, २६७
३३१—उप० २९१
३३२—रसेल, ११९
३३३—उप० २०५
३३४—उप० २१८
३३५—उप० २५६
३३६—उप० २२३
३३७—ग्राण्ट, ३११-१२
३३८—रसेल, २३१
३३९—उप० २३२

३४०—उप० २३६
३४१—उप० २३६-२४०
३४२—उप० २४०
३४३—उप० २५३
३४४—उप० २२६
३४५—उप० २४१
३४६—उप० २६१
३४७—उप०
३४८—उप० २६७
३४६—उप० २७०
३५०—उप० २७१
३५१—उप० २७६
३५२—ग्राण्ट, ३२८
३५३—उप० ३७७
३५४—उप० ३६८-६६
३५५—उप० ३७०-७१
३५६—उप० ३४६
३५७—उप० ३७५
३५८— James Burgess, The Chronology of Modern India, १६१३; पृ० ३७४

समस्याएँ और निष्कर्ष

१—ओ मैली, ८८
२—के, तृ०, ६१
३—गदर के कागजात, प्र०, ३७
४—केव-ब्राउन, भूमिका, १५-१६
५—के, द्वि०, २२६
६—टेलर, ३४
७—गदर के कागजात, प्र०, १६५
८—उप० ११६
६—उप० २२५
१०—उप० २६७
११—के, द्वि०, २६४
१२—उप० ३८८
१३—केव ब्राउन, २७२
१४—उप० २६६
१५—Aitchison, Lord Lawrence, पृ० १२
१६—के, द्वि०, ६७७
१७—उप० ५०६
१८—रसेल, ११०
१६—के, तृ०, ३४८
२०—कुंवरसिंह, १२४
२१—उप० १२७
२२—गदर के कागजात, द्वि०, ५६
२३—कूक; १८०
२४—के, तृ०, १६३
२५—गदर के कागजात, द्वि०, २४
२६—के, द्वि०, ४७५
२७—Times of Indiar, ६ सितम्बर १८५७
२८ गदर के कागजात; प्र०, २३७
२६—उप० २१३
३०—के, प्र०, ३३३

३१—रैक्स, १३२
३२—उप० १३३
३३—शेरर, १६१-६२
३४—उप० १६८
३५—उप० १६६-२०१
३६—ग्रेटहेड, भूमिका, १०
३७—शेरर, १६२
३८—मजूमदार, २३७
३९—ग्रो मैली, १८६
४०—The Classical Age, बम्बई, १६५४; पृ० २८
४१—मजूमदार, १४५
४२—शेरर, २६
४३—लीसर, १३४
४४—गफ, १८१
४५—Archibald Forbes, Havelock, लन्दन, १९०३; पृ० १०५-६
४६—उप० १२८
४७—रसेल, १३१
४८—रौबर्ट्स, २१३
४९—उप० २१३ १४
५०—गफ, १०६-११०
५१—गदर की डायरी, ६१
५२—उप० १८७
५३—ISCUS, बम्बई, खण्ड ४, अङ्क ३
५४—सेन, ३१७
५५—रैक्स, ८१
५६—के, द्वि०, १७२
५७—उप० २३४-३५
५८—उप० २२३
५९—उप०, तृ०, २४६-५०
६०—रैक्स, ७
६१—सेन, ३४
६२—रौबर्टसन, १३६
६३—ग्राण्ट, २६४-६५
६४—उप० २३६
६५—कुँवरसिंह, १७०
६६—गदर की डायरी, १३८
६७—फोर्ब्स, १६६
६८—सेन, २४२
६९—सेन, ३८१
७०—प्रिचार्ड, २६८
७१—मथुरा गजेटियर, २१५
७२—टौमसन, २५
७३—के, द्वि०, ६३१
७४—स्मिथ, ३५२
७५—उप० ३३६
७६—सेन, ३८७
७७—उत्तर प्रदेश, जून, १६५७ में बॉल से उद्धृत
७८—अवध गजेटियर, प्र०, ४७६
७९—प्रिचार्ड, ८३
८०—ट्रेवेलियन, कानपुर, ५१ (G- O. Trevelyan, Cawnpore, १८६५)
८१—के, प्र०, ६२१
८२—सार्जेण्ट, १७६

८३—प्रिचार्ड, ७७

८४—W. H. Sleeman, A Journey through the Kingdom of Oude in 1849-50; १८५८; द्वि० खं०, पृ० ६

८५—ओ मैली, ३६७

८६—के, प्र०, परिशिष्ट

८७—सेन, १२३

८८—उप० ३८२-८४

८९—होल्म्स, ३३४

९०—के, प्र०, ५७९

९१—टेलर, ७५

९२—होल्म्स, १४२

९३—G. B. Malleson, The Indian Mutiny of 1857: १८९८ (एक जिल्द में संक्षिप्त इतिहास) पृ० ३२

९४—म्यूर, ३५२

९५—के, द्वि०, २०३

९६—उप० २४४

९७—रैक्स, १५

९८—के, द्वि०, १५४

९९—उप० २००

१००—उप० ६२७

१०१—उप०, तृ०, १७३

१०२—सेन, ३२९

१०३—होल्म्स, ३६४

१०४—Owen Tudor Burne, Clyde and Strathnairn: ऑक्सफर्ड; १८९५; पृ० ३६

१०५—The Mutiny of the Bengal Army by one who has served under Napier: पृ० २८

१०६—कुँवरसिंह, ८०-८१

१०७—होल्म्स ३२४

१०८—उप० ४६६

१०९—नया समाज, अगस्त १९५७

११०—देखिये, टिप्पणी १०५; पृ० ३६

१११—के, द्वि०, परिशिष्ट

११२—रौबर्ट्‌स, १९५

११३—उप० २२४

११४—रसेल, ९२

११५—के, द्वि० ४४८

११६—उप० १६२

११७—उप० ५१०

११८—रौबर्ट्‌स, २६५

११९—रसेल, १९३

१२०—रौबर्ट्‌स, २६५-६६

१२१—Munshi Jwala Sahai, The Loyal Rajputana; इलाहाबाद, १९०२; पृ० १९५-९६

१२२—अवध गजेटियर

१२३—होल्म्स, १५१

१२४—ओवेन ट्यूडर बर्न, ३९

१२५—रसेल, १५४

१२६—के, प्र०, २३२

१२७—के, द्वि०, ९९

१२८—के, द्वि०, २६८
१२९—उप० ३४२
१३०—टौमसन, २१५
१३१—ग्रेटहेड, २१७
१३२—Rebellion 1857, पृ० २३५
१३३—कैपिटल, प्र० खंड, पृ० ८२६
१३४—उप० ८२४
१३५—के, द्वि०, १५९
१३६—रैक्स, ७८
१३७—रसेल, १६१
१३८—उप० ६७
१३९—उप० ८६
१४०—सेन, १२०
१४१—के, द्वि०, ५८१
१४२—सेन, ८७
१४३—के, तृ०, ३२६
१४४—सेन, ३४१
१४५—होल्म्स, २२०
१४६—रसेल, ८७
१४७—उप० ५३
१४८—उप० १६०
१४९—उप० १८३
१५०—केव-ब्राउन, २००
१५१—के, द्वि० ११९
१५२—उप०, तृ०, ३२
१५३—उप० ३५
१५४—उप० ४२-४३
१५५—सेन, ३२४-२५
१५६—प्रिचार्ड, ३५२
१५७—रसेल, १३५
१५८—उप० २४०
१५९—के, द्वि०, २६५
१६०—उप० ३८४
१६१—गफ० २१३
१६२—उप० २२६
१६३—ग्राण्ट, २१५
१६४—गफ० १८१-८२
१६५—Willian Irvine, The Army of the Indian Moghuls; लन्दन; १९०३ पृ० ११६
१६५—उप० १२५-२६
१६६—उप० १४८-४९
१६७—उप० १५०
१६८—सेन, २८३
१६९—के, द्वि०, ३५०
१७०—कुँवरसिंह, १६४
१७१—रसेल, २५४
१७२—होल्म्स, १५६
१७३—रौबर्टसन, १३०
१७४—रसेल, २५५
१७५—उप० १४
१७६—ओवेन ट्यूडर बर्न, ५५
१७७—मैक्लिग्रौड इन्स, १०३
१७८—ओवेन ट्यूडर बर्न, १०
१७९—रिजवी, ११४
१८०—गदर के कागजात, २०१-६
१८१—रसेल, १४३
१८२—के, द्वि०, ६२०-२१

१८३—लीसर, १६१
१८४—उप० २३०

१८५—रसेल, १३८
१८६—रैक्स, ६३

१८७—सेन, ३६६

१८८—George Bourchier, Eight Months, Campaign against the Bengal Sepoy Army, लंदन, १८५८

१८९—टेलर, ६७
१९०—के, द्वि०, ४६५

१९१—रसेल, २४०
१९२—सेन, १६१

१९३—फौरेस्ट, सेन द्वारा उद्धृत, पृ० २६०

१९४—लीसर, २००

१९५—टाइम्स आफ इण्डिया, २१ दिसम्बर १९५७

१९६—हैदराबाद, ३८
१९७—रसेल, २२

१९८—सेन, ३९३
१९९—रसेल, १९७ ९८

२००—Rebellion 1857: पृ० ३००

२०१—New Age, दिल्ली, अगस्त १९५७

२०२—Rebellion 1857, पृ० ८४

२०३—Freedom Struggle in Uttar Pradesh, लखनऊ; १९५७

२०४—परम्परा, जोधपुर, अगस्त १९५६

२०५—के, तृ०, ३६१-६२
२०६—रसेल, ३७

२०७—उप० २८८
२०८—Freedom Struggle in U. P., २६८-६९

२०९—उप० २७१

२१०—ट्रेवेलियन, कानपुर, ६५
२११—ग्राण्ट, ३७१-७४

२१२—टाइम्स ऑफ इण्डिया, २२ मई १९५७

२१३—के, तृ०, ३७०
२१४—सेन, २८३

२१५—Freedom Struggle in U. P., ६४

२१६—उप० ६५